अमृत वचन

लेखक
श्रीमन्महामहिम विद्यामार्तण्ड निग्रहाचार्य
श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित
NOTION PRESS

NOTION PRESS
India. Singapore. Malaysia.

ISBN xxx-x-xxxxx-xx-x

First Published – 2021

अमृत वचन

लेखक
श्रीमन्महामहिम विद्यामार्तण्ड निग्रहाचार्य
श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित
NOTION PRESS

धर्मसंरक्षणार्थायाधर्मसंहारहेतवे ।
निग्रहाणाञ्च धर्माज्ञा लोके लोके प्रवर्द्धताम् । ।

विषय सूची

विषय **पृष्ठ**

--*

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक "अमृत वचन" में श्रीनिग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु जी के द्वारा विभिन्न अवसरों पर पूछे गये प्रश्नों के दिये गये उत्तर तथा कहे गये सत्तर वक्तव्यों का संकलन है। इसमें विभिन्न समसामयिक विक्षेपों का समाधान करने वाले पूर्वलिखित लेख भी सम्मिलित किये गये हैं। पूर्व में श्रीगुरुजी के द्वारा उक्त विभिन्न वचनों में से सौ वचनों का सङ्ग्रह "जीवन दर्शन" के नाम से प्रकाशित हुआ था जिससे सनातनी समाज प्रमुदित हुआ। अधुना, उसी श्रृङ्खला में यह "अमृत वचन" नाम की पुस्तक प्रकाशित की जा रही है जिसमें किसी एक विषय पर केन्द्रीय लेखन न होकर विभिन्न संवादात्मक अथवा समीक्षात्मक लेखों का संकलन किया गया है। आशा है कि सनातनी समाज इससे लाभान्वित होगा एवं अपने आत्मोद्धार का मार्ग प्रशस्त करेगा। इस पुस्तक में छोटे छोटे वचन, जिज्ञासु जनों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर, अनुरोध पर शास्त्रीय समाधान हेतु लिखे गये शास्त्रोक्त प्रमाणों से युक्त भ्रमोच्छेदक लेख एवं स्वानुभवों का भी संकलन है।

अनेक भ्रामक संस्थाओं के द्वारा प्रचारित अशास्त्रीय वक्तव्यों के शास्त्रीय प्रमाणों के साथ खण्डन का भी इसमें सम्मेलन किया गया है। इसमें उद्धृत कुछ लेख वीडियो, वेबसाइट, सोशल मीडिया एवं पत्र-पत्रिकाओं में पहले से प्रकाशित हैं तथा बहुत से अप्रकाशित भी हैं। क्या कर्तव्य है एवं क्या अकर्तव्य है, इसका निर्णय धर्मशास्त्रों से ही होता है तथा अपने आचरण तथा सिद्धान्तों में उन धर्मशास्त्रों की गरिमा तथा रहस्य को धारण करने वाले महानुभाव आचार्यगण समय समय पर अज्ञानान्धकार में फंसे हुए समाज का मार्गदर्शन करते रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी कर्तव्य परम्परा का एक प्रतिमान है। सनातन धर्म के दुर्लभतम उपनिषत्, तन्त्र, स्मृति, पुराण एवं संहिताओं के प्रमाणों से युक्त लेखों के माध्यम से समाज के बहुत से भ्रमों का सहज ही उन्मूलन होगा तथा शास्त्रीय परम्परा में उनकी निष्ठा दृढ होगी, इसी विश्वास के साथ ...

प्रकाशक

मन की बात

मान्य शुभचिंतक गण हमें विवादस्पद विषयों से बचने की सलाह देते हैं। प्रथम तो यह कि विवाद उत्पन्न करते कौन लोग हैं ? हमने तो आज तक बिना शास्त्रीय सन्दर्भ के, निजी कल्पना से कोई बात कही ही नहीं। राममंदिर का विषय भी विवादित था, तो उसे क्यों नहीं छोड़ दिया गया ? कश्मीर और अरुणाचल भी विवादित है, उसे भी छोड़ दें ? किसी को तो बलि पड़ना ही होगा। बड़े बड़े पीठाधीश्वर तो इसी चक्कर में चुप रह जाते हैं। हम भी चुप रह गए तो साधारण हिन्दू समाज का होगा क्या ? यदि हमें शास्त्रीय बातें बोलनी ही नहीं हैं तो व्यर्थ ही शास्त्राध्ययन किया न ! कोट पैंट पहनकर नौकरी की ठोकरें खाते रहते और या तो धर्म को गाली देते या फिर फ़र्ज़ी धर्मगुरुओं के चरण धोते रहते। किन्तु छोटी ही सही, जब तक हमलोगों की दीवार है, सनातन निराश नहीं होगा ...

सीधे मार्ग पर कभी कभी मार्गदर्शन न मिले तो भी लोग अपना मार्ग खोज लेते हैं, किन्तु जहां भ्रमित होने की संभावना है, वहां हमलोगों की उपयोगिता बढ़ जाती है। मैं केवल नश्वर निजी सुख के लिए धर्म को ऐसे हारता हुआ नहीं देख सकता हूँ। लोग पूछते हैं मुझसे - आपकी समस्या क्या है ? मैं उन्हें बताना चाहता हूँ कि 'मैंने उनपर विश्वास किया जिन्होंने मुझपर कभी विश्वास नहीं किया। मैंने उनकी सहायता की, जिन्होंने कभी मेरी सहायता नहीं की। मैंने उनसे प्रेम किया, जिन्होंने कभी बदले में मुझसे प्रेम नहीं किया।' किन्तु मैं कुछ नहीं कहता। एक नकली मुस्कुराहट के साथ मैं उत्तर देता हूँ - 'सब कुछ ठीक है।' और इस प्रकार से मैं अपनी भावनाओं को धुंधली होने देता हूँ। कभी कभी मैं ऊपर आकाश की ओर देखता हूँ और पूछता हूँ - मैं ही क्यों ? वे उत्तर देते हैं - 'क्योंकि तुमने विश्वास किया।'

अपने वर्णधर्म के अनुसार शास्त्रोक्त निश्चित आजीविका का अनुसरण करने वाला व्यक्ति आपाततः दरिद्र हो सकता है किन्तु बेरोजगार नहीं, क्योंकि प्रकृति और धर्म व्यक्ति के जन्म से पूर्व ही उसकी आजीविका निश्चित करते हैं। नैसर्गिक वर्णसम्मत आजीविका का त्याग करके उससे भिन्न एवं पराश्रिता आजीविका की लालसा से ही बेरोजगारी का उदय हुआ है। बिना शास्त्रों का समुचित ज्ञान प्राप्त किये जो अनुभव हुआ, जो ज्ञान हुआ, वह प्रकाशित है या तमसावृत, यह कैसे ज्ञात होगा ? उस स्थिति में ही सबसे अधिक अहंकार होगा क्योंकि आपको तो यह भी बोध नहीं होगा कि हमें अहंकार हो रहा है, अथवा अहंकार का परिणाम क्या हो सकता है। उचित तत्व का उचित ज्ञान शास्त्र के द्वारा वर्णित विधि से ही सम्भव है क्योंकि जब उचित विधि के अभाव में एक सामान्य सी घड़ी तक कार्य नहीं करती तो सम्पूर्ण ब्रह्मांड के संचालन और संचालकों का ज्ञान कैसे सम्भव है ? अतएव सद्शास्त्र का अध्ययन अति आवश्यक है।

"अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः" के सिद्धांतानुसार वेदोपवेदों का उद्देश्य 'अध्ययन' में, शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, छंद, ज्यौतिष, कल्पादि शास्त्रों का उद्देश्य पूर्वाधीत वेदों के 'बोध' में, स्मृतीहासपुराणादि का उद्देश्य बुद्ध ज्ञान के 'आचरण' में, तथा अनुवर्ती काव्य, भाष्य एवं वार्तिकों का उद्देश्य आचरित धर्म के 'प्रचार' में निहित है, इस भावना एवं परम्परा

को समझ कर अध्ययन करने वाला ही सनातन सिद्धांतो में बिना भ्रमित या विक्षिप्त हुए धर्मरक्षण कर सकता है। हमारे देश की वर्तमान स्थिति के अनुसार समाज में पढ़ा लिखा होने का अर्थ वास्तव में पढ़ा लिखा होना नहीं होता। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अमुक व्यक्ति किसी एक लिपि और भाषा में कामचलाऊ साक्षर है, किसी प्रकार से जोड़ तोड़ कर कुछ खास अंक प्रमाणपत्र में लिखवा सका है, अधिक से अधिक घमंड, असभ्यता एवं स्वार्थ के प्रदर्शन करने में सक्षम है साथ ही कुल मिलाकर गुलामी और विकास में भेद नहीं समझ सकता।

पढ़े लिखे होने का अर्थ यही है कि जो पढ़ाया, उतना ही पढ़ा... जो लिखाया, उतना ही लिखा। आधुनिक समाज में पढ़ाई का अर्थ प्रबुद्धता, ज्ञान या विवेक के सन्दर्भ में समझना आत्मवञ्चना के सदृश ही है। पढ़े लिखे व्यक्ति को पढ़ा लिखा बनाने के लिए जिस माध्यम, पाठ्यक्रम एवं उद्देश्य का आश्रय लिया जा रहा है, वह वैसा ही है जैसे कोई मछली को पानी में डूबने से बचाने के लिए उसे बाहर निकाल दे। शास्त्रों के नानाविध विषय एवं रहस्य कोई संस्थान बना लेने से, आधुनिक पढ़ाई करके शोध विद्यार्थी या पीएचडी करने से, अथवा समितियों से सम्मानित होकर नहीं गम्य होते। कोई परिवार, समाज, परिषद्, संघ या समिति बनाने से भी शास्त्रों का संरक्षण नहीं होता। मूल परम्परागत आचार्यपीठ एवं शिष्यबल का संरक्षण एवं संवर्धन किये बिना कोई आधारभूत लाभ नहीं हो सकता है।

अनुवादों की वर्तमान शैली ने मूल परिभाषा एवं धारणा को विकृत करने का अक्षम्य अपराध किया है। गूगल से यदि माइथोलॉजी का अर्थ पूछो तो पौराणिक बताता है। हमारे शास्त्रों से पूछो तो सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के वर्णन से युक्त ग्रंथों को पुराण कहते हैं, ऐसा बताते हैं। इसी को यदि अलग-अलग देखें तो आंग्ल में Origin of Universe, Expansion of Universe, Origin of Life, Systematic division of Time with Theory of Relativity, Chronological order of Events and History आदि के समकक्ष कह सकते हैं। अंग्रेजी में पढ़कर कितना उन्नत और वैज्ञानिक लगा न ? जबकि संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लगा होगा कि पता नहीं क्या क्या कह दिया। संस्कृतनिष्ठ हिंदी में कहें तो यही बात अंधविश्वास और माइथोलॉजी लगती है किंतु अंग्रेजी में कहें तो वैज्ञानिक लगता है, यही हमारे समाज की शिक्षित मूर्खता का प्रमाण है। मैं समझ नहीं पाता कि माइथोलॉजी में पौराणिक क्या है एवं पुराणों में माइथोलॉजी क्या है। दो नितांत भिन्न विषय एवं सन्दर्भों का पर्याय रूप में प्रयोग करने का उद्देश्य मात्र सनातनी समाज को सनातनी ज्ञान एवं गौरव से घृणास्पद रीति के द्वारा वंचित रखना ही है। अर्थ एवं प्रसङ्ग से युक्त भाव ही मान्य होता है। जैसे सुरालय का अर्थ मदिरालय, मंदिर और स्वर्ग तीनों होता है, किन्तु प्रसङ्ग के विरुद्ध अर्थ लेने से अनर्थ होगा। शास्त्र के अनुसार भाव होने से ही कल्याण है। भाव तीनों गुणों के प्रभाव, स्थिति, उद्देश्य और योग्यता के आधार पर निर्भर करते हैं, जबकि शास्त्र इनसे परे और कूटस्थ हैं। सनातन परम्परा में मतदान से निर्णय नहीं लिया जाता, शास्त्रगम्यता से लिया जाता है। आधुनिक समाज में धर्मशास्त्रों के मूल ज्ञान से लगभग सभी लोग वंचित ही हैं। अतएव मंचस्थ धर्मप्रवक्ताओं का वाक्पटु और वाग्विलासी होना पर्याप्त नहीं, उनमें शास्त्रगम्यता और यथार्थवादिता भी होनी चाहिए। भावबल से भी देखें तो अर्थबल से अविरुद्ध अर्थ ही मान्य होता है, विरुद्ध अर्थ भावविकृति को धारण करने से अमान्य एवं भ्रामक होता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

जो रक्षात्मक शासन करे, वह शास्त्र है। शासन शोषण या स्वार्थ का आधार न हो एवं रक्षा के क्रियान्वयन हेतु कर्तव्यविमुखता अथवा कार्पण्यदोष का अवलंबन न लेना पड़े, इन दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करते हुए जो आचार का मार्ग प्रशस्त करे, वह शास्त्र है। शास्त्र वेदादि के समान पूर्ण अपौरुषेय हो, तन्त्र एवं पुराणों की भांति सूत्ररूप में अपौरुषेय तथा ऋषिवृन्द के द्वारा विस्तारित हो, अथवा स्मृति, दर्शन एवं इतिहास ग्रंथों के समान महामनीषियों के द्वारा प्रणीत हो, अथवा अभिनव एवं भवितव्य संत एवं आचार्यों के द्वारा काव्य, भाष्य तथा कारिका ग्रंथों के माध्यम से पुनरुद्भासित हो, यदि वह रक्षात्मक शासन करने में समर्थ तथा मान्य है तो मेरे मत में उसकी शास्त्र-संज्ञा है।

आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक धरातल पर जो सिद्धांत सार्वकालिक हों, अपरिवर्तनीय हों, श्रुतिसम्मत हों एवं चातुर्वर्ण्य तथा चतुराश्रम वर्ग को चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि कराने में समर्थ हो, जिनका समर्थन एवं परस्पर संगत प्रमाण अन्य ग्रंथों में तथा आचार्यों के आचरण में भी दिखता हो, वह सिद्धांत शास्त्रोक्त है, ऐसा समझना चाहिए। अंधविश्वास का अर्थ है, अपने निष्पक्ष विवेक का प्रयोग किये बिना किसी बात, वस्तु, व्यक्ति या क्रिया का विश्वास कर लेना। अंधविश्वास का अर्थ प्राचीन मान्यता या परम्परा नहीं है। इसी प्रकार शिक्षित होने का अर्थ प्राचीन परम्परा का खण्डन करना भी नहीं होता है, अपितु उसका विवेकपूर्ण चिंतन करना है।

क्या यह अंधविश्वास नहीं है कि आज का समाज शास्त्रों के कालातीत एवं लोकोपकारी सिद्धांतों की तो अवहेलनापूर्वक उपेक्षा कर देता है, किन्तु मोबाइल, इंटरनेट, अंग्रेजी दवा, फ़िल्म एवं वामपंथी लेखक-नेताओं की बातों पर आंख मूंद कर विश्वास करने लगता है ? जिन प्राचीन परम्परा एवं सनातन जीवनादर्शों के कारण पिछली कुछ शताब्दियों तक पृथ्वी इतनी स्वच्छ एवं सुंदर थी, वे भला अंधविश्वास कैसे हो सकते हैं, जबकि आज किसी भी युद्ध, महामारी अथवा संकट में विश्व के बुद्धिजीवी उन्हीं प्राचीन जीवनादर्शों को पुनः अपनाने के लिए कहते हैं। धर्मपरिवर्तन के दलाल ईसाई मिशनरियों की स्थिति स्वयं स्पष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि हम सभी जन्मजात पापी हैं, और ईसा मसीह हमारे पापों को लेकर क्रूस पर चढ़ गए, इसीलिए हमें उनकी शरण में जाना चाहिए। यदि उनकी इस बात को सत्य मान भी लें तो यहां दो स्थितियां हैं, या तो ईसा मसीह अपने इस कार्य में सफल हुए, या फिर असफल। यदि वे हमें पापमुक्त करने में सफल रहे, तो फिर हम जन्मजात पापी कैसे रह गए ? अथवा उनके ही देशों के न्यायालय किसी भी अपराध का दण्ड दे ही क्यों रहे हैं ? चूंकि अब हम पापमुक्त हैं, ईसा के बलिदान से, तो हमें अब ईसा की आवश्यकता ही नहीं, और यदि ईसा मसीह हमें पापमुक्त नहीं कर सके, तो फिर उनकी महानता क्यों सुनाई जा रही है, हम उनकी शरण में क्यों जाएं ?

एक सबसे महत्वपूर्ण बात यह भी है कि जब ईसा स्वयं यहूदी थे तो हमें ईसाई क्यों बनाया जा रहा है, हमें यहूदी बनाने पर जोर दिया जाना चाहिए। यदि हम चमत्कारों की ही बात करें तो विश्वरूप दर्शन कराने वाले श्रीकृष्ण, पाषाण रूपी अहल्या को नारी देह देने वाले श्रीराम, एवं हलाहल विष का पान करने वाले भगवान् शिव जी के चमत्कारों में क्या कमी है ? भगवान् विष्णु के पालक रहते हुए भला इस संसार का संहार करने में कौन समर्थ है ? अतएव भगवान्

विष्णु स्वयं ही रुद्ररूप को धारण करके इस संसार का समग्र रूप से संहार करते हैं। भगवान् शिव के संहारकर्ता होने पर भला कौन इस संसार का पालन करने में समर्थ हो सकता है ? अतएव भगवान् शिव स्वयं ही विष्णुरूप को धारण करके इस संसार का पालन करते हैं। इस हरिहर रहस्य को जानने वाला ही वास्तविक अर्थों में शैव है, वही वैष्णव है। शिवभक्ति एवं विष्णुभक्ति का परमोच्च लाभ दोनों में अभेदबुद्धि को धारण करना ही है। धर्म केवल धार्मिकों के लिए है। धार्मिक केवल धर्म के लिए हैं। धार्मिक व्यक्ति धर्म के विरुद्ध कुछ नहीं करता, एवं धर्म भी नास्तिकों की कोई परवाह नहीं करता। नास्तिक जब धर्म आदि को मानते ही नहीं, तो फिर पूरा जीवन मानसिक आक्रोश लिए हुए धर्म के खंडन में समय क्यों नष्ट करते हैं ? एक ऐसा सिद्धांत, जिसे वे मानते ही नहीं, उसके पीछे अपना संसाधन और समय क्यों लगाते हैं ?

ज्ञान का फल ही भक्ति है। जब ज्ञान का उदय होता है तो उसकी अभिव्यक्ति भक्ति के रूप में प्रत्यक्ष होती है। नाम जप, कीर्तन आदि बाह्य माध्यम है भक्ति को पुष्ट करने का। जैसे पानी में फल नहीं लगता है, किन्तु पानी को पेड़ में डालिये, पेड़ का पोषण कीजिये तो फल मिलता है। वैसे ही नाम-जप आदि खाद-पानी है। ज्ञान वृक्ष है और भक्ति उसका फल है। दूसरे दृष्टिकोण में, भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है। चार प्रकार में सर्वोच्च भक्त ज्ञानी को ही बताया गया है। जैसे फल में पूरे वृक्ष का सार है, वैसे ही भक्ति में ज्ञान का सार है। जैसे उसी फल का आगे पराकाष्ठा रूप वृक्ष होता है, वैसे ही भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है। दृष्टिभेद से होता है, कि है भी और नहीं भी। मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य है, किन्तु दिखता नहीं। स्वच्छाकाश में सूर्य दर्पण में दिखता है किंतु होता नहीं है। इसी प्रकार होता भी और नहीं भी होता है।

आजकल धार्मिक स्थल से जुड़े होने का अपना अलग अहंकार होता है। मैं वृन्दावन का हूँ, काशी का हूँ, चित्रकूट का हूँ, कामाख्या या द्वारिका का हूँ, बद्रीनाथ या तिरुपति का हूँ, अतएव मैं ही श्रेष्ठ हूँ, शेष व्यक्ति, आचार्य या शास्त्र मुझसे न्यून हैं, ऐसा सोचने वाले व्यक्ति अपने साथ साथ तीर्थ की प्रतिष्ठा की हानि के निमित्त भी बनते हैं। शास्त्रों में तीर्थवासी की महिमा उसकी ब्राह्मी दृष्टि, ज्ञान, तपोबल एवं भक्ति के आधार पर कही गयी है, उसके छद्म दम्भ एवं लोलुपता के आधार पर नहीं। बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि काशी, हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वरम् आदि स्थावर तीर्थों के साथ साथ गुरु, गौ, शास्त्र, विप्र आदि जंगम तीर्थों की मर्यादा का भी समुचित पालन करे। तीर्थ लकड़ी है, उसका प्रभाव अग्नि है, पाप शीत है, तपस्वी साधक सूर्य है तथा दम्भी व्यक्ति जल के समान है। जब तीर्थ में दम्भी व्यक्ति का वास होता है तो वह जल में भीगी लकड़ी के समान बन जाता है, जिससे उसकी पापरूपी शीत को नष्ट करने की क्षमता न्यून होने लगती है। पुनः तपस्वी साधकरूपी सूर्य का तेज पाकर तीर्थरूपी काष्ठ में दाहिकाशक्ति का विकास होता है। अतएव तीर्थवासी का कर्तव्य है कि वह सूर्य के समान बने, जल के समान नहीं। तीर्थ में किया गया पाप अज्ञात होने पर नष्ट एवं ज्ञात होने पर वज्रलेप (चिरस्थायी) होता है। वहां के प्रभाव एवं उसकी पवित्रता का हठपूर्वक हनन करने वाले व्यक्ति को तीर्थ एवं देवताओं का प्रभाव भी निष्पाप नहीं कर पाता है।

हमका गुरु जगद्गुरु और तुम्हारा गुरु बैल, ये प्रवृत्ति गुरु और शिष्य दोनों को डुबाती है। जब भगवान् अपने लीला कलेवर और लोक का संवरण करेंगे तो अनित्य हो जाएगा। जब नहीं करेंगे तो नित्य रहेगा। अद्वैत भक्त के लिए वह संवरण करके उसे अनित्य कर देते हैं और द्वैत भक्त के लिए नित्य कर देते हैं। वस्तुतः वह लोक द्वैत भक्त हेतु नित्य हो जाता है और अद्वैत भक्त हेतु अनित्य। तद्धामं परमं मम ... जो अद्वैत वाला है, वो निर्गुण प्रधान होकर धाम को अनित्य मानेगा और जो द्वैत वाला है, वह सगुण प्रधान होकर नित्य मानेगा। ये यथा मां प्रपद्यन्ते ... एक ही मार्ग नहीं है। भक्त को अद्वैत में निष्ठा है तो भगवान् तद्रूप फल देंगे और यदि द्वैत में निष्ठा है तो उसी अनुरूप परिणाम होगा। अपने आचार्य और परम्परा के आधार पर, बिना अन्य से द्वेषपूर्ण आक्षेप किये धर्माचरण करें। भक्ति और ज्ञान में कौन बड़ा है ? निर्भर करता है कि आपको पहले किसकी समुपलब्धि हुई ... यदि पहले ज्ञान मिला है तो उसकी पूर्णता भक्ति में होगी जैसे महामना उद्धव जी, महाभागवत विदुर जी आदि। यदि पहले भक्ति मिली है तो वह ज्ञान में पूर्ण होगी जैसे माता शबरी, भक्तराज अर्जुन आदि। ज्ञान का सर्वोच्च फल भक्ति एवं भक्ति का सर्वोच्च फल ज्ञान है। इन दोनों में भेद देखने वाला अपरिपक्व है।

आपको तो भगवान् प्रिय हो गए किन्तु क्या आप भी भगवान् के प्रिय बन पाए ? गीताजी के बारहवें अध्याय भक्तियोग के अन्तिम दस श्लोक बार बार पढ़ें। भक्ति का अर्थ भाव से जुड़ना होता है, मैं भक्त हूँ इसीलिए मैं शास्त्रोक्त कर्तव्यों को नहीं करूंगा, यह भक्ति नहीं, भक्ति का आभास मात्र है। महानिर्वाण तन्त्र का कथन है कि श्रीपुरी क्षेत्र में भगवती दक्षिणाकालिका ही जगन्नाथ महाप्रभु के रूप में स्थित हैं। महाभागवत का वचन है कि दश महाविद्या उपासकों की ही तत्त्वतः वैष्णव संज्ञा है। मैं उन्हें ही सच्चा शैव एवं वैष्णव मानता हूँ जो एक दूसरे को देखकर वैसे ही प्रसन्न, उत्साहित एवं प्रफुल्लित हो जायें जैसे भगवान् शिव एवं भगवान् विष्णु एक दूसरे को देखकर होते हैं।

किसी का सम्मान या स्वागत करना पूजा है। उसे प्रसन्न करने की क्रिया आराधना है। उसके और अपने बीच भावनात्मक दूरी को कम करना उपासना है और उससे एकाकार होना साधना है। इससे सरल नहीं बता सकता। वैदिक काल जैसा कुछ नहीं होता। वेद कालातीत हैं, नित्य और अपरिवर्तनीय हैं। पौराणिक काल भी कुछ नहीं होता, हां ऐसे कह सकते हैं कि जिस काल में वेदव्यास जी ने पुराण प्रणयन या विस्तार किया। पुराण, शास्त्र, वेद, आगम नित्य और कालातीत हैं। उनका लोकविस्तार या अन्तर्हित होना अलग बात है। कौन अवतार, कौन अवतारी ? एक ही व्यक्ति कपड़े बदल रहा है समझ लें। यदि आपकी आस्था विष्णु रूप में है तो रामकृष्ण उनके अवतार हुए। यदि आपकी आस्था रामतत्त्व में है तो कृष्ण विष्णु उनके अवतार हुए। यदि कृष्ण तत्त्व में आस्था है तो शेष उनके अवतार हुए। तत्त्व नहीं बदलता। स्वरूप बदलता है। सबों के अवतार और अवतारी, दोनों होने के प्रमाण मिलते हैं। किसी एक स्वरूप को केंद्र में रखकर शेष को अवतार कहते हैं उपासना विधि में। सबों के नाम पर उपनिषत् है, श्रुतिमन्त्र हैं, अतः सब का तत्त्व एक ही है। इससे अधिक रहस्य समझना या समझाना यहां सम्भव नहीं है।

किसी स्थान पर चर्चा के समय अनेकों प्रबुद्धों के वचनों को सुनने के बाद नीतीश मिश्र जी ने मुझसे एक प्रश्न किया :

“आदरणीय श्रीभागवतानंद जी ! आप बहुत अच्छे विद्वान् हैं। कई दिनों से एक प्रश्न मेरे हृदय में उबाल ले रहा है यदि आप उसका निराकरण करेंगे तो अतिकृपा होगी। जिस विषय पर आदरणीय महेश जी ने भी अपना मत रखा किन्तु उसमें जो तथ्य था वह सनातन को विरल नहीं रहने देता। मेरा प्रश्न है कि जब सभी सनातनी ही थे तो अन्य धर्मों का उद्भव कैसे हुआ ?अन्य धर्मों की उत्पत्ति कैसे हुई ? कैसे ईसाई, मुस्लिम आदि धर्म अस्तित्व में आये? जब गीता कहती है कोई भी कार्य भगवान् की इच्छा के विरुद्ध नहीं होता तो कैसे मुस्लिम (राक्षस तथाकथित) अस्तित्व में आये ? इन धर्मों के उद्भव के क्या कारण रहे होंगे ?”

निःसन्देह ऐसे ही प्रश्न आपके मन में भी आते होंगे। अब यह विषय है तो बहुत बड़ा किन्तु संक्षेप में इस पर मेरा निम्न उत्तर है :- जैसा कि श्रीपुरीशंकराचार्य स्वामी निश्चलानंद जी महाभाग कहते हैं कि **हिन्दुओं का प्रमाद ही अन्य मतान्तरों के वर्द्धन का कारण है। हमने अपने कर्तव्यों में प्रमाद किया, अतएव उन्होंने अपनी प्रवृत्ति में वृद्धि की।** मैं तो समझता हूँ कि दिन और रात, पाप और पुण्य ये मात्र खेल हैं। साथ ही ये खेल अनिवार्य भी हैं। आज जो परिभाषा धर्म की बना दी गयी है, उसमें सनातन न धर्म है, न अधर्म। सनातन सर्वांगीण है। यह निर्लेप है। यह किसी भी सीमा से परे हैं और यह सर्वथा द्वंद्वातीत है। जो धर्म का पालन करते हैं, वे सनातन धर्मी हैं। जो अधर्म का पालन करते हैं, वे सनातन अधर्मी हैं। सनातन से तो आप बच ही नहीं सकते। क्योंकि सनातन स्वयं महाकाल के द्वारा निर्मित काल है। जिस काल में अंधकार भी है, प्रकाश भी है। सत्य भी है, असत्य भी है। पाप भी है, पुण्य भी है। अपि च, आज म्लेच्छ बलात्कार कर रहे हैं, गोमांस आदि खा रहे हैं, तो ये नयी बात है ? बिलकुल नहीं। यह उसी समय से चला आ रहा है, जिस समय से धर्म है। महिष मानुष धेनु खर अज खल निशाचर भक्षहीं। पहले भी होता था। क्या रावण सनातनी नहीं था ? बिल्कुल था। लेकिन सनातन अधर्मी था। कंस, शिशुपाल आदि सनातन अधर्मी थे। और अन्य पांडवादि सनातन धर्मी। अब रही बात उद्भव की। तो यह मात्र हमारी कल्पना है कि ये हिन्दू है, ये मुस्लिम है, ये जैन है आदि आदि। वास्तव में सभी सनातनी हैं। वास्तव में जितने भी प्राणी वायु, जल, प्रकाश, अन्न, भूमि आदि के ऊपर आश्रित हैं, सभी सनातनी हैं। लेकिन बात वही है, इनमें से कौन सनातन धर्मी है, और कौन सनातन अधर्मी।

कई ऐसे मुसलमान प्रेत हैं, जिनके उद्धार की घटनाएं आधुनिक जगत में भी सर्वविदित हैं। गीताप्रेस से निकली परलोक और पुनर्जन्मांक पढ़े। तो यदि अल्लाह ने मुसलमान को, गॉड ने ईसाई को, यहोवा ने यहूदी को और ईश्वर ने हिंदुओं को बनाया होता तो हम कह सकते थे कि सभी अपने अपने रचयिता की प्राकृतिक रचनाओं पर आश्रित रहेंगे। परंतु ऐसा तो दृष्टिगोचर नहीं होता। जब सभी सनातन अधर्मियो का हिसाब सनातन प्रणाली से ही होना है और होता है फिर कैसी शंका कि ये हमसे अलग कैसे हुए ? यह मात्र एक कपोल कल्पना है कि ये सनातन से अलग हैं। हाँ हिंदुत्व से अलग हो सकते हैं, सनातन से नहीं। कारण कि सनातन तो सर्वांगीण हैं और उसमे तो अच्छाई है, वह हिंदुत्व है। व्यष्टि हिंदुत्व है और समष्टि सनातन। पर प्रश्न है कि मुस्लिम ईसाई सिख धर्म कब अस्तित्त्व में आये ? यदि ये पूर्व में थे तो इतनी विकृति क्यों हो रही है ? मुस्लिम, जैन, ईसाई यह हमारी कल्पना मात्र कैसे हो सकती है?

मुस्लिम, जैन, आदि ये कल्पना नहीं। इनकी भिन्नता कल्पना है। कल्पना इसीलिए कि सनातन के अंतर्गत दो ही शब्द हैं। आर्य या हिन्दू और म्लेच्छ। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण करने वाले और नीच आचरण करने वाले। यहाँ आर्य का अर्थ आर्य समाजी नहीं है। ये लोग बिना प्याज़ का मुर्गा खाने वाले हैं। अब कालांतर में इसमें परिवर्तन आया। आज कलियुग के प्रभाव से इसमें संकरता दिखती है। यहाँ कई ऐसे हैं जो मांसाहार, यहाँ तक कि गोमांस भी खाते हैं, बलात्कार करते हैं और फिर भी स्वयं को हिन्दू कहते हैं जबकि वे इसके लायक ही नहीं। जैसे ही उन्होंने हिंदुत्व के मानदंडों का अतिक्रमण किया, वे अधर्मी बन गए। हिन्दू कभी अविधि मांसाहार नहीं करता, और माँसाहारी कभी हिन्दू नहीं होता। परंतु लोगों को वास्तविक परिभाषा ज्ञात नहीं, सो भ्रमित हो जाते हैं। सिक्खों की बात अलग है। वे तो सनातन धर्मी हिन्दू हैं। उन्हें बाद में षड्यंत्र के तहत अलग घोषित कर दिया गया। गोविंदसिंह जी का चंडी चरित्र ग्रन्थ देखें। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब मैंने पूरी पढ़ी है। वो भी उनकी मूल लिपि में। वैष्णव भक्तियोग का उत्कृष्टतम ग्रन्थ है। फिर वे भिन्न कैसे ? ये सभी सनातन के हिंदुत्व के पंथभेद हैं।

सनातन के म्लेच्छत्व के अंतर्गत अन्य अधर्मी पंथ आये। ये तो आधुनिक नाममात्र हैं। विचारधारा तो हिरण्यकशिपु, महिषासुर और त्रिपुरादि की ही है। बस नाम बदल लिया। कार्य, विचार और शैली तो वही है। हिंदुत्व की परिभाषा, जो मेरुतंत्र, माधव दिग्विजय, पारिजात हरण, अद्भुतकोष आदि में दी है, उसके अनुसार देखा जाय, तो ही मेरी बात समझ में आएगी। सनातन सर्वांगीण है। इसमें रावण भी है, राम भी हैं। दुर्योधन भी हैं और युधिष्ठिर भी। यह समष्टि है। सनातन विराट भगवान् के विग्रह वर्णन में अधर्म को उनकी पीठ बताया गया है। उसका भी एक स्थान है। दिन और रात्रि दोनों अहोरात्र काल के अंश हैं। वैसे ही धर्म तथा अधर्म, पाप एवं पुण्य दोनों सनातन के ही अंश हैं। स्वार्थ में बोला गया झूठ अधर्म बन जाता है और किसी के प्राण बचाने के लिए बोला गया झूठ धर्म बन जाता है। अशांति हेतु की गई ही हिंसा अधर्म है और न्याय संरक्षण के लिए उठाया गया शस्त्र धर्म है। अस्तु, कर्म वही है लेकिन एक प्रारूप में धर्म है और एक में अधर्म। अतः सनातन समष्टि है। दर्शन अर्थात नज़रिया। जब से विवेक है, चिंतन है, तब से दर्शन है। और आदिकाल से केवल सनातन ही है, अनन्त काल तक केवल सनातन ही रहेगा, सो समस्त दर्शन सनातन में ही निहित हो जाते हैं।

सनातन शब्द का वैयाकरणिक विग्रह सना अव्यय में तनन् प्रत्यय के योजन से सिद्ध होता है। सना का अर्थ है शाश्वत, अविनाशी। तनन् विस्तारे... विस्तार के सन्दर्भ में तनन् प्रत्यय लगता है। सनातन का शाब्दिक अर्थ है, जो व्यापक है और जो अविनाशी है। दोनों है तभी सनातन है, अन्यथा नहीं। अविनाशी है पर संकुचित, तो भी सनातन नहीं। व्यापक है पर शाश्वत नहीं, तो भी सनातन नहीं। व्यापक एवं अविनाशी है तभी सनातन है। अस्तु। अन्य आर्ष शब्दकोश, पुरातन काव्य, पुराण, साहित्यिक स्रोतों के अवलोकन एवं संकेत से सिद्ध होता है कि सनातन का वांछित एवं कल्याणकारी भाग हिंदुत्व है, धर्म है तथा अनुकरणीय है। शेष अकल्याणकारी है, त्याज्य एवं अवांछित है। सनातन समष्टि है तथा हिंदुत्व व्यष्टि है। दर्शन समूहों का आस्तिक भाग सनातन का हिंदुत्व भाग है तथा नास्तिक भाग उसके

विपरीत। सनातन कोई मत या पंथ या शैली नहीं है। यह अस्तित्व है। यह अस्तित्व है सकारात्मकता एवं नकारात्मकता का। यह अस्तित्व है दिन रात, प्रकाश अंधकार, ज्ञान अज्ञान, पाप पुण्य, स्वार्थ त्याग का। यह अस्तित्व है भौतिक, दैविक एवं आत्मिक आयामों का। आप अच्छे या बुरे हों, रहेंगे सनातन के ही अंदर। आप राम हों या रावण, रहेंगे सनातन के ही अंदर। इसी अस्तित्व पर आपका भी अस्तित्व आश्रित है। सनातन में ग्राह्य आस्तिक विषय धर्म है, शेष अधर्म है। अब नास्तिक मत चूंकि धर्म का भाग नहीं है तो वह किसी भी धर्म का नहीं हुआ। अपि च, धर्म सहस्रों हैं नहीं। धर्म एको हि निश्चलः ! यह एक है, अपरिहार्य, अपरिवर्तनीय, अक्षुण्ण है। हाँ, इसके विभिन्न प्रभाग, विभिन्न पटल, विभिन्न दृष्टिकोण अवश्य हैं। जैसे एक ही शरीर में सहस्रों अंग हैं जो एक दूसरे के प्रति सहभागिता रखते हुए आश्रित हैं। वैसे ही एक ही धर्म के भी भिन्न भिन्न अंग हैं। एक ही अधर्म के भी भिन्न भिन्न अंग हैं।

समष्टि सनातन के व्यष्टिरूप में हिन्दू धर्म एवं अहिन्दू अधर्म समाहित हैं। अतः हम कर्मकांड में पाप, रोग, अधर्म की भी पूजा करते हैं। कलियुग को भी नमन करते हैं क्योंकि वह भी सनातन व्यवस्था के अस्तित्व का ही अंग है। हाँ, वह सनातन के अधर्म भाग का अंश होने से अग्राह्य है। लेकिन यदि आप इस ब्रह्मांड के किसी भी तत्व, विचार या क्रिया को सनातन से बाहर मानते हैं तो उसका अस्तित्व सम्भव ही नहीं। इसी धारणा को चतुःश्लोकी भागवत एवं अर्धश्लोकी भागवत में सिद्ध किया गया है। सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्। पराशक्ति कहती हैं कि जो भी कुछ है मैं ही हूँ, मेरे अलावा कोई भी सनातन नहीं। अर्थात, मेरे सिवा कोई भी एक साथ अविनाशिता एवं व्यापकता से युक्त नहीं। तन्त्रोक्त रात्रिसूक्त में पितामह ब्रह्मा जी इसी उक्ति को पुष्ट करते हुए कहते हैं सदसद्वाखिलात्मिके.. सत्य और असत्य, दोनों आप ही हैं। भ्रम और ज्ञान आप ही हैं। धर्म और अधर्म भी आप ही हैं। अतः सनातन समष्टि है जिसमें धर्म और अधर्म व्यष्टिरूप से समाहित हैं। धर्मभाग आस्तिक है, ग्राह्य, अनुकरणीय है। लेकिन अधर्मभाग नास्तिक है, त्याज्य है। अस्तु। इत्यलम् ...

--*

क्या श्री बलराम जी शराबी थे ?

श्रीरामकथा के अभूतपूर्व प्रवंचक मुरारिदास, जिसे उसके अज्ञानान्धकार में फंसे भक्तजन मोरारी बापू भी कहते हैं, ने कुछ काल से निरंतर व्यासपीठ का अनधिकृत प्रयोग करते हुए खुले रूप से धर्मद्रोह की श्रृंखला प्रारम्भ कर दी है। पहले तो कथामंच से अली मौला, या हुसैन के नारे लगवाना, छाती पीट कर मुहर्रम का मातम मनाना, और फिर करुणानिधान श्रीराम जी के स्थान पर विश्व भर के सर्वाधिक आतंकवादी घटनाओं के जिम्मेदार समुदाय के प्रवर्तक की कल्पित एवं प्रायोजित करुणा का बखान करने लगना यह दिखाता है कि मुरारिदास या तो गम्भीर रूप से विक्षिप्त है अथवा विधर्मियों के द्वारा खड़ा किया गया एक कुशल धूर्त। कुछ समय पहले तो इसके मंच से मुजरा भी करवाये जाने का वीडियो प्रसिद्ध हुआ था। जिस शास्त्र की रक्षा के लिए श्रीरामावतार होता है, जिस शास्त्र के विरुद्ध कृत्य करने वाले की भर्त्सना श्रीकृष्ण भगवान् करते हैं, यह व्यक्ति उन्हीं देवस्तुत्य शास्त्रों से भी स्वयं को ऊपर मानता हुआ उनमें संशोधन की बात करता है। सनातन धर्म के किस ग्रंथ की किस उक्ति के कारण विश्व में कितने बम फूटे, कितने अपहरण और बलात्कार हुए, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु जिस किताब के अनुयायियों ने किताब पढ़ पढ़कर बम फोड़े, और फोड़ रहे हैं, अपने मत को न मानने वाले लोगों का अपहरण और बलात्कार कर रहे हैं, उस किताब में संशोधन करने की बात एक बार भी इस धूर्त के मुख से नहीं निकलती है।

"शास्त्रों में संशोधन, या हुसैन से गठजोड़ समय की मांग है" ऐसा कहने वाला यह व्यक्ति सनातनी समाज को बताए कि महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महारानी अहल्याबाई आदि ने अपने विकटतम संघर्ष के समय, धर्मरक्षा में कष्ट क्यों भोगा ? क्योंकि नहीं उसी समय गठजोड़ एवं संशोधन कर दिया ? हमारे किस ग्रंथ में लिखा है कि श्रावण बीतने पर मुसलमानों को मारो, अथवा कार्तिक बीतने पर ईसाईयों पर घात करो ? बल्कि उनकी ही किताबों में लिखा है कि रमजान का महीना बीत जाए तो काफिरों को मार दो। फिर संशोधन किसमें होना चाहिए ? "समय की मांग है" कहने वाला यह पाखण्डी, सनातनी समाज को यह बताए कि समय की मांग कहने का अधिकार इसे किसने दिया ? स्वयं मुसलमानों की चापलूसी करने वाला यह व्यक्ति क्या उन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्हें निर्वस्त्र करके म्लेच्छों ने दो दो दीनार में बेच दिया था ? क्या यह व्यक्ति सनातनी धर्माधिकारियों की उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्हें मारकर उनके जनेऊ को तौला जाता था, क्योंकि लाशें गिनने में समस्या होती ? क्या यह व्यक्ति उन लाखों करोड़ों गायों का प्रतिनिधित्व करता है, उन लाखों देवालयों का प्रतिनिधित्व करता है, उन लाखों बालक बालिकाओं का प्रतिनिधित्व करता है जिनके प्राण और अस्तित्व क्रूरकर्मा म्लेच्छों ने यही अली, हुसैन, गाजी, मौला, ख्वाजा और मुहम्मद के नाम पर नष्ट कर डाले हैं ? है कौन यह व्यक्ति जो स्वयं को सर्वोच्च मानकर ऐसा प्रलाप करता है ?

कथित पीठाधीश्वरों को बाकी सब भी सन्त ही लगते हैं चाहे वो व्यक्ति शंकराचार्य जी को मंच से अपशब्द कहने वाला हो या चिता से फेरे दिलाने वाला। कोई धर्माचार्य दूसरे के अशास्त्रीयता का खुल का विरोध नहीं करता आजकल । ये रोग बहुत भारी पड़ेगा क्योंकि बाद में ये धूर्तजन ही वास्तविकों के ऊपर हावी हो जाएंगे। मोरारी का नेटवर्क तगड़ा है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

अभिनय अच्छा करता है। बाकियों को मूर्ख बना रखा है कि देखो, हमपर लोग अत्याचार कर रहे हैं बुढ़ापे में। व्यक्तिवादी हो चले हैं सब। अब शास्त्रवादी होना पड़ेगा। समाज में आपके व्यक्तिगत धर्माचरण से अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। आपके प्रत्यक्ष सामाजिक समर्थन या विरोध से पड़ता है। मोरारी बापू का समर्थन करने से समाज में यही संदेश जाएगा कि मोरारी बापू ने रामजी का जनेऊ हटवाया, ये सही है। चिता से विवाह कर सकते हैं, यह भी सही है और भगवन्नाम के स्थान पर पैशाचस्मरण भी कर सकते हैं, यह भी सही है। देवी सरस्वती के सामने नमाज पढ़नी चाहिए और त्रिपुंडधारियों को उमर खय्याम की लेखनी पढ़नी चाहिए, यह भी सही है। बाद में सनातनी शास्त्रनिष्ठ जनों को यही म्लेच्छ कहते हैं कि देखो अमुक पीठाधीश्वर ने भी समर्थन किया है, फिर तुम कौन होते हो कुछ कहने वाले ?

साधु शास्त्र संशोधन नहीं करवाता। साधु चिता से फेरा नहीं दिलाता। साधु जनेऊ नहीं उतरवाता। मठाधीशों ने तब विरोध नहीं किया तो क्षमा करवाने के लिए उन्हें नेता बनने की आवश्यकता नहीं है। विरोध हमलोगों ने किया है। क्षमा करना है कि नहीं, ये हमलोग देख लेंगे। जब धूर्त लोग मंच से अली मौला करते हैं, शास्त्र में बदलाव की बात करते हैं तो ये सब पीठाधीश्वर कहाँ चले जाते हैं ? हमलोग मुखर विरोध करें तो बीच बचाव में पंचायत करने क्यों आते हैं ? समय क्या है ? काल क्या है ? श्रीकृष्ण ने कहा - मैं ही काल हूँ। कालोऽस्मि ... और वही श्रीकृष्ण कहते हैं, शास्त्र के विरुद्ध मत चलो। हम श्रीकृष्ण रूपी समय की मांग को सही कहें या धूर्तों की बात को ? इसके समर्थक लोग कहते हैं कि ये सन्त हैं, साधु हैं, इनकी शैली समझो। कथा के लिए एक रुपया भी नहीं लेते। करोड़ों रुपए दान में देते हैं।

बहुत अच्छे से हम इसका व्यापार समझते हैं। साधु और सन्त का काम क्या है ? समाज को धर्म के प्रति आस्थायुक्त करना, अथवा उसको अपने ही आराध्यों के प्रति संदेह, उपहास एवं घृणा से भर देना ? एक भी रुपया नहीं लेने का दावा करने की बात की जांच आप स्वयं कर लें। इनके प्रबन्धकों को फोन करें और कहें कि हमें कथा करानी है। इसके राजसी ठाठ और व्यवस्था के खर्च को सुनकर ही आपको वास्तविकता ज्ञात हो जाएगी। ये जो करोड़ों रुपये दान देता है, यदि हम उससे ही इसे साधु कह दें तो फिर वेटिकन वालों को तो सबसे बड़ा साधु कहना पड़ेगा क्योंकि भारत में अपने अनुयायी बढ़ाने के लिए वे लोग हज़ारों करोड़ खर्च कर रहे हैं। हिंदुओं की दी गयी दक्षिणा के करोड़ों रुपयों से हज़ यात्रा करवाने वाले यह धूर्त हिन्दू धर्म का वह कोढ़ है, जिसे खुजलाने में तो आनंद आता है किंतु वह और भी सड़न उत्पन्न करता ही रहता है।

श्रीरामकथा, श्रीकृष्णकथा में जो ज्ञान है, जो वीरता है, अवतार का उद्देश्य एवं शिक्षा जो है, उसे न बताकर इधर उधर का प्रलाप, म्लेच्छों का गुणगान, गौभक्षकों के साथ उठना बैठना, उनके ही टेंट, माइक, गायन, भोजन का प्रयोग करना, और कथाभाग के नामपर केवल श्रीराम जी की कारुण्यप्रधान नरलीला, श्रीकृष्ण भगवान् की लोकलीला का बिना पूर्वापर प्रसङ्ग, उद्देश्य, कारण आदि बताए हुए भ्रामक प्रस्तुति देना, यह सब इस कालनेमि का प्रमुख कृत्य बन गया है। इसके एक अनुयायी ने तो हमें यहां तक कह दिया कि जब बापू जी जैसे "पॉपुलर" हो जाओ, तब बात

करना। संख्याबल और प्रसिद्धि ही, यही प्रधान है तो फिर ईसा और मुहम्मद के अनुयायियों की संख्या तो पांच अरब की है। मोरारी बापू के तो एक करोड़ भी न होंगे। और तो और, मोरारी बापू तो आततायी मजहब वालों को करुणानिधान बताता ही है, फिर क्यों इसके चेले हिन्दू वेष बनाकर घूम रहे हैं, सीधे कलमा क्यों नहीं पढ़ लेते हैं ? धर्म की बात करने के लिए पॉपुलर नहीं बनना पड़ता, शास्त्रनिष्ठ बनना पड़ता है।

श्रीराम दरबार जी के दिव्य रूप को विकृत करके धनुष बाण, एवं यहां तक कि शास्त्रोक्त यज्ञोपवीत तक उतरवा लेने वाला यह म्लेच्छ स्वयं को सन्त कैसे कह सकता है ? शास्त्रों में संशोधन की बात कहकर, भारत को पिछले एक हज़ार वर्षों से रक्तरंजित करने वाले म्लेच्छों से गठजोड़ की बात कहने वाला यह छद्मवेशी म्लेच्छ कैसे साधु हो जाएगा ? यदि हम कहें कि इसकी शैली को समझो, तो फिर ग्राह्य नहीं, क्योंकि जिस शैली से देवताओं के प्रति अनादर उत्पन्न हो, शास्त्रों में अनास्था हो, वह शैली महापुरुषों की नहीं, पाखंडियों की ही होती है।

अभी कुछ दिन पूर्व उसका एक वीडियो प्रसिद्ध हुआ, जिसमें इसने कुछ मुख्य बिन्दु कहे -

१) कृष्ण का जीवन टोटल फेल था।

२) बलराम शराबी था।

३) रुक्मिणी, राधा आदि कृष्ण को ताना मारती थी।

उपर्युक्त विषय पर मान्य धर्माधिकृत सज्जनों ने बहुत प्रकार से आपत्ति करते हुए मुरारिदास के इस नीच वक्तव्य की भर्त्सना की, एवं शास्त्रों के कई प्रमाणों से इसका खण्डन भी किया। इस विषय पर मैं संक्षेप में ही, अति सूक्ष्म भाव से सनातनी समाज को मुरारिदास के द्वारा उत्पन्न किये गए भ्रमजाल से निकालने के लिए कुछ बिंदु प्रस्तुत करूँगा। भगवान् श्रीकृष्ण का लौकिक जीवन, जिसकी उपासना, आराधना, स्वयं महाभागवत भीष्मपितामह, सर्वज्ञ वेदव्यास जी, धौम्य, दुर्वासा, नारद, च्यवन, गर्ग, सांदीपनि, शांडिल्य, मार्कण्डेय आदि अनेकानेक ऋषिगण, इन्द्र, वरुण, शंकर, अग्नि, ब्रह्मा, कामधेनु आदि अनेकानेक श्रेष्ठ देवगण करते हैं, उनके जीवन का साफल्य बस दो ही व्यक्तियों को समझ में नहीं आया है, एक तो शिशुपाल, और एक मुरारिदास। जैसे उस काल में शिशुपाल के साथ पौंड्रक, रुक्मी आदि चाटुकार थे, वैसे ही मुरारिदास के चाटुकार भी उसके वक्तव्यों की प्रशंसा करते हैं। अतएव श्रीकृष्ण भगवान् का जीवन कितना सफल रहा, इसे अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। श्रीराधा, रुक्मिणी आदि ने भगवान् को हास विनोद में कुछ कहा हो तो लीलाभाव में सर्वथा ग्राह्य है किंतु उन्होंने निन्दापरक होकर कुछ कहा ही नहीं है, अतः यह वक्तव्य भी मात्र मुरारिदास की धूर्तता ही है। हां, बलराम जी शराबी थे या नहीं, इस विषय पर केंद्रित होते हुए मैं बहुत से गुप्त कथानकों एवं परिस्थितियों के कारण प्रकाशित करते हुए इस लेख में चर्चा करूँगा।

सर्वप्रथम तो हम देखते हैं कि बलराम जी कौन हैं !! संकर्षणोपनिषत् के अनुसार बलराम जी शेषनाग के अवतार हैं। शेषनाग के अन्य अवतारों की चर्चा उसी उपनिषत् में श्रीराम जी के भाई लक्ष्मण, वैयाकरण पतञ्जलि, श्रीरामानुजाचार्य

जी आदि के रूप में भी आई है। प्रत्येक देवता का, जब वह एक सगुण अवतार या सगुण रूप धारण करता है, तो उसका एक गुण होता है। गुण का अर्थ यहां अच्छाई बुराई से नहीं है। गुण का अर्थ यहां सात्विक, राजस, एवं तामस गुणों से है। वैसे तो सभी देवताओं में सभी गुण होते हैं किंतु उसमें भी वे स्वभावतः एक गुण का प्रकाशन विशेष रूप से करते हैं। जैसे भगवान् विष्णु को स्वभावतः सात्विक गुण की प्रधानता से वर्णित किया गया है तो भगवान् भैरव आदि को तमोगुण की प्रधानता से। देवी लक्ष्मी को सामान्यतः सात्विक गुण वाली बताया गया है तो देवी निकुम्भिला को तमोगुण वाली कहते हैं।

हालांकि सत्वगुण से भी सबों की पूजा हो सकती है और तमोगुण से भी, किन्तु एक गुण की सामान्य प्रधानता वाले की आराधना उसी गुण से युक्त होकर करनी चाहिए। वैसे परमात्मरूप में दोनों निर्गुण गुणातीत हैं किंतु फिर भी लोकव्यवहार में शिव जी को तमोगुण का अधिष्ठाता बताया गया है, और विष्णु भगवान् को सत्वगुण का। फिर भी यह सर्वदा स्थायी नहीं रहता इसीलिए तमोगुण की प्रधानता वाले कर्म को निमित्त बनाकर विष्णु का नृसिंहावतार हुआ और सत्वगुण की प्रधानता वाले कर्म को निमित्त बनाकर शिव का दक्षिणामूर्ति अवतार। कभी कभी कार्यभेद से गुणभेद भी हो जाता है, इसीलिए भगवान् सूर्य ने वैनतेय अरुण को तमोगुणी विष्णु एवं सात्विक शिव का भी संकेत किया है -

गुणत्रयवशात्तेषां वैषम्यं विद्धि सुस्थितम्। ब्रह्मा हि राजसः प्रोक्तो विष्णुस्तामस उच्यते॥
रुद्रस्स सात्विक: प्रोक्तो मूर्तिर्वर्णैश्च तादृशा:।
(सूर्यगीता, अध्याय - ०३, श्लोक - ३२)

देवताओं में गुणों की विभिन्नता के कारण भिन्नता प्रतीत होती है, जैसे ब्रह्मा राजस हैं, विष्णु तामसी हैं और शिव को सात्विक कहा गया है। उनके स्वरूप का रंग भी वैसा ही है। (ब्रह्मा लालिमा से युक्त हैं, शिव जी गोरे हैं, एवं विष्णु भगवान् सांवले हैं)

जिस देवता का जो स्वाभाविक गुण होता है, वह वैसे ही स्वरूप का कर्म का प्रदर्शन करता है। जैसे कालिका देवी का स्वाभाविक गुण तामसी है, तो उनके स्वरूप में आपको कपाल, रक्तपान, अस्थिमाला आदि दिखेंगे। भगवान् नारद जी का गुण सात्विक है तो वहां आपको वीणा, पुष्पमाला, कमण्डलु, अक्षमाला आदि दिखेंगे। प्रत्येक देवता अथवा उनके अवतार जिस गुण का आश्रय लेकर सगुणाकृति धारण करते हैं, वैसे ही स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि देवताओं के चरित्र की नकल करने से अकल्याण होता है, 'न देवचरितञ्चरेत्' उनके उपदेशों का ही अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा भगवान् शिव की भांति हलाहल विष पीने की नकल करने से कष्ट ही भोगना पड़ेगा। देवताओं के कर्म, स्वरूप, अवतार ये इन्हीं गुणत्रयी में से किसी को अधिष्ठान बनाकर होते हैं, इसीलिए उसका प्रदर्शन करते हैं। अब हमने जाना कि बलराम जी शेषनाग के अवतार हैं। शेषनाग का प्रधान नाम संकर्षण है। ये कभी कभी रजोगुण की प्रधानता धारण करते हैं तो कभी तमोगुण की प्रधानता से कार्य करते हैं। आप ध्यान देंगे तो पाएंगे कि सत्वगुण की

प्रधानता वाले विष्णुसम्बन्धी अंश से भगवान् श्रीराम आये, जो स्वभावतः गम्भीर, शांत एवं सहनशीलता के धनी थे। रजःप्रधान तमोगुणी शेषनाग के अंश से अवतरित लक्ष्मण जी में क्रोध, चंचलता, असहिष्णुता और अधीरता अधिक दिखते हैं। रजोगुण की प्रधानता वाले परशुरामावतार में क्रोध की प्रधानता है तो सत्वगुण की प्रधानता वाले नर-नारायण का अवतार में वैराग्य आदि की भावना। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अवतार अपने तत्सम्बन्धी सात्विकादि गुणों का ही प्रदर्शन करता है। जैसे अग्नि के गुण में दाह और जल के गुण में शीतलता। सूर्य के गुण में प्रकाश तो पृथ्वी के गुण की उर्वरता एवं सहनशक्ति। इस सभी शक्तियों एवं तत्वों के अधिष्ठाता देवता भी अपने व्यक्तित्व एवं कर्म में उन्हीं गुणों का प्रदर्शन करते हैं।

अंशेन वासुदेवस्य जातो रामो महायशाः। सङ्कर्षणस्य चांशेन लक्ष्मणः परवीरहा॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड - ०१, अध्याय - २१२, श्लोक - २१)
गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि। रामेति लोकरमणाद्बलभद्रं बलोच्छ्रयात्॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध - १०, अध्याय - ०२, श्लोक – १३)
सङ्कर्षति प्रजाश्चान्ते ह्यव्यक्ताय यतो विभुः। ततः सङ्कर्षणो नाम्ना विज्ञेयः शरणागतैः॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय - ३९, श्लोक – १८)
ज्येष्ठः सङ्कर्षणो नाम कनीयान्कृष्ण एव तु।
(हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय - ०६, श्लोक – ०२)

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण, वासुदेव, गोविंद, आदि सब व्यवहार में समान व्यक्तित्व के लिये प्रयुक्त हैं, वैसे ही बलराम, बलभद्र, अनन्त, राम, बल, शेष, संकर्षण आदि भी समानरूप से ही समझे जाने चाहिए। देवकी के गर्भ से खींच कर (योगमाया के द्वारा) रोहिणी के गर्भ में स्थापित होने से उन्हें संकर्षण कहते हैं। संसार को आनंद देने से राम और बल की अधिकता से बलभद्र कहते हैं। सृष्टि के अंत में अव्यक्त ब्रह्म के प्रति सभी प्राणियों को बलपूर्वक खींचते हैं इसीलिए शरणागत जनों के द्वारा उन्हें संकर्षण के नाम से जाना जाता है। ज्येष्ठावतार, बड़े भाई का नाम संकर्षण (बलराम) एवं कनिष्ठावतार, छोटे भाई का नाम कृष्ण है। यहां मात्र अवतार के समय पहले और बाद में आने से छोटे बड़े होने की बात है।

सङ्कर्षणो मकारस्तु
(लक्ष्मीतन्त्र, अध्याय – २४)
सङ्कर्षणस्य विद्याया रक्तो वर्ण इहोच्यते।
(विश्वक्सेनसंहिता, अध्याय - १३, श्लोक - ०५)
सङ्कर्षणो रक्तवर्णः
(प्रश्नसंहिता, अध्याय - ३६, श्लोक – ०७)

रक्तवर्णस्तु राजसः
(प्रकाश संहिता, प्रथम परिच्छेद, अध्याय - ०४)

ओंकार की साढ़े तीन मात्रा (अ, उ, म और बिंदु) के गुण क्रमशः सात्विक, राजस, तामस एवं गुणातीत हैं। इसमें मकार यानी तमोगुणी तत्व, जो संहार का कारक है, उसके अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण ही है, जो लोकसंहार का प्रथम उपक्रम करते हैं। संकर्षण सम्बन्धी विद्या का रंग लाल बताया गया है। संकर्षण का वर्ण लाल है। अब लाल रंग वाले संकर्षण हैं, तो लाल रंग किसका प्रतीक है ? रजोगुण का। इसीलिए संकर्षण तत्व में, एवं तदंशभूत बलराम जी में रजोगुण की प्रधानता है।

द्वितीया कालसंज्ञान्या तामसी शेषसंज्ञिता। निहन्ति सकलांश्चान्ते वैष्णवी परमा तनुः ॥
(कूर्मपुराण, अध्याय - ४८)

साथ ही, कालसंज्ञक एवं शेषसंज्ञक दूसरी वैष्णवी मूर्ति को तमोगुण वाली कहते हैं जो अन्त, प्रलयकाल में सबका संहार कर देती है। रजोगुण की प्रधानता से क्या लक्षण दिखते हैं ?

श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध - १०, अध्याय - १०, श्लोक - ०८)

ऐश्वर्य का मद, स्त्रियों से विहार, द्यूत एवं मद्य का सेवन, यह सब रजोगुण के प्रतिफल हैं। रजोगुणी तत्व की प्रधानता वाले अवतार को धारण करने से बलराम जी में यह सब रजोगुणी लक्षण भी दिखते हैं। ऐश्वर्य के मद से ही उन्होंने क्रुद्ध होकर हस्तिनापुर के विनाश की लीला की। रैवतक पर्वत पर स्त्रियों के साथ विहार किया, अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी आदि के साथ द्यूतक्रीड़ा की तथा वारुणी मदिरा का सेवन भी करते थे। शेषावतार का कार्य पृथ्वीर्वा ब्रह्माण्ड की स्थिति को सूक्ष्म शक्तियों से धारण किये रखना है।

शेषो भूत्वाहमेको हि धारयामि वसुन्धराम्।
(ब्रह्मपुराण, अध्याय - ५६, श्लोक - २०)
पातालानामधश्चास्ते शेषो विष्णुश्च तामसः।
(अग्निपुराण, अध्याय - १२० श्लोक - ०४)
पातालानामधश्चान्ते शेषो विष्णोश्च तामसः । गुणानन्यान् स चानन्तः शिरसा धारयन्महीम् ॥
(अग्निपुराण, अध्याय - १०५)

पाताल के नीचे तामसी विष्णु (पांचरात्र मत से विष्णुदेव की तामसी मूर्ति को संकर्षण कहते हैं) विश्राम करती है। विष्णु के तामसी रूप शेषनाग पाताल के भी नीचे अन्तभाग में रहते हैं जो अन्य (राजस की प्रधानता एवं सत्व की

न्यूनता आदि गुणों) को भी धारण करते हुए मस्तक पर पृथ्वी को धारण करते हैं। पद्मपुराण की शिवगीता में कहते हैं - दुःखास्पदं रक्तवर्णं चञ्चलञ्च रजो मतम्। श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में कहते हैं - रक्तवर्णं रजः प्रोक्तमप्रीतिकरमद्भुतम् । रक्तवर्ण वाला यह रजोगुण दुःख एवं चंचलता देता है। रजोगुण की प्रधानता से हुए लक्ष्मणावतार में चंचलता दिखती ही है। अद्भुत, किन्तु कष्टकारक कर्म कराने वाले रजोगुण का वर्ण लाल है। बलराम जी अद्भुतकर्मा भी थे किंतु उन्होंने महाभारत में तटस्थ रहकर, सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ तय करके और भी ऐसे कतिपय भावनात्मक निर्णयों से अपने सुहृदों के लिए किंचित् कष्ट की स्थिति निर्मित करके रजोगुणी अवतार की लीला सार्थक की थी। अब हम उनके मदिरापान की बात करते हैं। शास्त्रों में व्यापकता से मदिरापान की निंदा की गई है। हां, कुछ औषधीय प्रयोगों में इसे ग्राह्य बताया गया है किंतु वहां भी इसे श्रेष्ठ नहीं कहा गया है। इसका कारण है कि -

बुद्धिं लुम्पति यद्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानञ्च यथा मद्यं सुरादिकम्॥
(शार्ङ्गधर संहिता, पूर्वखण्ड, अध्याय - ०४, श्लोक - २१)

जो द्रव्य बुद्धि का नाश कर दे, उसे तमोगुण की प्रधानता के कारण मदकारक कहते हैं, जैसे मद्य, सुरा आदि। मद्य, मधु, सुरा, मदिरा आदि ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। इनका अर्थ है, मदहोश करने वाला। जैसे प्याज़, शलगम आदि भी सब्जी है और लौकी, पपीता आदि भी। किन्तु प्याज़ आदि ग्राह्य नहीं है, और पपीता आदि ग्राह्य है। वैसे ही मधु या सुरा की श्रेणी में शराब, शहद, शर्बत, यहां तक कि अमृत आदि सब आ जाएंगे। उनमें से कुछ ग्राह्य हैं, कुछ नहीं। यथा, स्त्रीरमण शब्द का अर्थ पत्नी से रमण ही होता है। माता भी स्त्री ही कहाएंगी, किन्तु वहाँ पत्नी वाला भाव नहीं रहेगा। तो जैसे स्त्री एक जातिवाचक शब्द है, उसमें माता पत्नी बहन आदि ग्राह्य अग्राह्य भेद हैं, वैसे ही मधु, सुरा आदि जातिवाचक हैं जिसमें ग्राह्य एवं अग्राह्य श्रेणी हैं। आयुर्वेदिक ग्रंथों में सुरा से रोगों की चिकित्सा का व्यापक वर्णन है।

यदा नाडी भवेत्क्षीणा रोगेऽस्मिन् भिषजा तदा। सजला बललाभाय मृतसञ्जीवनी सुरा॥
(भैषज्य-रत्नावली, अध्याय - ९९, श्लोक - ०६)

बलराम जी केवल वारुणी नाम का ही पेयविशेष ग्रहण करते थे, किसी अन्य मदिरा आदि का नहीं। वारुणी को किस ऋतु में पिए, किस रोग में सेवन करके, इसके कुछ सामान्य उदाहरण देखें -

वाग्भट संहिता के चिकित्सास्थान का वचन है - स्नेहाढ्यैः सक्तुभिर्युक्तां लवणां वारुणीं पिबेत्॥ सुश्रुत संहिता के उत्तर तन्त्र का वचन है - सुसंस्कृताः प्रदेयाः स्युर्घृतपूरा विशेषतः। वारुणीं च पिबेज्जन्तुस्तथा संपद्यते सुखी॥

शीतलत्वाद्दतोश्चापि न तावत्परिभिद्यते। तस्मात्तैलगुडोपेतां वारुणीं शिशिरे पिबेत्॥
(भेल संहिता, विमान स्थान, अध्याय - ०६, श्लोक - २०)

बलराम जी स्वयं परम् योगेश्वर हैं। वे योगबल से भी वारुणीपान कर सकते हैं, अतएव उनमें सामान्य पतित मद्यप की

भावना का आधान उचित नहीं है। कपालमुद्रां वारुणीं पिबामि (हाहारावतन्त्र) - मैं (साधक) कपालमुद्रा (चक्रस्थित बिंदुविशेष) वाली वारुणी को पीता हूँ। ओंकार की जो अंतिम बिंदुमात्रा है, उसे भी वेदों में वारुणी कहा गया है।

परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥
(नादबिन्दूपनिषत्)
रुद्रयामल तन्त्र का वचन है -
कलासप्तदशप्रोक्ता अमृतं स्राव्यते शशिः। प्रथमा सा विजानीयादितरे मद्यपायिनः ॥

चंद्रमा की (लौकिक सोलह एवं यौगिक एक के साथ कुल) सत्रह कलाएं हैं जिनसे वह अमृत टपकाता है। उसे ही (पञ्चमकार में) प्रथम जानना चाहिए। उसका ही सेवन करने वाला तन्त्र में मद्यप है, अन्यथा सामान्य शराबी तो बहुत से हैं। इस प्रकार से वारुणी शब्द का, उस वारुणी मद्य का, यौगिक, तांत्रिक एवं वैदिक अर्थ यह सिद्ध करता है कि योग, तन्त्र एवं वेदों के परम उपास्य श्रीबलरामजी वारुणीपान करते हुए भी लौकिक व्यसनियों की भांति निंद्य नहीं है। शतपथब्राह्मण में 'अन्नं सुरा' आदि भी आया है।

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥
(मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, वैखानस गृह्यसूत्र)

उपर्युक्त श्लोक से सुरा के गौडी, पैष्टी एवं माध्वी, इन तीन प्रकार की सुरा का वर्णन है जो द्विजातियों के लिए सर्वथा त्याज्य है। नारद पुराण निर्माणद्रव्य के भेद से इनके ग्यारह प्रकार बताता है। कुछ के मत से खजूर से बनी हुई मदिरा का नाम वारुणी है।

तालं च पानसं चैव द्राक्षं खार्जूरसंभवम् ॥
माधुक शैलमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम् ।गौडी माध्वी सुरा मद्यमेवमेकादश स्मृताः ॥
(नारदपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय - ३०, श्लोक - ३०-३१)

कुछ लोग अधिक बड़े धर्मरक्षक बनने के फेर में कहते हैं कि बलराम जी ने वारुणी पान किया ही नहीं है। यह बात सर्वथा अनुचित है। बलराम जी निःसन्देह वारुणी पान करते थे।

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् । विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध - १०, अध्याय - ६७, श्लोक - १०)

बलराम जी के नेत्र मद से चञ्चल हो रहे थे, वे वारुणी का पान करके गा रहे थे एवं उनके व्यक्तित्व की शोभा मदमस्त हाथी के समान हो रही थी। (यह प्रसङ्ग उस समय का है जब वे विहार के लिए रैवतक पर्वत पर गए थे और उन्होंने बाद में द्विविद का वध किया था।) जिस प्रकार से श्रुतिमन्त्र, पूर्वकाल के अयोध्या की श्रीरामाकर्षिता स्त्रियां एवं ऋषियों

ने भी श्रीकृष्णचन्द्र जी के साथ गोपीवेश से कात्यायनी देवी की पूजा से प्राप्त वरदान के फलस्वरूप शरद पूर्णिमा में यमुना तट पर रासलीला की थी, वैसे ही शेषनाग के अवतार श्रीबलराम जी ने भी यमुना तट पर चैत्र पूर्णिमा को गोपीवेष धारण करने वाली नागकन्याओं के साथ रासक्रीड़ा की थी।

अथ च या नागकन्याः पूर्वोक्तास्ता गोपकन्या भूत्वा बलभद्रप्राप्त्यर्थं गर्गाचार्याद्बलभद्रपञ्चाङ्गं गृहीत्वा तेनैव सिद्धा बभूवुः ॥ ताभिर्बलदेव एकदा प्रसन्नः कालिन्दीकूले रासमण्डलं समारेभे ॥ तदैव चैत्रपूर्णिमायां पूर्णचन्द्रोऽरुणवर्णः सम्पूर्णं वनं रञ्जयन् विरेजे॥ (गर्गसंहिता, बलभद्रखण्ड, अध्याय - ०९)

(सम्बंधित ग्रंथ में पहले वर्णित) नागकन्याओं ने गोपकन्याओं का रूप धारण करके गर्गाचार्य जी से बलभद्र जी के पञ्चाङ्ग (पटल, पद्धति, कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम) प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त की। इस बात से बलराम जी प्रसन्न हुए और उन्होंने कालिंदी (कलिंद अर्थात् सूर्य की पुत्री होने से यमुना जी का नाम कालिंदी है) के तट पर रासमण्डल का आरम्भ किया। उस चैत्र पूर्णिमा को किंचित् लालिमा वाला पूर्णचन्द्र (यहां बलराम जी को भी लाल वर्ण वाला पूर्ण चन्द्र बताने का भाव है) सम्पूर्ण वन को आनंदित करता हुआ विराजमान था। आगे वर्णन है -

अथ वरुणप्रेषिता वारुणी देवी पुष्पभारगन्धलोभिमिलिन्दनादितवृक्षकोटरेभ्यः
पतन्ती सर्वतो वनं सुरभीचकार ॥

वरुण देवता के द्वारा भेजी गयी वारुणी देवी ने, फूलों के गन्ध को लोभ वाली मधुमक्खियों से गुंजायमान वृक्षों की खोढर से बहकर गिरती हुई उस वन को चारों ओर से सुगंधित कर दिया। वहां वे अत्यंत प्रसन्न होकर वारुणी का पान करते हुए मधुर गीत वाद्य आदि में कुशल गोप एवं गोपियों के साथ आनंदित हो रहे थे।

पपौ च गोपगोपीभिः समवेतो मुदान्वितः । उपगीयमानो ललितं गीतवाद्यविशारदैः ॥
(विष्णुपुराण, अंश - ०५, अध्याय - २५)

वारुणी देवी के प्राकट्य, बलराम जी के द्वारा उनके पान की यह कथा विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत महापुराण आदि में भी वर्णित है। प्राड्विपाक मुनि ने दुर्योधन के साथ हुए सम्वाद में उसे विस्तार से बलरामजी के दिव्य ईश्वरीय रूप का वर्णन करते हुए बलरामजी की स्तुति की है -

जय जयाच्युतदेव परात्पर स्वयमनन्तदिगन्तगतश्रुत।
सुरमुनीन्द्रफणीन्द्रवराय ते मुसलिने बलिने हलिने नमः॥
(गर्गसंहिता, बलभद्रखण्ड, अध्याय - ११, श्लोक - ०२)

कभी अपनी महिमा से नीचे नहीं गिरने वाले परात्पर अच्युतदेव की जय हो। जो अनन्त हैं, जिनका कभी अन्त नहीं होता, जिनकी महिमा सभी दिशाओं में विख्यात है, जो देवताओं, ऋषियों और नागों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे हल-मूसल को धारण करने वाले, बल के धाम (बलराम) के लिए प्रणाम है।

अब बताईये, गौभक्षक म्लेच्छों के साथ रहने वाला, मंच से गुणगान करने वाला कोई बापू हो या स्वामी, भला बलराम जी के दिव्य रूप को कैसे जान सकता है ? अब हम देखते हैं कि वारुणी कहते किसे हैं। बलराम जी वारुणी ही क्यों पीते थे, वारुणी कितने प्रकार की है, उसके निर्माण की विधि क्या है, उसके सेवन का क्या प्रभाव है, आदि आदि …

अन्नादिसम्भवो योऽर्कस्तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥

अन्न इत्यादि के द्वारा जो अर्क बनता है, उसे मद्य कहा जाता है। शिव जी ने रावण को तंत्रायुर्वेद ग्रंथों में कई प्रकार के मद्य का उपदेश करके करके अंत में कहा -

शालिपेठकपिष्ट्यादिकृतो योऽर्कः सुरा तु सा। पुनर्नवाशिवापिष्टैर्विहिता वारुणी स्मृता ॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय - ०५ अथवा सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक - ०९)

चावल एवं पेठे की पिष्टी बनाकर जो अर्क निकाला जाता है, उसे सुरा कहते हैं। पुनर्नवा एवं हरड़ को पीसकर उसकी पिष्टी से निकाला गया अर्क वारुणी कहलाता है। रावण को शिव जी ने सौ से अधिक प्रकार के अर्क एवं मद्य के निर्माण की विधि बताई है। इसी बात में रावण ने मन्दोदरी को बताते हुए कहा है -

पुनर्नवाशिलापिष्टैर्विहिता वारुणी च सा। संहितैतालखर्जूररसैर्या सा च वारुणी ॥
(दिव्यौषधिकल्प, मद्यप्रकरण, पटल - ११, श्लोक - ५९)

पुनर्नवा को पत्थर पर पीस कर, उससे बनने वाले मद्य को वारुणी कहते हैं। ताड़ एवं खजूर के रस से जो मद्य बनता है, उसको भी वारुणी कहते हैं। (आजकल भी आयुर्वेद-ग्रंथों के आधार पर पुनर्नवारिष्ट अथवा द्राक्षासव बनाते और सेवन किये जाते हैं, जो शरीर में बल, वीर्य, ओज, रक्त आदि की वृद्धि करते हैं, इनकी भी तन्त्रमत में वारुणी संज्ञा है)

पर्यायाद्यो भवेन्मद्यस्तामसो राक्षसप्रियः। मण्डादि राजसो ज्ञेयस्ततो वै सात्विको भवेत् ॥
सात्विकं गीतहास्यादौ राजसं साहसादिके। तामसे निंद्यकर्माणि निद्रां च बहुधा चरेत् ॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय - ०५, सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक - ११-१२)

बारम्बार एक ही तत्व को धर्षित करके बनाए गए (अथवा अत्यधिक मात्रा में सेवन किये गए) को तामसी मद्य कहते हैं। मांड आदि से बनाये गए (मतांतर से कभी कभी लिए गए) मद्य को राजसी कहते हैं। इसके अतिरिक्त शेष (औषधि आदि से निर्मित, संवित्शक्ति को देने वाले) मद्य को सात्विक कहते हैं। सात्विक मद्य का प्रयोग गीत, हास्य, विलास

आदि में होता है। साहस, युद्ध इत्यादि के कार्य में राजस मद्य का प्रयोग होता है। शेष निंद्य कर्म तथा निद्रा आदि को प्रदान करने वाले कर्म में तामसी मद्य का प्रयोग होता है। वारुणी के दो अन्य पर प्रभेद भी होते हैं - राजवारुणी एवं क्षुद्रवारुणी। राजवारुणी के निर्माण की विधि बताते हैं -

शुण्ठी कणा कणामूलं यवानी मरिचानि च। तुल्यान्येतानि सर्वाणि एभ्यो द्विघ्नोऽम्नलो रजः॥
प्रोक्तान्तर्गतदिक्कान्नं स्वादुसंख्या नखोन्मिता। सर्वेभ्यो द्विगुणं स्वादं स्थापयेन्मासमात्रकम्॥
कुर्यादष्टप्रहरकं प्रत्यहं च ततः पुनः।
ततो निष्कासयेदर्कं सुरेयं राजवारुणी। मासं भूमौ निखातव्या तत ऊर्ध्वं च भक्षयेत्॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय - ०५, सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक - २३-२६)

सोंठ, पीपर, पिपरामूल, अजवायन एवं काली मिर्च को समान भाग में लेकर कूट लें और दोगुने अम्ल (मट्ठा, विनेगर, इमली पानी आदि) में मिलाएं। फिर इसमें दस प्रकार की शहद एवं बीस प्रकार के गन्ने का रस मिलाएं। (कुछ वैद्य इसमें आठ प्रकार की शहद एवं बारह प्रकार के गन्ने का रस मिलाते हैं) इसके बाद इन सबसे दोगुना गुड़ मिलाकर एक महीने तक घड़े में, प्रतिदिन आठ प्रहर दिन के धूप में रखें। उसके बाद इसका अर्क निकाल लें, इसे ही राजवारुणी कहते हैं। इसे पुनः एक महीने तक घड़े में बंद करके, ढ़ककर मिट्टी में दबा दें। एक महीने के बाद खोदकर निकालें एवं सेवन करें। अब इस राजवारुणी के पान से क्या लाभ होता है, उसका विवेचन करते हैं -

इयं शीता लघुः स्वाद्वीस्निग्धा ग्राही विलेखनी। चक्षुष्या दीपनी स्वर्या व्रणशोधनरोपणी॥
सौकुमार्यकरा सूक्ष्मा परं स्रोतोविशोधनी। कषाया च रसाह्लादा प्रसादजनका परा॥
वर्ण्या मेधाकरी वृष्या तथारोधकतां हरेत्। कुष्ठार्शः कासपित्तास्रकफमेहक्लमकृमीन्॥
मेदतृष्णावमिश्वासहिक्कातिसारविड्ग्रहान्। दाहक्षतक्षयायैवं योगवाह्याऽम्लवातला॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय - ०५, सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक - २७-३०)

यह राजवारुणी शीतल, हल्की, मीठी, चिकनी स्वभाव की, पतले दस्त को ठीक करने वाली, नेत्रों की ज्योति बढ़ाने वाली, भूख जगाने वाली, कण्ठ को मधुर करने वाली, घाव-जख्म आदि भरने वाली, शरीर को सुन्दर एवं सुकुमार बनाने वाली, नाड़ियों में रक्तप्रवाह को सुधारने वाली, शारीरिक कान्ति बढ़ाने वाली, धारणा शक्ति और वीर्य को पुष्ट करने वाली, अरुचि का नाश करने वाली, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), खांसी, रक्तपित्त, कफ, प्रमेह, थकावट, कृमि, मेदा रोग, अत्यधिक प्यास या उल्टी, श्वास रोग, हिचकी, अतिसार, कब्ज, जलन, बदहज़मी एवं क्षयरोग को दूर करने वाली है। अब इससे कुछ सामान्य गुणों वाली क्षुद्रवारुणी की विधि एवं प्रभाव पर ध्यान दें -

कङ्गुश्चीणा कोद्रवश्च श्यामाको वनकोद्रवः। शणबीजं वंशबीजं गवेधुश्च प्रसाधिका॥
यावन्त्येतानि चोक्तानि तुषधान्यानि वेधशः। सर्वे सन्तुट्य यत्नेन वितुषीकृत्य यत्नतः॥

तक्रे वा क्वचिदम्ले वा आकीटं तद्विनि:क्षिपेत्। ततो निष्कासयेन्मद्यं भवेत्सा क्षुद्रवारुणी॥
मण्डलार्धं तु भोक्तव्या बहुक्लेशकरैर्नरैः। क्षुधा तृषा च चिन्ता च "पर्वतारोहणादिकम्"॥
एतत्स सेवितो नास्ति "महाभारवहोऽपि वा"। सूता समुपवेष्टा चेज्जयेत् प्रसववेदनाम्॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय - ०५ / सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक - ३१-३५)

कँगुनी, चीना (सम्भवतः रामदाना), कोदो, साँवा, बनकोदो, सन के बीज, बांस के बीज (करील के उद्भवकण), गड़हेरुआ और प्रसन्धिका, ये सभी क्षुद्र धान्य कहलाते हैं। अब सबको अच्छे से कूटकर भूसी निकाल लें और मट्ठे या दूसरी (दोगुनी) खटाई में डाल दें। जब इसमें किण्वन (Fermentation) हो जाये तो अर्क निकाल लें। यह मद्य क्षुद्रवारुणी कहलाती है। अधिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को यह पन्द्रह दिन तक सेवन करनी चाहिए। इसके सेवन से अधिक परिश्रम करने की क्षमता विकसित होती है। """पर्वत चढ़ने वालों एवं भार ढोने वालों को कष्ट नहीं होता।""" बच्चे के जन्म के समय प्रसूता को इसे पिलाने से उसे प्रसवपीड़ा में आराम मिलता है। आप ध्यान देंगे तो कुछ बातें पाएंगे :-

१) बलराम जी रजोगुणी अथवा मतांतर से तमोगुणी अवतार हैं, जिसके कारण उनके व्यक्तित्व में तमोगुणी अथवा रजोगुणी क्रियोचित वारुणीपान की लीला सामान्य है।
२) बलराम जी का बारम्बार अत्यधिक बलयुक्त कार्य करना, लम्बी यात्राएं करना, रैवतक आदि पर्वतों पर चढ़ना वर्णित है, जिससे हुए लौकिक थकान को वारुणी दूर करती है। शेषावतार बलराम जी आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से पृथ्वी का भार भी वहन करते हैं, जिसमें भी वारुणी सहायिका होती है। अतः उनका सांकेतिक वारुणीपान इस दृष्टि की भी पुष्टि करता है।
३) बलराम जी पारिस्थितिक वारुणी पान के बाद नृत्य, गीत, संगीत, पर्वतारोहण, और आंशिक रूप से साहसिक युद्धादि कार्य भी करते थे। वे शराबियों की भांति उन्मत्त होकर प्रलाप या असामाजिक गतिविधियों में लिप्त नहीं रहते थे। उपर्युक्त श्लोकों में हमने वारुणी के प्रयोगों में तत्सम्बन्धी कृत्यों का उल्लेख किया है।

अब एक रहस्य कथा बताता हूँ कि वारुणी का ही पान बलराम जी क्यों करते थे ? क्योंकि वारुणी मद्य की अधिष्ठात्री देवी वरुणपुत्री वारुणी स्वयं बलराम जी की पत्नी हैं।

तदैव देवी वारुणी शेषपत्नी, तपश्चक्रे इन्दिराप्रीतये च ।
तदा प्रीता इन्दिरा सुप्रसन्ना, उवाच तां वारुणीं शेषपत्नीम् ॥

***

यदा रामो वैष्णवांशेन युक्तः संपत्स्यते भूतले रौहिणेयः।
मय्यावेशात्संयुता त्वं तु भद्रे श्रीरित्याख्या बलभद्रस्य रन्तुम्॥

***

संपत्स्यसे नात्र विचार्यमस्तीत्युक्त्वा सा वै प्रययौ विष्णुलोके ।
श्रीलक्ष्म्यंशाच्छ्रीरितीड्यां समाख्यां लब्ध्वा लोके शेषपत्नी बभूव ॥

***

या रेवती रैवतस्यैव पुत्री सा वारुणी बलभद्रस्य पत्नी ।
सौपर्णनाम्नी बलपत्नी खगेन्द्र यास्तास्तिस्रः षड्विष्णोश्च स्त्रीभ्यः ॥

***

रामेण रन्तुं सर्वदा वारुणी तु पुत्रीत्वमापे रेवतस्यैव सुभ्रूः ।
एवं त्रिरूपा वारुणी शेषपत्नी द्विरूपभूता पार्वती रुद्रपत्नी ॥
(गरुड़पुराण, ब्रह्मकाण्ड, अध्याय – २८)

वारुणी देवी ने, जो लक्ष्मी देवी की ही एक अंश थी (क्योंकि वे भी लक्ष्मी के साथ समुद्र से निकली थीं), उन्होंने लक्ष्मी देवी के दूसरे रूप इंदिरा की आराधना की थी। लक्ष्मी देवी ने तो श्रीविष्णु को पतिरूप में प्राप्त किया किन्तु वारुणी देवी शेषनाग को पति बनाना चाहती थीं। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीदेवी ने वरदान दिया - जब (बल)राम वैष्णवांश से युक्त होकर रोहिणीपुत्र के रूप में भूर्लोक में जाएंगे, तब तुम (वारुणी), मेरे अंश से आविष्ट होकर तुम बलभद्र के साथ विहार करोगी। तुम भी भूर्लोक में जाओगी, ऐसा कहकर देवी लक्ष्मी विष्णुलोक को चली गईं। उन्हीं लक्ष्मी के अंश का आश्रय लेकर वारुणी देवी संसार में शेषपत्नी बनी। जो रैवत की पुत्री रेवती हैं, वही बलराम की पत्नी वारुणी हैं। उन्हीं का नाम सौपर्णी (अथवा सुपर्णा) भी है। इस प्रकार से शेषनाग की तीन एवं विष्णु की छः पत्नियां हुई। (शेषनाग की तीन पत्नी - ज्योतिष्मती, सौपर्णी एवं वारुणी। अवतारभेद से तीन पत्नी - तुष्टि, उर्मिला एवं रेवती। भगवान् विष्णु की कलाभेद से छः पत्नियां - श्रीदेवी, भूदेवी, वृन्दा, सरस्वती, गंगा एवं पद्मा).... (गरुड़ जी कहते हैं) .... बलराम जी के साथ विहार की इच्छा से वारुणी ने रेवत की सुंदर पुत्री के रूप में अवतार लिया। इस प्रकार वारुणी तीन रूपों से शेषपत्नी बनी एवं पार्वती दो रूपों (दाक्षायणी सती एवं शैलजा उमा) से रुद्रपत्नी बनी।

एक तो बलराम जी स्वयं रजोगुण की प्रधानता वाले अवतार हैं, दूसरे वारुणी देवी स्वयं उनकी पत्नी अर्थात् शक्तिरूपा है, अतः स्वशक्ति का उपभोग शक्तिमान् को बाधित नहीं करता। जैसे अग्नि को उसकी स्वयं की दाहिका शक्ति जला नहीं सकती, वैसे ही शेषावतार बलराम जी को शेषपत्नी वारुणी का नकारात्मक प्रभाव नहीं हो सकता है। मुरारिदास इत्यादि ने परम्परा से, गुरुसेवा करके शास्त्र का अध्ययन तो किया नहीं है, इसीलिए उसके गाम्भीर्य को समझने की क्षमता नहीं रखते हैं। पुनश्च, म्लेच्छों की अतिवादिता ने उसके मन को विक्षिप्त कर दिया है, जो शास्त्रों के प्रति अश्रद्धा से व्याप्त है। उसके इस प्रलाप को सुनने के लिए जो लोग वहां बैठे थे, विष्णुनिन्दा सुन रहे थे, उन्हें भी गोहत्या का पाप निश्चय ही लगेगा।

हरि हर निन्दा सुनई जे काना। होई पाप गोघात समाना॥

क्या मुरारिदास या उसके प्रबंधकों में यह साहस है कि वह इस लेख में वर्णित शास्त्रोक्त प्रमाणों के आधार पर क्षमा मांगते हुए यह कह सकें कि बलराम जी पियक्कड़ शराबी नहीं थे जो दिनभर नशे में धुत्त रहते थे। मैं जानता हूँ कि वे ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि उनका कार्य समाज को धर्म की शिक्षा देना, शास्त्रनिष्ठ बनाना नहीं है, अपितु भ्रामक वार्ता करके समाज को दिशाहीन करते हुए पथभ्रष्ट करना और उसके माध्यम से अपनी दुकानें चलाना है। इन दिव्य रहस्यों को केवल गुरुकृपा से ही जाना जा सकता है, म्लेच्छों की काल्पनिक करुणा का बखान करके नहीं। वह कहता है कि धर्म में लड़ाई नहीं होती, अधर्म में होती है। सत्य है, किन्तु धर्म और अधर्म की परिभाषा तो मुरारिदास स्पष्ट करे। यदि करोड़ों हत्या और बलात्कार करने वाला अरबी मजहब भी धर्म है तो अधर्म की क्या परिभाषा है ? यहां पर धर्म और धर्म में नहीं, धर्म और अधर्म में ही तो लड़ाई है और ये है, कि अधर्म को ही धर्म बताकर हमें मूर्ख बना रहा है। अधर्म को ही धर्म समझने वाली विपरीत बुद्धि को भगवान् श्रीकृष्ण ने तामसी बताया है। बस वर्तमान स्थिति में यही कह सकता हूँ -

शेषः शेषामलज्ञानः करोत्वज्ञाननाशनम् ।
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)
निर्मल ज्ञान ही जिनमें शेष है, ऐसे भगवान् शेष अज्ञान का नाश करें।
नमोऽस्तु ते सङ्कर्षणाय बलभद्रायानन्ताय परमात्मने लीलामानुषाय।
लोकों को आकर्षित करने वाले, अनंत, बलभद्र, लीला से मनुष्य का रूप धारण करने वाले परमात्मा को प्रणाम है।

--*

क्या बुद्ध भगवान् विष्णु के अवतार थे ?

जब भी बुद्धावतार होता है, उसका उद्देश्य ही यही होता है कि राक्षसों को मोहित करके उन्हें वेदविरुद्ध आचरण की ओर प्रेरित करके उनकी अवनति करायी जाये - सम्मोहाय सुरद्विषाम्। वेदसम्मत आचरण से जिस रावण ने त्रैलोक्यविजय किया था, वही रावण वेदविरुद्ध आचरण में प्रवृत्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठा। रावण के व्यवहार और उसके परिणाम में ऐसा परिवर्तन, बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध के द्वारा रावण को (मायामय) उपदेश का वर्णन तथा वाल्मीकीय रामायण में बुद्ध, तथागत, नास्तिक आदि शब्दों की उपस्थिति इन तीनों बातों में अवश्य ही संगति स्थापित करती है।

बुद्धावतार के विषय में कुछ धारणाएं निम्न हैं –

१) सनातनी मानते हैं कि बुद्ध भगवान् विष्णु के अवतार हैं।
२) नवबौद्ध मानते हैं कि बुद्ध स्वतन्त्र हैं, किसी के अवतार नहीं।
३) कुछ सनातनी मानते हैं कि गौतम ही एकमात्र बुद्ध हैं और उन्होंने ही बौद्ध धर्म चलाया।
४) कुछ अधिक अध्ययन करने वाले सनातनी मानते हैं कि नहीं, गौतम से पूर्ववर्ती अजिनपुत्र बुद्ध भी थे और वही भगवान् विष्णु के अवतार हैं।
५) कुछ लोग मानते हैं कि गौतम बुद्ध, अजिनपुत्र महात्मा काश्यप बुद्ध, ये सभी भगवान् विष्णु के ही अवतार हैं एवं बुद्ध अनेकों हुए हैं और आगे भी होंगे।

मैं शास्त्र प्रमाण और परम्परा के आधार पर यह मानता हूँ कि आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन दोनों साथ साथ ही आये हैं। नास्तिक दर्शन के प्रसार हेतु समय समय पर बुद्धों का अवतार होता आया है एवं ब्राह्मण महात्मा बुद्ध तथा क्षत्रिय गौतम बुद्ध, दोनों ही भगवान् विष्णु के अवतार हैं। अब पुनः लोग कहेंगे कि आपके वचन का श्रीकरपात्री स्वामी आदि के वचनों से विरोध हो रहा है, तो मैं यही कहूंगा कि इस लेख को ध्यान से समझते हुए पढ़ें तो आपको मेरे कथन का पूर्ण बोध हो जाएगा। बहुतायत से ऐसे लोगों की संख्या विश्व में व्याप्त है जो बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार मानते हैं। वहीं कई ऐसे लोग हैं जो बुद्ध को भगवान् का अवतार स्वीकार ही नहीं करते। अस्तु, प्रथम तो हम बुद्ध शब्द पर ध्यान देते हैं। बुद्ध का शाब्दिक अर्थ है, जागृत होना, सतर्क होना तथा जितेन्द्रिय होना।

वस्तुतः बुद्ध एक व्यक्तिविशेष का परिचायक न होकर स्थितिविशेष का परिचायक है। वर्तमान समय में बुद्ध शब्द का व्यापक प्रयोग राजकुमार सिद्धार्थ के विरक्त रूप के लिए किया जाता है। हमारे ग्रन्थ तथा ऋषियों ने इस सन्दर्भ में क्या कहा है, इस बात की चर्चा आज हम करेंगे। सनातन धर्म की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही बड़ी उदार है। हमारे यहाँ किसी भी विषय, सिद्धांत और मत पर व्यापक चर्चा एवं विमर्श का स्थान उपलब्ध है। इसीलिए हमारे धर्मशास्त्रों में एक अंग दर्शनग्रन्थ का भी है। दर्शन का अर्थ है, दृष्टिकोण। यहाँ दर्शन का अर्थ है, धर्म को देखने का दृष्टिकोण। आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन, दोनों की व्यवस्था हमारे यहाँ की गयी है, क्योंकि यदि अन्धकार न रहे तो प्रकाश की परवाह कौन करे ? अज्ञान न रहे तो ज्ञान का महत्त्व कैसे प्रतिपादित होगा ? आस्तिक दर्शन में पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा,

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का नाम आता है तथा नास्तिक दर्शन में बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन का।

एक भ्रम लोगों में बहुतायत से व्याप्त है कि गौतम ही बुद्ध थे। एक दूसरा भ्रम यह भी व्याप्त है कि गौतम बुद्ध नहीं थे, बल्कि बुद्ध कोई और थे। जबकि सत्य यह है कि गौतम *ही* नहीं, गौतम *भी* बुद्ध थे। वस्तुतः बुद्ध एक नहीं बहुत हैं। जैसे कि पूर्व में बताया गया कि बुद्ध मात्र एक स्थिति विशेष का नाम है तो उस स्थिति में पहुँचने वाला प्रत्येक प्राणी बुद्ध कहलाया। युगाधारित अवतारों में व्यास का कार्य है वेदों का विभाजन, पुराणों का संकलन, तथा ग्रंथों का संरक्षण। बुद्ध का कार्य है, समाज में जो लोग धर्म के नाम पर पाखण्ड तथा अविहित पशुहिंसा आदि करें, ऐसे आसुरी सम्पदा से युक्त पुरुषों को मायामय उपदेश के द्वारा सनातन से विमुख करना, जैसे किसी फोड़े को शरीर से काट कर इसीलिए अलग कर दिया जाता है कि वह अन्य अंगों को क्षति न पहुंचा सके। कल्कि का उद्देश्य है, बौद्ध - जैन तथा अन्य म्लेच्छों का विनाश करके पुनः विशुद्ध सनातन को स्थापित करना तथा व्यवस्था परिवर्तन करना।

इस संसार में वेद से इतर कुछ भी नहीं। इस संसार में स्वतः प्रमाण वेद भगवान् का समर्थन और प्रतिपादन न करने वाला वाक्य मान्य और प्रामाणिक नहीं। अतः एक सच्चा वैदिक वही है जो पुराण द्वेष न करे क्योंकि वेदों के पोषक पुराण ही हैं। एक सच्चा पौराणिक वही है जो वेद निंदा न करे क्योंकि वेद सभी तत्वों के मूल हैं। बुद्ध एक नहीं हुए हैं। अनेकों बुद्धों का आगमन हो चुका है, तथा अनेकों बुद्ध आयेंगे। प्रवीण, निपुण, अभिज्ञ, कुशल, मैत्रेय, गौतम, कश्यप, शक्र, अर्यमा , क्रतुभुक, कृती, सुखी, शशांक, निष्णात, सत्व, शिक्षित, सर्वज्ञ, सुनत, रुरु, मारजित्, बुद्ध, प्रबुद्ध आदि कई बुद्धों एवं बोधिसत्वों का वर्णन आता है। अब बौद्धावतार का कारण बताते हैं।

मिश्रदेशोद्भवाम्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः।

.....

शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्॥

.....

अहं लोकहितार्थाय जनिष्यामि कलौयुगे।

.....

कीकटे देशमागत्य ते सुरा जज्ञिरे क्रमात्। वेदनिन्दां पुरस्कृत्य बौद्धशास्त्रमचीकरन् ॥

.....

वेदनिन्दाप्रभावेण ते सुराः कुष्ठिनोऽभवन्।

.....

विष्णुदेवमुपागम्य तुष्टुवुर्बौद्धरूपिणम्। हरिर्योगबलेनैव तेषां कुष्ठमनाशयत्॥

(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, खण्ड – ०४, अध्याय – २०)

कलियुग के आने पर मिस्र देश में उत्पन्न कश्यप गोत्रीय म्लेच्छों ने शिखा रख कर तथा जनेऊ धारण करके स्वयं को ब्राह्मण घोषित कर दिया तथा स्वयं भी वेदपाठ करते हुए देवताओं का पूजन करने तथा कराने लगे। इससे त्रस्त होकर

देवताओं ने देवराज इंद्र के समक्ष जाकर समाधान हेतु निवेदन किया। देवराज ने उनकी प्रार्थना पर उन असुर म्लेच्छों को मोहित करने के लिए बौद्धमार्ग का विस्तार करके वेदों के निंदापरक ग्रंथों को लिखने के लिए बारहों आदित्य के साथ कीकट में अवतार लिया। वेदनिन्दा करने के कारण उन्हें कुष्ठ हो गया अतः वे समस्त देवगण बुद्धरूपधारी विष्णु जी के पास गए जिन्होंने अपने योगबल से उनका रोगनाश किया। तो वस्तुतः बुद्ध का आगमन सनातन धर्म के अंदर जिन म्लेच्छों ने घुसपैठ कर रखी थी, उनके विनाश के लिए हुआ था तथा उसी समय उन्होंने ब्राह्मणों की शुद्धि करते हुए नकली ब्राह्मणों को मोहित करते हुए उन्हें सनातन से काट कर बौद्ध मत में दीक्षित करके सनातन की शुद्धि कर दी। श्रीमद्भागवत में भी वर्णन है -

"धर्मद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां......वेषं विधाय बहुभाष्यत औपधर्म्यम्"

तथा

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्नाजिन सुतः कीकटेषु भविष्यति॥

असुरों को मोहित करने के लिए बुद्ध का अवतार हुआ था। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश देने के कारण उन्हें अधार्मिक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु वेद तथा ईश्वर निंदक होने के कारण वे धार्मिक भी नहीं कहलाये। अतः उन्हें उपधार्मिक कहा गया है।

कुछ अन्य जन यह बात भी करते हैं कि वस्तुतः विष्णु के अवतारों में पहले बलराम तथा कृष्ण को अलग अलग गिना गया था तथा बाद में आदिगुरु शंकराचार्य जी ने बलराम को हटा कर बुद्ध को सम्मिलित कर दिया। लेकिन इसका कोई प्रमाण न आदिशंकराचार्य जी के किसी ग्रन्थ में में मिलता है और न ही वर्तमान में किसी शांकरपीठ के पास इसका प्रमाण है। साथ ही कभी शंकराचार्य जी ने भी नहीं कहा कि बुद्ध विष्णु के अवतार नहीं थे और न ही दलाई लामा इसे *अस्वीकार* करते हैं। कुछ मूर्ख तो यह भी कहते हैं कि दशावतार में बुद्ध का नाम नहीं है, इसे बाद में जयदेव कवि ने जोड़ दिया। हाँ, इस बात के कई प्रमाण अवश्य हैं कि तंत्रग्रंथों तथा पुराणों में शंकराचार्य जी के आगमन से बहुत पूर्व से ही विष्णु भगवान् के बौद्धावतार की बात कही गयी थी और श्रीमद्भागवत आदि कई ग्रन्थों में बलराम को अवतार-सूची से हटाये बिना ही बौद्धावतार का उल्लेख है। ऐसे ही प्रमाण देवीभागवत, विष्णु पुराण, स्कन्द पुराण, नृसिंह पुराण आदि में भी प्राप्य हैं।

अस्तु, अब लोग बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार तो स्वीकार कर लेंगे परन्तु यह कहेंगे कि यहाँ तो कीकट प्रान्त में अजिन के पुत्र के रूप में वर्णन हैं। फिर हम गौतम को क्यों माने कि वे बुद्ध थे और भगवान् के अवतार थे ? इसका प्रमाण भी पुराणों में प्राप्य है।

एतस्मिनैव काले तु कलिना संस्मृतो हरिः। काश्यपादुद्भवो देवो गौतमो नाम विश्रुतः।
बौद्धधर्मं समाश्रित्य पट्टणे प्राप्तवान्हरिः।
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, खण्ड – ०१, अध्याय ०६, श्लोक – ३६)

कलियुग की प्रार्थना पर काश्यप गोत्र में भगवान् विष्णु ने गौतम के नाम से अवतार लेकर बौद्धधर्म का आश्रय लिया और उसका विस्तार करते हुए पटना चले गये। पुनः लोग यह शंका करेंगे कि हमें तो राजा शुद्धोदन का भी नाम चाहिये, तो इसका प्रमाण भी उपलब्ध होता है।

शुद्धोदनस्तमालोक्य महासारं रथायुतैः। प्रावृतं तरसा मायादेवीमानेतुमाययौ॥

....

बौद्धा शौद्धोदनाद्यग्रे कृत्वा तामग्रतः पुनः। योद्धुं समागता म्लेच्छकोटिलक्षशतैर्वृताः॥
(कल्किपुराण)

इस प्रसंग में वर्णन है कि जब कल्कि भगवान् बौद्धों और म्लेच्छों का विनाश करने लगेंगे तो बुद्ध, उनके पिता शुद्धोदन तथा माता मायादेवी पुनः प्रकट होंगे तथा म्लेच्छों के साथ मिलकर कल्कि से युद्ध करेंगे। इसी युद्ध के वर्णन के अंतर्गत वर्णन है कि जब शुद्धोदन हार कर मायादेवी को बुलाने चला गया तो बौद्धों ने शुद्धोदन के पुत्र का आश्रय लेकर लाखों करोड़ों म्लेच्छों की सहायता से युद्ध करना आरम्भ किया।

इस प्रकार से सभी प्रमाणों को एक साथ देखा जाय तो बुद्ध कई हैं तथा सभी अवतार ही हैं जो उद्देश्य विशेष से यथासमय आते हैं। यदि प्रकाश में व्यक्ति हत्या कर रहा हो तो प्राण बचाने वाला अन्धकार कर देता है। वैसे ही जब धर्म का नाम लेकर म्लेच्छों ने ब्राह्मण बन कर अधर्म प्रारम्भ किया तो उन्हें ठीक करने के लिए भगवान् ने बुद्ध के रूप में आकर कहा कि जिस ईश्वर और धर्म के नाम पर तुम ये सब कर रहे हो, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। बाद में जयदेव कवि आदि ने भी कारुण्यमातन्वते, निन्दसि यज्ञविधे, सदयपशुघातम् आदि शब्दों के द्वारा इसी बात को प्रमाणित किया कि श्रीहरि का ही अवतार भिन्न भिन्न समयों में बुद्ध के रूप में हुआ था।

पाशब्देन त्रयीधर्मः पालनाज्जगतः स्मृतः। तं खण्डयन्ति यस्मात्ते पाखण्डास्तेन हेतुना॥
(माहेश्वरतन्त्र, अष्टादशपटल)

जो वेदत्रयी को न माने, वह पापाचारी ही पाखण्डी है। पालन शब्द जगत् का वाचक भी है। जो उसका खण्डन करे वही पाखण्डी बताया गया है। माहेश्वर तन्त्र के वाक्यों से मैं पूर्व में यह बता चुका हूँ कि जो वेदत्रयी को न माने, वह पापाचारी ही पाखण्डी है। 'पा' शब्द से वेदत्रयी के धर्मानुसार लोकव्यवहार करना बताया गया है। जो उसका खण्डन करे वही पाखण्डी बताया गया है। अब आगे देखें -

तपश्चरसु सर्वेषु असुरेषु जयार्थिषु। विष्णुः सुदुस्तरां मायामास्यास्य सुरनोदितः॥
मोहयामास योगात्मा तपोविघ्नाय तान्प्रभुः। स मूढान् बुद्धरूपेण तानुवाच महामनाः॥
शक्या जेतुं सुराः सर्वे युष्माभिरितिदर्शनैः। बौद्धधर्मं समास्थाय शक्यास्ते बभूविरे॥

तानुवाचार्हतो मम यूयं भवत मद्विधाः। ज्ञानेन सहितं धर्मं ते चार्हन्त इति स्मृताः॥
बौद्धश्रावकनिर्ग्रंथाः सिद्धपुत्रास्तथैव च। एते सर्वेपि चार्हंतो विज्ञेया दुष्टचारिणः॥
(माहेश्वरतन्त्र, अष्टादश पटल, श्लोक - ३५-३९)

विजय की कामना से तपस्या करने वाले असुरों को विष्णु भगवान् ने मोहित करने वाली माया से वश में करके बुद्ध रूप धारण करके कहा :- "दर्शनों के पालन से सभी देवता आप लोगों के द्वारा जीते जा सकते हैं अतः आप सब बौद्ध धर्म में आस्थावान् होकर उन्हें जीत सकते हैं।" बुद्ध भगवान् के ऐसा करने पर वे असुर बौद्ध मतावलंबी हो गए। उन्हें धर्मलोप किया देख भगवान् ने कहा, जैसा मैं हूँ, वैसे ही तुम सब हो जाओ और बताए गए ज्ञान के सहित इस बौद्ध धर्म का पालन करो। इसीलिए वे सब पुनः अर्हत् कहाये। बौद्ध श्रावक, निर्ग्रंथी, और सिद्धपुत्र (जैनी) ये सब दुष्ट बुद्धि वाले अर्हन्त के नाम से जाने गए।

अजिनपुत्र ब्राह्मण महात्मा बुद्ध के अवतार होने के सन्दर्भ में पूर्व के कई आचार्य एवं विद्वान् बता चुके हैं, अतएव मैं उनके प्रमाणों पर अधिक चर्चा नहीं करूंगा। मैं वह बताऊंगा जो शेष आचार्यों ने गुप्त रखा। क्या कारण है कि महात्मा बुद्ध को लोग अधिक नहीं जानते और गौतम बुद्ध की प्रसिद्धि अधिक हो गयी ? क्या विष्णु भगवान् के अवतार की प्रसिद्धि कम हो और लौकिक जनों की अधिक, ऐसा सम्भव है ? इसका कारण है कि गौतम बुद्ध भी भगवान् विष्णु के अवतार ही हैं एवं उनके बाद अभी तक कोई दूसरा बुद्ध नहीं आया है इसीलिए उनकी प्रसिद्धि विशेष है। नारद पांचरात्र एवं पद्मपुराण में वर्णित शिवप्रोक्त विष्णुसहस्रनाम के अंत में भगवान् का एक नाम शौद्धोदनिः (शुद्धोदन पुत्र) भी आया है।

वर्तमान में कथित नवबौद्ध आदि बुद्ध के मूल सिद्धांत को न जानने के कारण घोर अनर्थ करते हैं। भगवान् बुद्ध ने फोड़े को काट कर हटाया और शेष को सुरक्षित किया, लेकिन कथित बौद्धगण स्वस्थ देह का गला ही काट दे रहे हैं। वस्तुतः यह सब कुछ पूर्व नियोजित था कि सनातन में घुसपैठ किये म्लेच्छों को नास्तिक बौद्ध दर्शन का आश्रय लेकर विष्णु भगवान् भ्रमित करके उन्हें सनातन से वापस दूर करेंगे तथा इस प्रक्रिया में जो भी कुछ सनातनियों में भ्रम व्याप्त होगा उसे बाद में उचित अवसर पाकर कुमार कार्तिकेय तथा भगवान् शिव क्रमशः आचार्य कुमारिल भट्ट तथ आदिगुरु शंकराचार्य के रूप में आकर ठीक करेंगे। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि बुद्ध निःसंदेह नारायण के अवतार हैं तथा उनका उद्देश्य तथा कर्तव्य सही था। बुद्ध सही थे, बौद्ध नहीं। मेरे निजी मत से मैं इस बात की संभावना व्यक्त करता हूँ कि धर्मसम्राट् करपात्री स्वामी आदि ने इसीलिये गौतम बुद्ध को प्रत्यक्ष अवतरण नहीं माना क्योंकि अम्बेडकर के बौद्ध बन जाने से अंग्रेजों ने सवर्ण तथा दलित नाम का जो कथित विभाजन किया था, उसमे दलित जन सनातन विरोधी हो रहे थे। साथ ही ऐसे लोग यह भी मानते थे कि गौतम ही एक मात्र बुद्ध हैं जिन्होंने नवीन बौद्ध मत चलाया, उससे पहले कोई बुद्ध नहीं हुआ। इसीलिए करपात्री जी ने गौतम को अवतरण नहीं मानने की दूरगामी नीति अपनायी ताकि लोग बाद में भ्रमित न हों। साथ ही उन्होंने अजिन पुत्र पर भी जोर दिया।

यदि गौतम से विरोध होता तो आचार्य शंकर, आचार्य कुमारिल तथा कौशाम्बी के महाराज उदयन आदि, जो गौतम से कुछ ही समय बाद हुए थे, कभी न कभी कहीं न कहीं यह अवश्य कहते कि अजिन पुत्र ही वास्तव में अवतार वाले बुद्ध हैं। यह गौतम नाम का आदमी फ़र्ज़ी बुद्ध था। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ क्योंकि वे इस बात को अच्छे से जानते थे। आदिगुरु ने कभी गौतम के अवतार न होने की बात कही ? या ये कहा कि वो नकली बुद्ध है, एक मात्र अजनपुत्र ही असली बुद्ध हैं और केवल वे ही अवतार हैं। कुमारिल भट्ट ने भी नहीं कहा। जबकि गौतम के सबसे निकट समकालीन तथा बौद्धखण्डक तो वही लोग थे। अम्बेडकर के बौद्ध बनने से सनातनियों का बड़ा वर्ग जो अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार था, बुद्ध की ओर आकर्षित हुआ।

मुझे लगता है कि यदि धर्मसम्राट् जी जैसा अतिमान्य व्यक्तित्व यह कहता कि गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार हैं तो बाकी सुधरे हुए सनातनियों में यह भ्रम होता कि विष्णु के कृष्ण और बौद्ध अवतार के उपदेश में इतनी विसंगति क्यों है। मूल उद्देश्य जो अवतारों का था, उससे वे परिचित तो थे नहीं। अब बुद्ध का मत भौतिकवादी है, मायाप्रधान है। बहुत लुभावना है, बहुत आकर्षक है। अतः यदि उन्हें विष्णु का अवतार कह देते तो लोग और तेजी से बुद्ध की ओर भागते। ये कह कर कि बौद्ध बनने से हमें भौतिकवाद का लाभ मिलेगा और लोग हमें गलत भी नहीं कहेंगे क्योंकि बुद्ध तो विष्णु के अवतार थे। अतः उन्होंने सीधा कह दिया कि गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार ही नहीं है। यहाँ ध्यान दें कि नीति उन्होंने वही अपनायी जो विष्णु भगवान् ने बौद्धावतार में लगायी थी। ईश्वर के नाम पर अधर्म करने वालों को यह कह कर रोका कि ईश्वर ही नहीं है। इस प्रकार धर्मसम्राट् करपात्री स्वामी जी ने सनातन का बहुत बड़ा वर्ग बचा लिया जो बौद्ध बनने जा रहे थे।

अब जैसे हमारे हज़ारों जन्मों में हज़ारों माता पिता हुए, पर हमने उसी को प्रधानता दी, उसी से प्रभावित हुए जो सबसे अर्वाचीन है। वैसे ही सभी लोग अजन पुत्र की अपेक्षा गौतम से अधिक प्रभावित हुए। गौतम का विरोध करने से ऐसे लोग, जो यह सोच रहे थे कि बौद्ध मत का लाभ लेंगे, यह कह कर कि गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार हैं, अतः हम सही हैं, लेकिन धर्मभीरु होने से बौद्ध मत को भी विशुद्ध सनातन ही मान रहे थे, ऐसे लोगों पर विराम लग गया। किन्तु बौद्ध अवतार हुआ तो था, अतः उन्होंने अजन पुत्र को अवतार माना। इससे बुद्ध का विरोध हुआ भी और नहीं भी हुआ। दोनों कार्य साध लिये। साथ ही, वेदविरोधी होने से भगवान् का बुद्ध विग्रह श्रेष्ठ नहीं माना गया, अतः उनका विरोध भी पापकारक नहीं हुआ। अब कीकट क्या है ? श्रीधर स्वामी ने कीकट का अर्थ *मगध का मध्य* या *गया* किया है। नालंदा के गृद्धकूट से मिर्जापुर – चुनार के पास चरणाद्रि पर्वत तक कीकट है जिसके अन्तर्गत मगध है, ऐसा शक्तिसंगम तन्त्र का वचन है। अजिनपुत्र बुद्ध के अवतार के समय वाराणसी में महाराज किकी का शासन था और वे कीकट के भी राजा थे। वैष्णव दशावतार में बुद्ध की चर्चा भी है।

चरणाद्रिं समारभ्य गृध्रकूटान्तकं शिवे। तावत् कीकटदेशः स्यात् तदन्तर्मगधो भवेत्॥
(शक्तिसंगम तन्त्र)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥
(भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय – १९०, श्लोक – ०६)
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की ततः स्मृतः। एते दशावताराश्च पृथिव्यां परिकीर्तिताः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय – ७१, श्लोक – २७)
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा। बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय – २३६, श्लोक – ०६)

इस प्रकार कहीं कहीं बुद्ध की गणना दशावतार में है तो कहीं कहीं नहीं भी है। ऐसे ही कहीं कहीं बलरामजी की भी गणना है तो कहीं नहीं भी है। अतएव यह कहना कि बाद में जयदेव कवि ने बुद्ध का नाम मिला दिया, यह सर्वथा अशास्त्रीय है। भगवान् विष्णु की निम्न भविष्यवाणी देखें –

मया बुद्धेन वक्तव्या धर्माः कलियुगे पुनः। हन्तव्या म्लेच्छराजानस्तथा विष्णुयशात्मना॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०३, अध्याय – ३५१, श्लोक – ५४)

मेरे द्वारा बुद्धरूप से कलियुग में (उप) धर्म का प्रवचन किया जाएगा एवं फिर विष्णुयशा के पुत्र (कल्कि) के रूप में म्लेच्छ राजाओं का वध किया जाएगा। कुछ और शास्त्र प्रमाण देखें –

भविता सञ्जयश्चापि वीरो राजा रणञ्जयात्। सञ्जयस्य सुतः शाक्यः शाक्याच्छुद्धोदनोऽभवत्॥
शुद्धोदनस्य भविता शाक्यार्थे राहुलः स्मृतः। प्रसेनजित्ततो भाव्यः क्षुद्रको भविता ततः॥
(वायुपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय – ३७, श्लोक – २८४-२८५)

रणंजय का पुत्र संजय होगा। संजय का पुत्र शाक्य और उससे शुद्धोदन होगा। शुद्धोदन का पुत्र शाक्य उपाधि लेकर राहुल को जन्म देगा। राहुल का पुत्र प्रसेनजित् और उसका पुत्र क्षुद्रक होगा। (गौतमबुद्ध की उपाधि शाक्यमुनि) बुद्ध पतन और उत्थान दोनों कराता है, इसका एक संकेतात्मक वर्णन देखें –

बुद्धं प्रतीदं ब्रह्मैव केवलं शान्तमव्ययम्। अबुद्धं प्रति बुद्ध्यैतद्भासुरं भुवनान्वितम्॥
सर्गस्तु सर्गशब्दार्थतया बुद्धो नयत्यधः। स ब्रह्मशब्दार्थतया बुद्धः श्रेयो भवत्यलम्॥
(योगवासिष्ठ महारामायण, स्थितिप्रकरण, सर्ग – ०३, श्लोक – १६ एवं २३)

जो व्यक्ति बुद्ध हो गया है, उसके लिए ब्रह्म का अनुभव शांत एवं अव्ययरूप में होता है। जो बुद्ध नहीं है, वह केवल प्रकाशित संसार को ही देखता है। यदि केवल संसार को संसार ही मान ले (नास्तिक बुद्धि से) तो यह बुद्धत्व उसका पतन कर देता है। यदि संसार में ब्रह्मरूप का दर्शन करे तो बुद्ध का कल्याण होता है, इतनी सी बात है। धर्मराज

युधिष्ठिर को अवतारों का वर्णन करते हुए ऋषि मार्कण्डेय कहते हैं –

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥

....

तथा बुद्धत्वमपरं नवमं प्राप्स्यतेऽच्युतः। शान्तिमान्देवदेवेशो मधुहन्ता मधुप्रियः ॥

तेन बुद्धस्वरूपेण देवेन परमेष्ठिना। भविष्यति जगत्सर्वं मोहितं सचराचरम् ॥

(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड-रेवाखण्ड, अध्याय – १५१, श्लोक – ०४ एवं २१-२२)

'मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि ये दस अवतार हैं। नवें अवतार के रूप में भगवान् अच्युतदेव (विष्णु) का बुद्धरूप से आगमन होगा। मधुदैत्य का नाश करने वाले, वसन्तप्रिय (कामरूपी) भगवान् का वह रूप शान्त होगा। उन परमदेव के उस रूप के द्वारा सम्पूर्ण संसार मोहित हो जाएगा।' ऋषिप्रणीत ज्यौतिषीय ग्रंथों में भी देखें –

रामः कृष्णश्च भो विप्र नृसिंहः सूकरस्तथा। एते पूर्णावताराश्च ह्यन्ये जीवांशकान्विताः॥

अवताराण्यनेकानि ह्यजस्य परमात्मनः। जीवानां कर्मफलदो ग्रहरूपी जनार्दनः॥

दैत्यानां बलनाशाय देवानां बलबृद्धये। धर्मसंस्थापनार्थाय ग्रहाज्जाताः शुभाः क्रमात्॥

रामोऽवतारः सूर्यस्य चन्द्रस्य यदुनायकः। नृसिंहो भूमिपुत्रस्य बुद्धः सोमसुतस्य च॥

वामनो विबुधेज्यस्य भार्गवो भार्गवस्य च। कूर्मो भास्करपुत्रस्य सैंहिकेयस्य सूकरः॥

केतोर्मीनावतारश्च ये चान्ये तेऽपि खेटजाः। परात्मांशोऽधिको येषु ते सर्वे खेचराभिधः॥

(बृहत्पाराशर होराशास्त्र, अध्याय ०२, श्लोक – ०२-०७)

हे ब्राह्मणों ! राम, कृष्ण, नृसिंह एवं वाराह ये चार पूर्णावतार हैं। अन्य अवतारों में कुछ जीवांश भी विद्यमान् है। अजन्मा परमात्मा के अनेकों अवतार हैं। जीवों को उनका कर्मफल देने के लिए भी भगवान् जनार्दन ग्रहरूप से आते हैं। दैत्यों के बल का नाश करने के लिए एवं देवताओं के बल को बढ़ाने के लिए, धर्म की स्थापना के लिए क्रम से शुभ ग्रहों का निर्माण हुआ है। श्रीरामावतार सूर्य हैं, चन्द्रमा श्रीकृष्ण हैं। नृसिंह मङ्गल एवं बुद्धावतार बुध हैं। वामन बृहस्पति हैं एवं परशुरामावतार शुक्र हैं। कूर्मावतार शनि और वाराह राहु हैं। केतु मत्स्यावतार हैं और भी अन्य जो आकाशीय पिंड हैं, उनमें परमात्मा का ही अंश है।

आपको स्मरण होगा कि मैंने भविष्य पुराण के प्रमाण से यह सिद्ध किया था कि इन्द्रादि ने बुद्धावतार लेकर वेदनिन्दा की, जिससे उन्हें कुष्ठ हो गया और भगवान् विष्णु ने अपने योगबल से उन्हें स्वस्थ किया। अब हम विलुप्तप्राय मुद्गल उपपुराण के एक प्रमाण को देखते हैं। ब्रह्मा की प्रार्थना पर (इन्द्रादि के इस अवतार के बाद) भगवान् विष्णु ने जब बुद्धावतार का निर्णय किया तो वेदनिन्दा से होने वाले अधर्म का उन्हें भय हुआ। उन्हें लोगों के वैदिक कृत्यों में विघ्न

डालना था इसीलिए वे विघ्नराज गणेश की तपस्या करने लगे। भगवान् विष्णु की तपस्या से प्रसन्न होकर गणेश्वर ने उन्हें वरदान मांगने को कहा, तो भगवान् विष्णु ने निम्न बात कही –

भक्तिं देहि त्वदीयां मे सर्वसिद्धिप्रदायिनीम्। बुद्धोऽहं धर्मलोपार्थं भविष्यामि कलौ युगे॥
धर्मसंस्थापनं नित्यं करोमि गणनायक। धर्मलोपार्थमेवाहं त्वया बुद्धः प्रकीर्तितः॥
एतदेव विरुद्धं मे प्राप्तं ढुण्ढे दयानिधे। तदर्थं शरणं नाथ यातोऽहं ते पदस्य च॥

हे नाथ ! सर्वप्रथम तो आप मुझे सभी सिद्धियों को देने वाली अपनी भक्ति का वरदान दें। मैं धर्म के लोप हेतु कलियुग में बुद्ध का अवतार लूंगा। मेरे सभी अवतार धर्म की स्थापना के लिए ही होते हैं और अब मुझे आपकी आज्ञा से धर्म के विनाश के लिए बुद्ध बनना है। इस विरोधाभास के कारण मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ।

भगवान् विष्णु की बात सुनकर परब्रह्मरूपी गणेश्वर ने कहा –

मा भयं कुरु विष्णो त्वं धर्मयुक्तो भविष्यसि। कलिप्रवर्तने दोषो न ते क्वापि महात्मनः॥
मया चतुर्युगाः खेलाद्रचिताः क्रमकारणात्। वरदानेन मे सर्वे स्वस्वकालयुता बभुः॥
कलिस्तेषु महापापी मया संस्थापितोऽभवत्। मदाज्ञापालको भूत्वा भव बुद्धस्त्वमादरात्॥

हे विष्णो ! आप भय न करें, आप धर्म से युक्त ही रहेंगे। कलियुग को बढ़ावा देने के कारण आप जैसे महात्मा को कोई दोष नहीं लगेगा। मेरे ही द्वारा खेल खेल में क्रम से चारों युग बनाये गए हैं और मेरे ही वरदान से अपने अपने कालविभाजन से वे युक्त हैं, इनमें महापापी कलियुग की भी स्थापना मैंने की है। इसीलिए मेरी आज्ञा को मानकर आप आदरपूर्वक बुद्धरूप धारण करें।

सर्वान् सम्मोह्य विश्वात्मा बुद्धः कलिप्रवर्तकः। संस्थितः कैकटे देशे गुप्तरूपेण मानदः॥

हे विश्वात्मन् ! आप कलियुग को बढ़ाने वाला बुद्धरूप धारण करके सबों को मोहित करें एवं कीकट देश में गुप्तरूप से स्थित हों। (गुप्त इसीलिए, ताकि उनके विष्णु होने का बोध छिपा रहे)

तथापि पूजया हीनो बभूव बुद्धरूपधृक्। विष्णुर्वेदविरुद्धस्थमार्गसंसर्जनात्किल॥
(मुद्गल उपपुराण, खण्ड – ०८, अध्याय – १५)

वेदविरुद्ध मार्ग की स्थापना के कारण भगवान् विष्णु बुद्धरूप में पूजा से रहित हुए, उनकी पूजा वर्जित है। यह अवतार अजिनपुत्र बुद्ध के रूप में हुआ था। शौद्धोदन गौतम बुद्ध का अवतार वैशाख पूर्णिमा में हुआ था और महात्मा बुद्ध का अवतार कुछ के मत से माघ में हुआ था। कुछ विद्वान् बुद्धावतार का प्रमाण विजयादशमी के दिन से देते हैं तो कुछ कहते हैं कि शुक्लपक्ष की दशमी में जब विशाखा नक्षत्र और रविवार था तब दिन के छः घड़ी बीतने पर बुद्धावतार

हुआ। शुक्ल दशमी और विशाखा का योग आषाढ़ के महीने में बहुधा बनता है।

शुद्धा च दशमी देवि रविवारेण संयुता।
शुक्लयोगे विशाखायां दिवा नाड़ी च षट् तदा। बुद्धोऽवतीर्णो देवेशि ततः कलियुगे श्रृणु॥
(शक्तिसंगम तन्त्र, छिन्नमस्ताखण्ड, षष्ठ पटल, श्लोक – ६६)

अब सनातनी मेरुतन्त्र में बुद्ध की उपासना का एक वर्णन मिलता है।

अथातः संप्रवक्ष्यामि बौद्धमन्त्रं महाफलम्। सभ्यत्वान्न द्विजातीनामधिकारोस्ति कर्हिचित्॥
वाममार्गरत विप्राः कुण्डका जातिविच्युताः। हीना वैदिकसंस्कारैः प्रमादान्म्लेच्छतां गताः॥
गोलकाश्च तथा जात्या कायस्थादय एव च। बौद्धं विष्णुं समाराध्य भुक्तिं मुक्तिं प्रयान्ति ते॥
पतितानामयं मन्त्रः सम्प्रोक्तः सुखदायकः।
नमो भगवते बुद्ध संसारार्णवतारक। कलिकालादहं भीतः शरण्यं शरणं गतः॥

भगवान् ईश्वर कहते हैं – अब मैं महान् फल को देने वाले बुद्धावतार का मन्त्र कहता हूँ। सभ्य (वेदाधिकार से युक्त) द्विजाति के लिए इसे करने का अधिकार नहीं है। वाममार्गी (अवैदिक) ब्राह्मण, जाति से बहिष्कृत या च्युत, वैदिक संस्कार से हीन (व्रात्य), आलस्य के कारण म्लेच्छवृत्ति को अपनाने वाले कुण्डक, गोलक आदि वर्णसंकर एवं कायस्थ आदि (कायस्थों के आठ प्रकार में चार वैदिक मार्ग में अधिकृत हैं और चार अवैदिक मार्ग में, उसमें अवैदिक मार्ग वाले कायस्थ) बुद्धरूप से विष्णु की आराधना करके इस संसार में सुख और आगे मुक्ति को प्राप्त करते हैं। पतितों को यह मन्त्र सुखदायी बताया गया है।

मन्त्र – नमो भगवते बुद्ध संसारार्णवतारक। कलिकालादहं भीतः शरण्यं शरणं गतः॥

भगवान् बुद्ध के लिए प्रणाम है। संसार रूपी समुद्र से पार करने वाले ! मैं कलिकाल से भयभीत होकर आपको रक्षक मानता हुआ आपकी शरण में आया हूँ।

आगे बुद्ध सम्बन्धी यन्त्र में कहते हैं –
कामिनीं च महामायां श्रीकृष्णं च विनायकम्। समन्तभद्रं वर्त्मर्षिं निधिचन्द्रं मनोहरम्॥
(मेरुतन्त्र, दशावतारमन्त्रप्रकाश, पटल - २६)

कामिनी, महामाया (बुद्धमाता), श्रीकृष्ण (यमारि), विनायक, समन्तभद्र (गौतम बुद्ध की एक उपाधि) एवं निधिचन्द्र का पूजन करे। गौतम बुद्ध के जन्म के साथ ही चार निधिकुम्भ भी प्रकट हुए थे ऐसा बौद्ध ग्रंथों में वर्णन है। इस प्रकार भगवान् विष्णु का शुद्धोदनपुत्र गौतम बुद्ध के रूप में अवतार सिद्ध होता है। प्रधान बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर सूत्र का निम्न वचन देखें –

इह खलु बौद्धशास्त्रसमूहेषु सम्प्रोक्ताः पञ्चविंशतिर्बुद्धा दृश्यन्ते। तेषां शुद्धोदनौरसात् मायादेवीगर्भजातः शाक्यसिंहसर्वार्थसिद्धार्कबन्धुगौतमेति नामचतुष्टयेन प्रसिद्धोऽन्तिमतमः लोकविश्रुतो बुद्धः कपिलवस्तुनगरे कलेश्चतुःशतषडशीत्यधिकद्विसहस्रमितेषु गतेष्वब्देषु शुक्रवासरे *सुरद्विषां सम्मोहनाय* साक्षाद्विवेकमूर्त्तिः स्वेच्छाविग्रहेण प्रादुर्बभूव।
(ललितविस्तर सूत्र)

बौद्धशास्त्र के समूहों में (दीपङ्कर बुद्ध से गौतम बुद्ध तक और भविष्य के मैत्रेय बुद्ध को मिलाकर) पच्चीस बुद्ध दिखते हैं। उनमें शुद्धोदन की औरस सन्तान, जो मायादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुई, जिनकी शाक्यसिंह, सर्वार्थसिद्ध (सिद्धार्थ), अर्कबन्धु और गौतम, इन चार नामों से प्रसिद्धि हुई, वे सबसे निकट (हाल ही) के हैं, इनकी कीर्ति संसार में प्रसिद्ध है। कपिलवस्तु में कलियुग के २४८६ (दो हज़ार, चार सौ छियासी) वर्ष बीतने पर शुक्रवार को *देवताओं से द्रोह करने वाले (असुरों) को मोहित करने के लिए* साक्षात् विवेक की मूर्ति, इच्छानुसार शरीर को धारण करके उत्पन्न हुए। यहां सुरद्विषां सम्मोहनाय शब्द से गौतम बुद्ध के अवतार का जो उद्देश्य था, उसका अजिनपुत्र महात्मा बुद्ध के अवतार का उद्देश्य, जो श्रीमद्भागवत में सम्मोहाय सुरद्विषाम् के रूप में वर्णित है, उससे संगति होना सिद्ध करता है कि दोनों बुद्ध भगवान् विष्णु के ही अवतार थे एवं समान उद्देश्य से आये थे। अब हम ऐसे शास्त्रीय प्रमाणों पर चर्चा करेंगे जो स्पष्ट रूप से नाम, रूप आदि सभी आयामों में गौतम बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार बताते हैं। सर्वप्रथम तो हम बौद्ध ग्रन्थ का प्रमाण ही देखते हैं -

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या तथोत्पत्तिरियं ममेति।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच॥
(बुद्धचरितम्, अध्याय - ०१, श्लोक - १५ अथवा ३४)

'मैं संसार को बोध देने के लिए और उसके हित के लिए उत्पन्न हुआ हूँ। मेरा यह अंतिम जन्म है।' - सिंह के समान वीरभाव से चारों दिशाओं में देखकर उसने ऐसे भव्य अर्थ वाली वाणी को कहा। (अनधिकारी होकर वेदमार्ग का अनुसरण करने से म्लेच्छों का भी पतन होता है अतः उन्हें वेदविरुद्ध करके अहिंसा और सत्य की शिक्षा देना उनका हित करना ही हुआ) जब शुद्धोदन को पुत्र की प्राप्ति हुई तो हिमालय में तपस्या कर रहे ब्रह्मवेत्ता महर्षि असित को इस बात का ज्ञान अपनी दिव्यदृष्टि से हुआ। वे तत्काल योगबल से शुद्धोदन के महल में आये और कहा -

पुत्रस्ते वररूपपारमिगतो जातो महातेजवान् द्वात्रिंशद्वरलक्षणैः कवचितो *नारायणस्थामवान्।*
तं द्रष्टुं हि ममेप्सितं नरपते सर्वार्थसिद्धं शिशु म् इत्यर्थं समुपागतोऽस्मि नृपते नास्त्यन्यकार्यं मम॥
(ललितविस्तर, जन्मपरिवर्त, श्लोक – ६६)

'हे राजन् ! तुम्हारा यह पुत्र श्रेष्ठ सुन्दरता की पराकाष्ठा है, इसने महान् तेजस्विता के साथ जन्म लिया है। यह बत्तीस

श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त एवं *नारायण की शक्ति* से सम्पन्न है। जिसकी सभी कामनायें स्वतः सिद्ध हैं, ऐसे इस सर्वार्थसिद्ध नामक शिशु का दर्शन करना ही मेरी अभिलाषा है। मैं इसी कारण से यहाँ आया हूँ, इसके अतिरिक्त मेरा और कोई उद्देश्य नहीं है।' जब (ललितविस्तर, कृषिग्रामपरिवर्त, श्लोक – ०३ में वर्णित)कृषिग्रामप्रवास में राजकुमार सिद्धार्थ वन में बैठे हुए थे तो ऊपर से पांच ऋषि योगबल से आकाशगमन करते हुए जा रहे थे। सिद्धार्थ के तेज का उल्लंघन करके जब वे आगे न जा सके तो उन्होंने नीचे देखकर आश्चर्य किया और इस प्रकार से कहा -

रूपं वैश्रवणातिरेकवपुषं व्यक्तं कुबेरो ह्ययं आहो वज्रधरस्य चैव प्रतिमा चन्द्रोऽथ सूर्यो ह्ययम्।
कामाग्राधिपतिश्च वा प्रतिकृती रुद्रस्य कृष्णस्य वा श्रीमान् लक्षणचित्रिताङ्गमनघो बुद्धोऽथ वा स्यादयम्॥

यह कुबेर का दिव्य रूप है या फिर इन्द्र का स्वरूप है ? यह चन्द्रमा अथवा सूर्य ही है ? यह साक्षात् कामदेव की प्रतिकृति अथवा रुद्र तो नहीं है ? कहीं ये कृष्ण ही तो नहीं है ? लक्ष्मी से युक्त, विचित्र दिव्य अंगों वाला यह निष्पाप व्यक्ति कहीं बुद्ध तो नहीं है ? (फिर उन ऋषियों को राजकुमार सिद्धार्थ का परिचय वनदेवता ने दिया, ऐसा वर्णन है) इस प्रकार से हम देखते हैं कि शुद्धोदनपुत्र बुद्ध कोई सामान्य व्यक्तित्व नहीं थे एवं महर्षि असित ने तो अपनी दिव्यदृष्टि से जानकर राजा शुद्धोदन को सिद्धार्थ के नारायणांश होने का संकेत कर ही दिया था। अब सनातनी ग्रंथों से कुछ और प्रमाण देखें -

वक्ष्ये बुद्धावतारं च पठतः शृण्वतोऽर्थदम्। पुरा देवासुरे युद्धे दैत्येर्देवाः पराजिताः॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्। मायामोहस्वरूपोऽसौ *शुद्धोदनसुतोऽभवत्॥*
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजिता वेदधर्मकम्। ते च बौद्धाबभूवुर्हि तेभ्योऽन्यो वेदवर्जिताः॥
(अग्निपुराण, अध्याय – १६, श्लोक – ०१-०३)

जिसको पढ़ने या सुनने से अर्थागम होता है, उस बुद्धावतार का वर्णन करता हूँ। पूर्वकाल में देवासुर संग्राम होने पर दैत्यों ने (वेदधर्म के पालन से जन्य पुण्यबल से) देवताओं को पराजित कर दिया। तब सभी देवता जगदीश्वर भगवान् विष्णु के पास रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ! ऐसा कहते हुए गए। भगवान् ने माया से मोहित करने वाले रूप को धारण करके *शुद्धोदन के पुत्र* के रूप में अवतार लिया। उन्होंने दैत्यों को मोहित करके उनसे वैदिकधर्म का आचरण छुड़वा दिया। वे सभी दैत्य बाद में बौद्ध बन गए और उनसे अन्य लोग भी वेदों का परित्याग करने लगे। नारद पांचरात्र में तथा पद्मपुराण - उत्तरखण्ड, अध्याय - ७१ में शिवप्रोक्त विष्णुसहस्रनाम है, जिसमें सभी अवतारों के नाम दिए हुए हैं। बुद्धावतार के सन्दर्भ में निम्न नाम हैं जिनमें शौद्धोदनि भी है, शुद्धोदन का पुत्र - इसे शाक्तप्रमोदकार ने भी सम्मिलित किया है।

बुद्धो ध्यानजिताशेषो देवदेवो जगत्प्रियः। निरायुधो जगज्जैत्रः श्रीधरो दुष्टमोहनः॥
दैत्यवेदबहिःकर्त्ता वेदार्थश्रुतिगोपकः। शौद्धोदनिर्दिष्टदृष्टिः सुखदः सदसस्पतिः॥

इसके अतिरिक्त सपादलक्ष महाभारत (बृहत्तर संस्करण) के शांतिपर्व, अध्याय ३४८, श्लोक ४३ में स्वयं भगवान् विष्णु कहते हैं कि मैं शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध के रूप में अवतार लूंगा। सपादलक्ष महाभारत का समर्थन श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, औशनस पुराण आदि करते हैं।

काषायवस्त्रसंवीतो मुण्डितः शुक्लदन्तवान्। शुद्धोदनसुतो बुद्धो मोहयिष्यामि मानवान्॥

अब भगवान् विष्णु के दशावतार में शुद्धोदन पुत्र बुद्ध का स्वरूप कैसा है, उसका वर्णन भी देखें –

शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः। ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः॥
(अग्निपुराण, दशावतारप्रतिमालक्षण, अध्याय – ४९, श्लोक – ०८)

शान्त व्यक्तित्व, लंबे कान, गोरा शरीर, वस्त्र पहने हुए, ऊपर की ओर खिले कमल पर बैठे हुए बुद्ध वरद एवं अभय मुद्रा को धारण करके वरदाभय को देते हैं। (यह स्वरूप गौतम बुद्ध का ही है)

एक और प्रमाण देखें जो बहुत ही दुर्लभ ग्रंथ से है। जैसे महापुराणों में विष्णुपुराण एवं शिवपुराण हैं, वैसे ही उपपुराणों में विष्णुधर्म पुराण (पूर्व) एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण हैं। साथ ही शिवधर्म पुराण (पूर्व) एवं शिवधर्मोत्तर पुराण भी हैं। निम्न प्रमाण विष्णुधर्म पुराण (पूर्व) से है, जिसमें भगवान् विष्णु स्वयं ब्रह्मा जी से अपने अवतारों का वर्णन करते हुए श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारकथन के बाद कहते हैं –

ततः कलियुगे घोरे सम्प्राप्तेऽब्जसमुद्भव। शुद्धोदनसुतो बुद्धो भविष्यामि विमत्सरः॥
बौद्धं धर्ममुपाश्रित्य करिष्ये धर्मदेशनाम्। नराणामथ नारीणां दया भूतेषु दर्शयन्॥
रक्ताम्बरा ह्यञ्जिताक्षाः प्रशान्तमनसस्ततः। शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति मयि बुद्धत्वमागते॥
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता। भवित्री प्रायशो ब्रह्मन्मयि बुद्धत्वमागते॥
(विष्णुधर्म (पूर्व) पुराण, अध्याय – ६६, श्लोक – ६८-७१)

हे ब्रह्मन् ! उसके बाद घोर कलियुग के आने पर मैं ईर्ष्यारहित होकर शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध के रूप में अवतार लूंगा। बौद्धधर्म का आश्रय लेकर मैं धर्म का उपदेश करूँगा, स्त्री एवं पुरुषों को प्राणियों में दयाभाव का उपदेश करूँगा। जब मैं बुद्ध बनूंगा तो लाल वस्त्र पहने, काली आंखों वाले, शांतचित्त शूद्र भी उस समय धर्म का उपदेश करने लगेंगे। पृथ्वी एडूक (मज़ार) से भर जाएगी, मंदिरों की संख्या कम होने लगेगी एवं मेरे बुद्धावतार के बाद पृथ्वी ऐसी ही हो जाएगी।

इस प्रकार मैंने यह सिद्ध किया कि अजिनपुत्र ब्राह्मण महात्मा बुद्ध एवं शुद्धोदनपुत्र क्षत्रिय गौतम बुद्ध, ये दोनों ही भगवान् विष्णु के ही अवतार हैं। बौद्धमत के ग्रंथ तो कामाख्या आदि को भी मान्यता देते हैं, जबकि आजकल के नवबौद्ध कामाख्या की योनिपूजा को लेकर उपहास करते हैं।

कामरूपं भवेत् पृथ्वीरापः पूर्णगिरिस्मृतः। जालन्धरं महातेजो वायुरोंकारमण्डलम् ॥
(मन्थानभैरवतन्त्र, कुमारिकाखण्ड, आनन्द – ६७)

सबसे वर्तमान में जो गौतम बुद्ध हुए वो अपने शिष्यों को, विशेषतः पुत्र राहुल को अपने पूर्वजन्मों और उनके समकालीन बुद्धों का वर्णन करते हुए बुद्धवंसपालि का उपदेश करते हैं जो सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अंतर्गत वर्णित है। ललितविस्तर और जातक आदि का कथन है कि बुद्धावतार यदि हो तो ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में ही होता है, हीनकुल में नहीं।

न बोधिसत्वा हीनकुलेषूपपद्यन्ते चण्डालकुलेषु वा वेणुकारकुले वा रथकारकुले वा पुक्कसकुले वा। अथ तर्हि कुलद्वये एवोपपद्यन्ते ब्राह्मणकुले क्षत्रियकुले च। तत्र यदा ब्राह्मणगुरुको लोको भवति तदा ब्राह्मणकुले उपपद्यन्ते। यदा क्षत्रियगुरुको लोको भवति तदा क्षत्रियकुले उपपद्यन्ते।
(ललितविस्तर, कुलपरिशुद्धिपरिवर्त)

भगवान् गौतम बुद्ध का पहला जन्म
नाम – सुमेध
कुल – ब्राह्मण
निवास – अमरावती
तात्कालीन बुद्ध – भगवान् दीपङ्कर बुद्ध

इन्हीं दीपङ्कर बुद्ध की शरण में सुमेध गए थे और दीपङ्कर बुद्ध ने उस समय भविष्यवाणी की थी –

पस्सथ इमं तापसं जटिलं उग्गतापनम्। अपरिमेय्यितो कप्पे बुद्धो लोके भविस्सति॥
अहु कपिलव्हया रम्मा निक्खमित्वा तथागतो। पधानं पदहित्वान कत्वा दुक्करकारिकम्॥
अजपालरुक्खमूलस्मिं निसीदित्वा तथागतो। तत्थ पायासं पग्गय्ह नेरञ्जनमुपेहिति॥
नेरञ्जनाय तीरम्हि पायासं अद सो जिनो। पटियत्तवरमग्गेन बोधिमूलमुपेहिति॥
ततो पदक्खिणं कत्वा बोधिमण्डं अनुत्तरो। अस्सत्थरुक्खमूलम्हि बुज्झिस्सति महायशो॥
इमस्स जनिका माता माया नाम भविस्सति। पिता सुद्धोदनो नाम अयं हेस्सति गोतमो॥
(बुद्धवंसपालि, सुमेधपत्थनाकथा, ६१-६६)

दीपङ्कर बुद्ध बोले – इस उग्र तपस्या करने वाले जटाधारी तपस्वी को देखो। यह आज से असंख्येय कल्प के बीतने पर बुद्ध होगा। यह तथागत बनने के लिए कपिलवस्तु नगरी से गृहत्याग कर प्रबल उद्योग एवं दुष्कर तपस्या करता हुआ

अजपाल नामक बरगद वृक्ष के नीचे बैठकर वहां दूध (या खीर) ग्रहण करके निरंजना (फल्गु की एक शाखा) नदी के तट पर जाएगा। निरंजना नदी के तट पर उस क्षीर को खाकर, व्यवस्थित मार्ग से बोधिवृक्ष के नीचे जाएगा। यह अनुपम महान् यशस्वी, उस बोधिवृक्ष की प्रदक्षिणा करके पीपल के नीचे बुद्ध बनेगा। इसकी माता माया देवी होंगी तथा पिता का नाम शुद्धोदन होगा। इसका नाम गौतम होगा। (इसी भविष्यवाणी का अनुमोदन परवर्ती बुद्ध करते गए हैं)

(०१)

भगवान् दीपङ्कर बुद्ध का जन्मस्थान – रम्यवती
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – सुमेधा एवं सुदेव
पटरानी – पद्मा
पुत्र – वृषभस्कन्ध
आयु – एक लाख वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुमेध नामक मुमुक्षु ब्राह्मण

(०२)

भगवान् कौण्डिन्य बुद्ध
जन्मस्थान – रम्यवती
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – सुजाता एवं सुनन्द
पटरानी – रुचि देवी
पुत्र – विजितसेन
आयु – एक लाख वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – चक्रवर्ती राजा
भगवान् कौण्डिन्य बुद्ध की भविष्यवाणी –
इमस्स जनिका माता माया नाम भविस्सति। पिता सुद्धोदनो नाम अयं हेस्सति गोतमो॥
×××××
आयु वस्ससतं तस्स गोतमस्स यसस्सिनो॥
इसकी माता मायादेवी और पिता शुद्धोदन होंगे।
इसका नाम गौतम होगा एवं इस यशस्वी की आयु सौ वर्ष के करीब होगी।

(०३)

भगवान् मङ्गल बुद्ध

जन्मस्थान – उत्तर नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – उत्तर एवं उत्तरा

पटरानी – यशस्वी (यशस्विनी)

पुत्र – शिवल

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुरुचि नामक वेदाभ्यासी ब्राह्मण

(०४)

भगवान् सुमन बुद्ध

जन्मस्थान – मेखल नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सुदत्त एवं सिरिमा

पटरानी – अवतंसिका

पुत्र – अनुपम

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – देवयोनि में नागराज

(०५)

भगवान् रेवत बुद्ध

जन्मस्थान – सुधान्यवती

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – विपुला एवं विपुल

पटरानी – सुदर्शना

पुत्र – वरुण

आयु – साठ हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – अतिदेव नामक दरिद्र ब्राह्मण

(०६)

भगवान् शोभित बुद्ध

जन्मस्थान – सुधर्मनगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सुधर्मा एवं सुधर्म

पटरानी – मणिला

पुत्र – सिंह

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुजात नामक ब्राह्मण

(०७)

भगवान् अनोमदर्शी बुद्ध

जन्मस्थान – चन्द्रवती

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – यशोधरा एवं यशस्वी

पटरानी – सिरिमा

पुत्र – उपवाण

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – देवयोनि में यक्षराज

(०८)

भगवान् पद्म बुद्ध

जन्मस्थान – चम्पकनगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – असमा एवं असम

पटरानी – उत्तरा

पुत्र – रम्य

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – पशुयोनि में सिंह

(०९)

भगवान् नारद बुद्ध
जन्मस्थान – धन्यवती नगर
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – अनोमा एवं सुदेव
पटरानी – विजितसेना
पुत्र – नन्दोत्तर
आयु – नब्बे हज़ार वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – जटाधारी तपस्वी

(१०)

भगवान् पद्मोत्तर बुद्ध
जन्मस्थान – हंसवती
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – सुजाता एवं आनन्द
पटरानी – वसुदत्ता
पुत्र – उत्तम
आयु – एक लाख वर्ध
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – जटिल नामक प्रशासनिक अधिकारी

(११)

भगवान् सुमेध बुद्ध
जन्मस्थान – सुदर्शन नगर
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – सुदत्ता एवं सुदत्त
पटरानी – सुमना
पुत्र – पुनर्वसु
आयु – नब्बे हज़ार वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – उत्तर नामक करोड़पति

(१२)

भगवान् सुजात बुद्ध

जन्मस्थान – सुमङ्गल नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – प्रभावती एवं उद्गत

पटरानी – श्रीनन्दा

पुत्र – उपसेन

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – चार द्वीपों का चक्रवर्ती सम्राट्

(१३)

भगवान् प्रियदर्शी बुद्ध

जन्मस्थान – सुधन्य नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – चन्द्रा एवं सुदत्त

पटरानी – विमला

पुत्र – काञ्चनावेल

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – काश्यप नामक वेदपाठी ब्राह्मण

(१४)

भगवान् अर्थदर्शी बुद्ध

जन्मस्थान – शोभन नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सुदर्शना एवं सागर

पटरानी – विशाखा

पुत्र – शैल

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुसीम नामक उग्र तपस्वी

(१५)

भगवान् धर्मदर्शी बुद्ध

जन्मस्थान – शरण नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सुनन्दा एवं शरण

पटरानी – विचिकोली

पुत्र – पुण्यवर्द्धन

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – देवयोनि में देवराज इन्द्र

(१६)

भगवान् सिद्धार्थ बुद्ध (प्राचीन)

जन्मस्थान – वैभार नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सुस्पर्शा एवं उदयन

पटरानी – सौमनस्या

पुत्र – अनुपम

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – मङ्गल नामक त्रिकालदर्शी तपस्वी

(१७)

भगवान् तिष्य बुद्ध

जन्मस्थान – क्षेमक नगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – पद्मा एवं जनसन्ध

पटरानी – सुभद्रा

पुत्र – आनन्द

आयु – एक लाख वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुजात नामक राजा

(१८)

भगवान् पुष्य बुद्ध

जन्मस्थान – काशिका नगरी

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – सिरिमा एवं जयसेन

पटरानी – कृशा गौतमी

पुत्र – अनुपम

आयु – नब्बे हज़ार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – विजितावी नामक राजा

(१९)

भगवान् विपश्यी बुद्ध

जन्मस्थान – बन्धुमती नगरी

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – बन्धुमती एवं बन्धुमान्

पटरानी – सुदर्शना

पुत्र – समवृत्तस्कंध

आयु – अस्सी हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – देवयोनि में अतुल नामक नागराज

(२०)

भगवान् शिखी बुद्ध

जन्मस्थान – अरुणवती

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – प्रभावती एवं अरुण

पटरानी – सर्वकामा

पुत्र – अतुल

आयु – सत्तर हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – अरिन्दम नामक प्रतापी राजा

(२१)

भगवान् विश्वम्भू बुद्ध

जन्मस्थान – अनोमनगर

कुल – क्षत्रिय

माता एवं पिता – यशस्वी (यशस्विनी) एवं सुप्रतीत

पटरानी – सुचित्रा

पुत्र – शूर्पबुद्ध

आयु – साठ हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – सुदर्शन नामक राजा

(२२)

भगवान् ककुसन्ध बुद्ध

जन्मस्थान – क्षेमवती नगरी

कुल – ब्राह्मण

माता एवं पिता – विशाखा एवं अग्निदत्त

पटरानी – रोचिनी

पुत्र – उत्तर

आयु – चालीस हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – क्षेम नामक प्रजावत्सल राजा

(२३)

भगवान् कोणागमन बुद्ध

जन्मस्थान – शोभवती

कुल – ब्राह्मण

माता एवं पिता – उत्तरा एवं यज्ञदत्त

पटरानी – रुचिगात्रा

पुत्र – स्वस्तिज

आयु – तीस हजार वर्ष

उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – पर्वत नामक दिग्विजयी राजा

(मेरे मत से रावण को अवैदिक मत का उपदेश करने वाले बुद्ध यही थे)

(२४)

भगवान् काश्यप बुद्ध
जन्मस्थान – कीकट (उस समय वाराणसी में महाराज किकी का शासन था)
कुल – ब्राह्मण
माता एवं पिता – धनवती एवं ब्रह्मदत्त (अजन)
पटरानी – सुनन्दा
पुत्र – विजितसेन
आयु – बीस हज़ार वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – ज्योतिपाल नामक वेदज्ञ ब्रह्मचारी

(२५)

भगवान् गौतम बुद्ध
जन्मस्थान – कपिलवस्तु
कुल – क्षत्रिय
माता एवं पिता – मायादेवी एवं शुद्धोदन
पटरानी – भद्रकञ्चना यशोधरा
पुत्र – राहुल
आयु – लगभग सौ वर्ष
उस समय गौतम बुद्ध की स्थिति – मुख्य बुद्धत्व की स्थिति में महापरिनिर्वाण

दीपङ्कर बुद्ध के समय जो सुमेध ब्राह्मण थे, वे इस सनातनी गणना से श्वेतवाराह कल्प एवं बौद्ध गणना से भद्रक कल्प में ही गौतम बुद्ध बने। दीपङ्कर बुद्ध से पूर्व उनके ही कल्प में तण्हङ्कर बुद्ध, मेघङ्कर बुद्ध एवं शरणङ्कर बुद्ध हो चुके थे। दीपङ्कर बुद्ध के कई कल्पों के बाद कौण्डिन्य बुद्ध हुए। भगवान् कौण्डिन्य बुद्ध एवं मङ्गल बुद्ध के मध्य असंख्य कल्पों का अंतराल था। भगवान् मङ्गल बुद्ध के बाद हुए सुमन बुद्ध से लेकर शोभित बुद्ध तक चार बुद्ध एक ही कल्प में हुए हैं। उसके बाद कई कल्पों के अंतराल से अनोमदर्शी बुद्ध हुए।

इन्हीं के कल्प में पद्म एवं नारद बुद्ध भी हुए। इसके बाद एक लाख कल्पों तक बुद्धावतार नहीं हुआ, फिर पद्मोत्तर बुद्ध हुए। इनके बाद तीस हजार कल्पों के मध्य मात्र सुमेध एवं सुजात बुद्ध हुए। फिर अठारह सौ कल्पों के बाद प्रियदर्शी, अर्थदर्शी एवं धर्मदर्शी बुद्ध एक ही कल्प में आये। वर्तमान कल्प से ९४ कल्प पूर्व सिद्धार्थ (प्राचीन) बुद्ध आये। उनके आने के दो कल्प के बाद तिष्य एवं पुष्य नामक बुद्ध आये। उसके भी अगले कल्प में विपश्यी बुद्ध हुए। वर्तमान कल्प से ३१ कल्प पूर्व शिखी एवं विश्वम्भू नामक बुद्ध हुए।n वर्तमान भद्रक कल्प में ककुसन्ध, कोणागमन, काश्यप एवं गौतम बुद्ध हुए हैं। इसके बाद आगे आने वाले कल्पों में भविष्य के मैत्रेय आदि बुद्ध होंगे। आज के बौद्धों को बुद्धत्व

की इस अनादि एवं अनंत परम्परा का शास्त्रीय बोध न होने से केवल गौतम बुद्ध के नाम पर उदरपूर्ति करते रहते हैं। इस प्रसंग में चित्रकूट की तुलसी पीठ के पक्षधरों के अतिरिक्त नवबौद्ध भी समयानुसार कुतर्क करने लगे हैं अतः पाठकों के हितार्थ मैं बौद्धग्रंथों से ही नवबौद्धों का खण्डन करता हूँ।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं ब्रह्मा विष्णु महेश आदि किसी देवता को नहीं मानूंगा।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् तथागत बुद्ध बोधिसत्व वज्रगर्भ से –

इन्द जम जल जक्ख भुत वह्नि वायु रक्ख। चन्द सुज्ज माद बप्प तलपाताले अट्ठसप्प स्वाहा॥
(हेवज्रतन्त्र, हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थ, श्लोक – ९१)

इन्द्र, यम और जल हमारी रक्षा करें। भूत, अग्नि, वायु भी रक्षा करें। चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी और ब्रह्मा, नीचे पाताल में अष्टसर्प भी रक्षा करें।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं ओमकार आदि पर विश्वास नहीं करता हूँ।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् तथागत बुद्ध बोधिसत्व वज्रगर्भ से कहते हैं –

ओं अकारो मुखं सर्वधर्माणामाद्यनुत्पन्नत्वात्॥
(हेवज्रतन्त्र, हेवज्रसर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थ, श्लोक – ९३)

ओंकार सभी धर्मों का मुख है, क्योंकि यह सभी धर्मों का उत्पत्ति स्थान है।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि किसी को नहीं मानता और उनकी पूजा नहीं करता।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् तथागत बुद्ध बोधिसत्व वज्रगर्भ से कहते हैं –

ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्ररुद्राश्च वैवस्वत विनायकः। नैर्ऋतिर्वेमचित्री च गौर्यादीनां तु विष्टरम्॥
(हेवज्रतन्त्र, हेवज्राभ्युदय, श्लोक – ३७)

ब्रह्मा, इन्द्र, उपेंद्र (विष्णु), रुद्र (महेश), वैवस्वत (यम), विनायक (गणेश), नैर्ऋति, वेमचित्री ये सब गौरी के आसन हैं। (श्रीदेवी के सिंहासन के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव का वर्णन सनातन धर्म भी करता है।)

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। एते पञ्चमहाप्रेताः स्थिताः सिंहासनादधः॥
(महाकालसंहिता का यह मत अन्य तन्त्र, देवीपुराणादि से भी सम्मत है)

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मूर्तिपूजा आदि पाखण्ड है, ग्रहों की पूजा अंधविश्वास है।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् चण्डमहारोषण भगवती द्वेषवज्री से कहते हैं –

एवं वेणुमयं गन्धर्वं साधयेत्, वाल्मीकमृण्मयं गरुडं, देवदारुमयान् देवान् ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेन्द्रकामदेवादीन् ...... एवं सूर्यं चन्द्रं मङ्गलं बुधं बृहस्पतिं शुक्रं शनैश्चरं राहुं केतुं च नवग्रहम्॥

(श्रीचण्डमहारोषणतन्त्र, द्वादश पटल, श्लोक – १७-१८)

इस प्रकार बांस के बने हुए गन्धर्व, दीमक की बाम्बी की मिट्टी के बने गरुड़, देववृक्षों (देवदार, पीपल, आम, नीम, बरगद, पलाश, शमी आदि) की लकड़ी के बने हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, कामदेव आदि ..... और इसी प्रकार से सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु की साधना करे।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं स्वर्ग नरक आदि में विश्वास नहीं करता हूँ। देवी देवता नहीं होते हैं।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् मैत्रेय बुद्ध का शारिपुत्र आदि के प्रति उपदेश –

देवानां दिवि दिव्यदुन्दुभिरवो यद्वत् स्वकर्मोद्भवो धर्मोदाहरणं मुनेरपि तथा लोके स्वकर्मोद्भवम्॥
(महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र, कृत्यक्रियाधिकार, श्लोक – ३४)

देवताओं का स्वर्ग में दिव्यदुन्दुभि का स्वर जैसे उनके अपने कर्मों के प्रभाव से जन्य है, उसी प्रकार भगवान् के धर्म का घोष भी लोक में उनके स्वकर्मों के ही कारण है। गुरुभक्तिरहित, अयोग्य, एवं रहस्य को अनधिकारी के समक्ष प्रकाशित करने वाले शिष्य की गति भगवान् चण्डमहारोषण भगवती द्वेषवज्री से कहते हैं –

यमदूतैस्ततो ग्रस्तः कालपाशवशीकृतः। नरकं नीयते पापी यदि बुद्धैरपि रक्षितः॥
यदि कर्मक्षयाद्दुःखं भुक्त्वा च लक्षवत्सरम्। मानुष्यं प्राप्यते जन्म तत्र वज्रेण भिद्यते॥
(श्रीचण्डमहारोषणतन्त्र, तन्त्रावतार पटल, श्लोक – १३-१४)

यमदूतों के द्वारा पकड़े जाने बाद कालपाश में बंधकर वह पापी नरक में ले जाया जाता है। यदि साक्षात् बुद्ध भी चाहें तो उसकी रक्षा नहीं कर सकते। उसके बाद नरक में उस दुःख को एक लाख वर्षों तक भोगने पर जब कर्मक्षय होता है और यदि मनुष्य जन्म में आ जाता है तब भी यहां उसके ऊपर वज्रपात हो जाता है।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं ध्यान, योग आदि में विश्वास नहीं करता। विचित्र आकृति वाले देवी देवताओं का ध्यान अंधविश्वास है।

बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् सर्वतथागत कायवाक्चित्त वज्राधिपति वज्रधर ने तथागत अक्षोभ्यवज्र, तथागत वैरोचनव्रज, तथागत अमितायुवज्र, तथागत रत्नकेतुवज्र एवं तथागत अमोघसिद्धिवज्र को इसी जन्म में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए जिन देवताओं के जिस रूप के ध्यान का उपदेश किया, उनमें से एक उदाहरण देखें –

हयग्रीवं महाक्रोधं कल्पोद्दाहमिवोद्भवम्। त्रिमुखं दुष्टपदाक्रान्तं भावयेद्योगभावतः॥
(श्रीगुह्यसमाजतन्त्र, त्रयोदश पटल, श्लोक – ९८)

कल्पों को दहन करने के समान तेज से युक्त, महाक्रोधयुक्त तीन मुखों से युक्त, दुष्टों को पैरों के नीचे रौंदते हुए,

भगवान् हयग्रीव का योगबल से ध्यान करना चाहिए।

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – मैं पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करता हूँ। देवताओं की पूजा, हवन आदि पाखण्ड है। भूत और भविष्य की घटनाओं को जानने का दावा करने वाले अंधविश्वासी हैं।

बुद्धवाक्यों से खण्डन –

दुःखाद्धातुक्षयः पुंसां क्षयान्मृत्युरिति स्मृतः। मृत्योः पुनर्भवस्तेषां भवान्मृत्युश्च्युतिः पुनः॥
(कालचक्रतन्त्र, मलप्रकरण, नरोत्तमपादविरचिता सेकोद्देशटीका, श्लोक – ११-१२)

दुष्टमैत्री सदा त्याज्याऽधर्मं नैव प्रमाणयेत्। श्राद्धसत्वं न वै वञ्चेत् समयान्सेवयेत् सदा॥
स्त्रीणां प्रज्ञास्वभावानां दूषणाद्दोष एव च। भिक्षां नैवभ्रमेद्योगी योगं नैव विवर्जयेत्॥
(श्रीकृष्णयमारितन्त्र, सप्तदश पटल, १५-१६)

दुःख से धातुक्षय, धातुक्षय से मृत्यु होती है। मृत्यु से पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म के बाद फिर मृत्यु और उससे च्युति (पतन) होती है।भगवान् कृष्णयमारि ने मैत्रेय आदि सर्वतथागत बुद्धों को उपदेश करते हुए कहा – योगी को चाहिए कि दुष्टों से मित्रता करना छोड़ दे, अधर्म को प्रमाण मानकर आचरण न करे, श्रद्धायुक्त कर्म से वञ्चित न रहे और समयानुसार इन्द्रियों का संयमन करे। स्त्रियों एवं विद्वानों की निंदा न करें क्योंकि इससे दोष लगता है। केवल भिक्षा मांगने के लिए ही भ्रमण न करे, साथ ही योगाभ्यास का कभी परित्याग न करे। भगवान् शाक्यमुनि गौतम बुद्ध उपदेश करते हैं –

प्रतिसेनां यथादर्शे कुमारी पश्येदवस्तुजाम्। अतीतानागतं धर्मं तत्त्वयोग्यम्बरे तथा॥
(कालचक्रतन्त्र, षडङ्गयोगप्रकरण, श्लोक – ०६)

जैसे आईने में कुमारी अपनी प्रतिसेना में अनेक अप्रत्यक्ष वस्तुओं को देखती हैं, जहां वस्तुतः कोई पदार्थ नहीं होता है, वैसे ही योगीजन भी आकाश में अतीत (भूतकाल) एवं अनागत (भविष्य) के पदार्थों को देखते हैं।(प्रतिसेनावतार तन्त्र में आईना, खड्ग, अंगूठा, दीपक, चन्द्र, सूर्य, जलकुण्ड एवं नेत्र आदि आठ पदार्थों को प्रतिसेना कहा गया है) भगवान् शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने दीपङ्कर बुद्ध के द्वारा पूर्वकाल में दिए गए मन्त्रोपदेश को शम्भलपुर के राजा सुचन्द्र के अनुरोध पर उन्हें देवताओं के पूजन की विधि का उपदेश करते हुए जो कहा, उसपर बौद्ध विद्वान् नरोत्तमपाद (नारोपापाद) की टीका देखें –

सर्वेषां नामपूर्वं प्रणवं देयम्। अर्चने सर्वकर्मणि नमोऽन्ते नाम्नो भवति।
प्रत्येकं कर्मणि पुष्ट्यादौ स्वाहान्तो वेदितव्य इति।
(कालचक्रतन्त्र, दीक्षाप्रकरण)

सभी देवताओं के नाम से पहले ॐ लगाना चाहिए। पूजा के अवसर में नामों के अन्त में नमः लगाना चाहिए। प्रत्येक

पुष्टि कर्म में स्वाहा लगाना होता है। (नेपाल के अभिलेखागार में स्थित देववर्मा के द्वारा लिखित सिद्धचरितम् की हस्तलिखित प्रति के अनुसार नरोत्तमपाद चौरासी बौद्ध सिद्धों में एक हैं। ये कश्मीरी ब्राह्मण थे एवं वहां के राजपुरोहित भी थे। इनका नाम बौद्ध गुरु तिलिप्पा से दीक्षा लेने बाद नारोपापाद हो गया था। कहीं कहीं लोग इन्हें शुभवर्मा नामक राजा के पुत्र अथवा कुछ लोग शूद्रवर्ण के व्यक्ति के रूप में भी जानते हैं)

नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – सभी लोग समान हैं, वर्ण एवं जातिव्यवस्था काल्पनिक और अंधविश्वास से भरी हुई है।
बुद्धवाक्यों से खण्डन – मायापुत्र चण्डरोषण को भगवती प्रज्ञापारमिता, जातियों का वर्णन करते हुए उपदेश करती हैं –

ब्राह्मणी क्षत्रिणी वैश्या शूद्री चात्यन्तविस्तरा। कायस्थी राजपुत्री च शिष्टिनी कर-उत्तिनी॥
वणिजिनी वारिणी वेश्या च तरिणी चर्मकारिणी। कुलत्रिणी हत्रिणी डोम्बी चाण्डाली शवरिणी तथा॥
धोबिनी शौण्डिनी गन्धवारिणी कर्मकारिणी। नापिती नटिनी कंसकारिणी स्वर्णकारिणी॥
कैवर्ती खटकी कुण्डकारिणी चापि मालिनी। कापालिनी शंखिनी चैव वरुडिनी च केमालिनी॥
गोपाली काण्डकारी च कोचिनी च शिलाकुटी। थपतिनी केशकारी च सर्वजातिसमावृता॥
(श्रीचण्डमहारोषणतन्त्र, स्वरूपपटल, श्लोक – ०४-०९)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियां हैं। इसके अतिरिक्त विस्तार में समझने के लिए कुछ उदाहरण हैं – कायस्थ, राजपुत्र (राजपूत आदि), ... वेश्या ... चमार ... डोम ... चाण्डाल ... शबर (वनवासी) .... धोबी ... इत्र का काम करने वाले गन्धी, लोहार, नाई, अभिनय करने वाले नट, कांसे का काम करने वाले ठठेरा, सुनार, मल्लाह-केवट, खटीक, खुदाई करने वाले खनिक, माली .... ग्वाला, शस्त्र बनाने वाले कर्मकार/कर्माकर, पत्थर तोड़ने वाले ... कुशियार ... आदि आदि सभी जातियां हैं।

(यहां जाति शब्द के कारण एवं देवीरूप से व्याख्या होने से सभी जातियों के स्त्रीलिंग नाम श्लोक में वर्णित हैं, साथ ही बौद्धागमों में लौकिक शब्द भी कहीं कहीं प्रयुक्त हैं)
नवबौद्ध अम्बेडकरवादी – धर्म कुछ नहीं है। धर्म केवल काल्पनिक है और अंधविश्वास है।
बुद्धवाक्यों से खण्डन – भगवान् तथागत मैत्रेय बुद्ध धर्म की दुर्गम्यता को बताते हुए उपदेश करते हैं –

यथा सूक्ष्मान् शब्दाननुभवति न श्रोत्रविकलो न दिव्यश्रोत्रेऽपि श्रवणपथमायान्ति निखिलम्।
तथा धर्मः सूक्ष्मः परमनिपुणज्ञानविषयः प्रयात्येकेषां तु श्रवणपथमक्लिष्टमनसाम्॥
(महायानोत्तरतन्त्रशास्त्र, कृत्यक्रियाधिकार, श्लोक – ४१)

जैसे कान खराब हो जाने पर व्यक्ति सूक्ष्म शब्दों को नहीं सुन सकता और दिव्य कान के होने पर भी सभी विषय नहीं सुने जाते सकते। (रूप, रस, गन्ध आदि अश्रौत विषयों को दिव्य कान भी ग्रहण नहीं करते) उसी प्रकार धर्म अत्यंत

सूक्ष्म है, अत्यंत निपुण व्यक्ति को ही इसका ज्ञान हो सकता है। यह वस्तुतः अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि एवं शान्त मन वालों के द्वारा ही सुना और समझा जा सकता है।

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पायिरुपासति। न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूप रसं यथा॥
मुहूत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति। खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरसं यथा॥
(धम्मपद, बाल-वग्गो, श्लोक – ०५-०६)

भगवान् शाक्यमुनि गौतम बुद्ध उपदेश करते हैं – मूर्ख व्यक्ति चाहे जन्मभर पण्डितों की संगति में रहे, वह सच्चे धर्म को नहीं जान सकता जैसे कड़छी दाल में डूबी रहकर भी उसके स्वाद को नहीं जानती। बुद्धिमान् व्यक्ति चाहे मुहूर्तमात्र के लिए भी पण्डितों की संगति में रहे, वह उसी प्रकार से सच्चे धर्म को जान लेता है जैसे जिह्वा दाल के स्वाद को पहचान लेती है। यहाँ एक छोटी शंका हो सकती है कि जब गौतम बुद्ध स्वयं भगवान् विष्णु के ही अवतार हैं तब उनके इतने जन्मों का वर्णन क्यों है ? इसका उत्तर है कि अर्जुन भी नारायणभ्राता नर के अवतार थे किन्तु पराशर संहिता में उनके भी विजयसंज्ञक पूर्वजन्म का वर्णन है। भगवान् नारद जी भी विष्णु के अवतार हैं किन्तु गन्धर्वकुल, शूद्रकुल आदि में उनके पूर्वजन्म का वर्णन श्रीमद्भागवत आदि में वर्णित है। आवेशावतार, अंशावतार आदि में ऐसा होना सामान्य बात है, क्योंकि इनमें जीवांश भी होता है जो कर्मप्रारब्ध का निर्माण करता है।

उपर्युक्त सभी ग्रंथों को बौद्धों के सर्वोच्च धर्मगुरु दलाई लामा समेत सभी मान्य प्राचीन एवं नवीन बौद्ध विद्वानों का पूर्ण समर्थन और प्रामाणिकता प्राप्त है। चौदहवें दलाई लामा तो कालचक्रतन्त्र आदि के प्रचार प्रसार और अनुसरण में ही पूरा जीवन लगा दे रहे हैं। बुद्ध के नाम पर देश में वैमनस्य एवं धर्मद्रोह की श्रृंखला प्रारम्भ करने वाले राजनैतिक गृद्धों को यदि भगवान् शाक्यमुनि गौतम, मैत्रेय, यमारि, अमिताभ बुद्ध आदि के ही उपदेशों के शास्त्रोक्त प्रारूप के अध्ययन का अवसर मिल जाये तो उनका कुछ कल्याण ही होगा। अंत में मैं नारायण कवच के वचन के अनुसार यह प्रार्थना करता हूँ कि भगवान् विष्णु के अवतार सभी बुद्ध पाखण्ड एवं आलस्य से हमारी रक्षा करें – बुद्धस्तु पाखण्डगणात्प्रमादात्॥

--*

कलियुग के दुष्प्रभाव से मुक्ति

पिशाचवदनः क्रूरः कलिश्च कलहप्रियः। वामहस्ते धृतः शिश्नो दक्षे जिह्वाञ्च नृत्यति॥
(कलिस्वरूपनिरूपणम्)

सावधान मित्रों !! सावधान !! सम्भलिये कलि के काल प्रहार से ! पिशाच के समान क्रूर आकृति वाले, हमेशा लड़ाई झगड़ों को पसंद करने वाला कलियुग अपने दायें हाथ से जीभ और बाएं हाथ में अपने लिंग को पकड़ करके हम सबों की मूर्खता और जीभ और लिंग से जुडी वासनाओं पर हंसता हुआ नाचता है। मांसाहार, लिव इन रिलेशन, गर्लफ्रेंड, बॉयफ्रेंड, रेंटल हस्बैंड वाइफ, वन नाइट स्टैंड आदि आदि। शास्त्र के अनुसार प्राणी का गुप्तांग ही कलि का अस्त्र है, यहाँ (कलियुग में) इसी का वर्चस्व है। समस्त प्राणियों की वाणी और पाणि (हाथ /कर्म) में यही छाया है।

काल का अस्त्र है ये, कालपाश है, बन्ध मोक्ष का कारण रूप है ! ये कोई साधारण वस्तु नहीं है ! आप देखिये, हर चीज का केंद्र यही है , चाहे वह कोई गाली हो, चाहे आपका कोई तथाकथित फिल्मी गीत हो, चाहे एक सामान्य भोगी व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य हो ! सब गुप्तांग के व्यामोह से मूर्च्छा को प्राप्त हो गए हैं। प्राणी इधर से जो भी अशास्त्रीय खाता है, अनेक दिन बाद उसके सार रेतस् (वीर्य) परिणति को कलि अपने इस गुप्त-अंग रूप अस्त्र से विद्ध कर के प्राणी का नाश करता है! किन्तु धर्माविरुद्ध भूत का वीर्य देव प्रजा की उत्पत्ति का देवत्व का वर्धन करके प्राणी का विकास करता है। जैसे एक कुशल योद्धा के अस्त्र से उसके शिकार बींध जाते हैं, ऐसे ही इस कलि ने समस्त प्राणियों को अपने अद्भुत अस्त्र से बेध कर रख दिया है ! लोकक्षय - यही काल की प्रवृत्ति का हेतु है ! योगवाशिष्ठ महारामायण में लिखा है-

जगतोन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत्। स्थितमन्योन्यबलितं कवलीवलपीठवत्॥

आकाश में अनन्त द्रव्यों के असंख्य परमाणु बिखरे पड़े है, उन सब में अनोखे जगत् विद्यमान् हैं, जहाँ-जहाँ जीवाणु हैं, वह अपनी अपनी स्थिति के अनुसार सृष्टि का अनुभव करते हैं। प्रत्येक अणु के अन्दर अनन्त सृष्टियाँ विद्यमान् हैं। परमाणु के एक अत्यन्त सूक्ष्म अणु के भीतर हजारों जगत् प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। अणु-अणु के भीतर जगत् विद्यमान् है, जो इस बात को जानता और समझता है वही सच्चा ज्ञानी है। आज का कथित विज्ञान भी यही कहता है कि हर परमाणु के भीतर सौरमण्डल विद्यमान् है, किन्तु हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हम उस सूक्ष्मतम चेतन सत्ता का अनुभव न कर विराट्-दर्शन से वंचित रह जाते हैं और दीन-हीन जीवन जीते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :-

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

हे अर्जुन !! जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य को सही रूप से नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी अर्थात् भौतिकवादी अर्थात् मोहग्रस्त है। जो अधर्म को ही धर्म, और धर्म को ही अधर्म अर्थात् सबकुछ उल्टा ही समझती है, वह बुद्धि तामसी अर्थात् पतनकारिणी अर्थात् निम्नतम है। आजकल ऐसी बुद्धि आर्य समाजी, साईं भक्त, वर्ण विरोधी, जय भीम और कथित बुद्धिजीवी वामपंथी और मठाधीशों में पायी जाती है।

त्रैलोक्य पूजितः श्रीमान् सदा विजयवर्धनः। शान्तिगुरुर्गदापाणिर्नारायण नमोऽस्तु ते॥
वनमाली गदी शार्ङ्गी शङ्खी चक्री च नन्दकी। श्रीमान् नारायणो विष्णुर्वासुदेवोऽभिरक्षतु॥

इस सम्पूर्ण जगत में वन्दनीय लक्ष्मीपति भगवान् जो सदा विजय प्रदान करने वाले हैं, जो हाथ में (कौमोदकी नाम की) गदा को धारण करके दुष्टों का दमन करते हुए विश्व में शांति का सन्देश प्रसारित करने वाले हे एकार्णवशायी नारायण !! आपके लिए नमस्कार है। गले में वैजयंती पुष्पों की वनमाला, हाथ में कौमोदकी गदा, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र और नन्दक नाम की तलवार धारण किए हुए एकार्णवशायी लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु सब ओर से हमारी रक्षा करें। **एक मुर्दा परमाणु में २७००००० किलो** कैलोरी ऊर्जा शक्ति हो सकती है, तब इस जीवन परमाणु की शक्ति का तो कहना ही क्या। यदि मनुष्य इस लघुता का चिन्तन कर सका होता तो यह शक्ति को एक अत्यन्त शुद्ध और विशाल अवस्था में होता। श्वेताश्वेतरोपनिषत् में बताया है- अङ्गुष्ठमात्रो...तेन तेन स युज्यते॥ जो अंगुष्ठ मात्र संकल्प, विकल्प युक्त तथा बुद्धि के गुण में अपने श्रेष्ठ कर्मों के गुण से सुई के अग्रभाग जैसे आकार वाला हो गया है। ऐसी सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा भी ज्ञानियों ने देखी है।

बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के भी सौवें भाग जितने छोटे अस्तित्व वाला भाग ही प्राणी का स्वरूप जानना चाहिए। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुण वाली आत्मा ही असीम गुणों वाली हो जाती है। चेतना मनुष्य के शरीर के रूप में विकसित होकर परमाणु से भी बड़ी दिखाई देने लगी, यह उसका महत्तम रूप है और परमात्मा ने यह किसी विशेष हेतु से किया है। यूँ तो अवतार लेने का कार्य दो तत्व करते हैं। एक भगवान्, दूसरे जीव। यहाँ देखना यह है कि भगवान् का अवतार स्वयं की इच्छा से होता है और जीवों का अवतार भगवान् की इच्छा से। जीवों में भी अति विशिष्ट महाकारण शरीरधारी पंचमकोषाश्रित जीव ही आते हैं, जो वस्तुतः एक प्रकार से ब्रह्मलीन जैसे ही होते हैं। इन्हें ही पार्षद या गण भी कहा जाता है। जब ऐसे जीव किसी विशिष्ट उद्देश्य से जन्म लेते हैं तो उनके द्वारा ऐसे कार्य किये जाते हैं जो चिरस्थायी होते हैं।

जैसे शिव जी के गण शिवमुख ने उज्जयिनीपुरी में कलि के ३००० वर्ष बीतने पर अग्निवंशी क्षत्रिय सम्राट विक्रमादित्य के रूप में अवतार लिया। जैसे समाज में पूर्ण अव्यवस्था के समय भगवान् नारायण के श्रीचक्र सुदर्शन ने माहिष्मती नगरी में हैहयवंशी क्षत्रिय कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन के रूप में अवतार लिया। जैसे कलियुग में ही नारायण के प्रधान पार्षद श्रीविश्वक्सेन ने स्वामी शठकोप सूरी, रुद्रावतार वीरभद्र (नीललोहित) ने आदिगुरु शंकराचार्य जी, पितामह

ब्रह्माजी ने भक्तराज नाभाजी, और स्वयं संकर्षण शेष ने श्रीरामानुजाचार्य जी, वैयाकरण पतंजलि के रूप में अवतार लिया। जब भगवान् अवतार लेते हैं तो वह पांच प्रकार का होता है। अंशांशावतार, अंशावतार, कलावतार, पूर्णावतार, एवं परिपूर्णावतार। यद्यपि इनमें कोई छोटा और बड़ा नहीं। यहाँ सबों की शक्ति समान है। लेकिन स्तर का आधार अवतार का कारण और उसमें प्रयोग की जाने वाली दिव्य शक्ति की मात्रा से तय किया जाता है। जैसे यदि एक ही उद्देश्य से अवतरण हो तो वह अंशांशावतार है। जैसे अजित (समुद्र मन्थन), जैसे हरि (गजेन्द्र मोक्ष), मत्स्य (षष्ठ से सप्तम मन्वन्तर की प्रलय सन्ध्या), और जैसे कूर्म (समुद्र मन्थन)। यदि एक से अधिक कार्य हों तो उसे अंशावतार कहा जाता है। जैसे नृसिंह, जैसे वाराह, जैसे मोहिनी, जैसे कल्कि आदि। नृसिंह की गणना पूर्णावतार में भी होती है।

यदि कार्यों की संख्या और भी अधिक हो, लेकिन दिव्य कार्य अवतरण के समय से ही प्रारम्भ न हो, बाद में किसी निमित्त से दिव्यता दिखानी पड़े और फिर कार्य के समाप्त होने पर सामान्य होने की घटना हो तो वह कलावतार है। इन्हें आवेशावतार भी कहते हैं जैसे राजा पृथु, परशुराम, महर्षि कपिल, वेदव्यास, नर नारायण, बुद्ध, ऋषभदेव, नारद, दत्तात्रेय आदि। यदि अवतार भी चिरस्थायी हो और चमत्कार भी प्रारम्भ से अंत तक रहे और साथ ही चमत्कार की अपेक्षा लोकमर्यादा की प्रधानता भी बनी रहे तो वह पूर्णावतार है। इसमें श्रीराम का नाम हैं। यदि अवतार चिरस्थायी हो, चमत्कार प्रारम्भ से अंत तक हो और लोकरीति को किनारे फेंक कर परिस्थितियों के आधार पर केवल चमत्कार से ही बिना किसी की सुने अवतार का उद्देश्य पूर्ण ब्राह्मी हस्तक्षेप से पूरा किया जाय तो वह परिपूर्णावतार है। और इसमें अभी तक केवल श्रीकृष्ण का नाम है। कुछ शाक्त मत में श्रीराम जी का नाम भी इस श्रेणी में आता है।

अवतार के विषय में यह मत वेदव्यास, गर्ग, जैमिनी आदि से समर्थित है। यही नियम भगवती के शाकम्भरी, भ्रामरी, रक्तदन्तिका, कालिका, कौशिकी, षष्ठी, शताक्षी, दुर्गा, बगला, मातंगी, भैरवी, छिन्नमस्ता, कात्यायनी, शैलजा आदि अवतारों पर भी लागू होता है। शिव के दुर्वासा, हनुमान, भैरव, शिवपुराण वर्णित 12 ज्योतिर्लिंग एवं अन्य नकुलीश आदि 19 अवतार पर भी लागू होता है। गणेश और सूर्य के साथ भी ऐसा ही है। यहाँ ध्यान रहे कि शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य और गणेश में पूर्ण अभेद है और इन्हें अथर्वा ऋषि के मत से देखते हुए ब्राह्मी स्थिति को प्रधानता दी जाय। यदि अपरिचित से भी सद्ज्ञान मिले तो वह कुसंगति वाले सैकड़ों परिचितों से श्रेष्ठ है। यदि तुम यह जानते हो कि तुम कुछ नहीं जानते तो तुम बहुत कुछ जानने की योग्यता रखते हो क्योंकि हर व्यक्ति सब कुछ नहीं जानता पर सब कुछ न कुछ अवश्य जानते हैं। इस कलिकाल में धर्म और देश में मैं पहले धर्म को चुनता हूँ। क्योंकि देश से धर्म नहीं बनता पर धर्म से देश बनता हैं देश से धर्म और कर्तव्य की शिक्षा नहीं मिलती पर धर्म से देशपालन और अन्य कर्तव्य की शिक्षा मिलती है।

धर्म हमें देश का महत्व सिखाता है पर देश हमें धर्म का कोई ज्ञान नहीं देता। देश जायेगा तो धर्म उसे फिर बना लेगा। आत्मविश्वास के आने के तीन प्रमुख स्रोत होते हैं - संसार, परिवार एवं परमशक्ति। इन तीनों में जिससे भी मिले, ऊर्जा लेते रहनी चाहिए। लोगों का आदर केवल उनकी सम्पत्ति के कारण नहीं करना चाहिये। उनकी उदारता के कारण

करना चाहिये। सूर्य का सम्मान उसकी उँचाई के कारण नहीं करते, उसकी उपयोगिता के कारण करते हैं, अतः व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व आदरणीय है। देवताओं के स्वरूप में भेद नहीं देखना चाहिए। ऐसा इसीलिए है कि जब आप परब्रह्म की स्त्रीरूप से उपासना करते हैं तो वहाँ उसके पुरुष रूपों को उसके समक्ष करबद्ध दिखाया गया है। जहाँ पुरुषरूप से वर्णन है वहाँ स्त्री रूप को हाथ जोड़े दर्शाया है। इससे ज्ञानीजन तो परम् मुदित होते हैं पर सामान्य जन नहीं। जैसे एक अभिनेता एक चलचित्र में पुलिस बन जाये, दूसरे में चोर, तो वह वास्तव में न पुलिस है न चोर। वह तो कुछ भिन्न ही है। इस बात को जानते हैं वे दोनों रूपों का आनन्द लेते हैं, और जो नहीं, वे बार बार विषादग्रस्त होकर मोह में फंसते हैं। अतः दुर्गा के भक्त देवी के चरित्र का और विष्णु के उपासक उनके चरित्र का गान और अनुसरण करें। उन्हें सबों के एकात्मकता का उपदेश इस अल्प प्रज्ञा युक्त कलिकाल में आत्मघाती और भ्रामक ही सिद्ध होगा। शरणागति के बिना इससे पार पाना सम्भव नहीं। जरा सी बात से अर्थ बदल जाते हैं। उंगली उठे तो अपमान, और अंगूठा उठे तो प्रशंसा। यही है सम्प्रदायभेद।

--*

ब्राह्मण भगवान् को प्रणाम कैसे करे ?

विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि वह किसी को भी बिना प्रणाम किये आशीर्वाद न दे। हृदय में सभी प्राणियों के प्रति कल्याण की कामना अवश्य करे परंतु मुख से आशीर्वाद का वचन उच्चरित न करे। परंतु जब वह किसी राजा के सम्मुख जाए तो बिना उसके प्रणाम की प्रतीक्षा किये उसे पुष्कल वचनों से आशीर्वाद दे। ऐसे ही एक राजा का कर्तव्य है कि वह सभी प्राणियों के प्रति मन में आदर का भाव रखे पर प्रणाम किसी को न करे। परंतु जब वह किसी विद्वान् ब्राह्मण के सम्मुख जाए तो पूर्ण श्रद्धा से उसे प्रणाम करे। एक विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि जब वह त्रैलोक्य के महाराज श्री विष्णु के मन्दिर में जाय तो इसी नियम का पालन करते हुए प्रथम उन्हें प्रणाम न करके आशीर्वाद दे क्योंकि ब्रह्मण्यदेव श्रीहरि किसी विद्वान् ब्राह्मण को अपने सम्मुख देखकर अत्यंत प्रसन्नता से उन्हें प्रणाम करते हैं। विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि प्रथम वह भगवान् को निम्न वचनों से आशीर्वाद दे :-

योऽत्रावतीर्य शकलीकृत दैत्यकीर्तिर्योयञ्च भूसुरवरार्चितरम्यमूर्तिः।
तद्दर्शनात्सुकधियां कृततृप्तिपूर्तिः सीतापतिर्जयतु भूपति चक्रवर्ती ॥
कमलाकुचचूचुककुङ्कमतो नियतारुणिताखिलनीलतनो।
कमलायतलोचन लोकपते विजयी भव वेङ्कटशैलपते ॥

अर्थात्, जिन्होंने यहाँ अवतार लेकर दैत्यों की कीर्ति को धूल में मिला दिया, समस्त ब्राह्मण जिनकी सुंदर छवि की अर्चना करते हैं, इस सुंदर छवि के दर्शनों की इच्छा रखने वाले के हृदय को जो दर्शन देकर आह्लादित कर देते हैं ऐसे सीतापति श्रीरामचंद्र जी सदा विजयी हों। श्रीलक्ष्मी जी के स्तनों पर लगे हुए पराग और चंदन के द्वारा जिनका पूरा श्याम शरीर स्थान स्थान पर लालिमा से युक्त हो गया है, ऐसे वृषाचल निवासी समस्त संसार के महाराज कमलनयन श्री वेंकटेश भगवान् को मैं विजय का आशीर्वाद प्रदान करता हूँ। इस प्रकार से आशीर्वाद देने के बाद भगवान् को अत्यंत प्रसन्न होकर वरदान देने के लिए उत्सुक हुआ जानकर विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि श्रीहरि से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा को न मांगकर अपने आप को इस अत्यंत दुष्कर संसार सागर से मुक्त होने का वरदान मांगते हुए उन्हें सम्पूर्ण भाव और समर्पण के साथ प्रणाम करे :-

सचतुर्मुखषण्मुखपञ्चमुखप्रमुखाखिलदैवतमौलिमणे।
शरणागतवत्सल सारनिधे परिपालय मां वृषशैलपते॥

जिनकी आराधना और चरणवन्दन ब्रह्मा, कार्तिकेय और शंकर जी जैसे प्रमुख देवगण सदैव करते रहते हैं ऐसे हे शरणागत वत्सल वृषाचल निवासी वेंकटेश स्वामिन् !! आप सदैव मेरा संरक्षण और पालन करें। इस प्रकार से अपने सभी क्रियमाण, सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्म को सम्पूर्ण रूप से भगवान् को समर्पित करके वह विद्वान् ब्राह्मण सभी संकटों से पार होकर श्रीनारायण के स्वरूप में मिल जाता है।

--*

जगत् सत्य है अथवा मिथ्या ?

(यह विद्वज्जनों के मध्य हुए संवाद का अंश है। इसमें बहुत से भ्रामक शब्द भी आयेंगे अतएव विरोधाभास से भ्रमित न होकर बारम्बार पढ़ें)

मारुति :-- एक जिज्ञासा मन में है, ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या इस वाक्य में पूर्ण विश्वास है और ये ही सत्य है किन्तु मिथ्या वस्तु की कोई उपयोगिता नहीं हो सकती पर यहाँ मिथ्या कहे जाने वाला जगत् से ही सत्य कहे जाने वाले ईश्वर की प्राप्ति होती है, रहस्य क्या है ?

श्रीभागवतानंद गुरु :-- क्योंकि जगत् मिथ्या नहीं है। यह पूर्ण सत्य है। अतः इस पूर्ण सत्य से उस पूर्ण सत्य की प्राप्ति होती है। उपनिषत् ने कहा कि भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा ... त्रिविधं ब्रह्ममैतत् ब्रह्म तीन रूपों में भासता है। भोक्ता (जीवत्व की स्थिति प्राप्त मायाग्रस्त चेतन), भोग्य (ब्राह्मी शक्ति से संचालित त्रिगुणमयी मायारूपी प्रकृति) तथा साक्षी प्रेरक (ब्रह्मत्व की स्थिति प्राप्त मायामुक्त चेतन)। अब जब तीनों प्रारूपण में ब्रह्म ही भासता है तो सत्य तो तीनों ही हुए। परंतु उत्तमः पुरुषः त्वन्यः...विभर्त्यव्य य ईश्वरः आदि वचनों से सिद्ध होता है कि साक्षी की स्थिति से युक्त चेतन (ब्रह्म) भोक्ता तथा भोग्य से श्रेष्ठ है। अतः जहाँ संसार की असत्यता की बात है, वहाँ इसकी स्थिति की असत्यता का भाव है। इसकी विद्युन्मालावत् चपला परिवर्तनीया स्थिति की बात है। लेकिन संसार सत्य है। क्योंकि यह सत्य रूपी ब्रह्म का मायायुक्त प्रारूप है और जीवो ब्रह्मैव नापरः ब्रह्मांश जीवात्मा से भुञ्जीयमान है।

धीरज पाण्डेय :-- संसार सत्य है और ब्रह्म भी, यह न्यायानुकूल नहीं है क्योंकि संसार विनाशी है और ब्रह्म अविनाशी, यह सभी मानते हैं कि ब्रह्म से ही संसार उत्पन्न हुआ है। शाश्वत ब्रह्म से अशाश्वत संसार कैसे उत्पन्न हुआ क्योंकि कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। यदि हम संसार को मिथ्या कह दें तो नासतो विद्यते भावः इस न्याय से यह ठीक नही है और सत् कह दें तो सत् का नाश नहीं होता, इससे इसका भी बाध होता है। अब कारण से विलक्षण कार्य नहीं होता यह बात है अर्थात् यदि कारण (ब्रह्म) अविनाशी है तो कार्य (संसार) भी अविनाशी होना चाहिए, परन्तु यह नाशवान् प्रत्यक्ष दिखता है।

श्रीभागवतानंद गुरु : संसार सत्य है। इसकी स्थिति नहीं। यह संसार इसीलिए सत्य है क्योंकि यह ब्रह्म और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म और प्रकृति दोनों सत्य है। मम योनिर्महद् ब्रह्म....ततो भवति भारत। सत्यरूपी बीजप्रदाता ब्रह्मपिता और सत्यरूपिणी महायोनि प्रकृतिमाता के संयोग से इस त्रिगुणमयी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। जिसमें स्वयं बीजप्रदता ब्रह्म भी सगुणाकृति से विचरित एवं व्याप्त होते हैं। भला असत्य में ब्रह्म की स्थिति कैसे हो सकती है ? नासतो विद्यतेऽभावो नाभावो विद्यते सतः अतः संसार सत्य तो है परंतु उसकी सत्यता अस्थिरता से युक्त है। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते श्रुतियों के अनुसार संसार जब स्वयं ब्रह्मरूप है तो फिर मिथ्या कैसे ? क्योंकि ब्रह्म तो मिथ्या है नहीं। तो जहाँ महाभाग आचार्यों ने संसार की असत्यता की बात कही है वहाँ विकारों की असत्यता

है। त्रैगुण्यसंयोग के फलस्वरूप उत्पन्न संसार के प्रपञ्च, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशादि पञ्च क्लेशों की अनित्यता की बात कही गयी है। यह संसार नाशवान् अवश्य दीखता है पर वास्तव में इसका कभी नाश हो ही नहीं रहा है, बस इसका स्थानांतरण हो रहा है। एक के स्थान पर दूसरे का आगमन हो रहा है। ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् तथा न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा। अतः संसार तो अविनाशी है पर उसकी स्थिति नहीं। क्योंकि संसार की स्थिति का तो नाश होता है, उसके स्थान पर एक और, फिर उसके स्थान पर एक और, फिर उसके स्थान पर एक और, इस प्रकार से सूक्ष्मतम रूप में संसार की स्थिति नित्य नवीन बनी रहती है जिससे संसार का नाश नहीं होता। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या श्रुति में इसी स्थिति के मिथ्या होने का संकेत है। क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति की व्याख्या में आचार्य श्रीशंकर स्वयं संसार को भोग्य रूप से ब्रह्म सिद्ध कर चुके हैं। अतः यहाँ मिथ्या शब्द से संसार का नहीं, बल्कि उसकी अति सूक्ष्म गति से बदलने वाली स्थिति का संकेत है।

धीरज पाण्डेय : कारण दो होते हैं, एक उपादान(मुख्य) कारण, दूसरा सहकारी कारण। इससे कार्य कारण भाव समझें। जैसे मिट्टी जल उठाने में असमर्थ है परन्तु मिट्टी से बना घड़ा जल उठा लेता है, क्योंकि घड़े में मिट्टी उपादान कारण तथा चाक दण्ड कुम्भार आदि सहकारी कारण हैं। यदि इस संसार के निमित्त हम ब्रह्म को उपादान कारण माने तो ब्रह्म में चाक दण्ड आदि कोई सहकारी कारण नही है जिससे कि संसार बन सके, क्योंकि वह तो एकमात्र एवं स्वयमेव पूर्ण है तो वह किससे किसे किसके लिये क्यों कब कैसे किसी को बनाये। यदि इस संसार को ब्रह्म से निर्मित माने तो ब्रह्म की पूर्णता में सन्देह करना होगा।

आचार्य महेश गहतोड़ी : संसार का नाश नहीं है, परिवर्तन होता है और ब्रह्म शाश्वत है, उसका परिवर्तन नहीं है। एक भोक्ता है दूसरा केवल द्रष्टा ही है : संसार ब्रह्म से नहीं अपितु ब्रह्म की संकल्प शक्ति से निर्मित है ।

श्रीभागवतानंद गुरु : इस विषय में भी श्रुतियों ने अनुग्रह किया। जिस प्रकार से यदि हम घड़े के उपादान कारण के रूप में मिट्टी को लेते हैं, और चाक दण्ड आदि को सहकारी कारण के रूप में, वैसे ही इस संसार रूपी घड़े के निर्माण में प्रकृति उपादान कारण है, और सत्व, रज तथा तम आदि गुण सहकारी कारण। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग तथा गुणत्रय विभाग योग इस बात की गूढ़ व्याख्या करते हैं। हम इस संसार को यदि ब्रह्म से निर्मित जानें तो भ्रम होना स्वाभाविक है। वास्तव में संसार ब्रह्म से निर्मित नहीं हुआ है, ब्रह्म ही भोग्यरूप से संसार के रूप में परिलक्षित होता है। जैसे जल ठण्ड और ऊष्मा के कारण हिम तथा वाष्प के रूप में परिलक्षित होता है, वैसे ही ब्रह्म ही भिन्न भिन्न कार्यो की सिद्धि हेतु प्रकृति और जीव रूप से परिलक्षित होता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जल से बर्फ और भाप की उत्पत्ति हुई, पर वास्तव में उत्पत्ति न होकर परावर्तन हुआ। अब ईश्वर को अव्यय बताया गया, सो इस परावर्तन में भी उसके मूल रूप और स्थिति का व्यय नहीं होता है तथा वह न्यूनाधिकादि विकारों से रहित रहता है।

धीरज पाण्डेय: यदि यह मान लिया जाये कि संसार सत्य है बस यह एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होता है तो जो सत्य है उसे परिवर्तित होने की क्या आवश्यकता है? और जो परिवर्तित हो जाये उसे सत्य किस प्रकार कह सकते है ?

और यदि यह मान लिया जाए कि संसार सत्य है तो फिर आप लोग परमार्थ की बात क्यों करते हैं, जाइये भोगों का आनन्द लीजिये।

श्रीभागवतानंद गुरु : सत्य संसार को परिवर्तित होने की आवश्यकता इसीलिए है कि उसके अवयव त्रिगुण निर्मित हैं। वह विकारग्रस्त है। जैसे भिन्न भिन्न आभूषणों में परिवर्तित होने पर भी स्वर्ण सदैव स्वर्ण ही रहता है, वैसे ही नाना रूपों में परिवर्तित होने पर भी संसार सदैव अपने मूल रूप में ही रहता है। परिवर्तन की आवश्यकता त्रिगुणों के हस्तक्षेप के कारण है। रही बात भोगों में लिप्त होने की, तो जीव के रूप में ब्रह्म का परावर्तन ही इसीलिए हुआ है कि वह प्रकृति का भोग कर सके। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया... अभिचाकसीति। राजा जनक, जनश्रुति, ऋषि भरद्वाज और गौतमादि ने षड्ऐश्वर्य का उपभोग किया। निर्लिप्तता से उपभोग बन्धनकारी नहीं होता।

धीरज पाण्डेय :- यदि प्रकृति उपादान कारण है तो प्रकृति का उपादान कारण क्या है ? क्योंकि कर्ता का भी कारण अवश्य होता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ की बात में यदि आप प्रकृति को क्षेत्र मानें तो ब्रह्म को क्षेत्रज्ञ नही कह सकते क्योंकि जैसा आप कह रहे हैं प्रकृति कर्ता है तो भोक्ता भी प्रकृति ही होनी चाहिए, क्योंकि जो कर्ता है वही भोक्ता भी होगा। यदि द्वा सुपर्णा से भी ब्रह्म अभोक्ता ही सिद्ध हुआ। पहले आपने ब्रह्म को अकर्ता सिद्ध किया, द्वा सुपर्णा से अभोक्ता, आप संसार को गुणों की विकृति कह रहे हैं तो गुण प्रकृति के कार्य हैं। अतः गुणों का द्रष्टा प्रकृति हुई न कि ब्रह्म, इससे आपने ब्रह्म को अद्रष्टा भी सिद्ध कर दिया। ... ब्रह्म की तो कुछ बात ही नही हुई। और यदि एकमात्र स्वर्ण ही है तो उसमें कटक कुंडल का भेद कैसे आ गया। जिस प्रकार कटक कुंडल इत्यादि परमार्थ दृष्टि से केवल स्वर्ण ही हैं केवल व्यवहारिक दृष्टि से भेद प्रतीत होता है वास्तव में स्वर्ण में कही पर भी कटक कुंडल इत्यादि भाव नहीं हैं। केवल स्वर्ण ही है परंतु कटक कुंडल में देखा जाये तो सभी जगह केवल स्वर्ण ही है स्वर्ण निकाल देने पर कटक कुंडल कहाँ रहा। उसी प्रकार यह प्रकृति भी केवल ब्रह्म ही है प्रकृति में ब्रह्म सम्पूर्ण रूप से व्याप्त है परंतु ब्रह्म में प्रकृति कही भी नही है। केवल सच्चित्कारम् विजृम्भते ही है। इसमें प्रश्न उठता है कि फिर यह दृश्य क्या है, यह केवल भ्रम मात्र ही है ?

श्रीभागवतानंद गुरु : ऐसा नहीं है। प्रकृति का कोई उपादान कारण नहीं। प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपि प्रकृति को अनादि कहा। अतः उसका कोई उपादान कारण नहीं। मैं ब्रह्म को क्षेत्रज्ञ इसीलिए कह सकता हूँ क्योंकि श्रीकृष्ण जी ने कहा कि क्षेत्रज्ञम् चापि मां विद्धि। प्रकृति संसार की कर्त्री है परन्तु भोक्त्री नहीं। क्योंकि भोक्ता भोग्यं प्रेरितारम् वचन से ब्रह्मजन्य जीव को भोक्ता और प्रकृतिजन्य संसार को भोग्य कहा गया है। द्वा सुपर्णा से ब्रह्म अभोक्ता बिलकुल सिद्ध हुआ क्योंकि भोक्तापन उसका कार्य है ही नहीं। इस हेतु उस चेतन ने जीवत्व धारण की व्यवस्था बना रखी है। ब्रह्मत्व भाव में चेतन भोक्ता न बनकर मात्र साक्षी और प्रेरक होता है। ब्रह्म अकर्ता भी है और कर्ता भी। स्वयं को प्रकृति, ब्रह्म और जीव, इन तीन स्थितियों में स्थापित करने से वह कर्ता है। और ब्रह्मत्व की स्थिति में कार्यहीन होने से वह अकर्ता भी है क्योंकि फिर कार्य और करण में उसकी प्रकृति वाली स्थिति निमित्त बनती है। कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः

प्रकृतिरुच्यते गुणों की द्रष्टा प्रकृति नहीं है। प्रकृति गुणों की सृजनकारिणी है। द्रष्टा तो ब्रह्म ही है और भोग जीव करता है। अब रही बात कि क्या दृश्य भ्रम है ? निःसन्देह है। निःसन्देह दृश्य भ्रम ही तो है। क्योंकि दर्शन तो संसार की स्थिति का ही होता है, जो नाशवान् है। नश्वरता ही भ्रम है। संसार नाशवान् नहीं। जैसे बाल्य, कौमार्य, यौवनादि में मात्र स्थिति का नाश होता है, देह का नहीं, वैसे ही भिन्न भिन्न स्थिति में भी मात्र स्थिति का ही नाश होता है, संसार का नहीं। जिस प्रकार से रस्सी में सर्प की प्रतीति होने से वह रस्सी सर्प नहीं बनती। बाद में ज्ञान होने से सर्प का दर्शन भी नहीं होता। उसी प्रकार से इस संसार में नानार्थ दर्शनों के उद्भवान्तादि विकारों में भी मात्र दर्शन स्थिति का नाश होता है, संसार का नहीं। अतः हाँ, दृश्य भ्रम ही है।

धीरज पाण्डेय :- प्रकृति का यदि कुछ उपादान कारण नहीं है तो प्रकृति कर्ता कैसे हुई? क्योंकि बिना कारण के कर्ता उत्पन्न नही हो सकता। भगवान् कृष्ण द्वारा क्षेत्रज्ञं चापि माम् विद्धि में यदि गुणवान् है तो इससे प्रकृति ही क्षेत्रज्ञ हुई क्योंकि गुण प्रकृति के कार्य हैं। यदि निर्गुण है तो निर्गुण में अहम् भाव नहीं है और यदि निर्गुण गुणों का आश्रय लेता है तो उसकी अपूर्णता सिद्ध होती है परंतु शास्त्र वचन से ब्रह्म पूर्ण है और भगवान् कृष्ण का ही वचन है-

न बन्धोस्ति न मोक्षोस्ति ब्रह्मैवास्ति निरामयम्। नैकमस्ति न च द्वित्तम् सच्चित्कारम् विजृम्भते॥

प्रश्न यह है कि क्या ब्रह्म व प्रकृति में भिन्नता है, और जीव क्या है? यदि ब्रह्म का ही स्वरूप है तो ब्रह्म में विकार कैसे हुआ ? या फिर प्रकृति व ब्रह्म के अलावा कोई तीसरा विलक्षण तत्व है। और यदि ये तीनों एक ही है तो उसे एक परम् सत्ता को विकारवान् कैसे माना जाये ?

श्रीभागवतानंद गुरु : जिस प्रकार से अन्न उगाने का कार्य भले ही भूमि करे, लेकिन उसे कृषक नहीं कहा जाता, वैसे ही भले ही गुण प्रकृति के कार्य हैं, पर उसे क्षेत्रज्ञ नहीं कहा जाता। वास्तव में प्रकृति के घटकों का उपादान कारण ब्रह्म है, क्योंकि वही प्रेरक होता है। परन्तु श्रुतियों ने उसे प्रकृति के स्वतंत्र उपादान की संज्ञा इसीलिए नहीं दी क्योंकि वास्तव में प्रकृति का स्वतन्त्र भिन्न अस्तित्व ही नहीं। ब्रह्म ही जब त्रिगुणमयी स्थिति में आ जाते हैं जो उनकी प्रकृति संज्ञा होती है। तो यह कहा जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्मत्व ही उसके त्रिगुणयुक्त प्राकृत भाव का उपादान कारण है। यद्यपि वास्तव में ऐसा है नहीं। आप जल को यदि हिम का उपादान कारण मान लें तो यह बात एक दृष्टिकोण से सही भी है और नहीं भी। जैसे यदि मैं किसी को जल फेंक कर मारूं तो उसे चोट न आएगी पर उसी मात्रा के जल से निर्मित बर्फ से मारूं तो चोट आएगी। वास्तव में जल के मूल तत्त्व में कोई परिवर्तन न आया, बस वह इस समय शीतरूपी गुण से युक्त हो गया है। इसीलिये वह अपना जलत्व खोकर हिमत्व की संज्ञा को धारण करने वाला हो गया है। वास्तव में ब्रह्मत्व और प्रकृति में यही भेद है। निर्गुण विशुद्ध चेतन ही ब्रह्म है। उसी का त्रिगुणमय प्रारूप ही माया है और इन दोनों के सम्मिश्रण से मायाबद्ध चेतन ही जीव है।

--*

इस्लाम और भारतीय समाज

धर्म या गिरोह... ??
समुदाय या संकट... ?? विकास या षड्यंत्र ... ??

आर्यधर्मो हि ते राजन् सर्वधर्मोत्तमः स्मृतः। ईशाज्ञया करिष्यामि पैशाचं धर्मदारुणम्॥
....xxxxx.....
मूसलेनैव संस्कारः कुशैरिव भविष्यति। तस्मान्मुसलवन्तो हि जातयो धर्मदूषकाः॥
.....xxxxx.....
मदहीनं पुरं जातं तेषां तीर्थसमं स्मृतम्।
(भविष्य पुराण)

मुसलमान शब्द से मुस्लिम आया है, मुसलमान शब्द मूसलवान् से आया है और मूसलवान् शब्द मूसलवत् से आया है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार मूसल शब्द में वतुप् प्रत्यय की योजना होने से मूसलवान् शब्द बना। इसका अर्थ है असंस्कृत या संस्कारहीन। पैगम्बर का महाराज भोज के प्रति वचन - हे राजन् !! यह तुम्हारा आर्य सनातन धर्म सभी धर्मों से उत्तम है। मैं केवल अपने स्वामी के आदेश से इस घोर पैशाच धर्म का प्रवर्तन कर रहा हूँ। .....xxxxx.... कुश आदि के स्थान पर मात्र लौहदण्ड आदि के द्वारा ही उनके समस्त संस्कार होंगे इसीलिए मेरे अनुयायियों को मुसलवान (मुसलमान) कहा जायेगा जो धर्मदूषक होंगे।.....xxxxx..... मुझ महामद (मुहम्मद) से रहित होने के कारण अब से यह मदहीना नाम की पुरी (मदहीना :- मधीना :- मदीना) ही उनलोगों की तीर्थस्थली होगी।

जो कौम खुद को अपने शरीर का मालिक नहीं समझती, इसीलिए अंगदान नहीं कर सकती, वो किसी और के शरीर का मालिक खुद को समझ कर उसका नाश कर देती है। जो कौम खुद को अपने शरीर का मालिक नहीं समझती, इसीलिए अंगदान नहीं कर सकती, वो किसी और के शरीर का मालिक खुद को समझ कर उससे रक्त और अंगदान ले लेती है। जो कौम खुद को अपने शरीर का मालिक नहीं समझती, इसीलिए अंगदान नहीं कर सकती, वो किसी और के शरीर का मालिक खुद को समझ कर उसकी हत्या कथित कुर्बानी के नाम कर देती है, जबकि कुर्बानी, समर्पण स्वयं एवं स्वत्व का होता है, अन्य का नहीं। जो कौम खुद को अपने शरीर का मालिक नहीं समझती, इसीलिए अंगदान नहीं कर सकती, वो किसी और के शरीर का मालिक खुद को समझ कर पैदा लेते ही उसका खतना काट लेती है।

मुस्लिम प्रेम और हिन्दू द्वेष करने वाले सिक्खों को निम्न बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए, यदि थोथे गर्व से थोड़ा अवकाश मिले तो ...

१) आपके गुरुओं ने कितने युद्ध हिन्दुओं के विरुद्ध लड़े ?
२) आपके गुरुओं ने सिक्ख पन्थ बनाने के लिए कितने प्रतिशत सदस्य इस्लाम से लिये ?
३) आपके कितने गुरुओं पर हिन्दुओं ने अत्याचार किये ?
४) हिन्दू बहुल क्षेत्रों और मुस्लिम बहुल क्षेत्रों अथवा देशों में आपकी क्या स्थिति और क्षमता है ?
५) आप कहते हैं कि आपने हिन्दुओं की रक्षा की, लेकिन किससे की ? रक्षा करने की स्थिति क्यों आयी ?
६) पाकिस्तान और अफगानिस्तान में, जहां आपका उद्भव और राज्य हुआ, वहाँ आपने अपनी रक्षा क्यों नहीं की ?

जो लोग देश और धर्म की तुलना करते हैं, और कभी देश को धर्म से बड़ा बताते हैं तो कभी धर्म को देश से बड़ा, वे हंसी नहीं, दया के पात्र हैं क्योंकि उन्हें न धर्म की ही परिभाषा ज्ञात है और न देश की ही परिभाषा। उनके लिए धर्म का अर्थ है केवल एक मान्यता, और एक ही तराजू पर एक ही भाव से सभी मान्यताओं को तौल कर धर्म घोषित कर देते हैं। जब सब धर्म है, तो फिर अधर्म क्या है , इसका कोई विवेकपूर्ण उत्तर उनके पास नहीं होता। उनके लिए सड़कों पर नमाज़ पढ़ना और खतना कराना भी धर्म है, उनके लिए तिलक लगाना, शिखा बन्धन भी धर्म ही है। जैसे धर्म का अर्थ वे मानव निर्मित परिपाटी से अधिक कुछ नहीं समझते वैसे ही देश का अर्थ उनके लिए भौगोलिक खण्ड विशेष, जहाँ जीवन यापन की संभावना हो, विभागों में काम होते हैं, चुनाव वगैरह होते रहते हों, वही देश है। इसीलिए देश और धर्म दोनों की परिभाषा से हीन व्यक्ति ही देश बड़ा या धर्म, इसका विवेचन करते रहता है और दोनों तरफ दौड़ता रहता है। तलवार से कपड़ा सिलने और सुई से युद्ध लड़ने की कला में पारंगत ऐसे बुद्धिजीवियों का हम दूर से ही अभिवादन करते हैं।

ये कैसी विडंबना है, वो गाय खाएंगे और उसके विरोध में आज के हिन्दू सूवर खाना चाहते हैं। वो गाय मांगेंगे, आप सूवर। नुकसान उनका कुछ नहीं क्योंकि हमारे लिए गाय पूज्या है, लेकिन उनके लिए सूवर पूज्य नहीं है। वे सूवर को पवित्र मानने के कारण नहीं खाते ऐसा नहीं है अपितु अपवित्र मानने के कारण नहीं खाते हैं। वो गाय खाएं इससे आपको कष्ट होगा और प्रसन्नता उन्हें ही होगी। आप सूवर खाएं, इससे भी प्रसन्नता उन्हें ही होनी है। जीवहिंसा से बचें क्योंकि कोई भी प्राणी सुख से देहत्याग नहीं करता। विरोध ही करना है तो उठाइये शस्त्र, उसे रक्त से रंगिये। लेकिन सूवर नहीं, म्लेच्छों के।

हिंसा का विरोध हमने नहीं किया। आपके सूवर खाने से वो गाय खाना छोड़ेंगे नहीं। अपना ब्राह्मणत्व बचाइए। रावण अकबर और औरंगजेब मांसाहारी थे। उनके विरोध में हिंसा हुई, राम जी, प्रताप, शिवा ने हिंसा की, लेकिन मांसाहार नहीं किया, सीधे जाकर गर्दन उड़ाई। वो विष्ठा खाएं और आप मूत्र पियें। वाह जी !! अच्छा विरोध है। हम जैसों के सोच के कारण ही आज आप सनातन के बारे में सोचने के लिए जिंदा हैं। अपनी जीभ का नियंत्रण नहीं तो बुद्धिजीवी बनकर सनातन को उपदेश मत दीजिये। ऊपर हमने एक पक्ष से मानव मांस का ही समर्थन कर दिया है। व्यंग में ही सही लेकिन यदि खाना ही है तो चार पैर वाले सुवरों को मार कर भक्षण करने से अच्छा है कि दो पैर वाले सुवरों को

मार कर खाओ। उनकी हिंसा के बदले आप भी हिंसा की आत्मसंतुष्टि कर लेंगे। जीभ भी खुश और सनातन भी जीत जाएगा। काली जी की तरह असुर भक्षण कर जाओ। मनुस्मृति, वशिष्ठ स्मृति, महाभारत और रोमहर्षण संहिता के आधार पर आपको अभी तक शस्त्रधारण कर लेना चाहिए था। हमने तो कर लिया, कई प्रारूपों में और सनातन के हारने का कारण स्वयं को बनने से बचा रहे हैं। परन्तु सनातन के पराजित होने का कारण यह है कि समाज को बचाने की मंशा रखने वाले पहले समाज को बचाना चाहते हैं और शास्त्र ज्ञान बाद में ग्रहण करना चाहते हैं।

शास्त्र कोई कोर्स, सिलेबस या डिग्री नहीं है। परी कथा या उपन्यास नहीं है जिसे हम बाद में पढ़ लें। यह एक विधि है। विधि है बोलने की, विधि है चलने की, विधि है भोजन करने की, विधि है राज्य करने की, विधि है शासन करने की, विधि है न्याय, कृषि, चिकित्सा, व्यापार, सुरक्षा एवं विकास की। सबसे पहले विधि सीखी जाती है उसके बाद क्रिया की जाती है। विधि के ज्ञान के अभाव में क्रिया निष्फल होती है। पहले भोजन बनाने की विधि का ज्ञान लेना पड़ता है उसके बाद भोजन बनाते हैं। मशीन बनाने की विधि सीखते हैं फिर मशीन बनाते हैं। यह नहीं कि पहले मशीन और भोजन बना लिया और बाद में विधि भी पढ़ ली। ऐसा करने से अनर्थकारी परिणाम होते हैं।

शास्त्रों का यह अर्थ नहीं कि हम भजन करें और केवल मंदिर बनाएं और आरती करें और घंटी बजाएं। अपितु व्यापक अर्थ है कि हम जीवन जीने की विधि कैसे सीखे। जीवन की विधि में कर्म भी है और भक्ति भी। शक्ति भी है और नीति भी। उचित विधि के अभाव में समाज का न कोई अस्तित्व है और न उसकी रक्षा का कोई सन्दर्भ। समाज काल्पनिक हो सकता है लेकिन उसका क्रियान्वयन करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। चाणक्य ने कल्पना को साकार किया। उन्होंने ऐसा शास्त्रों के आधार पर ही किया। हमारे पूर्वजों की हर एक कल्पना को उन्होंने शास्त्रों के आधार पर फलीभूत किया है। म्लेच्छ की परिभाषा क्या है ? अशास्त्रीय होना ही म्लेच्छत्व तो है। आपने कैसे जाना कि वे आपके सिर पर सवार हैं। क्योंकि वह अशास्त्रीय हैं। सो तो आप भी हैं क्योंकि आप शास्त्र को बाद में पढ़ना चाहते हैं, विधि को बाद में अपनाना चाहते हैं और उससे संबंधित परिणाम को पहले प्राप्त करना चाहते हैं।

असूया का अर्थ इससे नहीं कि हम कैसे आगे बढ़े। असूया का अर्थ ये है कि दूसरा कैसे आगे नहीं बढ़े. . . हम कैसे बढें इसका कारक उत्साह और प्रेरणा है, न कि असूया। असूया से जो आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है वह वास्तव में पतन की ओर ही ले जाती है। असूया का निर्माण माया के पराक्रम को और भी पुष्ट करके प्रभावी बनाने के लिए हुआ है। असूया ही असूर्या का कारण है। यही असूया जब क्रोध रूपी अग्नि तत्व (र) से युक्त हो जाती है तो असूर्या का कारक बन जाती है। वेद कहते हैं - असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ॥

शत्रु से सामना करने के लिए जैसे दो विधियों का प्रयोग होता है, रक्षात्मक और आक्रामक। वैसे ही समस्त दुर्गुणों का सामना दो ही कर सकते हैं। उपेक्षा और विवेक। उपेक्षा ढाल है और विवेक खड्ग। ढाल रक्षा करती है, और खड्ग आक्रमण तथा विनाश। उपेक्षा भ्रमित होने से बचाएगी। किसी के प्रति अनावश्यक वशीभूत या पक्षपाती नहीं होने

देगी। और विवेक असूया आदि दुर्गुण का नाश करेगा। असूया का मुख्य कारक है किसी के स्वत्व का लोभपूर्वक मनन। उपेक्षा रूपी ढाल इसी से रक्षा करते हुए विवेक रूपी खड्ग से लोभ का नाश कराएगी। मैंने यह बात २०१७ में लिखी थी - वर्तमान में मैं रांची वापस लौट रहा हूँ। वापस का अर्थ है कि मैं कुछ दिन पूर्व कामाख्या गया हुआ था। वहां एक दिन बारह घण्टे लगातार (अधिकांशतः धूप में) पहाड़ों पर चढ़ने उतरने के कारण मैं अस्वस्थ हो गया और उल्टी, चक्कर, पेट दर्द आदि होने लगे, तो मैं रांची वापस लौट रहा हूँ। मेरे साथ तीन ब्राह्मण और एक मारवाड़ी मित्र (लगभग सभी भौतिक उम्र में मुझसे दुगुने) हैं, जो साथ ही गए थे और साथ ही लौट रहे हैं। ब्रह्मपुत्र मेल में हम बैठे हैं, उसमें बाकी चार लोगों को आरएसी सीट मिली है और हमें भी उसी में व्यवस्थित होना पड़ा है, किसी तरह आपातकाल में यात्रा हो रही है। जब हम स्टेशन पहुंचे तो जिस बोगी में जाना था, उसके दोनों दरवाजे बंद थे... अंदर झांककर देखने का प्रयास किया तो कुछ मुल्ले नमाज पढ़ रहे थे। गाड़ी कम समय के लिए रुकती है लेकिन उन्हें बाकियों से कोई मतलब न था। अस्तु, कुछ मेहनत से दरवाजा तो खुला, लेकिन अंदर जाने पर ज्ञात हुआ कि बोगी की बहत्तर में से साठ से अधिक सीटों पर केवल मुल्ले ही बैठे हैं। सभी चेहरे से ही बड़े क्रूर दिख रहे हैं।

शाम हो चुकी है, मुल्लों ने एक बार फिर से नमाज पढ़ी। मौलवी से सम्पर्क करके काबा की दिशा, सूर्यास्त का समय आदि पता किया, इफ्तार चल रहा है और सभी इच्छानुसार शाकाहारी-मांसाहारी भोजन कर रहे हैं... इनकी एकता, अपने परम्परा और रिवाजों के प्रति कट्टरता को देखकर मेरे मन में हिन्दू समाज के प्रति बड़ी चिंता होती है। शिखातिलकादि से हीन हिन्दू तीर्थों के मंदिर जाएगा तो बस फ़ोटो खींचेगा, पान गुटखा खायेगा और प्रबंधनों को कोसता हुआ आ जायेगा। महिलाओं में भी अधिकांश तो इतनी आधुनिकता के फेर में फंसी होती हैं कि उनसे अधिक सभ्य कपड़े वेश्याएं पहनती हैं। अर्धनग्न अवस्था में मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश करती हैं, और फिर अंग्रेजी में दो चार बातें बड़बड़ाती हुई अपनी सुकुमारता का बखान करने लगती हैं। मुल्लों की मात्रा इतनी अधिक है कि चारों ओर से मैं थोड़ा चौकन्ना ही रहना चाह रहा हूँ, कारण कि आजकल रेल में छोटी छोटी बातों पर हिन्दू मुस्लिम झड़प होती है, और अगले बारह घण्टों तक पूरी यात्रा बंगाल के इलाकों से ही होनी है। पूरी बोगी में तिलकशिखाधारी गेरुआ परिधान वाला मैं ही हूँ तो मुल्ले ऐसे देख रहे हैं मानो भेड़ियों के बीच में हिरण आ गया हो।

सभी लोगों को नमाज याद है, विधि ज्ञात है। छोटे बच्चे से लेकर बूढ़े तक नमाज पढ़ रहे हैं और मुझे वे हिन्दू याद आ रहे हैं जो धर्म को पिछड़े खूसट बुड्ढों का अवैज्ञानिक अंधविश्वास मानते हैं। जहाँ जब मन हो, जैसे मन हो, अपने काम को कर डालना इन मुल्लों की विशेषता होती है, फिर चाहे सरकार से भिड़ने की बात आ जाये या फिर सनातनियों से। कितने हिंदुओं को प्रातः का करदर्शन, मुंह धोने, शौच जाने, स्नान करने, भोजन करने आदि आदि के मंत्र याद हैं ? कितने लोग भोजन करने का सही आसन, विधि, हाथ आदि जानते हैं ?? पशुओं के समान भोजन करके, प्रजनन और विलास करके, फेसबुक पर हिन्दू योद्धा बनकर धर्मरक्षा नहीं होती। धर्मरक्षा होती है उसे जीने से, धर्म को जीना ही उसे जीवित रखता है। सनातन के पुत्रों को तीन ही संसाधन बचा सकते हैं :- ज्ञान, धन एवं पराक्रम। पराक्रम से धन तो आ सकता है किंतु ज्ञान नहीं। धन से पराक्रम भी आ सकता है किंतु ज्ञान नहीं। इसीलिए बुद्धिमान और

महत्वाकांक्षी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वप्रथम ज्ञानप्राप्ति का उपक्रम करे क्योंकि इससे धन और पराक्रम, दोनों प्राप्त किये जा सकते हैं। मैंने अपने लिखे हुए नीतिशास्त्र में इन पर विस्तृत चर्चा की है, जिसका संक्षिप्त सार यहाँ लिख रहा हूँ। ज्ञान प्राप्ति के चार मुख्य स्रोत हैं :-

(१) संस्कार

:- यह आपके वंश, शरीर, पूर्वजन्म के कर्म और नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्राप्त होता है। तैरना मछली के संस्कार में होता है तो उड़ना पक्षी के संस्कार में। संस्कार के ही अभाव से मछली का उड़ना और पक्षी का मछली के समान तैरना नैसर्गिक रूप से अव्यावहारिक होता है।

(२) परिस्थिति :- यह आपके कार्यक्षेत्र, तपस्या, आकांक्षा और संघर्ष से निर्मित होता है। आपकी आवश्यकता के कारण आप जो परिस्थितियों के कारण अनुभव प्राप्त करते हैं, वह भी ज्ञानप्राप्ति का मुख्य स्रोत होता है।

(३) ग्रंथ :- नारद स्मृति के अनुसार लेखन और लिपिबद्ध साहित्य ब्रह्मा की ओर से मानवों के लिए सर्वोच्च उपहार है। विभिन्न माध्यमों से ज्ञान को चिरकाल तक सुरक्षित रखकर आगामी वंश को उसे निर्विवाद और प्रामाणिक रूप से सौंपने का सौभाग्य केवल ग्रंथात्मक प्रारूप से ही प्राप्त हो सकता है।

(४) गुरु :- समर्थ और योग्य गुरु की कृपा से दुर्लभ ग्रंथों का गूढ़ ज्ञान समझने में सुविधा होती है। भ्रम के जाल से निकलने में गुरु से बड़ा कोई सहयोगी नहीं होता। गुरु उस मार्ग की तरह हैं, जो स्वयं तो स्थिर और कूटस्थ हैं, किंतु अपने अनुसार चलने वाले को उसके लक्ष्य तक अवश्य पहुंचा देते हैं। इन चारों स्रोतों में से एक का भी अभाव व्यक्ति को असहाय और असमर्थ बना देता है। साथ ही, यदि धर्मविरोधी संस्कार, परिस्थिति, ग्रंथ और गुरु मिल गए तो घोर पतन भी निश्चित है, अतएव इनके चयन में पर्याप्त सावधानी रखें।

ज्ञान की भांति ही पराक्रम अथवा बल के भी चार मुख्य स्रोत होते हैं, जो इस प्रकार हैं :-

(१) कुटुम्ब :- जो व्यक्ति आपका रक्तसम्बन्धी हो (यथा मातापिता, पुत्रपुत्री, पतिपत्नी,भाईबहन समेत परिवार के सभी सदस्य), वह आपका प्राथमिक पराक्रम है। यदि उचित समय पर आपको इनका सहयोग और समर्थन मिल गया तो आप आधा युद्ध ऐसे ही जीत जाते हैं और यदि उसमें महिला सदस्यों का सक्रिय समर्थन मिल गया तो आपके लिए संजीवनी का काम करेगा। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों को भी कुटुम्ब में ही गिना जाता है एवं उनके साथ भी बिल्कुल परिवार जैसा ही व्यवहार करना चाहिए, भले ही उनसे रक्तसम्बन्ध न हो। वे लोग निम्न परिस्थितियों से पहचाने जाते हैं :-

घर के मांगलिक विवाह, जन्मोत्सव आदि कार्यक्रमों में, अत्यधिक चिंता के समय में, अकाल पड़ने अथवा आजीविका नष्ट होने पर, शत्रुओं से घिर जाने पर, न्यायालय में मुकदमेबाजी होने पर, किसी की मृत्यु होने पर आदि स्थितियों में जो व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से आपके साथ सहयोग करने को खड़ा रहे, उसे भी कुटुम्ब ही मानना चाहिए।

(२) मित्र :- आमतौर पर (द्वितीय श्रेणी के कुटुम्ब को ही लोग मित्र समझते हैं, जबकि ऐसा हमेशा नहीं होता) जो व्यक्ति आपके प्रति न लोभ रखे और न आपसे भयभीत हो, अपितु भय और लोभ से परे होकर आपके लिए समयानुसार धर्मसम्मत हितकारी सलाह देता हो, वही मित्र है ऐसा जानना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसका स्थान चापलूस से अधिक नहीं। मित्रवर्ग आपके पराक्रम का एक महत्वपूर्ण घटक हैं।

(३) कलेवर :- यदि व्यक्ति कुटुम्ब और मित्र से विहीन हो, अथवा परित्यक्त हो, अथवा ऐसी परिस्थिति में फंस गया हो जहां पर कुटुम्ब एवं मित्र का प्रयोग करना सम्भव नहीं, तो अपने कलेवर, अर्थात् शरीर पर विश्वास करके उससे अर्जित पराक्रम का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए युद्धकला आदि का व्यावहारिक ज्ञान अथवा बलिष्ठ शरीर की आवश्यकता होती है।

(४) युक्ति :- यदि व्यक्ति का शरीर भी क्षीण हो, पर्याप्त रूप से बली न हो तो उसे अपने बौद्धिक पराक्रम और ज्ञान से अर्जित युक्ति एवं चातुर्य का ही प्रयोग करके अपनी रक्षा करनी चाहिए। बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, इस उक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए।

धन नामक संसाधन के मुख्य दो स्रोत हैं :- दिव्य तथा भौम। पुनः इन दोनों के ही चार - चार प्रभेद और होते हैं जो इस प्रकार है :-

दिव्य :-
१) - नभ / शुक्ल / सात्विक :- इसमें धन के रक्षक देवताओं यथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि की तपस्या करके उनसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार दैनिक धनराशि प्राप्ति की जाती है। यह धन आपको अन्न, वस्त्र अथवा स्वर्णमुद्रा के रूप में प्राप्त होगा। स्वर्णमुद्रा की संख्या देवताओं को शक्ति, पद और अधिकार के अनुसार न्यूनतम १ स्वर्णमुद्रा से लेकर अधिकतम १,००,००० स्वर्णमुद्रा प्रतिदिन तक जा सकती है, लेकिन सम्पूर्ण धनराशि को उसी दिन दान, भोग अथवा त्याग के माध्यम से समाप्त कर देना चाहिए।
२) - भूमि / रक्त / राजस :- इसमें प्राकृतिक शक्ति, यथा पर्वत, नदी, सरोवर, वृक्ष, समुद्र आदि एवं भूत, प्रेत, वेताल आदि क्षुद्र शक्तियों की साधनाओं के माध्यम से धन प्राप्त किया जाता है। यह धन भी देवता की शक्ति, पद और

अधिकार की अनुसार न्यूनाधिक होते हैं। इसमें मुख्य रूप से रत्नों तथा आभूषणों के प्रारूप में धन मिलता है, जिसे उसी दिन खर्च कर देना चाहिए।

३) - पाताल / कृष्ण / तामस :- इसमें निधिदर्शन साधना के माध्यम से तथा हरिहर सम्बन्धी मन्त्रों के प्रयोग से सिद्ध महात्मा जन भूमि में गड़े धन को निकालने का कार्य करते हैं। इसमें धन का कोई निश्चित प्रारूप नहीं होता और साथ ही खर्च करने की निश्चित अवधि भी नहीं होती। जिस रूप में धन गड़ा है, उसी रूप में मिलेगा और जब चाहें तब खर्च कर सकते हैं। हालांकि इस धन का दशांश से चतुर्थांश तक (१० - २५%) का भाग समाजसेवा में व्यय कर देना चाहिए।

४) - रसायन / धातु विज्ञान :- इसमें अलग अलग रसायनों, वनस्पतियों और धातुओं के मिश्रण, उद्दीपन, पारद संस्कार आदि के माध्यम से स्वर्ण-रजतादि का निर्माण किया जाता है।

उपर्युक्त चारों विधियां अति विशिष्ट, दुर्लभ और गोपनीयता से भरी हैं। अब भौम नामक स्रोत के चार प्रभेदों का वर्णन करते हैं :-

१) - वर्ण :- व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त जन्म के वर्ण और उसमें आने वाली जाति के अनुसार आजीविका का अनुसरण करते हुए धन का अर्जन करे।

२) - प्रतिभा :- यदि वर्णगत आजीविका से प्राप्त धन पर्याप्त न हो तो वर्णसम्मत प्रतिभा के माध्यम से (यथा खेल, सङ्गीत, चित्रकला, अभिनय, लेखन, मूर्तिकला, शिल्प, अधिवक्ता, रक्षा, व्यापार कौशल आदि आदि) धन का अर्जन करना चाहिए।

३) - आपद्धर्म :- यदि उपर्युक्त दोनों स्रोत से धनागम न होता हो तो कृषि का अवलम्बन करे। जो अन्न स्वयं खाता हो, उसका उत्पादन स्वयं करे। अपने भोजन का नियंत्रण अपने हाथ में रखे। साथ ही एक या दो वर्ण नीचे (मतांतर से ऊपर भी) के कर्म को आंशिक रूप से अपनाकर जीविका चलानी चाहिये।

४) - अधिग्रहण :- आवश्यकता ही अधिकार है और यही अधिग्रहण का नियम है। यह चौथा और अंतिम स्रोत होता है। जो व्यक्ति भूख या प्यास से मर रहा हो, उसे अधिकार है कि बलपूर्वक अथवा छलपूर्वक अपनी प्राणरक्षा की मात्रा के अनुसार अन्न या जल (कुछ मामलों में धन भी) उस व्यक्ति से ले ले, जिसके पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन हो और जो फिर भी मांगने पर भी न दे। हालांकि अधिग्रहण का मुख्य उद्देश्य प्राणरक्षा ही होना चाहिए, न कि लोभपूर्वक सङ्ग्रह। इसके अतिरिक्त अधर्मपूर्वक अर्जित धन वाले व्यक्ति की सम्पदा का अधिग्रहण निम्न जन परिस्थितियों के अनुसार कभी भी और कितना भी कर सकते हैं... इनमें कनीय से वरीय क्रम के अनुसार यह व्यवस्था है :- अधर्मी वैश्य एवं शूद्र का, साथ ही क्षत्रिय और ब्राह्मण के भी अनुचित रूप से अर्जित धन को आंशिक या सम्पूर्ण रूप से परम्परागत क्षत्रिय राजा अधिग्रहित कर ले। अधर्मी राजा के धन को समर्थ और धर्मप्रतिपालक ब्राह्मण वर्ग अधिग्रहण कर ले और योग्य राजा की व्यवस्था होने पर उस धनराशि को प्रजा के हितानुसार नवीन राजा को सौंप दे।

यदि ब्राह्मणवर्ग अधर्मी हो गए हों तो अधिकृत संन्यासी, शंकराचार्य आदि पारंपरिक धर्माधिकारी जन उस धन का अधिग्रहण करें। शंकराचार्य आदि के भी मोहग्रस्त होने की अवस्था में विरक्त अवधूत परमहंस (जैसे कि श्रीशुकदेवजी, अष्टावक्र जी, दत्तात्रेय जी आदि आदि थे) मठों और प्रजा की संपत्ति का अधिग्रहण करके सत्ता परिवर्तन करके योग्य लोगों को पुनः पदभार देकर सम्प्रदायों और सम्पदाओं का विभाजन कर दें। यदि अवधूत परमहंस न हों, या उनकी इच्छा ऐसा करने की न हो अथवा परिस्थितियों में कुछ अधिक ही संकट हो तो भगवान् के पार्षदगण अवतार लेते हैं और विशेष स्थितिमात्र में भगवान् का भी अवतार होता है। हालांकि उससे पूर्व मानव अधिकारियों को पर्याप्त प्रेरणा, अवसर और बल दिए जाते हैं ताकि स्थितियों में धर्मानुकूल परिवर्तन किया जा सके।

ज्ञान, पराक्रम और धन के ये कुल सोलह स्रोत ही मनुष्य को एक स्वस्थ, समृद्ध और विकसित समाज का नेता बना सकते हैं। मोदी जी एक हाथ में कुरान और दूसरे में कम्प्यूटर की बात करते हैं। उन्हें समझना होगा कि कुरान तो मुल्लों के हाथ में होता ही नहीं, वह तो पहले ही दिमाग में भरा हुआ होता है। कम्प्यूटर भी ये लोग रखते नहीं हैं क्योंकि इन्हें मुख्यधारा से कोई साइबर लड़ाई लड़नी नहीं, साथ ही उससे पैसा भी नहीं कमाना है। दिमाग में कुरान भरे ये जॉम्बी कभी भी कहीं भी केवल सर्वोच्च शक्ति बनने की महत्वाकांक्षा लिए जनबल और पराक्रम के माध्यम से वर्चस्व स्थापित करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। जब तक हम अपने धर्म को जीवन में नहीं सम्मिलित करते, जब तक हम रोजगार, गाड़ी, बंगला, विवाह, बच्चे की कथित ब्रांडेड पढाई, और बॉलीवुड के ऊपर धर्म को प्रधानता नहीं देते, तब तक हमारा अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकेगा।

धर्म रहेगा तो ये सब आ जाएंगे, धर्म जाएगा तो ये सब होने पर भी छिन जाएगा। धर्म ही अर्थ, काम और मोक्ष तक पहुंचाता है। नींव ही छत तक पहुंचाती है। दत्तात्रेय भगवान् ने चौबीस अलग अलग और निकृष्ट घटनाओं और स्रोतों से ज्ञान लिया था, आप मुल्लों से एक ज्ञान ले लीजिए (क्योंकि अपने महापुरुषों की जीवनशैली तो दूर, आप तो नाम तक ठीक से जानते नहीं हैं) अधिक नहीं तो कामाख्या ले बगल में सराइघाट है, वहाँ के सत्रहवीं शताब्दी वाले सेनापति लचित बरफुकन के बारे में गूगल में ही खोज लें ।.. धर्म सबसे बड़ा है.. आपके परिवार, आपकी जीविका और आपके शरीर से भी बड़ा। जिस दिन आप ये बात समझ जाएंगे, उसी दिन से विजयध्वज दिखने लगेगा। रांची मेरी कर्मभूमि रही है।

रांची को राजधानी बने हुए कोई दो दशक हो चले हैं। दो दशक पहले तक रांची सामाजिक और प्राकृतिक सुंदरता का प्रतीक थी। प्रकृति के साथ तो भयंकर अत्याचार हो ही रहा है, लाखों पेड़ काट दिए गए हैं, अंधाधुंध बढ़ती आबादी और बोरिंग के कारण भूगर्भीय जल लगभग खत्म ही है, कृषि की भूमि, पर्वतीय भूमि और गोचारण भूमि को माफियाओं ने नष्ट कर दिया है। लेकिन इन सबसे बढ़कर जो समस्या है, वो है इस्लाम। रांची देश के एक अति महत्वपूर्ण राज्य की राजधानी है। रांची के निवासी ध्यान दें कि आगामी दस सालों में रांची भी बंगाल, केरल और कश्मीर बन जायेगी। शहर में आने वाले सभी मुख्य मार्गों में मुसलमानों की घनघोर आबादी के कारण आपकी जान

और इज्जत हमेशा संकट में ही है। पूर्व की ओर से रामगढ़, हजारीबाग जिले से जुड़ने वाले मार्ग में इरबा और बरियातु जैसे मुस्लिम बहुल इलाके, पश्चिम की ओर से गुमला लोहरदगा जिले से जुड़ने वाले मार्ग पर बेड़ो, इटकी, मदरसा चौक जैसे अति कुख्यात मुस्लिम इलाके, उत्तर की ओर से पिठोरिया और कांके एवं दक्षिण की ओर धुर्वा, खूंटी आदि की ओर से स्थिति देख लें।

पूरी रांची चारों दिशाओं से मुसलमानों ने घेर रखी है। इतना ही नहीं, शहर के मुख्य मुख्य भाग, जैसे कि कडरू, हुरहुरी, मेन रोड, हिंदपीढ़ी, इरगू, हरमू, सिमलिया, आदि में मुसलमानों की आबादी अंदर से शहर को आतंकित कर रही है। कुछ वर्षों से प्रति दो तीन माह में जैसे खूनी दंगे रांची में हो रहे हैं, हिंदुओं को खुलेआम काटा जा रहा है, पुलिस को पीटा जा रहा है, रोज हमारे पास दो तीन लव जिहाद, बलात्कार, अपहरण, मानव तस्करी, गोहत्या के समाचार व्यक्तिगत रूप से आ जाते हैं, शहर में तो सैकड़ों हो ही रहे हैं, स्थिति बहुत विकट है। आप मुसलमानों से बिना टकराये हुए, न शहर में घुस सकते हैं, और न निकल सकते हैं।

इसी के बीच पत्थलगड़ी की प्रथा को ढाल बनाकर, मानव तस्करी और धर्मांतरण में लगे हुए ईसाई लुटेरे इस्लामी कोढ़ के नासूर बने हुए हैं। रांची आगामी दस वर्षों में न केवल प्राकृतिक, अपितु सामाजिक रूप से भी मृत्यु का तांडव दिखाने वाली है। रांची के निवासी यदि अब भी नहीं सम्भले और सरकार ने अत्यंत क्षुद्र मानसिकता को छोड़कर कठोर नीतियां नहीं अपनाई तो सामाजिक एकता के नारे हिंदुओं को मुखाग्नि तक नसीब नहीं होने देंगे। हां, हमारी बहू बेटियों को कुछ दिन तक जिंदा रखा जाएगा, जब तक कि दो चार सौ लोग उनका उपभोग न कर लें। एक एक कटती गाय के आंसुओं का, बलात्कार के समय चीखती एक एक बच्ची का, अंदर बाहर मरते एक एक जवान की विधवा का, सम्पूर्ण आह और पाप शासन को लगेगा, चाहे पार्टी किसी की हो। सरकार को न कुछ करना है, न करने देगी। हमलोग प्रयास कर चुके हैं। आप कुछ कीजिएगा तो कहा जायेगा कि सामाजिक शांति भंग करने का प्रयास कर रहा है, और यदि शांतिपूर्वक प्रदर्शन कीजिएगा तो न लोग साथ आएंगे न सरकार को फर्क पड़ता है। मैंने तो सक्रिय आंदोलनों में भाग भी लिया है, पुलिस का अत्याचार भी झेला है एवं प्रधानमन्त्री मोदीजी को विस्तृत धर्मादेश पत्र भी लिखा था किन्तु अशास्त्रीय विधि से बने अशास्त्रीय शासनप्रणाली को सनातनी भारत की चिंता कहाँ है ?

--*

ईश्वर ज्योतिःस्वरूप है अथवा नादस्वरूप ?

प्रिय मित्र मोहित जी ने बड़ा सुंदर प्रश्न किया मुझसे - :- एक वैज्ञानिक आध्यात्मिक प्रश्न था कि “पश्चिमी विज्ञान ईश्वर को ज्योति पुंज की तरह कल्पना करता है, जबकि भारतीय दर्शन नाद को ब्रह्म मानता है” इस भेद का स्पष्टीकरण कैसे किया जा सकता है?

श्रीभागवतानंद गुरु : किसी भी उक्ति या सिद्धांत पर न तो अंधविश्वास हो और न अंधअविश्वास हो। देखें कि दोनों में क्या कोई भेद है ? दोनों स्थितियों में तत्व तो एक ही है, प्रारूप भेद है। ज्योति और नाद दोनों तो ऊर्जा ही है जिन्हें एक दूसरे में परावर्तित किया जा सकता है। आत्मा की अनुभूति यदि श्रवणेंद्रिय द्वारा हो तो उसकी नाद संज्ञा है। और यदि दर्शनेंद्रिय द्वारा हो तो उसकी ज्योति संज्ञा होती है। यद्यपि यह आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है किन्तु समझाने हेतु कह दिया। वस्तुतः भेद यहाँ दृश्य में नहीं, द्रष्टा में है। बिजली तो बिजली है। आप साउंड सिस्टम में उसे ले जायेंगे तो बिजली की शब्द या नाद संज्ञा होगी। बल्ब में ले जायेंगे तो प्रकाश संज्ञा होगी। वास्तव में बिजली न तो प्रकाश है, और न शब्द। वह तो कुछ अन्य ही है। लेकिन माध्यम भेद से हम परिणाम भेद की अनुभूति करते हैं।

अपि च, गीता जी के दूसरे अध्याय में - आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् उक्ति से ज्योति भाव का, तथा आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति उक्ति में नाद भाव का संकेत है। दोनों परिस्थिति तथा माध्यम भेद से ग्राह्य हैं। आप कैसे कह सकते हैं कि यहाँ ज्योति भाव नहीं है ? ज्योतिःस्वरूप जगदीश महेश्वरोऽसि एवं कोटिसूर्यप्रतीकाशाम् चन्द्रकोटिसुशीतलाम् से ज्योति का ही तो संकेत है। हमारे यहाँ दोनों भाव सहर्ष ग्राह्य हैं। ब्रह्म को शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म दोनों कहा गया है। भगवान् की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि उनका लीला धाम, लीला पात्र, लीला शरीर, और उनकी लीला प्राकृत भौतिक नहीं होती है। उनमें देह देही भेद नहीं होता। इतिहासशास्त्र कहते हैं -

न भूतसङ्घसंस्थानो देवस्य परमात्मनः। यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद्बहिष्कारो श्रौतस्मार्तविधानतः। मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

परमात्मा का शरीर भूतसमुदाय से बना हुआ नहीं होता है। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के लीला शरीर को भौतिक जानता मानता है, उसका समस्त वैदिक श्रौत तथा स्मार्त कर्मों से बहिष्कार कर देना चाहिए अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि उसका मुंह देखने से भी वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए। कथित वेदवादी आर्य समाजी जन श्रीकृष्ण को महापुरुष मात्र मानते हैं और क्षुद्रबुद्धि के कारण श्रीमद्भागवत आदि को अप्रामाणिक मानते हैं। लेकिन महाभारत को सही मानते हैं, अतः वहीं का प्रमाण दिया। अग्रे अपि ग्रंथान्तरेषु... अनेक कुतार्किकों के मन में यह कल्पना उठती है कि भगवन्नाम की महिमा वास्तविक न होकर अर्थवाद मात्र है। उनके मन में

यह धारणा तो हो जाती है कि शराब की एक बूंद भी पतित बनाने के लिए पर्याप्त है लेकिन यह विश्वास नहीं होता कि भगवन्नाम का सकृदपि उच्चारण या चिंतन मात्र भी परम कल्याणकारी है। नारदादि पुराणों की उक्ति है -

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमा:। तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि॥

जो नराधम पुराणों में अश्रद्धा रखते हुए अर्थवाद की कल्पना करते हैं, उनके द्वारा उपार्जित पुण्य भी वैसे ही अर्थवादवत् निष्फल हो जाते हैं।

प्रश्नकर्ता :- गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि जिसकी मृत्यु हुई है, उसका पुनर्जन्म अवश्य होगा। फिर कहते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति से हम पुनर्जन्म से बच सकते हैं। कौन सा सही है ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- दोनों सही है। भगवान् ने कहा - जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च... कि जिसकी मृत्यु हुई उसका पुनर्जन्म होता है। लेकिन यह नहीं कहा कि जिसका मोक्ष होता है, उसका भी पुनर्जन्म होगा। पुनर्जन्म तो अटल है परंतु जिसका मोक्ष हुआ उसका नहीं। आदिगुरु शंकराचार्य जी ने कहा - ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा। ज्ञान की प्राप्ति से देह और देही का भेद ज्ञात होता है, फिर देह और ब्रह्म की एकता का बोध होता है। इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मृत्यु और मोक्ष में अंतर है। इच्छाएं बची रहें और शरीर नष्ट हो जाये, वह मृत्यु है। शरीर बचा रहे और इच्छाएं नष्ट हो जाएं वो मोक्ष है। इसीलिए हमारे यहाँ जीवन्मुक्त शब्द है। पुनर्जन्म मृतक का होता है, मुक्त का नहीं।

दो मिनट मौन रखकर किसी भी दिवंगत आत्मा के लिए श्रद्धांजलि देने से मृतात्मा को कोई शान्ति नहीं मिलती है। यह एक पाश्चात्य परम्परा और दिखावा मात्र है, जिसका सनातन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर किसी दिवंगत आत्मा को वास्तव में शान्ति पहुँचानी है तो उसके लिए संकल्प कर के कम से कम एक घंटे तक भगवान् का नाम-जप करना चाहिए, और किसी अच्छे पुरोहित से यज्ञ/हवन और श्राद्ध करवाना चाहिए। यज्ञ/हवनआदि संभव न हो तो भी दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए संकल्प लेकर कुछ देर नाम-जप व गीता या रामचरितमानस का पाठ तो तो अवश्य ही करना चाहिए।

ऋषियों ने इसी ज्ञान का दर्शन किया एवं उसे मुनियों ने तपस्या करके लिपिबद्ध किया। श्रीमद्देवीभागवत का कथन है कि जिसें ऋषितत्त्व प्रतिष्ठित नहीं है, वह काव्यात्मक कौशल नहीं दिखा सकता। मंत्र को अनुभूत करने वाले, द्रष्टा साधक को ऋषि कहते हैं तथा उसे लिपिबद्ध करने वाले मुनि हैं। हरेक ऋषि मुनि भी हो सकता गई लेकिन हरेक मुनि ऋषि नहीं हो सकता। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो लेखका मुनयस्तथा। प्रत्येक ऋषि कहीं न कहीं मुनि भी है। पर आवश्यक

नहीं कि हर मुनि ऋषि भी हो। जैसे हरेक प्रधानमंत्री सांसद भी है। लेकिन हरेक सांसद प्रधानमंत्री नहीं। ऐसे व्यक्ति जो त्यागपूर्ण जीवन बिताते हुए अपनी विद्वत्ता से मन्त्रों के भाष्य रचकर उन्हें लिपिबद्ध करते हैं वे मुनि हैं। ऐसे साधक जो साधना ने मन्त्रों को देखकर, अनुभूत करके प्रकाशित एवं सिद्ध करते हैं वे ऋषि हैं। यथा मृत्युंजय मन्त्र के ऋषि वशिष्ठ एवं बगलामुखी के नारद हैं।

ऐसे ऋषि जो सभी लोकों में निर्बाध विचरण करने के साथ साथ देवताओं की शक्तियों पर भी नियंत्रण करते हुए अष्टसिद्धि का प्रयोग करते हैं वे सप्तऋषि हैं। ऐसे राजा जो धर्मपूर्वक प्रजापालन करके संन्यास लेते हैं उनकी ऋषि रूप में विशेष संज्ञा है क्योंकि उन्हें मंत्र (मन्त्र मनन पूर्वक प्राप्त संयमित एवं कल्याणकारी नीति को भी कहते हैं। अतः वेदमन्त्र को न देखने के बाद भी नीतिनिर्माताओं की मंत्री संज्ञा है) का निर्माण एवं दर्शन प्राप्त होता है। ऐसे देवता, जिन्होंने दिव्य उपभोग का त्याग करके तपस्या एवं लोकोपकारी जीवन अपनाया, वे देवर्षि हैं। यथा नारद, पर्वत आदि। ऐसे ऋषि जिन्होंने सर्वत्र ही ब्राह्मी दृष्टि अपनायी है, परमहंस हो चुके हैं ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। सनकादि ब्रह्मर्षि ही हैं। एक ही व्यक्ति उपर्युक्त सभी पदों पर भी यथाकाल यथाभाव से हो सकता है।

हे पुत्र !! वायु वही है, समुद्र वही है, फिर तरंगें भिन्न क्यों होती हैं ? वायु वही है, वृक्ष वही है, फिर कंपन में भेद क्यों ? प्रवाह भेद से। गुणों के प्रवाह से युक्त होने से ही ब्रह्मबिम्ब जीव की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न कर्मों में होती है। ईश्वर के बिना चेतन कौन है ? जैसे एक ही व्यक्ति के सामने सहस्त्रों दर्पण रख दिये जायें तो उसके सहस्त्रों बिम्ब स्पष्ट प्रतीत होंगे परन्तु तत्वदर्शी यह समझ जाएगा कि वस्तुतः व्यक्ति एक ही है, सहस्त्र संख्या तो उससे जन्य बिम्ब की है। व्यक्ति के क्रियान्वयन का यथावत् प्रभाव उन बिम्बों पर भी भिन्न भिन्न कोणों से पड़ेगा। वैसे ही मायारूपी दर्पण के गुण त्रयी रूपी चमकदार परत से एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म सहस्त्रों जीवरूपी बिम्ब के समान प्रतिभासित होता है। धर्म एवं अधर्म का नियामक, कर्ता एवं विनाशक ब्रह्म ही है। अतः यदि किसी देह के अंदर स्थित ब्रह्मबिम्ब अधर्म की ओर प्रवृत्त हो तो उसका संयमन धर्मप्राण देहस्थित ब्रह्म करता है।

हे पुत्र !! वायु का प्रवाह समान होने पर भी पत्रों के आकार, भार एवं स्थिति के आधार पर वायु के साथ होने वाला संघर्ष ही उनके कंपन को भिन्न बनाता है। उसी प्रकार उस ब्रह्म के चेतनांश का गुणों के साथ संघर्ष ही उसके व्यवहार भेद का कारण बनता है। यही कारण है आसुरी एवं दैवी सम्पदा का। जिस प्रकार से स्वप्न में सात्विक व्यक्ति भी अनैतिक आचरण कर बैठता है, तामसी व्यक्ति भी किसी धर्मकार्य को कर लेता है परंतु वास्तव में जागृत अवस्था उससे भिन्न ही है। वैसे ही अपने चिद्विलास रूपी स्वप्न सदृश जगत पटल पर ब्रह्म भी भिन्न भिन्न कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ भी उनसे निर्लेप रहता है। संसार में कई उदाहरण हैं जब पापियों ने पाप मार्ग का परित्याग करके धर्म को अपनाया। परन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रतिपक्ष इस हेतु स्वयं प्रयास करे। यदि नहीं करेगा तो ब्रह्मा जैसे सर्वज्ञ के समझाने पर भी दक्ष जैसे महातेजस्वी देवप्रधान ने शिवद्रोह नहीं छोड़ा। वहीं गणिका जैसी मन्दबुद्धि ने मात्र अपने ग्राहक के न आने जैसी घटना के आधार पर ही ज्ञान को प्राप्त कर लिया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

जिस प्रकार निराकार जल शीतलता रूपी गुण से युक्त होकर हिम के रूप में साकार हो जाता है, ऊष्मा रूपी गुण से युक्त होकर वाष्प में रूप में शक्तिशाली हो जाता है, हिम के रूप से पाषाण सदृश कठोर हो जाता है, शीत एवं ऊष्मा गुण से मुक्त होने पर पुनः मूल में स्थित हो जाता है ... उसी प्रकार हे पुत्र !! वह निर्गुण ब्रह्म भी गुणों के साथ स्वयं को युक्त करके अविशेष से विशेष, अरूप से रूपवान्, अदृश्य से दृश्य, अलक्षित से लक्षित, एवं अज्ञेय से ज्ञेय होता है। ब्रह्म का वही चेतन बिम्ब ब्रह्मा के रूप से अति सामर्थ्य से युक्त होता है, कीट के रूप में असहाय होता है, कामदेव के रूप में सुंदर एवं काल के रूप में बीभत्स होता है। भिन्न गुणों के साथ हुए संघर्ष में फल स्वरूप ही, जैसे जल, हिम और वाष्प बनता है, वैसे ही वह ब्रह्म भिन्न भिन्न प्रारूप में दृश्य होकर पुनः गुणों से मुक्त होने पर मूल स्वरूप में स्थित हो जाता है।

--*

गोरे आर्य एवं काले द्रविड़ ? एकलव्य एवं बर्बरीक के साथ अत्याचार ?

बाहर से गोरे आर्य आये और उन्होंने काले द्रविड़ों का शोषण किया, यह प्रमाद आजकल के वामपन्थी बहुत करते रहते हैं। उनके हिसाब से देखें तो -

आर्यों !! भैरव जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे काले हैं और काले तो द्रविड़ होते हैं। आर्य गोरे होते हैं।
आर्यों !! कृष्ण जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे काले हैं और काले तो द्रविड़ होते हैं। आर्य गोरे होते हैं।
आर्यों !! राम जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे काले हैं और काले तो द्रविड़ होते हैं। आर्य गोरे होते हैं।
आर्यों !! काली जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे काले हैं और काले तो द्रविड़ होते हैं। आर्य गोरे होते हैं।
आर्यों !! शनि जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे काले हैं और काले तो द्रविड़ होते हैं। आर्य गोरे होते हैं।

द्रविड़ों !! शिव जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे गोरे हैं और गोरे तो आर्य होते हैं। द्रविड़ काले होते हैं।
द्रविड़ों !! सूर्य जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे गोरे हैं और गोरे तो आर्य होते हैं। द्रविड़ काले होते हैं।
द्रविड़ों !! सरस्वती जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे गोरे हैं और गोरे तो आर्य होते हैं। द्रविड़ काले होते हैं।
द्रविड़ों !! पार्वती जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे गोरे हैं और गोरे तो आर्य होते हैं। द्रविड़ काले होते हैं।
द्रविड़ों !! गणेश जी को पूजना बन्द करो...क्योंकि वे गोरे हैं और गोरे तो आर्य होते हैं। द्रविड़ काले होते हैं।

लेकिन भाई, एक बात बताओ.. हां बोलो !!

गोरे आर्यों के सनातन के जगद्गुरु श्रीआद्यशंकर तो काले थे, द्रविड़ क्षेत्र के ही थे। काले द्रविड़ों के काले वेदव्यास जी ने तो गोरे आर्यों के महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि लिखे थे। गोरे आर्यों के गोरे शिव के अवतार तो काले द्रविड़ों के काले भैरव जी हैं। और गोरे आर्यों के गोरे शिव जी के गोरे अवतार दुर्वासा जी ने काले द्रविड़ों के काले भैरव के नमस्कारयुक्त तन्त्रोक्त सहस्रनाम के एक सौ पचपनवें श्लोक में "नमो द्रविडरूपाय भैरवाय नमो नमः" कहकर स्तुति की है। काले द्रविड़ों के गोरे जगद्गुरु रामानुजाचार्य जी ने गोरे आर्यों की गोरी लक्ष्मी जी की आराधना की। गोरे आर्यों के काले जगद्गुरु रामानन्दाचार्य जी ने काले द्रविड़ों के काले कृष्ण की उपासना की। लेकिन काले कृष्ण और काले राम तो आर्य थे, आर्यपुत्र थे। भैरव जी की साधना से निवृत्त हुआ। सहस्रार्चन, आवरण पूजन, नवशक्ति, शस्त्र, दिक्पाल पूजन, हवनादिक करते करते चार घण्टे व्यतीत हुए। धर्मरक्षक महावीर सत्यप्रतिपालक भगवान् भैरव जी की महाष्टमी सबों के लिए मंगलदायिनी सिद्ध हो।

जो शांति को स्थापित करे वो शिव है, जो अशांति का विनाश करे वो भैरव। जो प्रकाश का विस्तार करे वो शिव है, जो

अंधकार का विनाश करे वो भैरव। जो ज्ञान का उद्घाटन करे वो शिव है, जो अज्ञान का विनाश करे वो भैरव। लक्ष्य को निर्माणात्मक रूप से सिद्ध करने वाले शिव हैं, और उसी लक्ष्य को विध्वंसक रूप से सिद्ध करने वाले भैरव हैं। परब्रह्म के दोनों रूपों में यह अद्भुत सामंजस्य है । श्रीमद्भागवत के अनुसार शूद्र अथवा चांडाल को, जो अपने धर्म में स्थित है, दया, परोपकार, भक्ति आदि के अनुसार जीवन व्यतीत करता है, उसे ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण यदि अपमानित या शोषित करते हैं तो वह शोषक अत्यंत कष्ट भोगते हुए देवमण्डल के द्वारा दंडित होता है। महर्षि सुलभकोप दुर्वासा जी के द्वारा रचित भैरव सहस्रनाम के 77-78 वें श्लोक में भैरव जी के निवास स्थानों की स्तुति में पंचमहाभूतों की स्तुति तथा भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों की स्तुति के बाद कहा गया है :-

नमो ब्राह्मणवासाय शूद्रवासाय ते नमः। नमः क्षत्रियवासाय वैश्यवासाय ते नमः ॥

धर्मरक्षा के प्रतीक, अन्याय तथा अराजकता के विनाशक भैरव जी का स्थायी निवास चारों वर्णों में समान रूप में बताया गया है अतः वे समान रूप से धर्म के प्रति कर्तव्य तथा यथोचित अधिकारों से युक्त हैं। चारों में से एक वर्ण का भी ह्रास या अवनति सम्पूर्ण धर्मस्तम्भ के लिए विनाश का कारक होती है तथा सभी वर्ण भैरव जी का रूप होने से सम्मानित एवं तेजस्वी हैं। श्रेष्ठ कर्म करने वाले को आर्य कहा गया है। भारत के सामुद्रिक दक्षिणी भाग को द्रविड़ कहा गया है। मतान्तर से धन को भी द्रविड़ या द्रविण कहा गया है। अतः इसी स्तोत्र के 155 वें श्लोक में नमो द्रविडरूपाय भैरवाय नमो नमः कह कर स्तुति की गई है। अर्थवान को द्रविड़ तथा अर्थहीन की दरिद्र संज्ञा है। इस मत को पुष्ट करते हुए पूर्वोक्त स्तोत्र का 194 वां श्लोक भैरव जी को धनी और निर्धन दोनों का अधिपति बताते हुए द्रविड़ शब्द का प्रयोग करता है :- नमो द्रविडरूपाय दरिद्रनाथाय ते नमः॥ आगे आप स्वयं समझदार हैं... भगवान् भैरव सनातन को पुष्ट करें, सभी वर्णों को ज्ञान, अर्थ, पराक्रम तथा सद्गति प्रदान करते हुए भारत तथा भारतीयों के विरुद्ध चलाये जा रहे विधर्मियों के कुचक्र को नष्ट करने की शक्ति प्रदान करने का अनुग्रह करें।

बचपन में पूज्य पिताजी से एक बात सुनी थी। कोई चालीस वर्ष पूर्व इंदिरा गांधी एक प्रस्ताव लेकर आई थी जिसके अनुसार भारत के सभी वनवासी, (प्रयाग में सुमन्त भट्टाचार्य जी ने मुझे आदिवासी शब्द का षड्यंत्र संकेत किया था, तब से वनवासी ही कहता हूँ) मूल रूप से ईसाई हैं तथा भारत के हरेक वनवासी को सरकारी रूप से ईसाई की संज्ञा दी जाएगी। आर्य बाहर से आये थे और ब्राह्मणों ने वनवासियों का शोषण तथा दोहन किया है और बाद में उन्हें हिन्दू बनाया। उस समय कार्तिक उरांव, जो वनवासियों के समुदाय से थे एवं कांग्रेस में इंदिरा गांधी के समकक्ष नेता थे, ने इसका बहुत ही कड़ा और कारगर विरोध किया। उन्होंने कहा कि पहले सरकार इस बात को निश्चित करे कि बाहर से कौन आया था ? यदि हम यहाँ के मूलवासी हैं तो फिर हम ईसाई कैसे हुए क्योंकि ईसाई पन्थ तो भारत से नहीं निकला। और यदि हम बाहर से आये ईसाईयत को लेकर, तो फिर आर्य यहाँ के मूलवासी हुए। और यदि हम ही बाहर से आये तो फिर ईसा के जन्म से हज़ारों वर्ष पूर्व हमारे समुदाय में निषादराज गुह, शबरी, कणप्पा आदि कैसे हुए ? उन्होंने यह कहा कि हम सदैव हिन्दू थे और रहेंगे।

उसके बाद कार्तिक उरांव ने बिना किसी पूर्व सूचना एवं तैयारी के भारत के भिन्न भिन्न कोनों से वनवासियों के पाहन, वृद्ध तथा टाना भगतों को बुलाया और यह कहा कि आप अपने जन्मोत्सव, विवाह आदि में जो लोकगीत गाते हैं उन्हें हमें बताईए। और फिर वहां सैकड़ों गीत गाये गए और सबों में यही वर्णन मिला कि यशोदा जी बालकृष्ण को पालना झुला रही हैं, सीता माता राम जी को पुष्पवाटिका में निहार रही हैं, कौशल्या जी राम जी को दूध पिला रही हैं, कृष्ण जी रुक्मिणी से परिहास कर रहे हैं, आदि आदि। साथ ही यह भी कहा कि हम एकादशी को अन्न नहीं खाते, जगन्नाथ भगवान् की रथयात्रा, विजयादशमी, रामनवमी, रक्षाबन्धन, देवोत्थान पर्व, होली, दीपावली आदि बड़े धूमधाम से मनाते हैं। फिर कार्तिक उरांव ने कहा कि यहाँ यदि एक भी व्यक्ति यह गीत गा दे कि मरियम ईसा को पालना झुला रही हैं और यह गीत हमारे परम्परा में प्राचीन काल से है तो मैं भी ईसाई बन जाऊंगा। उन्होंने यह भी कहा कि मैं वनवासियों के उरांव समुदाय से हूँ। हनुमानजी हमारे आदिगुरु हैं और उन्होंने हमें राम नाम की दीक्षा दी थी। ओ राम , ओ राम कहते कहते हम उरांव के नाम से जाने गए। हम हिन्दू ही पैदा हुए और हिन्दू ही मरेंगे। और इस प्रकार से क्षुब्ध होकर इंदिरा गांधी ने ने वो प्रस्ताव हटवा दिया , साथ ही इस घटना के कुछ समय बाद कार्तिक उरांव की हत्या भी करवा दी। ** इस बात का प्रमाण मेरे पास नहीं है लेकिन सक्षम जन प्रमाण खोज सकते हैं। बचपन में पिताजी ने बताया था। मेरे चाचा जी को कार्तिक उरांव ने विश्वविद्यालय में प्रथम आने पर सम्मानित किया था उसी समय शायद पिताजी या चाचाजी से उनकी मुलाकात हुई थी।

वसुधैव कुटुम्बकम् की बात किसने बताई ? सनातन ने ही तो बताई !! उसी सनातन में अथर्ववेद में नहीं पढ़ा आपने, जिसमें गोहत्यारों को गोली मारने का आदेश है ? वशिष्ठ स्मृति में शिव का वचन नहीं पढ़ा कि धर्म रक्षा के लिये और राष्ट्र का संवर्धन करने के लिए सभी वर्णों को शस्त्र उठाना चाहिए। सूत संहिता में भगवान् विष्णु का वचन नहीं पढ़ा जिसमें धर्मरक्षा के लिए शस्त्रप्रयोग का आदेश है ? तो क्या नाखून काटने के लिए हथियार उठायें ? याद रखें शरीर का जो अंग सड़ जाता है, उसे काटकर हटा ही देते हैं। आये हैं वसुधैव कुटुम्बकम् की बात करने। छद्म मानवतावादी। ये बात सोमनाथ वालों को समझ में नहीं आई थी। कश्मीर वालों को नहीं आ रही है। कर्ण बहुत दानी था, लेकिन अधर्म का पक्ष उसे नाश के कगार पर ले गया। दानशीलता बचा न सकी। भीष्म का ज्ञान, द्रोण का पराक्रम, बचा न सके। तमाम अच्छाईयां हों लेकिन एक बुराई ही उसे ख़त्म करने के लिए पर्याप्त है। जैसे सहस्रों उत्तम व्यंजन केवल एक बूँद विष के कारण अग्राह्य हो जाते हैं। वहां उनकी अच्छाईयां नहीं देखी जातीं। स्वर्णपात्र में परोसी गयी विष्ठा भी अग्राह्य ही है। सहस्रों लीटर दूध खटाई की चन्द बूंदों से विकृत हो जाती हैं। वैसे ही सम्पूर्ण गुणों से युक्त व्यक्ति भी अल्प अधर्म से ही नष्ट हो जाता है।

अच्छे लोगों में भी एक बुरी बात होती है, वे सब जगह अच्छाई ही देखते हैं। न मिलने की स्थिति में अच्छाई की कल्पना कर लेते हैं। मनुष्य को आर्जव अपनाना चाहिए। आर्जव अर्थात औचित्य पूर्ण व्यवहार। समता अपनाये। इसका अर्थ ये नहीं कि सबके साथ समान व्यवहार हो। अपितु अर्थ ये हैं कि औचित्यपूर्ण व्यवहार हो। समता घातक

है। माता, पत्नी, पुत्री, भगिनी में आर्जव देखे। अर्थात समता न देखे, औचित्य पूर्ण भाव से देखे। इसी प्रकार धर्माधर्म पक्ष में भी औचित्य पूर्ण व्यवहार रखे ऐसा शिव का मत है। क्योंकि जो व्यक्ति धर्म के अनुसार चलने का प्रयत्न करता है लेकिन उसकी रक्षा का प्रयत्न नहीं करता वह धर्म का विनाश अवश्य कर बैठता है ऐसा स्कन्दपुराण का मत है। जो लोग (विशेषतः सौम्यवादी हिंदू) इतने बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं कि उन्हें म्लेछों के आतंक में ईश्वर की प्रेरणा और इच्छा दिख जाती है, मैं पूछता हूँ कि जब अन्य हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उनका प्रतिरोध करते हैं तो उसमें इन ब्रह्मज्ञानियों को ईश्वर की इच्छा क्यों नहीं दिखती ?

हमारे ग्रन्थ कहते हैं कि ग्वाला के घर का दूध कभी अपवित्र नहीं होता। जब वो बिक जाए तब ही शुद्धि अशुद्धि का विचार होता है। माली के घर का फूल बासी नहीं होता जब तक या तो बिक न जाये या फिर बिलकुल ही गंधहीन और कुम्हला न जाय। ब्राह्मण जब तक सिर से स्नान न करे, वह शुद्ध नहीं है। लेकिन शूद्र हाथ पैर धो लेने मात्र से शुद्ध है। ब्राह्मण यदि गायत्री सन्ध्या नहीं करता तो वह पतित है। जबकि शूद्र के साथ ऐसा नहीं है। यज्ञ की सम्पूर्णता चारों वर्णों के बिना नहीं होती। सामान्यता इन लोगों के बिना यज्ञ सम्पूर्ण नहीं होता। ब्राह्मण - पुरोहित आचार्य क्षत्रिय - याजक और संरक्षक वैश्य व्यापारी - पूजन सामग्री एवं भोजन व्यवस्था ग्वाला - गो सम्बन्धी उत्पाद माली - पुष्प, दूर्वा, विल्वपत्र चमार - ढोल, तुरही आदि मांगलिक वाद्ययंत्र नाई - क्षेत्रपाल पूजन आदि, मण्डप पूजन में बाह्य सहयोग बढ़ई - मण्डप निर्माण एवं अरणी निर्माण सामान्य श्रमजीवी - कुण्ड निर्माण, वेदी निर्माण कुम्हार - हवन पात्र, कलश, दीपक आदि अन्त्यज वनवासी - फल, दोना, पत्तल, आसन आदि तेली - क्षेत्रपाल एवं नवग्रह पूजन में तैलाभ्यंग विधान इन जितनी भी जातियों का वर्णन किया गया, इनमें तेली , चमार से लेकर ब्राह्मण तक सभी लोग शिक्षित हों, सभी लोग आचारवान् हों, नशे से दूर रहने वाले हों, चिंतामुक्त हों, जितेन्द्रिय हों, प्रसन्न चित्त हों, शाकाहारी एवं सभ्य हों तब ही यज्ञ में हाथ बटाने के अधिकारी हैं। और भी कई हैं... लेकिन एक बात बताओ हमें कि ब्राह्मणों ने शोषण कब किया ? दलित जैसा कुछ नहीं होता। होते केवल शूद्र हैं जो पूर्ण और अनिवार्य रूप से सनातन समाज का अभिन्न और वांछित वर्ण हैं।

महाभारत को काल्पनिक कहने वाले कभी एकलव्य को काल्पनिक नहीं कहते हैं। वैसे सनातनी आस्था वाले लोग तो महाभारत को भी वास्तविक ही मानते हैं और महाभारत की घटनाओं को भी, जो कि सर्वथा उचित भी है। महर्षि वेदव्यास प्रणीत सर्वलोकोपकारी, इस विशाल महाग्रंथ में सभी कर्तव्य, धर्म और तत्वों का सार निहित है। हम आज इस बात पर चर्चा करेंगे कि क्या एकलव्य और बर्बरीक पर कोई अत्याचार हुआ था ? क्या एकलव्य का अंगूठा कटवाना अथवा महाभारत युद्ध से पूर्व ही बर्बरीक का मस्तक काटना, अत्याचार या शोषण नहीं था ? महाभारत स्वयं तो एकलव्य एवं बर्बरीक का कोई विस्तृत वर्णन नहीं करता, अपितु सांकेतिक वर्णन करता है, किन्तु उसके खिलभाग हरिवंशम् में अथवा वेदव्यास कृत अन्य ग्रंथों में इनका व्यापक वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम हम बर्बरीक पर चर्चा करेंगे। बर्बरीक अत्यंत पराक्रमी राक्षस थे। ये भीम और हिडिम्बा के संयोग से उत्पन्न राक्षसराज घटोत्कच, जो कामाख्या के निकट में मायांग (मायोंग) के राजा थे, के पुत्र थे। इनके भाई का नाम अञ्जनपर्वा एवं माता का नाम कामकटंकटा था।

मतांतर से कामकटंकटा का नाम मौर्वी भी था क्योंकि यह मुर दैत्य की पुत्री थी। मुर दैत्य प्राग्ज्योतिषपुर (लगभग आज का पूरा असम) के राजा नरकासुर का दुर्गप्रहरी था। घटोत्कच का नाम उनसे केशहीन होने के कारण पड़ा तो बर्बरीक का नाम उनके विशाल एवं कठोर केशों के ही कारण था, जैसा कि स्कन्दपुराण के कौमारिकाखण्ड का वचन है - बर्बराकारकेशत्वाद्बर्बरीकाभिधो भवान्॥ बर्बरीक राक्षसकुल में जन्म लेने के बाद भी अत्यंत संस्कारी एवं धर्मपरायण थे। ये कभी अपने सामर्थ्य का प्रयोग संसार को पीड़ा देने के लिये नहीं करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हें धर्मशास्त्रों के तत्व की विशेष शिक्षा दी थी एवं चारों वर्णों के कर्तव्य का बोध कराकर देवी की तपस्या करने के लिए गुह्यतीर्थ (कामाख्या) में भेज दिया। वैसे भी बर्बरीक के पिता का राज्य वहां से दो योजन (लगभग 25 किमी) की दूरी पर ही था। उस गुह्यतीर्थ में विजय नाम के एक तपस्वी ब्राह्मण अपनी साधना कर रहे थे। उनकी तपस्या में विघ्न उत्पन्न करने के लिए अनेकों हिंस्र जंतु, पिशाच एवं राक्षसों के झुंड आते थे। बर्बरीक ने उन सबका संहार करके विजय मुनि की रक्षा की। अपनी तपस्या पूर्ण होने पर विजय ने हवन का भस्म एवं देवी का सिन्दूर दिया। उसमें त्रिलोक का संहार करने की क्षमता थी। बाद में बर्बरीक ने भी देवी की आराधना करके उनसे दिव्य बाण आदि की प्राप्ति की।

एक बार वनवास के मध्य भीमसेन ने किसी जलस्रोत को प्रदूषित कर दिया था तो बर्बरीक ने उन्हें ऐसा करने से रोका। उस समय तक बर्बरीक ने पांडवों को देखा नहीं था। अपने बल के अभिमान में भीमसेन ने बर्बरीक का अपमान किया तो बर्बरीक उन्हें उठाकर समुद्र में फेंकने के लिए चल पड़े। बाद में आकाशवाणी हुई कि ये तुम्हारे पितामह भीमसेन हैं, तब बर्बरीक ने उन्हें छोड़ा। भीमसेन ने भी प्रकृति को प्रमादवश प्रदूषित करने के लिए क्षमा मांगी थी। यह सब कथाएं स्कन्दपुराण आदि में विस्तार से वर्णित हैं।

अब हम उस प्रसङ्ग पर आते हैं जहां महाभारत के युद्ध से पूर्व सभी योद्धागण अपने अपने दिव्यास्त्रों की सीमा और क्षमता का आंकलन कर रहे थे। पाण्डवों के पक्ष से युद्ध में सम्मिलित हुए बर्बरीक ने कहा कि मैं क्षणमात्र में ही उपस्थित दोनों सेनाओं के संहार कर सकता हूँ। इस बात को अविश्वसनीय मानकर सभी वीरों ने उपहास किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि जिस सेना को जीतना देवतागण के लिए भी दुष्कर है उसे तुम अकेले ही क्षणमात्र में कैसे संहार कर सकते हो, इसका प्रमाण दो। भगवान् की बात को सुनकर बर्बरीक ने कहा कि यदि मर्म का बोध हो तो एक ही प्रहार से शत्रु को मारा जा सकता है (इसी विचारधारा का प्रयोग मार्शल आर्ट्स वाले करते हैं)

बर्बरीक ने अपने दिव्य तीन बाणों इन से एक बाण को विप्रदत्त सिन्दूर से अभिमंत्रित किया और मर्मनिरीक्षण किया। उनके द्वारा चलाए गए बाण से जो सिन्दूर निकला वह विस्तृत होकर दोनों सेनाओं में गिरा। द्रोण, द्रुपद एवं विराट के कंठ पर सिन्दूर गिरा। दुर्योधन की जंघा, भगदत्त की नासिका भाग एवं शल्य की छाती पर सिन्दूर लगा। भीष्म पितामह के सभी रोमकूपों में सिन्दूर व्याप्त हो गया और भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में भी लगा। कृपाचार्य और अश्वत्थामा को चिरंजीवी होने से सिन्दूर नहीं लगा एवं पाण्डवों को भी नहीं लगा। आप ध्यान देंगे तो उन वीरों का जिस जिस अंग में सिन्दूर लगा था, महाभारत के युद्ध में उसी अंग पर प्रहार होने से उनकी मृत्यु हुई थी। कालांतर में जब श्रीकृष्ण भी

धराधाम को त्याग रहे थे तो जरा नामक व्याध के द्वारा पैरों में ही बाण लगने का निमित्त बनाया था। इस प्रकार सबों के मर्म का निरीक्षण करके बर्बरीक ने उन सबों को मारने की इच्छा से दूसरे बाण का सन्धान किया। इसी मध्य भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से बर्बरीक का मस्तक काट दिया। इस अप्रत्याशित घटना से सभी लोग हतप्रभ रह गए। घटोत्कच तो अपने पुत्र की मृत्यु पर मूर्छित सा हो गया एवं पाण्डव भी शोकाकुल हो गए, सभी लोग श्रीकृष्ण को दोषी कहने लगे। उसी समय चण्डिका, वाराही आदि चौदह देवियां प्रकट हुईं एवं एक रहस्य बताया। देवियों ने कहा – पूर्वकाल में यह बर्बरीक सूर्यवर्चा नामक यक्ष था जो चौरासी करोड़ यक्षों (अथवा मुद्राओं) का स्वामी था। जब स्वर्गलोक में देवताओं की सभा हो रही थी कि पृथ्वी के भारहरण के लिए भगवान् विष्णु का अवतार होना चाहिए एवं उनके साथ ही अन्य देवताओं को भी जाना चाहिए, उस समय एक घटना घटी।

एतस्मिन्नन्तरे बाहुमुद्धृत्योच्चैरभाषत।
सूर्यवर्चेति यक्षेन्द्रश्चतुराशीतिकोटिपः। किमर्थं मानुषे लोके भवद्भिर्जन्म कार्यते॥
मयि तिष्ठति दोषाणामनेकानां महास्पदे। सर्वे भवन्तो मोदन्तु स्वर्गेषु सह विष्णुना॥
(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड-कौमारिकाखण्ड, अध्याय – ६६, श्लोक – ५८-६०)

इसी बीच चौरासी करोड़ के स्वामी सूर्यवर्चा नामक यक्ष ने अपनी भुजाएं उठाकर उच्चस्वर से यह उद्घोषणा की – आपलोग व्यर्थ में ही मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं। पृथ्वी के भार हरण के लिए तो मैं ही पर्याप्त हूँ, मेरे रहते हुए आपलोग क्यों कष्ट करेंगे। युद्ध में बहुत अधिक दोष होते हैं (अतएव बिना सामूहिक युद्ध के अकेले ही सबको मार दूंगा) आप सभी देवगण स्वर्गादि दिव्यलोकों में विष्णु के साथ आनन्दित रहें। सूर्यवर्चा यक्ष के ऐसा कहने से सभी देवताओं को अपमान का अनुभव हुआ।

भगवान् के अवतार का उद्देश्य मात्र संसार के अधर्मियों के नाश करना नहीं होता है, वे लोकमर्यादा की शिक्षा एवं धर्म की स्थापना के लिए भी आते हैं। मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥ नानाविध प्रकार से उनके लीलाभाव में सम्मिलित होने की इच्छा वाले भक्तों की कामनापूर्ति भी करते हैं, यद्यपि भगवान् भृकुटिविलासमात्र से सृष्टि संहार में समर्थ हैं फिर भी अवतार लेते हैं। अवतारभेद के उद्देश्य का ज्ञान न रखने वाले उस बलाभिमानी यक्ष को उस सभा में ब्रह्मदेव ने श्राप दिया – तुम पृथ्वी पर राक्षसकुल में जाओगे, अत्यन्त पराक्रमी भी बनोगे किन्तु जब मुख्य युद्ध का अवसर आएगा तब तुम्हारा मस्तक श्रीकृष्ण के द्वारा काट लिया जाएगा।देवी के द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन होने से वहां उपस्थित सभी लोगों ने इस घटना को पूर्वनिर्धारित जानकर भगवान् श्रीकृष्ण को निर्दोष माना। इसके बाद देवी ने बर्बरीक के मस्तक भाग को पुनर्जीवित कर दिया।

इत्युक्ते चण्डिका देवी तदा भक्तशिरस्त्विदम्।अभ्युक्ष्य सुधया शीघ्रमजरं चामरं व्यधात्॥
यथा राहुशिरस्तद्वत्तच्छिरः प्रणनाम तान्। उवाच च दिदृक्षामि युद्धं तदनुमन्यताम्॥

ततः कृष्णो वचः प्राह मेघगंभीरवाक्प्रभुः। यावन्मही सनक्षत्रा यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
तावत्त्वं सर्वलोकानां वत्स पूज्यो भविष्यसि। देवीलोकेषु सर्वेषु देवीवद्विचरिष्यसि॥
(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड-कौमारिकाखण्ड, अध्याय ६६, श्लोक – ७३-७६)

चण्डिका देवी ने अपने भक्त के मस्तक को अमृत के द्वारा पुनर्जीवित करके उसे अजर अमर बना दिया। जैसे राहु का शिरमात्र ही है वैसे ही बर्बरीक भी हो गया और उसने सबको प्रणाम दिया और कहा कि आपसबों की सम्मति से मैं अब इस युद्ध का मात्र दर्शन करूँगा। उस समय मेघ के समान गंभीर वाणी में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा – जबतक यह पृथ्वी सभी नक्षत्रों के साथ विद्यमान है, जब तक सूर्य एवं चन्द्र हैं, तब तक हे वत्स ! तुम पूरे संसार के लिए पूजनीय रहोगे। जैसे इस संसार में, तथा अपने लोकों में देवी (इच्छानुसार) विहार करती हैं, वैसे ही तुम भी करोगे। इस प्रकार भगवान् ने बर्बरीक को देवतुल्य बनाकर लोकपूज्य स्थान में वास दे दिया तभी से बर्बरीक ने श्रीकृष्णतुल्यता के साथ संसार में भक्तों का, विशेषकर रोगनाश, बालारिष्ट शमन आदि के माध्यम से कल्याण करना प्रारम्भ किया।

अब हम एकलव्य की चर्चा करते हैं। लोक में प्रसिद्ध है कि एकलव्य हिरण्यधनु नामक निषादराज का पुत्र था किन्तु ग्रंथों के विशेषज्ञ जानते हैं कि वह हिरण्यधनु का औरस नहीं, पालित पुत्र था। वास्तव में एकलव्य का नाम शत्रुघ्न था एवं वह यदुवंशी देवश्रवा (श्रुतदेव) का पुत्र था। उसे लोकसंहारक गतिविधियों के कारण राज्य से निकाल दिया गया था, क्योंकि वह कंस का पक्षधर था। बाद में उसे निषादराज हिरण्यधनु ने पाला और एकलव्य कंस के श्वसुर जरासन्ध आदि के दल में सम्मिलित हो गया।

निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं श्रुतदेव त्वजायत। श्रुतदेवात्मजास्ते तु नैषादिर्यः परिश्रुतः॥
एकलव्यो मुनिश्रेष्ठा निषादैः परिवर्द्धितः।
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – १४, श्लोक – २७)
निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं देवश्रवा व्यजायत।
देवश्रवाः प्रजातस्तु नैषादिर्यः प्रतिश्रुतः। एकलव्यो महाराज निषादैः परिवर्धितः॥
(हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अध्याय – ३४, श्लोक – ३३)

इसी का समर्थन वायुपुराण आदि भी करते हैं। इधर द्रोणाचार्य कौन थे ? वे हस्तिनापुर के राजगुरु थे। हस्तिनापुर के राजकुमारों को शिक्षित करने के लिए ही उन्हें विशेष नियुक्ति मिली थी, जबकि एकलव्य जरासन्ध के पक्ष का था। हस्तिनापुर उस समय ऐसा राज्य था जो भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि से सुरक्षित होने के कारण किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करता था। इसके अतिरिक्त पूरा संसार दो ही राजाओं के सामने झुका हुआ था, एक तो मगधनरेश जरासन्ध एवं दूसरे प्राग्ज्योतिषपुर के राजा नरकासुर। नरकासुर ने हजारों राजाओं की पुत्रियों को विवाह हेतु बन्दी बना रखा था तो उन हज़ारों राजाओं को तामसी यज्ञ में नरबलि देने हेतु जरासन्ध ने बन्दी बना रखा था। नरकासुर की

बाणासुर एवं कंस से मित्रता थी और जरासन्ध का दामाद कंस था। साथ ही कंस बाणासुर का मित्र भी था। तो इस प्रकार जरासन्ध एवं नरकासुर में भी मित्रता थी। जरासन्ध के साथ पांचालनरेश द्रुपद एवं मत्स्यनरेश विराट भी थे। अब एकलव्य जरासन्ध का सहयोगी था तो हस्तिनापुर का शत्रु हुआ। साथ ही जरासन्ध के मित्र द्रुपद की द्रोणाचार्य से शत्रुता भी थी तो इस प्रकार एकलव्य, हस्तिनापुर राज्य का परम शत्रु हुआ।

एकलव्य अपनी प्रतिभा का प्रयोग संसार को कष्ट देने के लिए करता था, साथ ही आसुरी शक्तियों के साथ उसकी मित्रता थी, अतएव द्रोणाचार्य ने उसे शस्त्र की अतिरिक्त शिक्षा नहीं दी थी। द्रोणाचार्य के मन में एकलव्य के प्रति कोई निजी दुर्भावना नहीं थी। द्रोणाचार्य अत्यन्त उदार थे, उन्होंने इस घटना के बाद, स्वयं को मारने के लिए उत्पन्न द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न को स्वयं ही शस्त्र की शिक्षा दी थी, क्योंकि उससे शेष संसार को कोई कष्ट नहीं था। तो यदि एकलव्य निजी शत्रु होता, साथ ही संसार को उससे कोई कष्ट नहीं होता तो भी द्रोणाचार्य उसे सिखा देते किन्तु वह राज्यशत्रु भी था और लोकसंहार की प्रवृत्ति से युक्त भी था। यदि चीन या पाकिस्तान का कोई ऐसा व्यक्ति, जिसका अतीत संसार के प्रति आतंकवाद का हो, यहां आए तो भारत का कोई सैन्य प्रशिक्षक उसे प्रशिक्षण दे सकता है क्या ?

एकलव्यं हि साङ्गुष्ठमशक्ता देवदानवाः। सराक्षसोरगाः पार्थ विजेतुं युधि कर्हिचित्॥
(महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय – १८२, श्लोक – १९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! यदि एकलव्य अंगूठे से युक्त होता तो देवता, दानव, राक्षस, नाग आदि भी उसे शायद ही युद्ध में जीत पाते। अतः द्रोणाचार्य ने लोक को उसके प्रकोप से बचाने के लिए उसके अंगूठे को मांग लिया और उसकी प्रतिभा पूर्णतया समाप्त न हो जाए, इसके लिए उसे बिना अंगूठे के ही तर्जनी एवं मध्यमा के सहयोग से तीर चलाने की विधि बता दी थी, जिसका प्रयोग आजतक ओलम्पिक आदि में भी होता है। यहां महाभारत का प्रसङ्ग देखें –

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः। एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह॥
न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्। शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – १४२, श्लोक – ४०-४१)

निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास गया किन्तु धर्मज्ञ द्रोणाचार्य ने उसे निषादपुत्र समझकर धनुर्विद्या नहीं दी। यहां द्रोणाचार्य के लिए धर्मज्ञ शब्द आया है, और साथ ही समझकर, ऐसा संकेत है। क्या समझकर ? निषादपुत्र समझकर। द्रोणाचार्य जानते थे कि यह निषादपुत्र तो है नहीं, यह तो मथुरा के राजवंश का क्षत्रिय है, जिसे असामाजिक गतिविधियों के कारण निकाल दिया गया तब निषादों ने इसे अपना लिया, ऐसा समझकर, ऐसा उसके पूर्व चरित्र को जानकर, धर्म का विचार करके द्रोणाचार्य ने उसे मना कर दिया। द्रोणाचार्य जैसे त्रिलोकविजेता ज्ञानी इतने सरल थे कि उनके यहां उनके शिवावतार चिरंजीवी पुत्र को पीने के लिए दूध तक नहीं होता था। क्या उनकी इस

दरिद्रता पर सामाजिक न्याय वाले कभी चर्चा करेंगे ? जब द्रोणाचार्य अपने पूर्व सहपाठी राजा द्रुपद के पास गए तो द्रुपद ने उनका अपमान करते हुए कहा –

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान्विदुषः सखा। न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥
ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्। तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – १४१, श्लोक – ०९-११)

द्रुपद ने कहा – जो निर्धन है, वह भूमिपति का मित्र नहीं होता। मूर्ख व्यक्ति विद्वान् का, नपुंसक व्यक्ति वीर का सखा नहीं होता, फिर हम दोनों में पूर्वकाल में कैसे मित्रता सम्भव हो सकती है ? जिनका आर्थिक स्तर एवं प्रसिद्धि समान होती है, उनके मध्य ही वैवाहिक सम्बन्ध अथवा मित्रता होती है, असमानों में नहीं। जो वेदज्ञ नहीं है, उसका वेदज्ञ से, जो रथी नहीं है, उसका रथी से, जो राजा नहीं है, उसका राजा से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता है। फिर हम दोनों में कैसी मित्रता ? राजा द्रुपद के इस प्रकार कहने पर द्रोणाचार्य अपमान का घूंट पीकर रह गए और समर्थ होने पर भी द्रुपद को उस समय दण्डित नहीं किया। बाद में भीष्म पितामह ने उन्हें ससम्मान अपने राज्य में गुरुपद प्रदान किया।

एकलव्य वाली इस घटना के कुछ वर्षों के बाद कंस मारा गया और भगवान् मथुरा में वास करने लगे। अपने जामाता के मरने पर जरासन्ध ने सत्रह बार तेईस अक्षौहिणी सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण किया किन्तु प्रत्येक बार उसे पराजित होना पड़ा। अठारहवीं बार कालयवन के एक करोड़ सैनिकों के साथ तथा अपनी भी विशाल सेना को सम्मिलित करने के बाद जरासन्ध ने विशाल आक्रमण किया जिससे प्रजा को बचाने के लिए भगवान् ने रातोंरात विश्वकर्मा के सहयोग से द्वारिका का निर्माण करवाकर वहां प्रजा को स्थानांतरित कराया था।

अब चूंकि जरासन्ध इतना पराक्रमी सम्राट् था कि कोई भी उसके विरुद्ध खड़ा नहीं होता था इसीलिए जब उसने अठारहवीं बार मथुरा पर आक्रमण किया तो उसके साथ अनेकों प्रसिद्ध राजा भी आये, किन्तु मथुरा के पक्ष से कोई नहीं आया। जब भगवान् श्रीकृष्ण ने नीति का पालन करते हुए समय को टालने की इच्छा से एवं प्रजा को कालयवन तथा जरासन्ध के दोतरफा आक्रमण से बचाने के लिये, शत्रुओं को भ्रमित करते हुए युद्धभूमि से भागने की लीला की और बाद में बलरामजी के साथ प्रवर्षण पर्वत पर छिप गए तो जरासन्ध ने चिढ़ कर उस पूरे पर्वत को आग लगाने की आज्ञा दे दी। उस समय उसकी सेना में निम्न वीर सम्मिलित थे –

मद्रः कलिङ्गाधिपतिश्चेकितानश्च बाह्लिकः। काश्मीरराजो गोनर्दः करूषाधिपतिस्तथा ॥
द्रुमः किंपुरुषश्चैव पर्वतीयाश्च मानवाः। पर्वतस्यापरं पार्श्वं क्षिप्रमारोहयन्त्वमी ॥
पौरवो वेणुदारिश्च वैदर्भः सोमकस्तथा। रुक्मी च भोजाधिपतिः सूर्याक्षश्चैव मालवः ॥

पाञ्चालाधिपतिश्चैव द्रुपदश्च नराधिपः। विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दन्तवक्रश्च वीर्यवान्॥
छागलिः पुरमित्रश्च विराटश्च महीपतिः। कौशाम्ब्यो मालवश्चैव शतधन्वा विदूरथः॥
भूरिश्रवास्त्रिगर्तश्च बाणः पञ्चनदस्तथा। उत्तरं पर्वतोद्देशमेते दुर्गसहा नृपाः॥
आरोहन्तु विमर्दन्तो वज्रप्रतिमगौरवाः। उलूकः कैतवेयश्च वीरश्चांशुमतः सुतः॥
एकलव्यो दृढाश्वश्च क्षत्रधर्मा जयद्रथः॥
उत्तमौजास्तथा शाल्वः कैरलेयश्च कैशिकः। वैदिशो वामदेवश्च सुकेतुश्चापि वीर्यवान्॥
पूर्वपर्वतनिर्व्युहमेतेष्वायतमस्तु नः । विदारयन्तो धावन्तो वाता इत बलाहकान्॥
(हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय – ४२, श्लोक – २८-३६)

जरासन्ध ने आदेश दिया – मद्र के राजा (शल्य), कलिंग के राजा, चेकितान, बाह्लीक (भीष्म पितामह के चाचा), काश्मीर के राजा गोनर्द (इन्हीं के नामपर कश्मीर का उत्तरी भाग, जो चीन से लगता है, बसाया गया था), करूष देश के राजा (पौंड्रक) महाराज द्रुम, किम्पुरुष (सुग्रीव के मन्त्री द्विविद आदि) पर्वतों पर रहने वाले मनुष्य, ये सब इस पर्वत के दूसरी ओर से शीघ्र चढ़ें। पुरुवंश का वेणुदारि, विदर्भ के राजा सोमक, भोजकट के स्वामी रुक्मी, मालवा के स्वामी सूर्याक्ष, पाञ्चाल के राजा द्रुपद, अवन्ती के राजा विन्द एवं उनके भाई अनुविन्द, प्रतापी दन्तवक्र, पुरमित्र, मत्स्यदेश के राजा विराट, कौशाम्बी के शतधन्वा और मालव के विदूरथ, भूरिश्रवा, त्रिगर्तनरेश (सुशर्मा), पञ्चनद के स्वामी बाण, ये सब इस पर्वत के उत्तरी भाग से शत्रु को रौंदते हुए चढ़ाई करें। छल करने में कुशल शकुनि का पुत्र उलूक, अंशुमान् का वीर पुत्र, दृढ़ाश्व, एकलव्य, क्षत्रधर्मा, जयद्रथ, उत्तमौजा, शाल्व, केरल के राजा कैशिक, विदिशा के स्वामी वामदेव, प्रतापी सुकेतु, ये सब पूर्वदिशा से पर्वत को वैसे ही विदीर्ण करते हुए आक्रमण करें जैसे वायु के प्रहार से बादलों के समूह बिखर जाते हैं।

इस समूह में जरासन्ध की ओर से जो राजा मित्रभाव से प्रसन्न होकर लड़ने आये थे उनमें उलूक, एकलव्य, शाल्व, रुक्मी, पौंड्रक, सुशर्मा, बाण, शतधन्वा, आदि सम्मिलित हैं। जो राजा एवं वीर जरासन्ध के भय से उसके साथ आ गए थे उनमें शल्य, विराट, द्रुपद, चेकितान, आदि थे। बाद में चेकितान ने भगवान् श्रीकृष्ण की नारायणी सेना में नियुक्ति पा ली थी। जब महाभारत के युद्ध में नारायणी सेना दुर्योधन के पक्ष में चली गयी तो चेकितान ने सात्यकि के साथ पांडवों का पक्ष लिया था। ऐसे भी जरासन्ध के मरने के बाद उत्तमौजा, द्रुपद, विराट, आदि ने श्रीकृष्ण एवं पाण्डवों का पक्ष ही लिया था। जब युधिष्ठिर इस भूमण्डल का सम्राट बनने की इच्छा से राजसूय यज्ञ करना चाहते थे तो भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्न बात कही –

क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत। दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम्॥
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम्। एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च॥
एतानजित्वा सङ्ग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम्। तथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः॥

एकस्तत्र बलोन्मत्तः कर्णो वैकर्तनो वृषा। योत्स्यते स परामर्षी दिव्यास्त्रबलगर्वितः॥
न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबल। राजसूयस्त्वयाऽवाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – १४ श्लोक – ६८-७२)

श्रीकृष्ण ने कहा – हे भरतवंशी युधिष्ठिर ! यदि आप पृथ्वी पर सम्राट बनना चाहते हैं तो दुर्योधन, शान्तनुपुत्र भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, धनुर्धर रुक्मी, एकलव्य, द्रुम, विराटपुत्र श्वेत, शैब्य, शकुनि आदि को बिना जीते ही राजसूय यज्ञ कैसे कर सकते हैं ? हम मानते हैं कि (भीष्म, द्रोण, कृप आदि) आपके प्रति स्नेह और सम्मान का भाव रखने से आपसे युद्ध नहीं करेंगे किन्तु आपसे ईर्ष्या करने वाला कर्ण तो अपने दिव्यास्त्र के बल पर अभिमान करने के कारण आपसे युद्ध करेगा ही। यदि वह भी युद्ध न करे तो भी जरासन्ध के जीवित रहते आप यह राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते, ऐसा मैं समझता हूँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने एकलव्य को वीरों की श्रेणी में अति सम्माननीय बताया है। इतना ही नहीं, जब राजसूय यज्ञ के समय किसकी अग्रपूजा हो, इस संशय में माद्रीतनय सहदेव ने कहा कि निश्चय ही, अग्रपूजा के अधिकारी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, तो शिशुपाल ने वहां सभा में उपस्थित अन्य गणमान्य लोगों के नाम भी गिनाए थे।

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्त्रं च भूमिपम्। भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम्॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बहद्बलम्। विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तमम्॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्। एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम्॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंसति केशवम्।
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ६७, श्लोक – १९-२२)

शिशुपाल ने कहा – (रुक्मिणी के पिता) अत्यंत पराक्रमी भीष्मक, राजा दन्तवक्त्र, कामरूप के स्वामी भगदत्त, यूपकेतु, मगध के वीर जयत्सेन, विराट एवं द्रुपद ये दोनों, गान्धारनरेश शकुनि, बृहद्बल/ बहद्बल, अवन्ती के विन्द एवं अनुविन्द, पाण्ड्य के राजा, उत्तम आचरण वाले श्वेत, महाभाग शङ्ख, स्वाभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य, महारथी कलिंगनरेश, इन सभी महाबलशालियों को छोड़कर तुम केशव की प्रशंसा क्यों करते हो ? भले ही यह बात शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के प्रति द्वेषभाव से कही थी किन्तु उपर्युक्त वीरों का समाज में अत्यंत श्रेष्ठ स्थान था, इसमें सन्देह नहीं है। एकलव्य ने बाद में भी कोई समाजसेवा का कार्य नहीं किया। अपने दल के अधर्मियों के साथ उसने द्वारिका पर आक्रमण कर दिया था। उस आक्रमण में दन्तवक्त्र का पुत्र सुवक्त्र भी था जो इन्द्र के समान पराक्रमी एवं सैकड़ों प्रकार के मायायुद्ध में निपुण था। उसमें स्वयं को भगवान् वासुदेव कहने वाले पौंड्रक का पुत्र सुदेव, पाण्ड्य एवं कलिंग के राजकुमार, तथा एकलव्य के पुत्र आदि निम्न वीर सम्मिलित थे –

दन्तवक्त्रस्य तनयं सुवक्त्रममितौजसम्। सहस्राक्षसमं युद्धे मायाशतविशारदम्॥
पौण्ड्रस्य वासुदेवस्य तथा पुत्रं महाबलम्। सुदेवं वीर्यसम्पन्नं पृथगक्षौहिणीपतिम्॥

एकलव्यस्य पुत्रं च वीर्यवन्तं महाबलम्। पुत्रं च पाण्ड्यराजस्य कलिङ्गाधिपतिं तथा॥
(हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय, ५९, श्लोक – ०३-०५)

आप सबों को करूष देश के मूर्ख राजा पौंड्रक का स्मरण तो होगा ही, जिसने स्वयं को ही विष्णु का अवतार वासुदेव घोषित कर दिया था एवं भगवान् श्रीकृष्ण को निम्न सन्देश भिजवाया था –

वासुदेवोऽवतीर्णोहमेक एव न चापरः। भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, अध्याय – ६६, श्लोक – ०५)

हे कृष्ण ! मैं ही वास्तविक वासुदेव हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। मैंने ही प्राणियों पर कृपा करने के लिए अवतार लिया है इसीलिए तुम अपना यह झूठ का आवरण छोड़ दो। यह पौंड्रक बाद में सात्यकि के हाथों पराजित होता हुआ, अन्त में श्रीकृष्ण के हाथों मारा गया था, किन्तु यहां ध्यातव्य है कि इसके पक्ष से लड़ने के लिए एकलव्य भी आया हुआ था एवं बलराम जी ने उस युद्ध में एकलव्य को मानो रौंद ही डाला था। उस विशाल युद्ध की एक झलक देखें –

ततः शक्तिं समादाय घण्टामालाकुलां नृपः। निषादो बलदेवाय प्रेषयित्वा महाबलः॥
सिंहनादं महाघोरमकरोत् स निषादपः। सा शक्तिः सर्वकल्याणी बलदेवमुपागमत्॥
उत्पतन्तीं महाघोरां बलभद्रः प्रतापवान्। आदायाथ निषादेशं सर्वान् विस्मापयन्निव॥
तयैव तं जघानाशु वक्षोदेशे च माधवः। स तया ताडितो वीरः स्वशक्त्याथ निषादपः॥
विह्वलः सर्वगात्रेषु निपपात महीतले। प्राणसंशयमापन्नो निषादो रामताडितः॥
(हरिवंशपुराण, भविष्यपर्व, अध्याय -९८, श्लोक – ११-१५)

तब महाबली निषादराज एकलव्य ने घण्टियों से सुशोभित, एक शक्ति (विशेष प्रक्षेपास्त्र) बलराम जी की ओर चलाकर घोर अट्टहास किया। वह शक्ति ज बलरामजी के पास आयी तो अपने ऊपर गिरती हुई उस महाघोर शक्ति को प्रतापी बलभद्र जी ने पकड़ लिया और उसे वापस निषादराज की ओर ही चला दिया, इस बात से सभी आश्चर्यचकित हो गए। उस शक्ति से माधव बलराम जी ने एकलव्य की छाती पर प्रहार किया। अपनी ही चलाई हुई उस शक्ति के प्रहार से निषादराज के सभी अंग व्याकुल हो गए और बलराम जी के द्वारा मारे जाने पर वह मरणासन्न होकर भूमि पर गिर पड़ा। युद्धविद्या के ग्रंथ पर सबका अधिकार है किन्तु राजा का विशेष कर के है, ऐसा वैशम्पायन ने नीति प्रकाशिका में कहा है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो राजा विशेषेण नराधिपः। वैश्यो वा शूद्रजातीयस्त्रियो राजपरिग्रहाः॥
ते कीर्तिमन्तो भूत्वेह परत्र गतिमाप्नुयुः॥
(नीतिप्रकाशिका, अध्याय – ०८, श्लोक – ९७)

ब्राह्मणाय धनुर्देयं खड्गं वै क्षत्रियाय च। वैश्याय दापयेत्कुन्तं गदां शूद्रस्य दापयेत्॥

शिव जी ने शार्गधर धनुर्वेद के प्रथम अध्याय के सातवें श्लोक में ही चारों वर्णों के विशेष अस्त्रों का वर्णन किया है – इसी मत का समर्थन वशिष्ठ की धनुर्वेद संहिता भी करती है। हालांकि ब्राह्मण भी खड्ग अथवा शूद्र भी धनुष, या क्षत्रिय भी गदा धारण कर सकता है, चला सकता है किंतु शिक्षा के क्रम में प्राथमिक अस्त्र यही निर्धारित किये गए हैं। वशिष्ठ की धनुर्वेद संहिता के प्रथम अध्याय में श्लोक संख्या तीन, धनुर्वेदाधिकार के अंतर्गत चारों वर्णों के लिए युद्धविषयक प्रकल्प के निमित्त शस्त्रविद्या का अधिकार वर्णित है –

धनुर्वेदे गुरुर्विप्र: प्रोक्तो वर्णद्वयस्य च। युद्धाधिकारः शूद्रस्य स्वयं व्यापादिशिक्षया॥

युद्धकला को सीखने के लिए मात्र प्रतिभाशाली ही होना आवश्यक नहीं है अपितु पवित्र उद्देश्य, धैर्य, लोकोपकार की भावना, आदि भी आवश्यक है। यह सभी गुण अर्जुन में थे, इसीलिए उन्हें स्वर्ग से भी निमंत्रण मिला। साथ ही शिवजी की कृपा से अनेकों दुर्लभ दिव्यास्त्र मिले। एकलव्य में प्रतिभा तो थी किन्तु सद्भावना नहीं थी। आज भी बहुत से कुशाग्र बुद्धि वाले डॉक्टर, इंजीनियर, वकील एवं वैज्ञानिक अपनी दुर्भावना के कारण आतंकवादी बन जा रहे हैं तो क्या उनकी प्रतिभा के कारण उनका सम्मान किया जाएगा ?

द्रोणाचार्य तो इतने अधिक संवेदनशील गुरु थे कि धैर्य आदि गुणों से रहित होने के कारण उन्होंने अपने सगे पुत्र अश्वत्थामा को भी बारम्बार मांगने पर भी ब्रह्मशिर जैसा दिव्य अस्त्र नहीं दिया, ब्रह्मास्त्र को केवल चलाने की विधि बताई, उसे लौटाने की नहीं, किन्तु अर्जुन को उन्होंने ब्रह्मशिर भी दिया और ब्रह्मास्त्र लौटाने की विधि भी बताई, क्योंकि अर्जुन उचित पात्र थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रोणाचार्य ने जब अपने पुत्र के साथ भी योग्यता की इतनी गम्भीर विवेचना करते हुए निर्णय लिया तो जिसका पूर्व का आचरण ही संदिग्ध रहा हो उस एकलव्य को कैसे अपनी विद्या दे देते, अतएव हम समझते हैं कि एकलव्य पर कोई अत्याचार नहीं हुआ था। द्रोणाचार्य ने तो अपने वध हेतु उत्पन्न होने वाले धृष्टद्युम्न को भी युद्धविद्या की शिक्षा दी थी फिर भला एकलव्य को क्यों नहीं देते ? अतएव इन सब बातों को जानकर भ्रमित नहीं होना चाहिये।

--*

हिन्दुत्व की मृत्यु - कानून और मैं

हिंदुत्व की मृत्यु.... प्रस्तुत विषय विरोधाभास से युक्त हैं क्योंकि विराट सर्वव्यापी सनातन एवं उसके अंदर सन्निहित महान हिंदुत्व, नाशादि भौतिक विकारों से रहित हैं। आज के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दो प्रकार के हिन्दू हो गए हैं :- जीवित एवं मृत। यहाँ जीवन या मृत्यु का अर्थ शरीर प्राप्ति या वियोग से नहीं है। तात्पर्य धार्मिक निष्ठा एवं तत्परता से है। प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक है कि वह अपने वर्ण, जाति, आश्रम, कुल एवं पद के अनुरूप कर्तव्य का पालन करते हुए अधिकारों का उपभोग करे। इसके लिए आवश्यक है कि वह धैर्य, श्रद्धा, विनम्रता एवं परिश्रम से साथ मान्य शास्त्रीय परम्परा सम्मत मठ, आश्रम, गुरुमण्डल एवं आचार्यों की शरण ग्रहण करके मान्य प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन कर उनके ज्ञान से लाभान्वित हो।

कर्तव्य एवं अधिकार के निर्वहन हेतु ज्ञान की आवश्यकता है और यही मार्ग ज्ञान प्राप्ति का सर्वाधिक प्रशस्त निमित्त है। यदि वह ऐसा करता है तो उसकी जीवित संज्ञा है। परंतु मृत हिन्दू अपने भारतीय भाषा में रखे नाम के आगे पूर्वजों द्वारा प्राप्त पदनाम का प्रयोग मात्र करके स्वयं को हिन्दू मान लेता है। बाल्यकाल से ही अर्थप्रधान कुशिक्षा, स्वार्थपूर्ण नौकरी, कुभोजन, कुविचार, एवं कुसंगति से युक्त होकर यदि वह सप्ताह या महीने में एक बार किसी निश्चित दिन मांसाहार का परित्याग करके समीपवर्ती देवालय में पांच मिनट की उपस्थिति करा लेता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि देवगण एवं धर्मसभा कल्पांत पर्यंत उसके ऋणी हो गए हैं। जीवित हिन्दू और मृत हिन्दू, दोनों ही मनुष्य देह से युक्त हैं फलतः मानवीय स्वभाववश दोनों के ही मन में अपार जिज्ञासाएं एवं प्रश्न होते हैं। दोनों के मन में अवतार, कर्म, आयाम, सृष्टि, समाज, सुख, दुःख, संयम, सिद्धि, संहार, विज्ञान, योग, भोग आदि से सम्बंधित अनंत समस्याएं होती हैं। जीवित हिन्दू को साधना एवं पाखण्ड के मध्य का भेद ज्ञात होता है, संत एवं व्यापारी के मध्य का भेद ज्ञात होता है, सिद्ध एवं जादूगर के मध्य का भेद ज्ञात होता है, क्योंकि वह सनातनी परंपरा से जुड़ा हुआ है।

अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अव्यक्ताद्वैत, शांकर, वैष्णव, शाक्त, प्राजापत्य, गाणपत्य, कौल, अघोर, सौर, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि अनेकानेक सर्वमान्य सर्वहितकारी उपासना एवं दर्शन पद्धतियों में से किसी न किसी से तो जुड़ा हुआ ही है। चाहे जिस शाखा पर बैठा हो, कम से कम मूलरूपी विशुद्ध ब्रह्म से भिन्न तो नहीं। अतः अपनी परम्परा के गुरुमण्डल की कृपा से उसकी जिज्ञासा का शीघ्र शमन होता है एवं वह निर्मल ज्ञान से युक्त होकर कल्याण को प्राप्त करता है। परंतु परम्परा विहीन, संस्कारविहीन, पशुवत् केवल उदरभरण एवं इन्द्रियसन्तुष्टि में लिप्त रहने वाला मृत हिन्दू जब किसी परिस्थिति, प्रेरणा या जिज्ञासावश सनातन सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ पाता तो युगकालविक्षेप से भ्रमित होकर चकाचौंध एवं आडम्बर से भरे कथित प्रायोजित (अ)धर्मगुरुओं, पाखण्डियों, एवं शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करने वाले स्वघोषित ऋषियों एवं भाष्यकारों की शरण ग्रहण करके उनके द्वारा मायामय अर्थवाद से ग्रस्त होकर सत्य से कोशों दूर चला जाता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

हम जिस युग की ओर बढ़ रहे हैं, उसका अंत पूर्व में भी किया जा चुका है। हम जिन आविष्कारों से चमत्कृत हैं, उनका उपभोग पूर्व में भी किया जा चुका हैं। हम जिन प्रश्नों एवं जिज्ञासाओं से घिरे हैं, उनका समाधान पूर्व में भी किया जा चुका है। हमारे महान पूर्वजों के मन में ये सब प्रश्न आ चुके हैं जिसका समाधान घोर अनुसन्धान, मनन एवं साधना के माध्यम से करके उसे ग्रंथों में सूत्रात्मक रूप से संग्रहित कर दिया गया है। परंतु ज्यादा विचारवान दिखने की होड़ में मनुष्य खुद का ही सर्वनाश करता है। बिना उचित तकनीक के मलेरिया के क्षुद्रतम विषाणु को चर्मचक्षु से देखने की क्षमता है नहीं, कुत्ता 25000 हर्ज्ड तक की ध्वनि सुनता है, हाथी एवं डॉल्फिन 6 हर्ज्ड तक सुनते हैं। मनुष्य केवल 20 से 20000 तक। बिना तकनीक के बाकियों को न देख सकते हो, न सुन सकते हो। लेकिन ईश्वर को चाहते हो कि आधार कार्ड लेकर सामने खड़ा रहे। ईश्वर को जानने की जो तकनीक शास्त्र ने, ऋषियों ने बताई है, वो अनुसरण करो, जान जाओगे। जैसे खुद तो खून जांच नहीं करते, जो विधि जानता है, उससे करा कर विश्वास करते हो। उसी प्रकार ऋषियों के ग्रंथों पर भी विश्वास होना चाहिए। मृत हिन्दू जिज्ञासा तो करता है परन्तु उसके शमन के लिए उचित विधि का आश्रय नहीं लेता।

आजकल मृत हिन्दू ऐसे प्रश्न पूछ रहे हैं जैसे गूगल में खोजा, तैयार उत्तर मिल गया, और इतिश्री। ये विषय ऐसा नहीं है। आप दनादन पूछते रहते हैं। मानव मन की जिज्ञासा है, और उचित जिज्ञासा है। अब वस्तुनिष्ठ प्रश्न के उत्तर तो तुरंत दिए जा सकते हैं, लेकिन सैद्धांतिक प्रश्नों के उत्तर सामने बैठ का चर्चा करते हुए, सोदाहरण समझाए जाते हैं। आप दिन भर इधर उधर व्यस्त रहेंगे, कभी स्वयं से ग्रंथों का अवलोकन नहीं करेंगे, फिर शाम को एक बार एक घण्टे दस बीस प्रश्न पूछ कर ज्ञानप्राप्ति का प्रयास करेंगे तो यह मार्ग न सही है और न कारगर। जिन बातों को कई ग्रंथ पढ़कर, गुरुमुख से ध्यान पूर्वक सुनकर, मनन कर समझना होता है, वो इतने ही आसानी से एक पंक्ति में लिखकर दे दिए जा सकते थे तो ऋषिगणों ने इतना क्लेश क्यों सहन किया ? हद तो तब होती है कि कल्पित गुरुओं के अन्धशिष्यों के प्रति, कोई शास्त्र में कही बातों को बस हिंदी अनुवाद के साथ उनके सामने रखता जाए, और उन बातों से उनके मत का खंडन होता हो तो धमकी देने लगेंगे। स्वयं ही शास्त्र को गलत बताने लगेंगे और अपने को, एवं अपने गुरुओं को निर्विवाद ब्रह्मवेत्ता ...

इसीलिए कहता हूँ, पहले ग्रंथ पढिये। आपके मन में जो सवाल आते हैं, वो पहले भी मानव के मन मे आते रहे हैं। और उनका समाधान भी ऋषियों ने करके ग्रंथ में डाल दिया है। आप कोई नए नहीं हैं। ये सब बहुत गंभीर विषय हैं, ऐसे उत्तर नहीं मिलता। पहले ग्रंथ पढ़ें। फिर समझ में न आये तो पूछें। हां, यदि यह ज्ञात नहीं कि कौन से प्रश्न का उत्तर कहाँ मिलेगा, तो मैं अवश्य सहायता करके उचित ग्रंथ या गुरु का सन्दर्भ दूंगा। पढ़ने के बाद कोई विषय समझ न आये या प्रति शंका उत्पन्न हो जाये तो भी मैं समाधान बताऊंगा। परंतु यदि आप यह चाहते हैं कि दिन भर भोजन, वाणी, परिवेश एवं विचारों के धार्मिक निर्देशों की धज्जी उड़ाकर सन्ध्या को मुझसे गूढ़ विषयों पर प्रश्न करें, तो यह ध्यान रहे कि ज्ञान पात्र को दिया जाता है, एवं यह पात्रता नहीं है। अतः आज से मैं केवल आपको ये बताऊंगा कि कौन सा विषय कहाँ मिलेगा। यदि आप वास्तव में जिज्ञासु हैं, और ज्ञान के अधिकारी हैं, तो स्वयं परिश्रम करके ज्ञान

अर्जन करें। मैं उसके बाद ही सहायता करूँगा। मेरे मत में समस्त व्यासपीठ, धर्मपीठ एवं समानांतर धर्माधिकारी समुदाय को यह बात समाज में व्यावहारिक धरातल पर समझानी चाहिए कि ग्रंथ एवं गुरु के समायोजन से ही गोविंद का रहस्य समझ आ सकता है अन्यथा हिन्दू समाज का यह संक्रमण उपेक्षा मृत्युदायी रोग बड़ी विकट स्थिति का बीजारोपण करेगा।

लोग कहते हैं, मैं कानून तोड़ता हूँ। लोग ये भी कहते हैं कि मुझे समाज में शस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। उनका मानना है कि मुझपर आपत्ति इसीलिए की जाती है क्योंकि शायद मेरे हथियार रखने से समाज में गलत संदेश जाता हो या गेरुआ धारियों के प्रति लोगों का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही बन जाता हो। लोग ये सब मुझसे इसीलिए कहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वास्तव में उन्हें मुझसे कोई खतरा नहीं। ये सब आपत्ति करने के बाद भी उन्हें पता है कि मैं उनके प्राण तो बिल्कुल ही नहीं लेने वाला। इस सम्पूर्ण विश्व में अनधिकृत रूप से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार आठ सौ करोड़ की जनसंख्या में लगभग बारह लाख से अधिक लोग सक्रिय रूप से वैश्विक या क्षेत्रीय स्तर पर आतंकवादी गतिविधियों में संलिप्त हैं। इन लोगों के कार्यक्षेत्र में नरसंहार एवं युद्ध के साथ साथ अपहरण, मानव तस्करी, ड्रग व्यापार, अंग तस्करी आदि भी सम्मिलित है। लगभग साठ लाख से अधिक लोग परोक्ष संसाधनों के माध्यम से उनकी सहायता करते हैं। अर्थात् यह माना जा सकता है कि प्रत्येक डेढ़ हजार लोगों में से एक व्यक्ति या तो सक्रिय आतंकवादी है या उनके साथ किसी न किसी रूप से जुड़ा हुआ है। मैं तो ये सब करता नहीं..

लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात है कि अब तक जिन सैकड़ों लोगों ने मुझपर तरह तरह के प्रश्नचिन्ह उठाये, उनमें से किसी ने भी आज तक इन बहत्तर लाख सक्रिय एवं सुसुप्त आतंकियों में से किसी एक को भी अहिंसा, मानवता या शस्त्रहीनता का ज्ञान नहीं दिया। देने की बात तो दूर, कभी उन तक पहुंचने का प्रयास भी नहीं किया। फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्सएप्प आदि तमाम संचार माध्यमों में वीरता का स्वघोषित दम्भ भरने वाले इन महानुभावों में मुझे सिद्धांत एवं उपदेश देने का साहस तो है परन्तु अपने ही मुहल्ले के किसी छुटभैये गुंडे को देखकर उसे समझाने का साहस नहीं जुटा पाते। अपितु ऐसी परिस्थिति में स्वयं का ही मार्ग बदल लेने में विश्वास रखते हैं। ऐसे लोग जब मुझे यह ज्ञान देते हैं कि मुझे शस्त्र धारण नहीं करना चाहिए क्योंकि हो सकता है, मैं समाज के लिए खतरा बन जाऊं, तो मैं इनसे पूछता हूँ कि यही बात आप आतंकियों से क्यों नहीं कहते ? उनका उत्तर होता है कि आतंकियों से भय लगता है पर आपसे नहीं। तब मैं कहता हूँ कि यदि ऐसा है, तो समाज के लिए खतरा तो वे हैं, मैं नहीं। एक भी व्यक्ति ने मेरे सामने बैठकर ये नहीं कहा कि आपके शस्त्रधारण से मुझे भय लगता है। वस्तुतः भय ही खतरा है और चूंकि उसका स्रोत मैं नहीं, तो फिर मैं समाज के लिए खतरा कैसे ? यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आजतक एक भी ईसाई या मुसलमान ने आपत्ति नहीं की। सर्वदा स्वयं को हिन्दू (?) कहने वाले लोगों ने ही आपत्ति की है। और तब जाकर हमें इस बात का उत्तर मिलता है कि पिछले पांच सौ वर्षों के अंदर महान भारतवर्ष के चौदह टुकड़े कैसे और क्यों हो गए।

दूसरी बात यह भी कही जाती है कि इससे साधु समाज बदनाम होगा। कोई हमें यह बताओ कि क्या बन्दूक रखने से सेना या पुलिस बदनाम होती है ? बिल्कुल नहीं !! क्यों भला ? क्योंकि इसे अधिकार दिया गया है। बिल्कुल ठीक। उसी प्रकार से हमारे शस्त्रधारण से साधु समाज बिल्कुल भी बदनाम नहीं होगा, अपितु गौरवान्वित होगा क्योंकि हमें भी अति प्राचीनकाल से ही इसका अधिकार प्राप्त है जिसे कोई नहीं छीन सकता। महागुरु गोरक्षनाथ ने धर्मरक्षा के लिए यह अधिकार नवीनीकृत किया था, और जिस समय किया था, उस समय आधुनिक बिकाऊ कानून के पुरोधाओं की सैकड़ों पूर्व पीढ़ियों का जन्म भी नहीं हुआ था। हमारे गोत्रों के उपवेद में धनुर्वेद का वर्णन है, अधिकार है। और यह बताने की आवश्यकता नहीं कि धनुर्वेद का शस्त्रधारण से क्या सम्बन्ध है। आचार्य द्रोण, कृप, परशुराम, भरद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, भृगु, च्यवन, दुर्वासा जैसे महान ऋषियों के शस्त्रधारण सम्बन्धी प्रमाण इस बात को पुष्ट करते हैं।

अब जो रही बात कानून की, तो किस कानून की बात करते हैं आप ? मैं आपके इस कानून के कुछ महान चरित्र बताता हूँ। कुछ दिन पूर्व हमारे पड़ोस में एक बच्ची का बलात्कार उसकी माँ के सामने कर दिया गया था। कानूनपरस्त माता ने कानून के ठेकेदारों के सामने गुहार लगाई, न्याय की भीख मांगी। लेकिन कई दिनों तक उसकी कोई सहायता नहीं की गई क्योंकि शायद तब तक कानून की जेब को पर्याप्त रूप से गर्म किया जा चुका था। अंत में हार कर उस माँ ने बलात्कारी को मार डाला। अब अचानक से कानून की नींद खुलती है और उसे समाज में कहीं से असामाजिकता (?) की गंध मिलती है। माँ को हत्या के आरोप में गिरफ्तार कर लिया जाता है और समुचित सजा देकर समाज के कानून की समय रहते रक्षा करने का अनुग्रह कर दिया जाता है।

उत्तर प्रदेश में गोवध पर दो वर्ष के कारावास का प्रावधान है। इस कानून का उल्लंघन करने वाले अपराधी अखलाक मुहम्मद के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई करने में जब कानून असहाय हो जाता है तो धर्मप्रेमियों को हस्तक्षेप करते हुए अखलाक को दंडित करने का अपराध (?) करना पड़ता है। फलतः कुछ लोग धर्म और कानून बचाने के "आरोप" में गिरफ्तार होते हैं और अखलाक मुहम्मद के परिवार को कानून और धर्मविरुद्ध गतिविधियों के "अति प्रशंसनीय" कार्य के फलस्वरूप करोड़ों के मुआवजे, घर और नौकरियों से अनुगृहीत किया जाता है। हालांकि जेल में बंद अखलाक के वधकर्ता वीरों की षड्यंत्रों से हत्या कर दी जाती है और कानून को इसमें कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता।

इस देश में भूख से बिलबिलाते बच्चे को एक रोटी चुराने के अपराध में पीट पीट कर मार दिया जाता है, परन्तु सलमान खान जैसे हत्यारे दो दशकों के बाद भी कानून के द्वारा सर्वसम्मानित, सुरक्षित हैं और किसी की क्या मजाल तो उन पर उंगली उठा दे !! किस कानून की बात करते हो तुम ? जो शराबी रोहित वेमुला की आत्महत्या पर, बलात्कारी जुनैद की हत्या पर विलाप करता है, पर डॉ नारंग, प्रशान्त पुजारी और कश्मीरी पंडितों की जघन्य हत्या पर मौन रहता है ? जो निर्भया कांड के अपराधी मुहम्मद अफ़रोज़ को सरकारी सुविधा और प्रोत्साहन देता है लेकिन निर्दोष कमलेश तिवारी को सलाखों में डाल देता है ? ऐसी ही परिस्थितियों के सापेक्ष रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा था...

है कौन यहाँ, कारण जो नहीं विपद् का ? किस पर जिम्मा है नहीं हमारे वध का ?
जो चरम पाप है, हमें उसी की लत है, दैहिक बल को रहता यह देश ग़लत है !!
तलवार पुण्य की सखी, धर्मपालक है, लालच पर अंकुश कठिन, लोभ-सालक है।
असि छोड़, भीरु बन जहाँ धर्म सोता है, पातक प्रचण्डतम वहीं प्रकट होता है।

पान सिंह तोमर का नाम सुना है कभी ? क्या कहा ? डाकू था ? नहीं साहब !! डाकू नहीं, बागी था वो, विद्रोही था। विद्रोही का मतलब समझते हैं आप !! ? वर्तमान कुव्यवस्था से त्रस्त होकर उसके विरुद्ध आवाज उठाने वाला। आचार्य चाणक्य विद्रोही थे, वीर शिवाजी विद्रोही थे, आज़ाद चन्द्रशेखर तिवारी और नेताजी सुभाषचंद्र बोस विद्रोही थे। डाकू नहीं थे ये सब, विद्रोही थे। अभी हाल में ही तोमर पर फ़िल्म भी बनी थी। मैंने नहीं देखी है, झूठ-सच क्या दिखाया है, नहीं जानता.. शायद आपने देखी हो। पानसिंह तोमर, भारतीय सेना का एक बहादुर सिपाही, जिसने देश विदेश में दर्जनों सैन्य खेल स्पर्धाओं में देश को विजय दिलाई, बिल्कुल ही सरल स्वभाव वाला वह सिपाही जब अपने गांव वापस लौटा तो देखा कि उसकी ज़मीनों पर स्थानीय दबंग बाबू सिंह ने कब्ज़ा कर रखा है। बाबू सिंह के परिवार में दो सौ सदस्य थे। घर में सरकारी लाइसेंस के साथ दर्जन भर बन्दूकें थीं, खुद की मानो सेना ही थी। खैर, पंचायत बैठी, अजीब फैसला हुआ कि पान सिंह ही बाबू सिंह को तीन हज़ार रुपये दे और जमीन छुड़ा ले। उस ज़माने में तीन हज़ार रुपये एक सामान्य आदमी जीवन में एक साथ देख भी नहीं पाता था। फिर भी तोमर ने यह स्वीकार किया।

कुछ दिनों के बाद बाबू सिंह के बेटे से फिर पैसे को लेकर तोमर का विवाद हुआ। कानून के हाकिम कलेक्टर साहब ने पान सिंह को आश्वासन दिया लेकिन कुछ ठोस काम कर नहीं पाए। एक दिन बाबू सिंह ने पान सिंह के घर में घुस कर उसकी पंचानबे वर्ष की बूढ़ी माँ को बहुत निर्दयता से पीटा और उसके बेटे को मारने की धमकी भी दी। जब कानून ने फिर भी तोमर को कोई सहायता नहीं कि तो हार कर उसने बन्दूक उठायी, बाबू सिंह को गोली मार दी। बाबू सिंह तुरन्त नहीं मरा, एक किलोमीटर तक तड़पता हुआ भागा और अंत मे अपने पापों का फल भोग गया।

लेकिन अब चूंकि बंदूक तोमर ने उठायी तो महामहिम के कान खड़े हुए, कानून की नींद खुली और तोमर के विरुद्ध हत्या का मुकदमा चलने लगा। लेकिन तोमर कानून की वेश्यानीति समझ गया था, सो चम्बल के बियावानों की शरण ग्रहण की। उस जमाने में पान सिंह पर सरकार ने दस हज़ार रुपयों का इनाम रखा था। आज के हिसाब से शायद एक करोड़ के बराबर होगा। कई वर्षों तक पान सिंह को खोजा गया। अंत में कलेक्टर चौहान पांच सौ पुलिसकर्मियों का दल लेकर जंगल में घुसा और बारह घण्टों के घोर मुठभेड़ के बाद पान सिंह तोमर को मार गिराया।

मरते वक्त तोमर ने कहा कि "है यहाँ कोई राजपूत, जो मुझे पानी पिला दे ?" उसकी बात सुनकर हवलदार त्रिभुवन सिंह पानी पिलाने आगे बढ़ा। लेकिन राजपूत कलेक्टर चौहान ने कहा कि "त्रिभुवन ! डाकुओं की कोई जाति नहीं

होती".. तोमर ने उत्तर दिया.. "साहब ! डाकू तो संसद में बैठते हैं, हम तो बागी हैं।" किसी ने विचार किया कि कानून तब कहाँ था जब कदम कदम पर तोमर सहायता की गुहार लगा रहा था ? तब कहाँ था जब तोमर की बूढ़ी माँ को पीटा जा रहा था ? कानून कभी भी समय पर नहीं होता, उसका काम केवल अव्यवस्था को जन्म देना है, उसे मिटाना नहीं। कानून ने ही तोमर को बागी बनाया, कानून ही दोषी है। उसे दण्ड कौन देगा ? हर गलत काम को सही तरीक़े से करने की सुविधा कानून देता है। हर अपराध को संरक्षण और पोषण कानून देता है। हर समस्या, अन्याय और शोषण का स्रोत कानून ही है।

मलखान सिंह का नाम सुना है आपने ? ये भी बागी ही थे। चम्बल के वीरानों के इस आखिरी सम्राट के ऊपर फ़िल्म भी बनने वाली थी लेकिन मलखान सिंह ने अनुमति देने से मना कर दिया। गोभक्त मलखान सिंह के गांव के सरपंच ने मंदिर की भूमि पर अवैध कब्जा कर रखा था। युवा मलखान ने जब इस घटना का विरोध किया तो सरपंच ने उसे गिरफ्तार करवा दिया और उसके मित्र की हत्या करवा दी। कानून क्या कर रहा था तब ? वह सरपंच एक मंत्री का करीबी था और पुलिस उस तक नहीं पहुंच सकती थी। ध्यान रहे कि कानून के निर्माता मन्त्रीगण ही होते हैं। विरोध स्वरूप मलखान सिंह ने राइफल उठा ली और खुद को बागी घोषित कर दिया। मंदिर की सौ बीघा जमीन को मंदिर में मिलाने के लिए उन्होंने हथियार उठाए थे। उस दौरान वे पंच भी थे।

मलखान सिंह के गिरोह में करीब डेढ़ दर्जन लोग थे। गिरोह में शामिल लोग उनके गांव और आस- पास के इलाके में रहने वाले लोग थे। इस गिरोह पर बत्तीस पुलिस वालों समेत पौने दो सौ हत्याएं करने का आरोप था। चंबल में मलखान का एक किस्सा बेहद चर्चित है जिसमें कहा जाता है कि एक बार उसके जानी दुश्मन सरपंच की बेटी को गांव आते समय मलखान गिरोह के सदस्यों ने पकड़ लिया था तो उन्होंने पूरे गिरोह को फटकार लगाई थी और पैर छूने के साथ-साथ भेंट देकर लड़की को विदा किया था। गैंग के लोगों को भी इस बात की सख्त हिदायत दी हुई थी कि किसी भी औरत या बहू-बेटी से बदतमीजी ना हो और यदि कोई सदस्य इस तरह की किसी हरकत में शामिल होता था तो उसकी सजा सिर्फ मौत थी। ऐसे में मलखान को चंबल के गांव में बहुत सम्मानित छवि मिल चुकी थी। गांव-गांव में मलखान को दद्दा के नाम से पुकारा जाने लगा था।

बहुत पहले ही आत्मसमर्पण कर चुके ब्राह्मण, गाय एवं भारत के भक्त क्षत्रिय शिरोमणि मलखान सिंह ने सरकार को हाल में ही यह चेतावनी दी थी कि यदि शीघ्र गोहत्या पर प्रभावी रूप से रोक नहीं लगाई गई तो यह स्मरण रहे कि मलखान सिंह ने बंदूक चलाना नहीं भुलाया है। हमारे दस्युजन में भी जो ईमानदारी थी, वीरता एवं उदारता थी, महिलाओं और बुजुर्गों के प्रति पवित्र भावना एवं सम्मान था, वो आज के इन कथित नेता, न्यायाधीश, अफसर एवं उद्योगपतियों के खून से विलुप्त होने की कगार पर है। मैंने भी प्रधानमन्त्री मोदी को विस्तृत धर्मादेश पत्रलिखा था जो शासन तन्त्र के द्वारा उपेक्षित रहा।

कश्मीर से जब लाखों हिंदुओं को मार मार कर भगाया जा रहा था, उनकी बहन बेटियों के साथ पचास पचास आतंकी बलात्कार करते थे, और आज उत्तर प्रदेश, बंगाल, केरल आदि में जो रोजमर्रे की बात हो गयी है, इसके विषय में कानून क्या सोच रहा है ? वो कहते हैं कि कानून इसका अधिकार नहीं देता। तो अधिकार मांगा किसने भाई ? जब हमारे सर काटने वाले कानून से अनुमति नहीं मांगते, रिश्वत लेने वाले अधिकारी, घोटाले करने वाले नेता कानून से अनुमति नहीं मांगते तो फिर हम स्वयं की रक्षा के लिए क्यों अनुमति मांगे ? और यदि हम कानून के भरोसे बैठे रह गए तो याद रखो कि इतिहास प्रमाण है, 99 प्रतिशत मामलों में कानून ने हमारी कोई रक्षा नहीं की है। इतिहास प्रमाण है कि इतिहास से सबक नहीं लेने वालों का अस्तित्व इतिहास ही बन गया है। पिछले एक हज़ार वर्षों से हमारे साढ़े तीन करोड़ लोगों को इसी कानून और उसकी रक्षा करने की कायरता ने मौत के घाट उतार दिया। जब कातिल ही न्यायमूर्ति बन जाये तो कानून का निर्माण स्वयं करो। और जो बैठे रह गए इस कानून के झूठे पुलिंदों को बचाने के फेर में, उनकी स्थिति सुबह कुछ यूं हो गयी...

आज भी रोज कश्मीर, बंगाल, केरल में मुस्लिम आतंकी, पूर्वोत्तर में, उड़ीसा, दक्षिण, महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ में ईसाई आतंकी और अन्यत्र भी वामपंथी नक्सलियों का आतंक तांडव कर रहा है। भारत माता की रोज हत्या हो रही है और इन सबके पीछे कानून के ठेकेदार नेताओं का पूरा हाथ है, ये कौन नहीं जानता है ? रोज सैकड़ों हिंदुओं की हत्या, बलात्कार, धर्मपरिवर्तन और लूट होती है तो कानून कहाँ सोता है ? मैं हिंसा का समर्थक नहीं, परन्तु इसका अर्थ यह भी है कि कोई मेरे प्रति भी हिंसा न करे। दस्युओं ने निःसन्देह कई पुलिसकर्मियों को मारा था, लेकिन किसी व्यक्तिगत शत्रुता के कारण नहीं, अपितु इसलिए मारा था कि उन्हें प्रशासन से स्वयं प्राणभय था।

यदि आप यह कहें कि पुलिसकर्मी तो अपना काम कर रहे थे तो यह स्मरण करा दूँ आपको कि जिन सैकड़ों निरपराध लोगों को निर्दयतापूर्वक जलियांवाला बाग में मार दिया गया था, उनपर गोली चलाने वाले सैनिकों में अंग्रेजों की अपेक्षा भारतीय सैनिकों की संख्या तिगुनी थी, और वे भी अपना काम ही कर रहे थे। इन मामलों में पुलिसकर्मियों की मौत का जिम्मेदार स्वयं उनका ही विभाग था क्योंकि जब इनलोगों पर अत्याचार हो रहे थे तो प्रशासन और कानून आराम की नींद सो रहा था। ऐसे हज़ारों उदाहरण हैं, कितनों को गिनाऊँ ? मैं भी इन्हीं बागियों में से एक हूँ, ऐसा समझ लीजिए जो अपनी मूर्खता के कारण पहले कानून के विषय में बहुत सोचता था।

"हम आह भी करते हैं तो होते हैं बदनाम.. वे कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होती..."

मेरे बाह्य आवरण, परिचय एवं जीवन से अधिक गहरा और महत्वपूर्ण मेरा आंतरिक कार्य और जीवन है जिसे यह समाज नहीं जानता और उसकी बेहतरी इसी में है कि नहीं जाने। आज के परिप्रेक्ष्य में अधर्म का ही दूसरा नाम कानून है, और दुर्भाग्य से मैं अधर्म का, मतलब ऐसे अन्धकानून का पालन नहीं करता। मेरे जीवन में घटित घटनाओं और कार्यक्षेत्र से यह प्रेरणा मिलती है कि समाज और देशहित में स्वार्थपूर्ण कानून की परवाह किये बिना हम अपने विवेक

से स्वरक्षा एवं पररक्षा का प्रयत्न करें। आतंकियों के बचाव के लिए कानून आधी रात को अपना दरबार खोल देता है। दुर्दांत हत्यारों को आत्मसमर्पण का ढोंग करने और राजनीति में प्रवेश करके देश को और भी खोखला करने के बदले लाखों रुपयों का प्रोत्साहन मिलता है, अदालतों में सम्मान मिलता है। युद्ध में प्राण गंवाने वाले वीरों के माता पिता,बच्चे और पत्नियां किस हाल में हैं, इसकी कोई चिंता कानून नहीं करता। जिस दिन ये सब सुधरेगा, मैं भी सुधर जाऊंगा। सभी जानते हैं कि गरीबों के लिए लड़ते लड़ते नेताजी कैसे अमीर बन जाते हैं और गरीब तो गरीब ही बने रहते हैं, परन्तु किसी का साहस नहीं कि कुछ कह पाए।

आज कानून को सबसे अधिक वही तोड़ते हैं जिनके हाथ में उसके निर्माण का अधिकार है। हर अफसर, नेता, मंत्री का हर विभाग की हर योजना में अपना हिस्सा तय है। गरीबों तथा असहायों के अधिकार का मर्दन कैसे होता है, किसी से छिपा नहीं है। साधारण जनता के लिए बनाए जाने वाले घर, अस्पताल, विद्यालय, सड़क, पुल, इन सबों का जीवनकाल पांच वर्षों तक भी नहीं चल पाता। जो अधिकारी ईमानदारी से काम करते हैं उन्हें या तो मार दिया जाता है, या उन्हें स्थानांतरण और निलंबन मिलता है। किसके दामन में कितने दाग हैं ये सभी जानते हैं लेकिन कोई किसी को कुछ कहने का साहस नहीं कर पाता।

इसका एक ही कारण है, भय... लोगों के मन में भय है कि आवाज उठाई, तो मार दिए जाएंगे। वैसे तो मैं चाहता नहीं, परन्तु जिस दिन ये डर मैंने उत्पन्न करने की ठान ली, उस दिन से सभी कथित समाजवादियों एवं अहिंसावादियों की आवाज भी धीरे धीरे बन्द होने लगेगी क्योंकि फिर उनके अंदर भी मेरा भय होगा। लेकिन धर्म के आदेश के अनुसार शस्त्र समाज के नहीं, असामाजिकता के भय के लिए होना चाहिए अतः आपत्तिकर्ताओं को क्षमादान मिल रहा है। कैसे शराब की पार्टियों में अदालत के फैसले अमीरों के द्वारा खरीदे जाते हैं, लड़की और पैसों के दम पर न्यायमूर्ति का चयन होता है, सबों की रग रग से वाकिफ हूँ। अब मुर्दे चबाने वाले सफेदपोश डकैत हमें अपना पालतू कानून पढ़ाएंगे ? सम्मान अर्जित करना पड़ता है महोदय, अपने कर्म से, अपने धर्म से।

दुर्वासा, लोमश, नारद आदि का क्रोध सहस्राक्ष, उत्कच एवं नलकूबर-मणिग्रीव के उद्धार का ही कारण बन गया अतः उनका क्रोध ही कल्याणकारी ही होता है। संत मारते हैं, क्रोध को, अहंकार को और अज्ञान को। केवल स्वयं के ही नहीं, अपितु तुम्हारे भी। तुम वाणी से अपराध करो तो वाणी से मार्जित किये जाओगे, जैसे स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने विदग्ध शाकल्य का किया। तुम शरीर से अपराध करो तो शरीर से मार्जित किये जाओगे जैसे स्मृतिकार शंख ने अनुज लिखित का किया। तुम मन से अपराध करो तो मन से मार्जित किये जाओगे जैसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन का किया। तुम शास्त्र से अपराध करो तो शास्त्र से मार्जित किये जाओगे जैसे आद्यशंकर महाभाग ने मंडन मिश्र का किया। तुम शस्त्र से अपराध करो तो शस्त्र से मार्जित किये जाओगे जैसे परशुराम ने सहस्रार्जुन का किया।

तुम केवल अपराध का तरीका तय करने के अधिकारी हो, मार्जन की विधि तय करने के नहीं। अपराधी दण्ड निर्णय का अधिकारी नहीं होता। अपराधी तय नहीं करता कि न्यायाधीश को क्या और कितना दण्ड देना है। और यदि वह तय करने लगे, न्याय को नियंत्रित करने लगे तो समझ लेना कि अन्याय प्रबल है। न्याय का मूल्य चुकाने की क्षमता केवल सत्य में है, और सत्य का मूल्य केवल सत्य से ही परिभाषित होता है। तुम तय करो कि कैसे आतंक फैलाओगे.. लेकिन तुम्हारे मार्जन कि विधि हम तय करेंगे। संतत्व की परिभाषा में कायरता शब्द नहीं हैं, अकर्मण्यता शब्द नहीं है, असमर्थता शब्द भी नहीं है। संत को क्रोध नहीं करना चाहिए, शस्त्र नहीं चलाना चाहिए आदि परिभाषाओं के जनक अपराधी ही होते हैं परंतु न्याय एवं शासन के मापदंड अपराधियों के मस्तिष्क से नियंत्रित नहीं होते। हमारे लिए संतत्व की परिभाषा सभी प्राणियों के हित में है और हित कभी कभी काढ़ा पिलाकर भी किया जाता है, कभी कभी शल्यक्रिया करके भी और कभी कभी सीधे संक्रमित अंग से हीन करके भी। कहीं पढ़ा था कि.

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥
ब्राह्मणस्त्रिषुकालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति। आत्मत्राणे दस्युदोषे सर्वस्वहरणे तथा॥

जब द्विजातियोंका धर्म रोका जाय अथवा समयके प्रभावसे वर्ण विप्लव होने लगे, उस समय द्विजोंको भी शस्त्रग्रहण करना चाहिए। आत्मरक्षा,दुष्टों का शमन करने तथा सर्वस्व अर्थात सभी संपत्ति छिन जाते समय ब्राह्मण को शस्त्र ग्रहण करने में कोई दोष नहीं लगता। वशिष्ठ स्मृति में शिव जी का वचन है :-

गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे। गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया ॥

गौ (गाय, भूमि एवं राष्ट्र) , ब्राह्मण और समाज के वर्णाश्रम की रक्षा के लिए ब्राह्मण एवं वैश्य भी (जिनका नैसर्गिक कर्म शस्त्रधारण नहीं है) शस्त्र धारण करें। ऐसे ही आदेश महाभारत, सूत संहिता एवं स्मृतियों में भी प्राप्त होते हैं। अतः संत को, या ब्राह्मण को क्या करना है, क्या नहीं करना है, कब करना है आदि आदि की शिक्षा अब तुम जैसों से सीखने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुरुकृपा से इस संदर्भ में हम पहले से ही पर्याप्त सीख चुके हैं।

सभी जानते हैं कि इस कानून की बिकी चौखट के आगे कितने गरीबों ने न्याय की आशा में अपने घर और जमीनें बेच दीं लेकिन उन्हें कुछ न मिला सिवाय मौत और निराशा के। लेकिन लोगों को इस देश की सबसे बड़ी समस्या लगती है, मेरा शस्त्रधारण करना, क्योंकि किसी अन्य मामले को सुधारने या उस पर आपत्ति करने का साहस तो है नहीं !! तुम सत्य की खोज करते हो, मैं असत्य का विनाश.. तुम प्रकाश की खोज करते हो और मैं अंधकार का विनाश.. तुम शान्ति की खोज करते हो, मैं अशांति का विनाश.. कभी कभी नवनिर्माण के लिए पूर्व का विनाश आवश्यक होता है। यदि यही कानून है तो मुझे इसका भंजक होने पर गर्व है। मनुष्य कम्पित होता है भय से..। वर्तमान में तो कानून के कथित रक्षक स्वयं की ही रक्षा कर लें, और कानून उसमें सहायक सिद्ध हो जाये, यही बहुत है। कमज़ोर वक्त मज़बूत लोगों को जन्म देता है। मजबूत लोग अच्छे वक्त को जन्म देते हैं। अच्छा वक्त कमज़ोर लोगों को जन्म देता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

कमज़ोर लोग बुरे वक्त को जन्म देते हैं और बुरा वक्त मज़बूत लोगों को जन्म देता है। यह राष्ट्रद्रोह नहीं, सत्ताद्रोह है, व्यवस्थाद्रोह है क्योंकि सत्ता और व्यवस्था राष्ट्रद्रोही हैं..एक बार निष्पक्षता से कानून का पर्दा हटाकर अपने चारों ओर दृष्टि डालें, कल से मेरे बगल में आप भी स्वयं शस्त्रधारण किये खड़े मिलेंगे, यदि वास्तव में सत्य के समर्थक होंगे। लोग कहते हैं कि इसके लिए पुलिस है न, अदालत है न ? यही तो मैं कह रहा हूँ कि ये बात उन्हें जाकर समझाओ कि वे क्यों बने हैं ? उनका क्या कर्तव्य है ? वे भूल रहे हैं, लेकिन हमारी याद्दाश्त उनसे बेहतर है, हम नहीं भूले हैं अपना कर्तव्य। बेहतर है कि कानून और उसके ठेकेदार उनकी चिंता करें, उनपर आपत्ति करें जिनसे समाज को खतरा है बजाय हम जैसों की, जिनको समाज से खतरा है…

--*

गंगावतरण का रहस्य

देवी गङ्गा का माहात्म्य विश्व से छिपा नहीं है। अपने आधिभौतिक प्रारूप में धरा को सुधामय जल से आप्लावित करने वाली, आधिदैविक रूप में एक अंश से वैकुंठ में श्रीविष्णु के साथ, एवं दूसरे अंश से कैलास पर शिवजी के साथ विहार करने करने वाली, एवं आध्यात्मिक रूप में देवताओं के लिए भी दुर्लभ मोक्ष को देने वाली मूलप्रकृति स्वरूपा गङ्गादेवी के सानिध्य का लाभ लेने के लिए बड़े बड़े ऋषि महर्षि एवं देव, दैत्य, नाग, किन्नर, यक्ष, असुर आदि सभी लालायित रहते हैं। महाभागवत के अनुसार निम्न पांचों को मूलप्रकृति की पराविद्या का पंचधा रूप बताया गया है - गङ्गा दुर्गा च सावित्री लक्ष्मीश्चैव सरस्वती। सा सीता मूलप्रकृतिः, इस औपनिषदिक वेदवाक्य से सीताजी भी मूलप्रकृति हैं और तन्त्रान्तर में राधारानी भी मूलप्रकृति ही बताई गई हैं। पाराशर महेशानन्द सिरमौर ने कुछ वर्ष पूर्व पूछा था कि जब हरिश्चंद्र के बाद कई पीढ़ियों के अंतराल पर आने वाले महामना भगीरथ जी के माध्यम से पृथ्वी पर गंगावतरण हुआ था तो हरिश्चंद्र जी स्वयं काशी पुरी में गंगा किनारे चाण्डाल वीरबाहु की नौकरी कैसे करते थे ? यह तो समझा जा सकता है कि जिस घाट पर वे नौकरी करते थे, उसका नाम “हरिश्चंद्र घाट” बाद में पड़ा, हालांकि घाट पहले से ही था। किंतु गंगाजी वहां कैसे आयीं ? जब महाराज हरिश्चंद्र सत्य की परीक्षा दे रहे थे और स्वयं को सपरिवार बेचने के लिए काशी पहुंचे तो उन्होंने निम्न कृत्य किया –

ततो भागीरथीं प्राप्य स्नात्वा देवादितर्पणम्। देवार्चनं च निर्वर्त्य कृतवान् दिग्विलोकनम्॥
प्रविष्य वसुधापालो दिव्यां वाराणसीं पुरीम्। नैषा मनुष्यभुक्तेति शूलपाणेः परिग्रहः॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०७, अध्याय – २०, श्लोक – १५-१६)

गङ्गा जी में स्नान करके देवताओं का तर्पण किया। देवताओं का पूजन करके निर्वृत्त होकर वे चारों ओर देखने लगे। उस दिव्य वाराणसी पुरी में प्रवेश करके पृथ्वीपति (हरिश्चंद्र) ने यह सोचा कि यह मनुष्यों के उपभोग की नगरी नहीं है, क्योंकि इस पुरी पर शिव जी का अधिकार है। (वाराणसी में जाकर लौकिक कृत्य नहीं करने चाहिए, वह मोक्षदा पुरी है, इसीलिए वहां धर्मकर्तव्य ही उचित है) इसका उत्तर यह है कि गंगा जी केवल एक ही बात पृथ्वी पर आई हैं, ऐसा नहीं है। भगीरथ जी जब गङ्गादेवी से पृथ्वी पर आने की प्रार्थना कर रहे थे तो ब्रह्माजी के दिव्य कमण्डलु में तात्विक रूप से निवास करने वाली देवी गंगा ने शिव जी से कहा था –

याहं शैलसुता त्यक्त्वा धरां स्वर्गं गता सुरैः। साहं कथं भविष्यामि पातालतलगामिनी॥
(बृहद्धर्म पुराण, मध्यखण्ड, अध्याय – ४९, श्लोक – ६२)

जो शैलपुत्री मैं, पृथ्वी को छोड़कर देवताओं के साथ वापस स्वर्ग में जा चुकी थी, वही अब कैसे पाताल को जाऊंगी ? (पृथ्वी के बाद उन्हें पाताल भी जाना था, अतएव स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल में गति होने से उन्हें त्रिपथगा भी कहते हैं)

गंगावतरण के कई कारण हैं, जिनमें दो प्रधान कारणों का मैं उल्लेख कर रहा हूँ। सबसे पहले जब गंगावतरण हुआ था तो उस तीर्थ का नाम ही गंगावतरण पड़ गया। हिमालयस्थ, इस तीर्थ का नाम कालिका पुराण में अनेकों बार सांकेतिक रूप से आया है। जब पहले पृथ्वी पर गङ्गादेवी विद्यमान थीं तो ब्रह्मदेव ने उन्हें हिमालय से मांगकर स्वर्ग ले जाने की इच्छा की। अपने पिता हिमालय की सम्मति से गङ्गादेवी ने पृथ्वी को छोड़कर स्वर्ग जाने का निर्णय किया, इसके बाद गङ्गा पृथ्वी पर विलुप्त हो गयी थीं। गङ्गादेवी ने पिता हिमालय से तो अनुमति ली थी, किन्तु माता मेना से बिना मिले, बिना कुछ कहे चली गयी थीं, अतएव -

ततः स्वतनयां रोषाच्छशाप गिरिगेहिनी। असम्भाष्य गतां स्वर्गं गङ्गां प्राणसमामपि ॥
मातरं मामसम्भाष्य गता यस्मात्त्रिविष्टपम्। ततो द्रवमयी भूत्वा पुनरेहि धरातलम् ॥
(महाभागवत उपपुराण, अध्याय – १४, श्लोक – ०७-०८)

हिमालय की पत्नी मेना ने अपने प्राणों से भी अधिक प्रिया पुत्री को क्रोध में आकर यह श्राप दिया कि मुझसे बात किये बिना ही तुम स्वर्ग चली गयी, अतः जलरूप से पुनः इस पृथ्वी पर आओगी। जब हिमालय और मेना, मूलप्रकृति को पुत्री रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रहे थे, तो देवी ने कहा कि मैं अपने दो अंश, गङ्गा एवं गौरी के रूप में तुम्हारी पुत्री बनूंगी। उस समय (स्कन्दपुराण आदि के अनुसार) वैशाख शुक्ल सप्तमी को गङ्गादेवी ने सगुणाकृति धारण किया। इसी दिन उन्होंने शिव जी की जटा में भी प्रवेश किया और पृथ्वी को भी धन्य किया। इसके बाद ब्रह्मदेव की याचना पर वे पृथ्वी को छोड़कर स्वर्गलोक चली गयी थीं। भगीरथ महाराज की प्रार्थना पर वे गङ्गा दशहरा (ज्येष्ठ शुक्ल दशमी) को शिवजटा के माध्यम से पृथ्वी पर पुनः आईं।

हरिश्चंद्र महाराज के समय गङ्गादेवी इस पृथ्वी पर पहले से ही थीं। उसके बाद विलुप्त हो गयीं, ऐसा समझना चाहिए। हरिश्चंद्र एवं भगीरथ के कालमध्य कई लाख वर्षों का अंतर था। स्वयं सगर के जिन पुत्रों के उद्धार के निमित्त गङ्गादेवी को लाने की बात थी, उन महाराज सगर एवं भगीरथ के मध्य भी पांच लाख से अधिक वर्षों का अंतर हो गया था। अतः इतने दिनों में गङ्गादेवी का जलरूपी विग्रह विलुप्त होना असामान्य नहीं है। गङ्गादेवी के भौतिक जलरूपी विग्रह के सम्बन्ध में तीन अलग अलग घटनाओं का कारण है। सबसे पहले तो वामनावतार की घटना है, जब लोकव्यापी वामन भगवान् के श्रीचरणों से ब्रह्माण्डकटाह किञ्चित् विदीर्ण हुआ एवं बाहर के एकार्णव का दिव्य जल उनके चरणों को धोने लगा। उस अलौकिक जल को ब्रह्मा जी ने देवदुर्लभ जानकर अपने कमण्डलु में रख लिया, इसीलिए देवी गङ्गा को विष्णुपादाब्जसम्भूता भी कहते हैं। यह घटना श्रीमद्भागवत आदि में वर्णित है। दूसरी घटना तब की है जब देवताओं का वैकुण्ठ में एक बहुत बड़ा अधिवेशन हुआ था। वहां देवी सरस्वती ने अत्यंत मधुर गायन किया जिससे प्रसन्न होकर देवताओं ने नाना प्रकार के उपहारों के द्वारा उनका सम्मान किया। इसके बाद भगवान् विष्णु के अनुरोध पर भगवान् शिव ने गायन प्रारम्भ किया। महादेव के गायन से देवताओं को इतना अधिक आनन्द हुआ कि वे मूर्छित से हो गए। स्वयं लीलारसेन्द्र भगवान् नारायण का विग्रह भी द्रवित होने लगा और वे जलरूपी बन गए जिससे वैकुण्ठ भर गया।

जलरूपी नारायण का स्पर्श होने पर देवताओं को होश आया और ब्रह्मदेव ने उस वैष्णव जल को अलौकिक एवं परम पवित्र जानकर कमण्डलु में भर लिया जो बाद में गङ्गादेवी के नाम से विख्यात हुआ। यह कथा महाभागवत आदि में पढ़ी जा सकती है। तीसरी कथा का प्रसङ्ग गोलोक का है। श्रीकृष्ण एवं राधारानी दिव्य सभावृत्त में विराजमान थे। सभी सखियों के साथ गङ्गादेवी भी वहीं थीं। भगवान् श्रीकृष्ण की सुन्दरता पर आकृष्ट होकर देवी गङ्गा ने उन्हें देखकर किञ्चित् लज्जित होते हुए मुस्कुरा दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनकी भावना का सम्मान मुस्कुरा कर किया। इस घटना को देखकर राधारानी भगवान् के प्रति अत्यंत प्रेम और असुरक्षा की भावना से चिन्तित हो गयी और उन्होंने भगवान् को प्रणयकोप में कठोर वाणी कही। राधा जी के क्रोध से गङ्गादेवी खिन्न हो गयीं एवं ....

गङ्गा रहस्यं विज्ञाय योगेन सिद्धयोगिनी। तिरोभूय सभामध्ये स्वजलं प्रविवेश सा॥
राधा योगेन विज्ञाय सर्वत्रावस्थितां च ताम्। पानं कर्तुं समारेभे गण्डूषासिद्धयोगिनी॥
गङ्गा रहस्यं विज्ञाय योगेन सिद्धयोगिनी। श्रीकृष्णचरणाम्भोजे विवेश शरणं ययौ॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०९, अध्याय – १३, श्लोक – ८०-८२)

क्रोध के रहस्य को जानकर सिद्धयोग वाली गङ्गा सभामध्य में ही योगबल से जल में प्रवेश कर गयीं। राधा ने भी योगबल से सर्वजलव्यापिनी गङ्गा को देखा और अंजुली में उस जल को भर कर गङ्गादेवी को तिरोहित करने की भावना से उसका पान करने लगीं। इस रहस्य को जानकर सिद्धयोगिनी गङ्गादेवी योगबल से श्रीकृष्ण के चरणों में प्रवेश कर गयीं। बाद में गङ्गा को ब्रह्मा जी ने वहां से प्राप्त करके अपने कमण्डलु में सुरक्षित कर लिया था। यह कथा श्रीमद्देवीभागवत आदि में देखी जा सकती है। गङ्गादेवी के पुनः जलरूप से धरती में आने का माता मेना के श्राप कारण का उल्लेख मैं कर चुका हूँ। अब दूसरा कारण बताता हूँ। वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु की पत्नी, लक्ष्मीदेवी, गङ्गादेवी एवं देवी सरस्वती थीं। (देवी सरस्वती एक अंश से ब्रह्मा और दूसरे अंश से विष्णुपत्नी हैं। ऐसे ही गङ्गादेवी भी एक अंश से विष्णुपत्नी एवं दूसरे अंश से शिवपत्नी हैं) उस समय भी भगवान् विष्णु को देखकर गङ्गादेवी ने प्रेमवश मुस्कुरा दिया, जिसकी प्रतिक्रिया में भगवान् भी मुस्कुराने लगे। इस घटना को देवी लक्ष्मी एवं सरस्वती ने भी देखा। देवी लक्ष्मी को तो यह बात सामान्य ही लगी किन्तु सरस्वती को अपने उपेक्षित होने का भाव लगने लगा। भगवान् के जाने के बाद उन्होंने गङ्गादेवी के प्रति किञ्चित् कठोर वचन कहे और देवी लक्ष्मी को गङ्गा का समर्थन करने के कारण श्राप दिया –

शशाप वाणी तां पद्मां महाबलवती सती। वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०९, अध्याय – ०६, श्लोक – ३२)

महाबलशालिनी पतिव्रता वाग्देवी सरस्वती ने देवी लक्ष्मी को श्राप दिया कि तुम वृक्ष एवं नदी बन जाओगी, इसमें संशय नहीं है। अब लक्ष्मी की तो कोई गलती थी ही नहीं, फिर भी मेरा पक्ष लेने के कारण इन्हें श्राप मिल गया, ऐसा देखकर गङ्गादेवी क्रुद्ध हो गईं। उन्होंने देवी सरस्वती को श्राप दिया।

जानन्तु सर्वे ह्युभयोः प्रभावं विक्रमं सति। इत्येवमुक्त्वा सा देवी वाण्यै शापं ददाविति॥
सरित्स्वरूपा भवतु सा या त्वां च शशाप ह। अधोमर्त्यं सा प्रयातु सन्ति यत्रैव पापिनः॥
कलौ तेषां च पापानि ग्रहीष्यति न संशयः। इत्येवं वचनं श्रुत्वा तां शशाप सरस्वती॥
त्वमेव यास्यसि महीं पापिपापं लभिष्यसि। एतस्मिन्नन्तरे तत्र भगवानाजगाम ह॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०९, अध्याय – ०६, श्लोक – ३९-४२)

गङ्गादेवी ने कहा – हम दोनों के प्रभाव को आज संसार देख ही ले। यह सरस्वती भी मेरे श्राप से नदी के रूप में परिणत हो जाये। यह नीचे पापियों से भरे मर्त्यलोक में जाकर कलियुग में पापियों के पाप को ग्रहण करेगी, इसमें संशय नहीं है। गङ्गादेवी के वचनों को सुनकर सरस्वती ने उन्हें भी श्राप दिया और कहा कि तुम भी धरती पर जाकर पापियों के पाप को ग्रहण करोगी। ये घटना घटित हो ही रही थी कि वहां श्रीविष्णु आ गए। उन्होंने सारी बात समझकर निम्न निर्णय दिया –
१) देवी लक्ष्मी भूलोक में पद्मावती नदी एवं तुलसी वृक्ष बन जाएं।
२) देवी सरस्वती एवं गङ्गा दोनों भी नदियां बनेंगीं। श्राप से मुक्त होने और सरस्वती अपने पूर्ण अंश से ब्रह्मलोक चली जाएं और ब्रह्मदेव की शक्ति बनकर रहें। (सांकेतिक रूप से गङ्गा को भी कैलास जाने का निर्णय हुआ)
३) गङ्गादेवी मेरे (विष्णु) के अंश से उद्भूत समुद्र की पत्नी बनें और उसी समुद्र के अंश से (उत्पन्न महाभिष जब) शान्तनु का अवतार होगा तो उनकी भी पत्नी बनेंगी।

इस पूरे प्रकरण में देवी लक्ष्मी ने असीम सहनशीलता तथा सत्वोचित धैर्य का व्यवहार किया अतः वे भगवान् विष्णु की विशेष प्रिया हुईं, साथ ही उनका वैकुण्ठ में नित्य वास हुआ। एक बार गङ्गादेवी और राजा महाभिष ब्रह्मलोक के देवसम्मेलन में गए हुए थे। वहां मन्द सुगंधित वायु ने उनके वस्त्रों को किञ्चित् अनावृत्त कर दिया। देवगणों ने, गङ्गादेवी अपने वस्त्र व्यवस्थित कर लें, इस कामना ने अपनी आंखें एवं मस्तक सभ्यता के कारण झुका लिए किन्तु महाराज महाभिष गङ्गादेवी को देखते ही रहे। गङ्गादेवी भी उनके भाव को जानकर उन्हें देखती रह गयीं। इस बात से ब्रह्मदेव कुपित हो गए उन्होंने कहा –

ब्रह्मा चुकोप तौ तूर्णं शशाप च रुषान्वितः। मर्त्यलोकेषु भूपाल जन्म प्राप्य पुनर्दिवम्॥
पुण्येन महताविष्टस्त्वमवाप्स्यसि सर्वथा। गङ्गां तथोक्तवान्ब्रह्मा वीक्ष्य प्रेमवतीं नृपे॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०२, अध्याय – ०३, श्लोक – २१-२२)

हे राजन् ! तुम मर्त्यलोक में जाकर पुनः जन्म लो। वहां अत्यंत अधिक पुण्य को अर्जित करके पुनः दिव्यलोक में आ पाओगे। गङ्गादेवी भी वहां जाकर रहें, क्योंकि उनका मन तुमपर आसक्त है। इस घटना के बाद सभा विसर्जित हो गयी और महाभिष ने पुरुवंश में शान्तनु के रूप में जन्म लिया और गङ्गादेवी से उनका विवाह हुआ जिसके आठवें पुत्र के रूप

में द्यौ नामक वसु ने वशिष्ठश्राप से देवव्रत भीष्म का अवतार लिया। उपर्युक्त घटनाओं से देवताओं ने शिक्षा दी है कि काम, क्रोध, और लोभ आदि से देवताओं का भी पतन हो जाता है। वाग्देवी सरस्वती ने लक्ष्मी के प्रति क्रोध, गङ्गादेवी ने महाभिष के प्रति काम और द्यौ वसु ने लोभवश वसिष्ठ जी की गाय चुराने का कृत्य करके श्राप के दण्ड को भोगा। जब काम, क्रोध और लोभ के कारण सर्वसमर्थ देवताओं का भी पतन हो सकता है तो मनुष्यों को तो विशेष सतर्क रहना चाहिए। इन दिव्य लीलाओं से यह भी शिक्षा मिलती है कि यदि देवताओं का भी कृत्य धर्मविरुद्ध हो जाए तो उन्हें भी इसका फल अवश्य भोगना पड़ता है, धर्म के शासन से देवता भी परे नहीं हैं, अतः मनुष्यों को तो विशेषकर धर्म के पालन में दृढ़ रहना चाहिए। गङ्गादेवी के दर्शन, स्नान, आचमन एवं नामस्मरण से भी विशाल पापराशियों का नाश होता है, ऐसा अनेकों प्रकार से कई प्रसङ्गों के उदाहरण के द्वारा वेद, तन्त्र एवं पुराणों में सिद्ध किया गया है, साथ ही उनके दिव्य माहात्म्य से सनातनी समाज अपरिचित नहीं है, अतएव मैं उस विषय में अधिक लेखन नहीं कर रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता - क्या गङ्गादेवी का मोक्षदायिनी होना, उनमें स्नान आदि करने से पापमुक्त होना, कर्मफल के उस सिद्धांत का खण्डन नहीं है जो कहता है किअवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्, शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है ?

इसका उत्तर ऐसे समझें – सभी शुभ और अशुभ कर्म तीनों गुणों से ही प्रभावित होते हैं और विकार एवं गुण प्रकृतिजन्य है, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है। गङ्गादेवी मूलप्रकृति होने से सभी गुणों के आधार पर कृत कर्मों को अपने तेज से सन्तुलित कर देती हैं। साथ ही पापनाशकों में सर्वोत्तम भगवान् विष्णु एवं भगवान् शिव के प्रत्यक्ष संसर्ग में होने से गङ्गादेवी का माहात्म्य और भी देदीप्यमान एवं अद्भुत हो जाता है। यदि व्यक्ति गङ्गादेवी का स्नान, आचमन या स्मरणमात्र से भी सेवन करे तो उसका कल्याण असन्दिग्ध है, ऐसा ऋषिप्रणीत ग्रंथों के अनुसार मेरा मत है। हां, इसमें एक बात यह है कि गङ्गादेवी का आश्रय ग्रहण करने वाला व्यक्ति श्रद्धा से युक्त हो। यदि श्रद्धा न भी हो तो चलेगा, किन्तु अश्रद्धालु न हो। जैसे गङ्गादेवी के माहात्म्य को न जानने वाले पशु, पक्षी, अज्ञानियों में श्रद्धा तो नहीं होती, पर अश्रद्धा भी नहीं होती, एक प्रकार से आप मासूमियत कह लीजिए। ऐसे में भी गङ्गादेवी कल्याण करती ही हैं। यदि माहात्म्य को जानते हुए, श्रद्धायुक्त होकर गङ्गा की शरण ग्रहण करें तब तो कल्याण में कोई सन्देह ही नहीं है। किन्तु अश्रद्धा से युक्त होकर, अथवा गङ्गादेवी तो मेरा कल्याण कर ही देंगी, ऐसा समझ कर उनके नाम और प्रभाव का दुरुपयोग करते हुए धूर्ततापूर्वक पाप करते रहने से गङ्गादेवी कल्याण नहीं करती है, ऊपर से क्रुद्ध ही होती हैं क्योंकि तीर्थ के नाम पर, अथवा उनकी अवहेलना करके वहां किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है जिससे भगवान् भी नहीं बचाते हैं। गङ्गादेवी (साथ ही अन्य तीर्थ, नदी, देवालय आदि) के प्रति हमसे कोई अपराध न हो, हम इन्हें विकृत एवं प्रदूषित न करें, हम इनके प्रति श्रद्धा से रहित न हो जाएं इसका विशेष ध्यान रखना अत्यावश्यक है। जैसे अग्नि के संसर्ग से सर्दी, सूर्य के संसर्ग से अन्धकार और शास्त्रसिद्ध सद्गुरु के संसर्ग से अज्ञान का नाश हो जाता है, वैसे ही गङ्गादेवी के संसर्ग से अपार पापराशियों का भी नाश हो जाता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए।

--*

मोक्ष क्या है एवं इसकी प्राप्ति कैसे हो ?

देवमणि मिश्र :- मनुष्य के अलावा अन्य प्राणी मोक्ष की इच्छा करते हैं अथवा नहीं, एवं वे मोक्ष के अधिकारी है या नहीं, कृपया शास्त्रीय मार्गदर्शन दें। मनुष्य के अलावा अन्य प्राणी किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- मनुष्य मोक्ष की इच्छा करता है भला ? जो मोक्ष की इच्छा करता है, वह उसके लिए प्रयासरत भी रहता है। आपको कितने दिख रहे हैं, प्रयासरत ? साधारण सा मनुष्य थोड़ा ज्ञान और धन पा जाने से मोहित हो जाता है, फिर बड़े ऐश्वर्य वाले देवता कितते मोहित रहते होंगे ? मोक्ष की इच्छा विवेकी ही करता है। और यदि वह विवेक पशु में है (पूर्वजन्म की स्मृति होने से) तो वह भी मोक्ष चाहेगा। मनुष्य में है, तो वह भी चाहेगा और देवताओं में हो तो वे भी चाहेंगे। विवेक इस संसार का सबसे दुर्लभ तत्व है। विवेक को प्राप्त करने के लिए अत्यंत दिव्य पुण्य बल की आवश्यकता है। सबसे पहले तो हम समझते हैं कि मोक्ष है क्या, आखिर हमें मोक्ष की आवश्यकता क्यों है अथवा मोक्ष के ना मिलने से हानि क्या है ! जीव, ब्रह्म का वह प्रारूप है जिसमें वह माया के आवरण के अंदर है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, दोनों ही एक ही चेतन की अलग-अलग स्थितियों के नाम हैं किंतु माया की उपस्थिति यदि चेतन के ऊपर हो तो वह जीव है, और यदि चेतन के अंदर उसके अधिकार के अंतर्गत हो तो वह ब्रह्म है।
पाशबद्धस्सदा जीवः पाशमुक्तस्सदा शिवः॥

माया के इसी आवरण को हटाकर बाहर स्थित माया को अपने अंदर समाहित करके उसके त्रिगुणात्मक विक्षेप से स्वयं को मुक्त करके अपने मूल स्वरूप का प्रकाशन करना ही मोक्ष है। यह शरीर के साथ भी हो सकता है और शरीर के बिना भी। शरीर के साथ होने पर उसकी संज्ञा जीवन्मुक्त हो जाती है। जन्म मरण के चक्र से छूटकर शुभाशुभ कर्मों के बंधन से स्थायी निवृत्ति प्राप्त करके अपने चिन्मय स्वरूप का प्रकाशन ही मोक्ष है। यह भी विचारणीय है कि इसके कई प्रकार हैं। जिसमें दो मुख्य हैं एक क्रम मुक्ति और दूसरी सद्यः मुक्ति।

क्रम मुक्ति में जीव मोक्ष मार्ग की ओर धीरे-धीरे एवं कई पड़ाव के बाद बढ़ता है, जबकि सद्यः मुक्ति में उसे तत्काल ही बंधनों से मुक्ति मिलती है। अब हम यह जानते हैं कि सद्यः मुक्ति को कैवल्य भी कहा गया है और क्रम मुक्ति में सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य — पाँच प्रकार की मुक्ति होती हैं। 'सालोक्य' मुक्ति में भगवान् का लोक प्राप्त होता है। भगवान् के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति का नाम 'सार्ष्टि' है। भगवान् की निकटता की प्राप्ति का नाम 'सामीप्य' है। भगवान् जैसे रूप की प्राप्ति को 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं। भगवान् से एकाकार हो जाना 'सायुज्य' मुक्ति है। सगुण साकार में एकाकार हुए तो सायुज्य है, निर्गुण निराकार में लीन हुए तो कैवल्य या निर्वाण है। अब हम या देखते हैं कि मुक्ति की प्राप्ति के माध्यम क्या क्या हैं। सबसे पहले तो पुण्य या पाप से मुक्ति नहीं मिलती। पुण्य और पाप दोनों ही कर्म बंधन में बांधने वाले हैं, दोनों का अभाव ही मोक्ष है। इसके लिए आवश्यक है कि पुण्य अथवा पाप

के प्रति आसक्ति रखे बिना प्राकृतिक रूप से कर्म करते चलना है। जिस प्रकार से नदी के प्रवाह में पड़े हुए पत्ते की कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती अपितु वह जल के प्रवाह के ही समान गतिशील होता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी स्वतंत्र शुभाशुभ इच्छाओं का परित्याग करके यदि केवल कर्तव्य कर्मों के प्रति आचरण करे, तो उसके कर्म बंधन का धीरे-धीरे स्वतः लोप हो जाता है और यही क्रम मुक्ति का प्रथम सोपान है।

पुण्य से सुख की प्राप्ति होती है, तथा पाप से दु:ख की प्राप्ति होती है किंतु मोक्ष दोनों से नहीं मिलता। मोक्ष के लिए सुख के प्रति आसक्ति और दु:ख के प्रति द्वेष का परित्याग करना पड़ता है। यह विचारणीय है कि मनुष्य जीवन मोक्ष प्राप्ति का सर्वाधिक उत्कृष्ट माध्यम है क्योंकि शरीर के इस प्रारूप में अनन्त चिन्तन-मनन एवं साधना की संभावना है. देवताओं का शरीर मोक्ष के लिए इसीलिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह ऐश्वर्य तथा सिद्धियों के बन्धन में, अहंकार अथवा मोहजन्य शक्तियों एवं विषयों के प्रभाव में रहता है। पशुओं का शरीर भी अत्यधिक तमोगुणी होने से अध्यात्म चिंतन के लिए उपयुक्त नहीं है, तो मनुष्य शरीर की विलक्षणता ही इसे मोक्ष के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बनाती है हालांकि इसका अर्थ यह नहीं कि पशु अथवा देवता मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। हम यह भी नहीं कह सकते कि सभी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर ही लेंगे।

यहां पर यह ध्यान देने की बात है कि मोक्ष (अर्थात् यह क्रम मुक्ति की बात है) उस स्थिति में क्रम मुक्ति को प्राप्त करने में पुण्य बल कुछ सहायक अवश्य सिद्ध होता है जैसे भगवान् के नाम के संकीर्तन से, उचित पात्र को दिए गए दान से, किसी के प्रति द्वेष का परित्याग करके किए गए सदाचरण से, तथा अपने कर्तव्य कर्मों के पालन से उत्पन्न पुण्य मुक्ति की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। हालांकि पुण्य भी एक प्रकार के बंधन का निर्माण करता है, किंतु वह बंधन सालोक्य अथवा सायुज्य मुक्ति के प्रारूप में भगवान् से संबंधित होने से कल्याणकारी ही है। कैवल्य/निर्वाण की प्राप्ति पुण्य और पाप के अभाव से ही संभव है। यही कारण है की जय-विजय जैसे सालोक्य एवं सामीप्य मुक्ति प्राप्त पार्षद भी भगवान् की माया से मोहित होकर संत जनों के अपमान के फलस्वरूप 3 जन्मों तक राक्षस बन कर पुनर्जन्म के चक्र में भटकते रहे। यद्यपि क्रम मुक्ति का अधिकारी बनने के बाद भगवान् स्वयं उस जीव का भार वहन करते हैं एवं किसी परिस्थिति में उसके पतन की संभावना होने पर स्वयं हस्तक्षेप करके उसकी रक्षा करते हैं।

तीर्थ, संत, यज्ञ इत्यादि के प्रभाव से पशु और देवता भी क्रम मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं यदि हम भगवान् के नाम का कीर्तन करके अथवा कोई शुभ तिथि में योग्य पात्र को दान देकर उस पुण्य का पुनः दान किसी पशु के लिए करते हैं तो वह संस्कार उस पशु के प्रारब्ध के साथ जुड़कर उसे क्रम मुक्ति की ओर प्रेरित करता है। कुछ परिस्थितियों में वह पशु सीधे भगवान् के लोक को प्राप्त करता है और कुछ परिस्थितियों में अगले जन्म में मनुष्य बनकर पुनः विधिपूर्वक तपोबल, ज्ञानबल, तथा भक्तिबल से मोक्ष का अधिकारी होता है। पशु स्वतंत्र रूप से कर्म करके अथवा कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। हां, उसके किसी पूर्व कृत कर्म के फलस्वरूप यदि गंगा, सरयू, नर्मदा, पुष्कर, वाराणसी, कामाख्या, प्रयाग, अयोध्या, वृंदावन आदि तीर्थों का संसर्ग प्राप्त हो जाए तो उस दैवीय उर्जा के फलस्वरूप

क्रम मुक्ति के लिए नामांकित हो जाता है, यही बात शेष मनुष्य तथा देवताओं के लिए भी समझना चाहिए।

मोक्ष देने में सभी देवता अधिकृत नहीं हैं। ब्रह्म के सृजक स्वरूप की प्रधानता धारण करने वाले भगवान्न् सूर्य, पालक स्वरूप की प्रधानता धारण करने वाले भगवान् विष्णु, संहारक स्वरूप की प्रधानता धारण करने वाले भगवान् शिव, अनुग्रह स्वरूप की प्रधानता धारण करने वाले भगवान् गणेश, निग्रह स्वरूप की प्रधानता धारण करने वाली भगवती दुर्गा तथा कुछ के मत से भगवान् कार्तिकेय भी मोक्ष देने में समर्थ हैं। यहां ध्यातव्य है कि इन ब्रह्मात्मक देवों के अवतार जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, देवी काली, देवी पार्वती आदि भी मोक्ष देने में सर्वथा समर्थ हैं। इनके अतिरिक्त जो देव स्वयं कर्मबंधन में लिप्त हैं वे मोक्ष देने में समर्थ नहीं हैं। यहां तक ब्रह्मा जी को भी मोक्ष देने में समर्थ नहीं बताया गया है। हां, उन्हीं के दूसरे प्रारूप भगवान् सूर्य को मोक्षदायी बताया गया है। सद्यः मुक्ति केवल ब्रह्म ज्ञान से संभव है। इसीलिए कहा गया है :- ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः एवं ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा।

किंतु क्रम-मुक्ति तीव्रभक्ति, सभी प्राणियों के प्रति कृपा तथा अपने उपर्युक्त मोक्षदायी इष्ट के प्रति अनन्यता से संभव है। पशु आदि की योनि में बंधा जीव अपने स्वतंत्र प्रयत्न से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता किंतु किसी और के दिए गए पुण्य बल से तथा तीर्थ आदि के संसर्ग से प्राप्त ऊर्जा के माध्यम से अपने पूर्वकृत अशुभ प्रारब्ध का नाश करके क्रम मुक्ति का अधिकारी बनता है। उदाहरण हेतु जिस प्रकार जैसे आपको दिल्ली से प्रयाग जाना है। आपके पास अपना वाहन है, सारे संसाधन हैं, आपको मार्ग का एवं लक्ष्य का बोध भी है, तो आप प्रयाग पहुंचने के योग्य अधिकारी हैं। मनुष्य शरीर, जिस में रहने वाला जीव अपने मूल स्वभाव के प्रति, ब्रह्म की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील है, विवेक संयुक्त है, उसकी स्थिति ऐसी ही है, किंतु जैसे सभी मनुष्य मोक्ष के महत्व को नहीं जानते और अज्ञान के कारण मोक्ष की इच्छा भी नहीं करते क्योंकि उन्हें उसके विषय में पता ही नहीं है, उसी प्रकार सभी पशु देवता भी मोक्ष की इच्छा नहीं करते। उनका चित्त माया के बंधन के कारण भ्रमित होता रहता है।

अब हम दूसरी स्थिति की बात करते हैं। आप अपने वाहन से प्रयाग जा रहे हैं। मार्ग में कोई दूसरा व्यक्ति आपको मिला, उसे भी प्रयाग जाना है, किंतु उसके पास संसाधन नहीं है, तो आप कृपा करके उसे अपने वाहन में स्थान देकर साथ ही प्रयाग ले जाते हैं। यह स्थिति उन लोगों के साथ लागू होती है जो मोक्ष के महत्व को जानते तो हैं, किंतु उसकी विधि नहीं जानते, फिर विज्ञानी महात्माओं की शरण ग्रहण करते हैं और उनके संसर्ग से क्रम मुक्ति को प्राप्त करते हैं। हम तीसरी स्थिति की बात करते हैं। किसी व्यक्ति को प्रयाग जाना तो है किंतु उसे मार्ग का भी ज्ञान नहीं, और संसाधन भी नहीं तथा स्वयं भी बीमार होने के कारण वहां नहीं जा सकता। तब कोई कृपा करके एंबुलेंस की व्यवस्था करके उसे वहां तक पहुंचाता है। यही स्थिति पशुओं की है। वे उस कष्ट से मुक्ति तो चाहते हैं, किंतु मुक्ति अथवा उसकी विधि का कोई बोध नहीं होता। तब कोई दयालु उनपर कृपा करके अपने किए गए सत्कर्म का पुण्यफल उन्हें प्रदान करके सत्वजन्य बलपूर्वक क्रम मुक्ति की ओर अग्रसर करता है।

मनुष्य जीवन मोक्ष के लिए ही मिला है, इसका कोई और उपयोग समुचित नहीं। यदि मनुष्य जीवन मिलने के बाद, साथ ही सनातनी समाज का अंग बनने के बाद पुनर्जन्म होना, अथवा कम से कम मनुष्य जीवन की अपेक्षा कोई और निकृष्ट योनि की प्राप्ति होना इस जीवन की विफलता ही मानी जाएगी। मोक्ष में सभी अधिकारी हैं। ऐसा नहीं है कि पशु को या देवता को या किसी समाज विशेष को मुख्य से वंचित रखा गया है, किंतु मोक्ष प्राप्ति की विधि एवं काल सबके लिए भिन्न-भिन्न है क्योंकि सबके प्रारब्ध और पूर्व कृत कर्म के संस्कार भिन्न भिन्न है। जो जहां जैसे फंसा है, जितना फंसा है, उसी आधार पर न मुक्त होगा। मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील लोगों को चाहिए कि मुक्त महापुरुषों के उपदेशों का नित्य मनन और आचरण करें। उनके चरित्र की नकल न करें। नकल करने से बड़ी समस्या में फंसने की बात हो जाती है। सन्तों का प्रारब्ध, उनकी दृष्टि, उनका भाव और उस भाव का संकेत सामान्य जनों की क्षमता से परे होता है, अतएव मुक्त जनों के उपदेश का अनुसरण करना चाहिए, उनके चरित्र की प्रतियोगिता की भावना से नकल नहीं करनी चाहिए।

लोग कहते हैं कि आद्यशंकराचार्य ने चांडाल को प्रणाम किया, चांडाल के स्पर्श को भी अनुचित नहीं माना, इसीलिए हमें भी स्पर्शादि के संदर्भ में यह करना चाहिए। सत्य है कि आद्यशंकराचार्य ने ऐसा किया, किन्तु वे ब्रह्मज्ञानी थे। हालांकि वह मायामय चांडाल था, किन्तु न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते, इसीलिए शंकराचार्य जी परम पवित्र थे। उनकी पवित्रता का स्तर इतना अधिक था कि चांडाल के सम्पर्क से जन्य दोष भी उनके पास जाकर शमित हो जाता। ब्रह्मज्ञानी शाश्वत रूप से पवित्र होता है। जैसे पूर्व में भगवान् ऋषभदेव, महात्मा रैक्व, ऋषि सम्वर्त आदि ने अपना वेष पागलों सा एवं घृणित बना रखा था फिर भी ब्रह्मज्ञान की पवित्रता के कारण वे पवित्र रहे। आत्मा शाश्वत रूप से निर्मल है, इसीलिए ब्रह्मज्ञानी को दोष नहीं लगता। किन्तु जिन्हें आत्मबोध नहीं हुआ है, उसे दोष लगता है।

जैसे तैरने की कला जानने वाले को जल नहीं मारता, किन्तु अनभिज्ञ जन डूब जाते हैं, वैसे ही परकाया प्रवेश में दक्ष योगी को देहजन्य कार्मिक एवं आणविक मल व्याप्त नहीं होते, किन्तु शेष को होते हैं। यहां तक कि शास्त्रोक्त वर्णाश्रम के अनुसार स्पर्शादि का सूक्ष्म विचार करने का निर्देश स्वयं शंकराचार्य जी ने ही सनातन परम्परा के अनुसार दिया है। जैसे कोई व्यक्ति घर के बाहर भीतर वाले मार्ग से अवगत है, तो आग लगने पर उसे समस्या नहीं होगी, वह बाहर निकल जायेगा। किन्तु जो व्यक्ति उससे अनभिज्ञ है, अंदर कैद है, वह मर जायेगा। वैसे ही ब्रह्मज्ञान से युक्त, देहाभिमान से रहित मुक्त जीव को कोई समस्या नहीं, किन्तु आपको है, हमें है। साइकिल भी वाहन है, हवाई जहाज भी वाहन है। साइकिल से कूदने पर नहीं मरेंगे, हवाई जहाज से कूदने पर मरेंगे। ब्रह्मज्ञानी के लिए भी कहा है कि असामान्य गतिविधि न करे, बाकी लोगों के ही समान सामान्य क्रिया करते हुए, शास्त्रीय विधा से चले और अन्य को भी इसी के प्रति प्रेरित करे।

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त: समाचरन्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति रहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। सावधान तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मों को अच्छी तरह से करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये। जैसे सूर्य के पास स्वयं अंधकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही शंकराचार्य जी के दिव्य तेज के समक्ष चाण्डाल आदि से संसर्ग से जन्य दोष भी स्वतः शमित हो गया था, किन्तु लोकव्यवहार और ब्रह्मदृष्टि, दोनों के आधार पर आचार्य ने क्रमशः सन्तुलित व्यवहार किया। महापुरुषों के उपदेश का अनुसरण करना चाहिए, उनके चरित्र की नकल करते हुए हम भी हलाहल पीने लगें तो सामर्थ्य के अभाव में अपना विनाश ही करेंगे।

--*

भगवान् किसे कहते हैं ?

डॉ त्रिभुवन सिंह – भगवान् किसे कहते हैं ?

श्रीभागवतानंद गुरु – आपसे पूर्व भी कई जनों के मन में यह प्रश्न आ चुका है, जिसका सनातनी शास्त्र बहुत व्यापकता से समाधनात्मक वर्णन करते हैं। उसमें से सबों का वर्णन करना तो न सम्भव है और न ही वांछित। अतएव मैं कतिपय प्रमाणों से आपकी जिज्ञासा का शमन करूँगा। वैसे तो दिव्य गुणों से युक्त महापुरुषों के नाम के आगे हम आदर से भगवान् शब्द लगाते हैं, जैसे भगवान् शंकराचार्य, भगवान् रामानुजाचार्य, श्रीगुरुदेव भगवान् आदि ... किन्तु भगवान् शब्द की शास्त्रीय परिभाषा के विषय में निम्न वचनों का अवलोकन करें। पूर्वकाल में महर्षि काश्यप के मन में भी भगवान् शब्द को लेकर शंका हुई, सो उन्होंने विश्वामित्र जी के पास जाकर प्रश्न किया था।

काश्यप :—

भगवत्परमित्युक्तं तन्त्रमेतत्त्वया गुरो। किमर्थो भगवच्छब्द: कीदृशो भगवांश्च स: ॥

काश्यप जी ने कहा – हे गुरुदेव! तन्त्र का उपदेश करते हुए अपने किसी भगवत् शब्द की बात बताई। कृपया बताएं कि भगवत् शब्द का क्या अर्थ है, एवं भगवान् कैसे होते हैं ? (भगवत् और भगवान् शब्द समान ही हैं, केवल व्याकरण के अनुसार कुछ स्वरूपभेद मात्र है।)

विश्वामित्र:-

वदामि भगवच्छब्दं श्रृणुष्व मुनिसत्तम। ज्ञानं निस्सीममैश्वर्यमनन्यपुरुषाश्रयम् ॥
सर्वातिशायिनी शक्ति: बलं सर्वोत्तमं तथा। अन्यैरहार्यं वीर्यं च तेज: सर्वोत्तरोत्तरम् ॥
एतानि षडुदीर्यन्ते भगशब्देन काश्यप। यस्मिन्निमे गुणा: सन्ति स उक्तो भगवानिति ॥
(विश्वामित्र संहिता, अध्याय चार, श्लोक १-४)

विश्वामित्र जी ने कहा – हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं आपको भगवत् शब्द के विषय में बताता हूँ, ध्यान से सुनें।
१) ब्रह्मतत्व का स्वाभाविक ज्ञान
२) किसी सीमा के बंधन से परे एवं बिना किसी अन्य से आश्रय में रहने वाला अपार धनादि का ऐश्वर्य
३) सबों के अंदर समाहित रहने वाली शक्ति का स्वामी
४) साथ ही स्वयं भी सबसे अधिक बलवान्
५) आंतरिक रूप से किसी से पराजित न होने वाला सत्वबल
६) सबसे श्रेष्ठ तेजस्विता
इन छः विशेषताओं को “भग” कहा जाता है। जिसमें एकत्रित रूप से यह सभी गुण हों, उसे भगवान् कहा जाता है।

इसके आगे भी कुछ वाक्य देखें।

भावानुरूपफलदो भगवानिति कीर्तितः॥
(लिंगपुराण, पूर्व, ७९-४)

जो अपने उपासकों को उनके भाव के अनुरूप फल देने में सक्षम हो, उसे भगवान् कहा जाता है। अब वर्ण विश्लेषण पर आते हैं।

संभर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोर्थद्वयान्वितः। नेता गमयता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥
एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति। परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥
(विष्णुपुराण, षष्ठ अंश, अध्याय ५, श्लोक – ७३-७६)

भ" वर्ण के दो अर्थ हैं, भर्त्ता (स्वामी) एवं सबका भरण पोषण करने वाला। हे मुने ! "ग" वर्ण से नेता, गमयता (अपनी ओर आकर्षित करके नेतृत्वशक्ति से ले जाने वाला), और स्रष्टा (रचना करने वाला) का अर्थ विवक्षित है। बिना किसी अभाव के समग्र ऐश्वर्य, बल, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य, इन छः को "भग" कहते हैं। (ये जिसमें एकत्रित हैं, वह भगवान् है। वतुप् प्रत्यय लग गया।) उस भूतात्मा में सभी भूत निवास करते हैं। वह भी सभी भूतों में व्याप्त रहता है, उस अविनाशी के संदर्भ में "व" वर्ण से यही जानना चाहिए। (भूत का अर्थ यहाँ पिशाच आदि नहीं, अपितु इस संसार में जो भी दृश्यादृश्य जड़ चेतन है, उसका संकेत है।) हे मैत्रेय ! इस प्रकार यह भगवान्, ऐसा महान् शब्द बनता है। परब्रह्म वासुदेव के अतिरिक्त कोई और भगवान् नहीं है। यहां यह ध्यान दें कि उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य शिव जी या भगवती को नारायण से नीचा दिखाना नहीं है अपितु यह भाव है कि शिवशक्ति के रूप में भगवान् वासुदेव नारायण ही हैं। वैसे भी वेदवाक्य है, जब शिवशक्ति एक होते हैं, तो उस महामिलन को ही विष्णु कहा जाता है।

उमाशंकरयोर्योगः स योगो विष्णुरुच्यते।
(रुद्रहृदयोपनिषत्)

उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥
(अग्निपुराण, अध्याय ३७९, श्लोक – १३)

जो सभी प्राणियों के उत्पत्ति और प्रलय को, सद्गति एवं दुर्गति को तत्वतः जानता है, विद्या एवं अविद्या को भी जानता है, उसे भगवान् कहते हैं। (इसी आधार पर हम तत्वज्ञानी गुरुजनों के साथ, आद्यशंकराचार्य जी, आद्यरामानुजाचार्य जी जैसे ब्रह्मद्रष्टा महापुरुषों के नाम के साथ भगवान् शब्द लगाते हैं)
कुछ ऐसा ही मत ब्रह्मपुराण का भी है –

वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति। ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ॥
भगवच्छब्दवाच्यानि च स वाच्यो भगवानिति। ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – २३४, श्लोक – ६७-६८)

जो विद्या एवं अविद्या को जानता है, उसे भगवान् कहा जाता है। भगवत् शब्द से असीमित ज्ञान, शक्ति, आत्मबल, ऐश्वर्य, सत्व, और तेज का संकेत होता है। ये सब जिसमें हों, वह भगवान् कहलाता है।

भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि। वर्त्तते निरुपाधिश्च वासुदेवोऽखिलात्मनि ॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २२६, श्लोक – ६८)
आदिनारायणो देवो भगवानिति चोच्यते ॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध – ०३, अध्याय – ०७, श्लोक – ४७)
आदिनारायण देव को भगवान्, ऐसा कहा जाता है।
भवभीतिं हरत्येष भक्तिभावेन भावितः। भगवानिति यद्भावस्स तु भागवतस्स्मृतः ॥
(वैखानसीय भृगु संहिता, अध्याय – ३०, श्लोक – १४३)
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध – ०१, अध्याय – ०२, श्लोक – ११)

भगवान्, यह शब्द जो है, तथा पुरुष, इस शब्द से भी (त्रिगुणजन्य) उपाधियों से रहित, समस्त भूतों के आत्मतत्व वासुदेव (नारायण) का बोध होता है। जो व्यक्ति भक्ति भाव से युक्त होकर, ये भव (संसार) से जन्य भीति (भय) का हरण करते हैं, इसीलिए इन्हें भगवान् कहते हैं, ऐसा भाव रखता है, उसे भागवत कहा जाता है। जिसको तत्ववेत्ता जन “तत्व” कहते हैं, जिसे “स्वयं अद्वितीय ज्ञान” कहा जाता है, उसे ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि शब्दों से जाना जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भगवान् शब्द की परिभाषा बहुत व्यापक है और मुख्यतः इसका सम्बन्ध श्रीहरि से है, ब्रह्म से है। यही शब्द स्त्रीलिंग में भगवती बन जाता है, जिसका सम्बन्ध दुर्गादेवी से है, मूलप्रकृति से है। साथ ही अत्यंत श्रेष्ठ ज्ञानी ब्रह्मवेत्ताओं के साथ भी हम आदरार्थ इस शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।

--*

कालचक्र का रहस्य

काल...... क्या है काल ? सर्वाहारी ? सर्वभक्षी ? मानवातीत, देवातीत ? अभेद्य, दुर्जय और निरंकुश ? क्या है यह ? क्यों है यह ? किसके लिए है यह ? कैसा है यह ? कब से है यह ? कब तक रहेगा यह ? श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि जो इस कालचक्र को जानते हैं वे ही वास्तव में सब कुछ जानते हैं। क्या वास्तव में हम सब जानते हैं ? क्या आप जानते हैं, क्या मैं जानता हूँ ? नहीं.. शायद नहीं...। क्या हमारे लिए जो समय है, वह आपके लिए भी है ? क्या सच में ऐसा है ? पशु पक्षी के लिए भी वही समय होता है ? क्या वास्तव में ? एक मच्छर के लिए जीवन के समय की क्या परिभाषा है ? शायद 2 या तीन महीने। क्या आपके लिए भी जीवन के समय की वही परिभाषा है ? पुनः विचार कीजिये। क्या वास्तव में समय सबों के लिए समान है ?

परिवर्तन ही समय है। यदि परिवर्तन न हो तो समय का मान नष्ट हो जायेगा। शरीर का बढना, बूढा होना समय है। पृथ्वी का घूमना समय है। मेरा लिखना, आपका पढ़ना समय है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतम परिवर्तन समय है। ब्रह्मा से लेकर अमीबा तक का परिवर्तन समय है। परिवर्तन उसके साथ होता है, जो नश्वर है। और ईश्वर को छोड़कर यह सबों पर लागू होता है। क्योंकि वह अविनाशी और अपरिवर्तनीय है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं और उपनिषदों में भी वर्णन है कि जिससे सम्पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ, फिर भी जिसमें कोई कमी (परिवर्तन का एक प्रकार) नहीं आई, एवं बाद में जिसके अंदर पूरी सृष्टि समाहित हो जायेगी फिर भी जिसमें कोई बढ़ोत्तरी (परिवर्तन का एक प्रकार) नहीं होगी और पहले भी जिसके साथ उसकी इच्छा से ही ऐसा हुआ है और आगे भी होगा, वही सबों में व्याप्त तत्व ईश्वर है। वही कालातीत है, वही महाकाल है, वही कालाभेद्य कालजित् और कालेश्वर के नाम से विख्यात है जिसका नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं।

शरीर में रहने से ही समय का ज्ञान होता है। इस संसार में पांच तत्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी), उनकी पांच तन्मात्रा (शब्द, गंध, रूप, रस एवं स्पर्श), उनसे जुडी पांच ज्ञानेंद्रिय (कान, नाक, आँख, जिह्वा एवं त्वचा), पांच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पैर, लिंग/योनि, गुदा और उदर और किसी किसी के मत से हृदय) चार अपरतत्व (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) के साथ एक आत्मा (कुल 24 तत्व के साथ 25 वां तत्व) होती है। इसमें आत्मा (जीव) को ब्रह्म (पुरुष/शिव) का अंश तथा बाकी को माया (प्रकृति/शक्ति) का अंश माना गया है। इन चौबीस तत्वों के संयोग से पांच प्रकार के कोशों की रचना होती है जिनकी प्रधानता से तीन प्रकार के शरीरों की रचना होती है, जिन्हें काल के भी तीन प्रमुख प्रकार संचालित करते हैं।

पहला प्रकार है भौतिक शरीर, जिसमें पृथ्वी में रहने वाले जीव निवास करते हैं। यह अन्नमय तथा प्राणमय कोष से संचालित होता है। अर्थात् इसे कार्य करने के लिए अन्न और वायु की आवश्यकता होती है। इसे जो समय प्रभावित करता है, उसे सौर काल या मानव समय कहा जाता है जो सूर्य तथा चंद्रमा की गति पर आश्रित होता है। इसमें

मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र की केंद्रीकृत ऊर्जा काम करती है। दूसरा प्रकार है सूक्ष्म शरीर जो इस भौतिक शरीर के अंदर होता है तथा जिसमें अंतरिक्ष, ऊपर के तीन लोक (स्वर्ग, महः और जनः), तथा नीचे के पांच लोक (अटल, वितल, सुतल, तलातल, महातल) के जीव (देवता, देवमानव, दिव्य ऋषि, पितृगण, दैत्यगण) तथा नर्क के प्राणी (प्रेत, ब्रह्मराक्षस, वेताल, मारीच, डाकिनी आदि) रहते हैं। जब किसी भी मानव या धरती के जीव की मृत्यु होती है तो उसका भौतिक शरीर छूट जाता है और उसके अंदर का यह सूक्ष्म शरीर जागृत हो जाता है। इसमें अपार शक्तियां छिपी होती है। योगीजन हालांकि भौतिक शरीर में रहते हुए ही इसे जागृत करके सिद्धियों का लाभ लेते हैं। यह मनोमय और विज्ञानमय कोश से संचालित होता है। अर्थात् इसे कार्य करने के लिए अपार मानसिक बल और विशिष्ट ज्ञानयुक्त प्रणाली की आवश्यकता होती है। इसे जो समय प्रभावित करता है, उसे दिव्य काल या दैवी + पैतृक + आर्ष + आसुरी समय कहा जाता है। इसमें मणिपुर तथा अनाहत चक्र की केंद्रीकृत ऊर्जा काम करती है।

तीसरा प्रकार है कारण शरीर जो सूक्ष्म शरीर के अंदर होता है तथा जिसमें ऊपर के उच्चतम लोक (तपः, सत्यम्) तथा नीचे के निम्नतम लोक (रसातल, पाताल) के जीव (वासुकि आदि सर्प, वशिष्ठ आदि सप्तर्षि, ऋभु आदि देवगण, मय आदि दैत्य) निवास करते हैं। यह आनन्दमय कोश से संचालित होता है। अर्थात् इसे कार्य करने के लिए केवल आत्मबल की आवश्यकता है। इसे भी सूक्ष्म शरीर की भांति अलौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं तथा यह भी दिव्य काल के द्वारा ही प्रभावित होता है। इसी “कारण शरीर” के अंदर ही आत्मा निवास करती है। इसमें विशुद्ध और आज्ञा चक्र की केंद्रीकृत ऊर्जा काम करती है।

इसके अलावा एक शरीर और है, जिसका कोई भौतिक तत्व से सम्बन्ध नहीं, इसे केवल विशुद्ध ब्रह्मानन्द आधारित सहस्रार की ऊर्जा संचालित करती हैं। यह असीमित है, अपार है, अनन्त है और अव्यक्त है। इसे महाकारण शरीर कहते हैं। जब निर्गुण ब्रह्म लीला हेतु सगुण शरीर धारण करते हैं तो उस शरीर को महाकारण कहते हैं इसका प्रयोग ईश्वर के केवल कुछ विशिष्ट सगुण रूप ही कर सकते हैं। जैसे भूमापुरुष नारायण, महाकाल सदाशिव, महागणपति, महासूर्य, राजराजेश्वरी त्रिपुरसुंदरी एवं परिपूर्णावतार श्रीकृष्ण आदि। एवं सृष्टि की रचना हेतु इसे सर्वोच्च जीव यानी पितामह ब्रह्माजी को भी दिया जाता है। इस शरीर की शक्ति अपार, अकल्पनीय और अजेय है। इसे जो काल प्रभावित करता है, वह ब्राह्मी काल कहलाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह ब्राह्मी काल केवल उसी महाकारण शरीर को प्रभावित करता है जिसे पितामह ब्रह्माजी ने धारण किया है। बाकी ईश्वरीय सगुण रूपों को नहीं। अब आईये, मैं बताता हूँ इस सौर काल, दिव्य काल और ब्राह्मी काल का रहस्य। आपकी सुविधा के लिए मैं इसे सौर अर्थात् मानव काल (मनुष्य के दिन रात पर आधारित वर्ष) में बदलता जाऊंगा। आधुनिक काल गणना को ही लेते हुए विषय आगे बढ़ाते हैं। कारण कि इससे समझने में सुविधा होगी। 60 सेकंड का एक मिनट, और 60 मिनट का एक घण्टा होता है। तीन घंटे का एक प्रहर/याम और आठ प्रहर/याम का एक अहोरात्र (दिनरात) होता है। ऐसे ऐसे 15 अहोरात्र के बराबर एक पक्ष (पखवाड़ा) दो पक्ष (शुक्ल

और कृष्ण) मास (महीना), दो महीनों के बराबर ऋतु, तीन ऋतु के बराबर एक अयन, और दो अयन (उत्तर और दक्षिण) के बराबर एक सौर संवत्सर (वर्ष) होता है। इसे ही इडावत्सर या वत्सर भी कहा जाता है।

एक सौर वर्ष में 360 दिन होते हैं। जिसे सटीक रूप से पूरा करने के लिए एक ऐसे मास को चुना जाता है जिसमें कोई भी सूर्य संक्रांति नहीं होती। इसे ही मलमास, अधिकमास या पुरुषोत्तम मास भी कहा जाता है। यह हर चार वर्षों में एक बार होता है। मनुष्य के एक पक्ष बराबर पितरों का एक दिन और एक पक्ष बराबर रात होती है। अर्थात् एक सौर मास के बराबर एक पैतृक अहोरात्र होता है। मनुष्य के एक अयन (उत्तर) के बराबर देवताओं का एक दिन होता है और दूसरे अयन (दक्षिण) के बराबर रात्रि होती है। वहीं दैत्यों में इसका उल्टा होता हैं उनमें दक्षिण अयन में दिन और उत्तर अयन में रात्रि। यह दिव्य अहोरात्र कहलाता है जो हमारे 360 सौर अहोरात्र के बराबर होता है।

इस अनुसार 360 सौर/मानव वर्ष के बराबर एक दिव्य वर्ष होता है। ऐसे ऐसे 1200 दिव्य वर्ष के बराबर कलियुग की आयु है। जिसमें 1000 दिव्य वर्ष का कलियुग और प्रारम्भ तथा अंत में 100-100 वर्षों की कलिसन्धि। मानव वर्ष में गणना करने से सन्धिसमेत कलियुग की आयु 432,000 वर्ष है। ऐसे ऐसे 2400 दिव्य वर्ष के बराबर द्वापरयुग की आयु है। जिसमें 2000 दिव्य वर्ष का द्वापरयुग और प्रारम्भ तथा अंत में 200-200 वर्षों की द्वापरसन्धि। मानव वर्ष में गणना करने से सन्धिसमेत द्वापरयुग की आयु 864,000 वर्ष है। ऐसे ऐसे 3600 दिव्य वर्ष के बराबर त्रेतायुग की आयु है। जिसमें 3000 दिव्य वर्ष का त्रेतायुग और प्रारम्भ तथा अंत में 300-300 वर्षों की त्रेतासन्धि। मानव वर्ष में गणना करने से सन्धिसमेत त्रेतायुग की आयु 1,296,000 वर्ष है। ऐसे ऐसे 4800 दिव्य वर्ष के बराबर सत्ययुग की आयु है। जिसमें 4000 दिव्य वर्ष का सत्ययुग और प्रारम्भ तथा अंत में 400-400 वर्षों की सत्यसन्धि। मानव वर्ष में गणना करने से सन्धिसमेत सत्ययुग की आयु 1,728,000 वर्ष है।

इन चारों युगों के एक सम्मिलित सत्र को चतुर्युग कहते हैं जिसकी सम्मिलित आयु 12000 दिव्य वर्ष या 4,320,000 मानव वर्ष है। हर चतुर्युग की समाप्ति पर धरती पर मानवादि की सभ्यता का भीषण संहार होता है और आगामी सत्ययुग के लिए नई संशोधित व्यवस्था लायी जाती है। इसी को सौर काल के द्वारा संचालित भौतिक शरीरधारी जीवों के लिए अनुप्रलय कहा गया है। ऐसे ऐसे चतुर्युग जब 71 बार आते हैं तब एक मन्वन्तर होता है। जिसमें सत्ययुग के मान के बराबर मन्वन्तर सन्धि जोड़ने से एक मन्वन्तर की पूरी आयु निकलती है। एक मन्वन्तर में कुल 306,720,000 (71 चतुर्युग की आयु) + 1,728,000 (सत्ययुग के बराबर मन्वन्तर सन्धि) = 308,448,000 मानव वर्ष होते हैं।

प्रत्येक मन्वन्तर के अंत में एक क्षुद्रप्रलय होता है जिसमें दिव्य काल के द्वारा संचालित समस्त सूक्ष्म शरीरधारी जीवों का ब्रह्मा में विलय हो जाता है। इस क्षुद्रप्रलय का समय पूरे मन्वन्तर सन्धि तक रहता है। एक मन्वन्तर में एक इंद्र और एक मनु होता हैं । हर मन्वन्तर में स्वर्ग का देवमंत्रिमण्डल बदलता है। वर्तमान में मनु का नाम श्राद्धदेव वैवस्वत है।

जो देवता इंद्र के पद पर हैं, उनका नाम पुरंदर है। अगले मन्वन्तर में दैत्यों के राजा बलि को इंद्र बनाया जायेगा तथा सूर्यपुत्र सावर्णि मनु बनेंगे। ऐसे ऐसे जब सन्धिसहित 14 मन्वन्तर बीतते हैं तो एक कल्प होता है। इस एक कल्प में मन्वन्तर, मन्वन्तर सन्धि तथा कल्प सन्धि का समय जोड़कर कुल 1000 चतुर्युग के बराबर समय होता है।
कल्प सन्धि का मान भी एक सत्ययुग के बराबर ही होता है। अतः चौदह मन्वन्तर को जोड़कर हुए 4,294,080,000 मानव वर्षों में एक कल्प सन्धि एवं चौदह मन्वतर सन्धियों के 1,728,000 × 15 = 25,920,000 वर्षों को जोड़ देने से एक कल्प की कुल आयु होती है 4,320,000,000 मानव वर्ष।

इसको एक दूसरे दृष्टिकोण से भी समझें, देखिए, तीन बातें हैं।
* एक कल्प का मान एक हज़ार चतुर्युगी के बराबर है।
* एक कल्प में चौदह मन्वतर होते हैं।
* एक कल्पसन्धि एवं मन्वतर सन्धि का मान एक सत्ययुग के बराबर, 17,28,000 मानव वर्षों के बराबर होता है।
अब एक चतुर्युगी होगी 43,20,000 वर्ष की। तो एक हज़ार चतुर्युगी का मान हो जाएगा 4,32,00,00,000 वर्षों का। किन्तु हम जानते हैं कि एक मन्वतर में तो 71 चतुर्युगी ही होते हैं, एवं एक कल्प में 14 मन्वतर, तो इस प्रकार एक कल्प के मन्वतर के हिसाब से 71×14 = 994 ही चतुर्युगी होंगे। अब कुल कल्पमान तो 1000 चतुर्युगी का है, किन्तु हमें 994 चतुर्युगी ही प्राप्त हुए हैं। शेष 6 चतुर्युगी का काल हमें चौदह मन्वतर की सन्धि, एवं एक कल्प सन्धि को जोड़ने से प्राप्त होगा। एक कल्प एवं एक मन्वतर सन्धि का मान एक सत्ययुग के बराबर होता है। तो हमें 14+1 = 15 सन्धियों के लिए 15 सत्ययुग के बराबर का समय व्यवस्थित करना पड़ेगा।

पंद्रह सत्ययुग का मान 17,28,000 × 15 = 25,920,000 वर्षों का हो जाएगा। एवं हम यदि इन 25,920,000 वर्षों को चतुर्युगी के हिसाब से देखें तो 25,920,000 ÷ 43,20,000 = 6 चतुर्युगी का मान भी पूर्ण हो गया, जिसे पूर्व के 994 चतुर्युगी के साथ जोड़ देने पर कुल 1000 चतुर्युगी का एक कल्पमान प्राप्त हो जाता है। यही एक सन्धिसहित कल्प बराबर ब्रह्मा का एक दिन और दूसरे सन्धिसहित कल्प के बराबर एक रात होती है। यही ब्राह्मी काल कहलाता है। एक कल्प के अंत के समय केवल ब्रह्मलोक रहता है। समग्र लोकों का नाश हो जाता है। यही प्रलय कहलाता है। कारण शरीरधारी समस्त जीवों का विलय ब्रह्मा में हो जाता है। इस ब्राह्मी दिनरात (8,640,000,000 मानव वर्षों) के आधार पर ब्रह्मा जी के एक वर्ष में 360 दिनरात होते हैं। एक ब्राह्म वर्ष में 3,110,400,000,000 मानव या सौर वर्ष होते हैं। इस अनुसार ब्रह्माजी की कुल आयु है 100 वर्ष यानी कि 3,110,400,000,000,000 मानव वर्षों की।

इसके बाद महाप्रलय होता है जिसमें ब्रह्माजी वापस समस्त ब्रह्माण्ड के साथ ही परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। यही इस ब्रह्माण्ड की आयु है। यह विशाल ब्रह्माण्ड इसी ब्राह्मी कालगणना के आधार पर संचालित होता है। इस अनुसार यदि ब्रह्माजी की आयु की गणना आधुनिक काल गणना से करें तो उनकी आयु उनके अनुसार ब्राह्मी कालगणना से 50 वर्ष,

5 घंटा, 44 मिनट और लगभग 8 सेकंड है। जिसमें अभी उनके 51 वें वर्ष के प्रथम दिन (श्वेतवाराह कल्प) के चौदह में से सातवें (वैवस्वत) मन्वन्तर के 71 चतुर्युगों में से 28 वें चतुर्युग के कलियुग में 432,000 मानव वर्षों में से 5121 वां वर्ष (2020 ई० में) चल रहा है। इससे पूर्व इस कल्प में पिछले 6 मन्वन्तर (स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत एवं चाक्षुष) बीत चुके। इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के आगे भी 7 अन्य सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, इंद्रसावर्णि, रुद्रसावर्णि आदि मन्वन्तर होंगे। फिर कल्पसन्धि और उसमें प्रलय। यही है इस काल का रहस्य, इस ब्रह्माण्ड का रहस्य, सनातन का महान रहस्यमय विज्ञान।

--*

फादर्स डे एवं मदर्स डे का प्रपञ्च

धर्म ज्ञान के अभाव में, और स्वयं को बुद्धिमान् बताने की होड़ में सनातन सिद्धांतों की अवहेलना करने वाले प्रेततुल्य नराधम लड़के लड़कियां भी आज कथित पितृ दिवस (फादर्स डे) मना रहे हैं। पूर्वकाल में सनातनी भारत में माता पिता के सम्मान या सेवार्थ कोई तिथिविशेष निर्धारित नहीं था। आज भी बहुतायत से नहीं है। केवल दिवंगत पितरों के श्राद्ध निमित्त पितृपक्षादि में एक तिथिविशेष का निर्धारण किया गया था।

प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मात पिता गुरु नावहिं माथा॥
(श्रीरामचरितमानस)
(मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र जी प्रातः उठकर नित्य ही माता पिता और गुरुचरणों की वंदना करते थे।)
मानहिं मात पिता नहीं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
(श्रीरामचरितमानस)
(आसुरी स्वभाव वाले निशाचर गण माता पिता को देवता तुल्य नहीं मानते थे और संतों से सेवा कराते थे।)

आज भी ऐसे राक्षस बहुतायत से दिख जाते हैं। शाहरूख खान और आलिया भट्ट की फ़िल्म डिअर जिंदगी में ऐसी ही कुप्रेरणा से पूर्ण अमर्यादित दृश्य दिखाए गए हैं। हमारे सनातन धर्म में मातापिता के महत्व के विषय में जितनी स्पष्ट बातें कही गयी हैं, उनका दर्शन अन्य मतान्तरों में नहीं होता। विश्वप्रसिद्ध ऋषिगण जाबालि, कृतबोध एवं कौशिक आदि को तुलाधार वैश्य एवं धर्मव्याध आदि ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया तो उन्होंने इसका स्रोत जानने की इच्छा की। इस बार पर वैश्य एवं व्याध ने ज्ञान के पीछे मातापिता की निःस्वार्थ सेवा को ही कारण बताया।

प्रतिज्ञाय सदा पूजां पित्रोरेतां चराम्यहम्। नाहं जाने तपोदान व्रत यज्ञादिकं च यत्॥
पित्रोश्चरणयोः सेवामेवैकां जान एव हि। यन्मे ज्ञानं समुत्पन्नं पित्रो: सेवाफलं च तत्॥
(महाभारत, बृहद्धर्म पुराण)

अर्थात् - मैं प्रण लेकर माता पिता की सेवा कर रहा हूँ। मैं तप, दान, व्रत, यज्ञ आदि कुछ नहीं जानता। केवल माता पिता की चरणसेवा से ही मुझे ज्ञानोत्पत्ति हो सकी है। यह सब पितृसेवा का फल है। माता पिता के महत्व के विषय में ग्रंथेतरों में वर्णन है कि...

पिता धर्म: पिता स्वर्ग: पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्व देवताः॥
पिता यस्य क्वचिद्रुष्टो न तस्य कस्यचिद्गतिः। जपो दानं तपो होमः स्नानं तीर्थक्रियाविधिः॥
वृथैव तस्य सर्वाणि कर्माण्यन्यानि कानिचित्। करोति सर्वदेवेशं पितरं चानुतप्य यः॥
(बृहद्धर्म पुराण)

पिता की सेवा ही परम धर्म, स्वर्ग दायक एवं पापापहारिणी तपस्या है। पिता के प्रसन्न हो जाने से सभी देवता स्वतः प्रसन्न हो जाते हैं। जिसके पिता अपने पुत्र पर क्रोधित हैं, उसकी गति कहीं नहीं है। जप, दान, होम, स्नान, तीर्थसेवा आदि भी उसके लिए निष्फल है। सभी देवताओं में श्रेष्ठ पिता की सेवा के बिना ही जो कार्य करता है, वह धर्म भी पिता के क्रोध से दग्ध होकर विषतुल्य हो जाता है।

पितुरप्यधिका माता गर्भधारण पोषणात्। अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः॥
देशो गंगान्तिकः श्रेष्ठो दलेषु तुलसी दलम्। वर्णेषु ब्राह्मणः श्रेष्ठो गुरुर्माता गुरुष्वपि॥
मातरं पितरं चोभौ दृष्ट्वा पुत्रस्तु धर्मवित्। प्रणम्य मातरं पश्चात् प्रणमेत् पितरं गुरुम्॥
(बृहद्धर्म पुराण)
पतिता गुरुवस्त्याज्या माता तु न कथञ्चन। गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥
(वाल्मीकीय आर्ष रामायण)

गर्भधारण एवं पोषण माता करती है, अतः वे पिता की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। गंगा के समीपवर्ती क्षेत्र बाकियों के अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। पत्रादि में तुलसी, वर्णों में ब्राह्मण एवं गुरुजनों में माता श्रेष्ठा है। अतः जब माता पिता को एकसाथ देखे तो पहले माता को प्रणाम करने के अनन्तर पिता का अभिनन्दन करना चाहिए। मनमौजी करने वाले पतित गुरु का त्याग कर देना चाहिए लेकिन पतिता होने पर भी माता का कभी भी त्याग न करे क्योंकि गर्भधारण एवं पालन पोषण करने से माता का स्थान अतिशय महत्वपूर्ण है।

हमारे यहाँ प्रतिदिन मातृ पितृ दिवस है। लेकिन आधुनिक डिग्रीधारी मूर्ख जन इस सर्वोच्च भाव युक्त संस्कृति की अवहेलना करने में लगे हैं। माता पिता भी केवल वासनापूर्ति के लिए ही समागम करते हैं। पूर्ण विधि और संकल्प पूर्वक योग्य सन्तान उत्पादन की तरफ ध्यान नहीं देते। अधिकांश भ्रष्ट सन्तानें अवांछित और असंस्कारित होती हैं। आज के अधिकतर माता पिता अपनी संतान को लोभ, स्वार्थ और असंयम के भाव सिखाते हैं। अपनी संतानों को पास बुलाकर सभी मर्यादाओं का बहिष्कार करके मात्र पेट पालने की शिक्षा देते हैं। मात पिता निज बाल बोलावहिं। उदर भरै सोई धरम सिखावहिं॥ (श्रीरामचरितमानस)

"सो सुत करहु उपाय, रुपया आवत जाहि विधि। लाज रहे चाहे जाय, उसकी कछु परवाह नहीं॥"
(जनश्रुति)

हे पुत्र !! तुम वही उपाय करो जिससे घर में धन ही धन आता रहे। चाहे फिर इसके लिए हमें लज्जा संकोच का त्याग ही क्यों न करना पड़े, उसकी कोई चिंता नहीं है, यही आजकल के माता-पिता सिखाते हैं। लेकिन उन्हें भी यह ध्यान देना चाहिए कि केवल शारीरिक सुखादि के फलस्वरूप रज वीर्य के संयोग से उत्पन्न देहयुक्त जीव की पुत्र संज्ञा नहीं है।

पुन्नाम नरकाद्यो वै स्वपितृन् परिरक्षति। स वै पुत्ररिति ज्ञेय इतरे नामधेयकाः ॥
पुत्ररूपधरो जीवो ह्यदि धर्ममनाचरेत्। तेन दुःखं महद्दुःखं प्राप्यते यन्न वाञ्छितम् ॥

पुम् नाम के नरक से जो अपने पितरों का उद्धार करता है, उसी को पुत्र जानना चाहिए क्योंकि पुत्र नाम धारण करके तो बहुत से लोग घूम रहे हैं। पुत्र रूपधारी जीव यदि धर्म का आचरण नहीं करता है तो उससे घोर दुःख प्राप्त होता है जिसकी इच्छा किसी ने नहीं की होगी।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि माता पिता स्वयं धर्म के विरोधी हों और पुत्र को भी धर्म के विपरीत आदेश या संस्कार दें, तो ऐसे आदेशों की विनम्रता से अवहेलना भी धर्म ही है। जैसे भरत जी ने अपनी माता कैकेयी एवं प्रह्लाद जी ने अपने पिता हिरण्यकशिपु के द्वारा दिए जाने वाले अधर्मपूर्ण आदेशों को नहीं माना। यदि पुत्र ने धर्म के आचरण के द्वारा मोक्ष को प्राप्त नहीं किया और उसका अन्यत्र पुनर्जन्म हो गया तो उसके माता पिता को भी दोष लगता है क्योंकि उनके दिए गए संस्कार पर्याप्त न थे। वैसे ही यदि माता पिता नरक में पड़े हों तो पुत्र को भी दोष लगता है क्योंकि पुत्र ने उनके दिए शरीर से धर्माचरण नहीं किया। अतः मातापिता एवं पुत्र आदि का यह कर्तव्य है कि अपने अपने कर्तव्य एवं अधिकारों का पालन करते हुए एक दूसरे की धर्मसिद्धि में सहायक बनें। ऐसा न होते देखकर मुझे बहुत क्रोध आता है।

कुछ लोग मुझे संत कहते हैं। कुछ लोग असंत कहते हैं। हालांकि मैंने कभी भी, कहीं भी स्वयं को संत या असंत नहीं कहा। स्वयं को संत कहकर मैं संतत्व की परिभाषा विकृत नहीं करूंगा एवं असंत कहकर मातापिता के दिये तपस्या पूर्ण संस्कारों का अपमान भी नहीं करूंगा। लोग कहते हैं कि आप संत हैं तो क्रोध क्यों करते हैं ? भाई, मैं संत हूँ ये तुम कहते हो, इसके अनुरूप आकांक्षा तुम पालते हो। फिर यदि मैं क्रोध करता हूँ तो मेरा क्या दोष ? मैंने तो नहीं कहा कि मुझे संत कहो। हाँ, मैं क्रोध करता हूँ जब मैं अधर्म देखता हूँ। जब मैं मर्यादा एवं संस्कृति की हानि देखता हूँ। जब मैं मूर्खता, कुतर्क एवं अन्याय देखता हूँ। क्रोध आता है मुझे तब और मुझे उस क्रोध को नियंत्रित करने की न इच्छा है और न आवश्यकता। जो क्रोधहीनता मुझे अन्याय, अमर्यादा और अधर्म का विरोध करने से रोक दे उसका मैं सर्वप्रथम त्याग करूँगा।

संत इच्छाहीन होते हैं लेकिन मेरी इच्छाएं अनन्त हैं। मेरी इच्छा है कि गोमाता निर्भय विचरण करे। मेरी इच्छा है कि प्रत्येक प्राणी के पास अपना अन्न, शिक्षा और आवास हो। मेरी इच्छा है कि व्यभिचार और फूहड़ता पर पूर्णविराम लगे। मेरी इच्छा है कि भारत अखण्ड हो, भारत नीतिनिपुण हो, भारत स्वच्छ हो। मेरी इच्छा है कि गंगा की पवित्रता सदैव बनी रहे। अनंत हैं मेरी इच्छाएं। जो इच्छाहीनता मुझे धर्मरक्षा से रोक दे, उसका मैं सर्वप्रथम त्याग करूँगा।

--*

भूत-प्रेत एवं महाभूत-महाप्रेत

भूत और प्रेत... महाभूत और महाप्रेत... पञ्चमहाभूत और पञ्चमहाप्रेत...

जो हमसे पहले था वह भूत है। जो भूत हमसे पहले था और शक्तिशाली भी है वह प्रेत है। जो आदिकाल से किसी न किसी रूप प्रारूप में है वह महाभूत है। जो महाभूत शुरू से शक्तिशाली है और किसी पर आश्रित नहीं है वह महाप्रेत है। तंत्र में अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी एवं आकाश को पञ्च महाभूत कहा गया है। ये आदिकाल से किसी न किसी प्रारूप में विद्यमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सदाशिव एवं ईश्वर नाम के पञ्च महाप्रेत हैं। ये महाभूत ऐसे हैं जो शक्तिशाली हैं तथा निराश्रित हैं। भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरसुंदरी इन्हीं पञ्च महाप्रेत के ऊपर विराजती हैं।

विशिष्टता के लिए संस्कृत में प्र नाम के उपसर्ग का प्रयोग होता है। जैसे प्रकल्प, प्रकांड, प्रशस्त, प्रसिद्धि, प्रवीण, प्रदीप्त, प्रसंग, प्रक्षिप्त, प्रस्फुट आदि। प्र अर्थात् विशिष्ट, कृति अर्थात् रचना। जो स्वतन्त्र रूप से विशिष्ट एवं नवीन रचना करने में समर्थ है, वह प्रकृति है। जो प्रकृति से इतर है, वह पुरुष है। वही ब्रह्म है, वही अव्यय, चिन्मय, सनातन है। प्र+इत: = प्रेत: = प्रकृति से इतर = पुरुष। महाप्रेत का अर्थ है ब्रह्म, जो ईश्वर, सदाशिव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि रूपों में कार्यस्थिति भेद से प्रतिभाषित होता है। अब समझे कि दयानन्द महाराज क्यों भ्रमित हो गए थे ? क्यों लाश का पोस्टमार्टम करके इड़ा पिंगला सुषुम्णा को गलत सिद्ध कर रहे थे। चर्मचक्षुओं से तो खून के विषाणु भी नहीं दिखते, लेकिन दयानंद जी सूक्ष्म नाड़ियों को चक्षुगम्य मानने की वीरता कर रहे थे, इससे सिद्ध होता है कि निःसन्देह वे हमारे और आपके जैसे प्राकृतिक रूप से पैदा नहीं हुए थे, अपितु सीधा टोरंट से डाऊनलोड हुए थे। खुद की असमर्थता और अदूरदर्शिता के कारण भाव तत्व को समझ न सके और खुद को एकमात्र सर्टिफाइड ईश्वरीय सर्वज्ञ घोषित करके निकल लिए।

प्रथम आहुति प्रजापति की। मानसिक आहुति। मानसिक क्यों ? क्योंकि प्रजापति यज्ञ के पूर्वज हैं। प्रजापति ने प्रजा के हित हेतु साथ में यज्ञविधान का सृजन किया। अतः यज्ञ से पूर्व प्रजापति की आहुति मानसिक रूप से देनी चाहिए। फिर ? अग्नि को तुष्ट करे। ऋग्वेद के अभिमानी देवता अग्नि हैं। ॐ भू: स्वाहा। हम जब डाक से कोई सामान भेजते हैं तो अपना और पाने वाले का पता लिखते हैं अन्यथा वह पत्र निरस्त हो जाता है। ॐ और स्वाहा के बिना आहुति भी निरस्त हैं। अग्नि को आकाश में स्थापित नहीं कर सकते। उसे आधार चाहिए, भू का, पृथ्वी का। वही वैश्वानर ब्रह्मा का मुख है। अतः ॐ भू: स्वाहा से अग्नि को ऋग्वैदिक सूत्रों से तृप्त करे। पुनः अंतरिक्ष में व्याप्त वायु देव को ॐ भुवः स्वाहा से यजुर्वेदी सूत्रों से तृप्त करे तथा ॐ स्व: स्वाहा से शून्याकाश में व्याप्त सूर्य को सामवेदी सूत्रों से तृप्त करे।

इसके बिना कोई भी हवन सत्यापित नहीं होता। परंतु यदि यज्ञोपवीत से रहित हो, शूद्र, स्त्री आदि अनधिकृत वर्ग से हो तो योग्य पुरोहित से हवन करवाये या स्वयं बिना ॐ एवं स्वाहा के ही हवन कर सकता है। यह अतिरिक्त सुविधा है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

जैसे छोटे बालक को माता पिता अधिक ध्यान और प्यार से निरन्तर अपना संरक्षण देते हैं और बड़े बालक को उतना समय न देकर कर्तव्य तथा अधिकार से युक्त करते हैं, वैसे ही परमपिता भी शूद्र तथा स्त्री आदि को विशेष स्नेह और ध्यानपूर्वक संरक्षण देते हैं तथा विप्रादि प्रौढ़ वर्णों को कर्तव्य तथा अधिकार से युक्त करते हैं।

जैसे छोटे बालक को बिजली, कुन्वें, अग्नि, तलवार आदि से माता पिता प्रयत्नपूर्वक दूर रखते हैं, बालक के इच्छा करने पर भी नहीं देते, वैसे ही ईश्वर एवं ऋषियों ने भी वेद, यज्ञ, गायत्री का अधिकार शूद्रों को नहीं दिया है। जैसे माता पिता के द्वारा लगाया गया प्रतिबंध शोषक या दमनकारी न होकर कल्याणकारी होता है, भले ही बालक को यह प्रारम्भ में समझ न आये लेकिन समय के साथ उसे भी इसका महत्व समझ आता है, वैसे ही शूद्रों के साथ भी समझना चाहिए। समय के साथ बालक बड़ा होकर स्वयं ही विज्ञ होकर जैसे अग्नि, कुन्वें, शस्त्र आदि का नियंत्रण प्राप्त कर लेता है वैसे ही शूद्र भी अपने स्वधर्म का पालन करते हुए जन्मांतर में वर्णोन्नति को प्राप्त करके स्वतः ही वेदादि का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

पूर्वकाल में कथावाचकों में निःस्वार्थता एवं शास्त्रनिष्ठा थी। वे धन की अपेक्षा पात्र की भावना को प्रधानता देते थे। अतएव जब देवराज इंद्र इत्यादि उनके पास श्रीमद्भागवत की कथा सुनने के लिए आये तो शुकदेव जी ने उन्हें धर्म का सौदागर बताते हुए उपहास किया एवं कथा नहीं सुनाई। परंतु श्रापदग्ध जीवन वाले राजा परीक्षित् को निःस्वार्थ भाव से कथालाभ दिया। पूर्वकाल में श्रोता और वक्ता के मध्य प्रश्नोत्तर सत्र होते थे। लोगों की जिज्ञासाओं का शमन व्यासमंच से होता था। परंतु अब वह परम्परा लुप्तप्राय हो गयी है। अभिनेत्रियों की भांति बाह्य आडम्बर एवं भौतिक सजावट से युक्त होकर रटी रटाई कथावाचन करके एवं भजन प्रधान मनोरंजन करके लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं एवं स्वयं को ब्रह्मवेत्ता बताते हुए मोक्ष का मार्गदर्शक मान बैठते हैं। कानून अलग है, वह मनुष्य निर्मित है एवं दोषयुक्त है. धर्म अलग है, वह ब्रह्म एवं प्रकृति निर्मित है एवं विशुद्ध है ... कानून के लिए धर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि कानून क्षणिक एवं परिवर्तनशील है, जबकि धर्म शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय है।

--*

संस्कारों का महत्त्व

संस्कारों की गहराई...चढ़ाई और उतराई...उतराई और चढ़ाई... उन दिनों की है जब मेरे इस शरीर की आयु 10 वर्ष की थी। मैं शैक्षणिक उद्देश्य से रांची में अपने पिताजी (आचार्यश्री शंकरदास गुरु) के साथ रहता था और मेरी माताजी (श्रीमती ज्ञानमती देवी) हमारे पैतृक स्थान, बोकारो में मेरे दो शिशु सहोदरों के साथ रहती थीं। हमारे घर में चाय पीने वाली वो इकलौती सदस्या थीं। हालांकि हमने बाद में उनसे अनुरोध करके करीब सात वर्ष पूर्व वो भी छुड़वा दिया। अब हमारे घर चाय तक नहीं बनती, न स्वयं के लिए, न मेहमान के लिए। वैसे भी रिश्तेदारों से अपनी सैद्धांतिक रूप से बनती नहीं, शिष्यों को मतलब नहीं। तो मैं मुख्य बिंदु पर आता हूँ, उस घटना पर जो मेरी माताजी ने मुझे एक बार संस्कारों के ऊपर शिक्षा देते हुए बताई थी। उनके साथ घटी घटना इस प्रकार है। एक बार मेरी माताजी को चाय पीने की प्रबल इच्छा हुई। अधिक अपरिग्रह और अधिक समाजसेवा के कारण हमारे घर में आर्थिक विपन्नता तब भी थी, और आज भी कुछ बहुत तो है ही। आवश्यकता से कम नारायण ने होने नहीं दिया कभी, और आवश्यकता से अधिक हमने मांगा नहीं कभी।

तो चाय बनाने का पात्र पुराना होकर छतिग्रस्त हो गया था, सो मेरी माताजी ने कड़ाही में चाय बनाई। उस दिन चाय बहुत कड़वी बनी। माताजी को कारण समझ नहीं आया। अगले दिन रगड़ रगड़ कर साफ़ किया, फिर भी चाय मीठी नहीं हुई। माताजी ने विचार किया कि इसमें प्रतिदिन हल्दी, तेल, मिर्चा, नमक पड़ते पड़ते इसमें उनके सूक्ष्म संस्कार व्याप्त हो गए हैं। इन्हें हटाने के लिए गहन परिश्रम करना पड़ेगा। और उन्होंने प्रतिदिन उसी में केवल चाय ही बनाना प्रारम्भ किया। करीब 6 महीनों बाद उसमें बिल्कुल अच्छी गुणवत्ता की मीठी चाय बनने लगी। माताजी ने सोचा कि चलो, ये परीक्षण तो हो गया। उन्होंने फिर 6 महीने उस कड़ाही में केवल चाय ही बनाई और बिल्कुल अच्छी बनाई। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। माताजी ने सोचा कि अब तक कड़ाही में तो चाय, दूध, चीनी के संस्कार भी आ ही गए होंगे तो अब क्यों न इसमें सब्जी बनाकर देखें। लेकिन बनाने पर सब्जी मीठी नहीं बनी, सामान्य ही बनी। और फिर उसमें माताजी ने एक सप्ताह तक सब्जी ही बनाई और फिर से चाय बनाई।

इस बार पुनः आश्चर्यजनक रूप से चाय कड़वी ही बनी। इस घटना के बहुत दिनों बाद माताजी ने मुझे उपदेश करते हुए निम्न सूत्र समझाए :- हे पुत्र !! हमारा जीवन वही कड़ाही है जिसमें अनेकों जन्मों से कुसंस्कार भरे हुए हैं। अचानक से सत्कर्म करने से तुरन्त फलित नहीं होते, ज्ञान नहीं मिलता और न ही सत्वबुद्धि आती है। उसके लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। जब जड़ कड़ाही अपने संसर्ग से अन्य जड़ लवण आदि के गुण को ग्रहण कर लेती है तो अति संवेदनशील मनुष्य चित्त की क्या बात !! हे पुत्र !! प्रयत्नशील साधक अपने संस्कारों को जब सुधार कर सत्वबुद्धि ले आता है तो साधना सफल होने लगती है और आत्मबोध होने लगता है। परंतु यदि बीच में पुनः साधना खण्डित हो जाये, पापकर्म और कुसंस्कार का अल्पकालिक विक्षेप भी समाहित हो जाये तो वह समग्र शुभ संस्कार और

सत्वबुद्धि को विकृत करके अपार परिश्रम को व्यर्थ कर देता है, अतः साधना में निरन्तरता बनी रहनी चाहिए.. आज संयोगवश मुझे यह घटना स्मरण आ गयी और आपलोगों से साझा किया।

ज्ञान सर्वदा असामान्य ही होता है क्योंकि सामान्यता से ब्रह्मबोध सम्भव नहीं। सामान्यता ही अज्ञान है। ज्ञान चाहे जिसके पास जिस रूप में हो, सर्वदा असामान्य ही होता है। परंतु वास्तव में ज्ञानियों की दृष्टि में तो ज्ञान ही सामान्य है। असामान्यता तो अज्ञानावृत्त जीव ही है। ज्ञान ही उसका सामान्य स्वभाव है। लेकिन सांसारिक परिभाषा में सामान्य ही असामान्य होता है एवं असामान्य ही सामान्य। मैंने भौतिक परिभाषा के अनुसार ही कहा है। जैसे गन्ने में रस, जैसे दुग्ध में शुभ्रता, जैसे जल में शीतलता और जैसे अग्नि में ताप रहता है, वैसे ही ! इस देह में आत्मा भी व्याप्त रहती है। इसी कारण कई व्यक्ति पैर में गोली लगने से भी मरते हैं और कई मस्तक में गोली लगने पर भी नहीं मरते। कई लोग कृत्रिम हृदयादि से भी जीवित रहते हैं तो कई लोग मात्र रक्तहीनता से मर जाते हैं। आत्मा का निवास कोई एक भौतिक अंग नहीं होने से ही ऐसा होता है।

हम ज्ञान नहीं, अज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञान तो हम स्वयं हैं। अग्नि के ताप से ऊष्मा को प्राप्त जल स्वयं भी गर्म हो जाता है और पुनः शीतलता को प्राप्त होता है, ऐसा संसार के दृष्टिकोण से लगता है। परंतु वास्तव में शीतलता तो जल का स्वभाव ही है। उसने शीतलता को प्राप्त नहीं किया, अपितु उसने ऊष्मा को प्राप्त किया और उसका ही परित्याग भी किया।हम स्वयं ज्ञानरूप हैं। हमने अज्ञान को ग्रहण और उसका ही परित्याग किया। जैसे दर्पण में धूल है वैसे ही ज्ञान के ऊपर अज्ञान है। हमारा वह ज्ञानमय स्वरूप आनन्दमय कोष से संचालित होने वाले कारण शरीर के माध्यम से चित्त में सुरक्षित होता है। मानो कि शरीर को गोली लगी, आत्मा को तो नहीं लगी।

निःसन्देह आत्मा को गोली नहीं लगी। परंतु आत्मा तब ही तक इस शरीर में रहती है, जब तक इस शरीर में उसकी ऊर्जा को धारण करने का सामर्थ्य है। आघात, रोग आदि से जब वह सामर्थ्य समाप्त हो जाता है तो आत्मा इसका परित्याग करने पर विवश हो जाती है। गोली शरीर को लगी, इसीलिए नाश शरीर का हुआ। आत्मा को नहीं लग सकती, इसीलिए उसका नाश नहीं हुआ। परंतु जैसे क्षतिग्रस्त गृह हमारे निर्वाह हेतु उपयुक्त नहीं होता, वैसे ही एक क्षतिग्रस्त शरीर आत्मा के लिए उपयुक्त नहीं है। अहंकार भी शरीर को क्षीण करता है।

ज्ञानमूलक अहंकार :- हनुमानजी का ये कहना कि प्रभु की आज्ञा नहीं है वरना रावण का समूल नाश कर देता।
अज्ञानमूलक अहंकार :- जलंधर का ये कहना कि पार्वती को प्राप्त करने के बाद वह शिव का अंश नहीं, शिव का विकल्प बन जायेगा।
जिस समय एवं स्थिति में व्यक्ति अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, कालक्रम की धारा में हर्ष शोक की उपेक्षा करके समाहित हो जाता है, स्वयं का ही चिंतन, स्वयं की ही सेवा एवं स्वयं पर ही शासन करने लगता है, स्वयं से ही प्रश्न तथा स्वयं से ही उत्तर देने लगता है, स्वयं से ही निराश्रित हुए स्वयं को संतुष्ट करने लगता है, तब उसका आत्मतत्व निश्चित हो गया है, ऐसा समझना चाहिए।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

आत्मतत्व का प्रथम दृष्टिकोण :-
मैं ब्रह्म हूँ। (यहाँ मैं विशेष्य एवं ब्रह्म विशेषण है) इसमें अहंकार तत्व है। क्योंकि इसमें कहीं न कहीं दो का भाव है। एक मेरा और दूसरा ब्रह्म का।
आत्मतत्व का द्वितीय दृष्टिकोण :- *मैं हूँ* (यहाँ विशेषण भी मैं, और विशेष्य भी मैं ही हूँ) इसमें अहंकार तत्व और भी प्रबल है। क्योंकि इसमें अस्तित्व केंद्रीकृत है।
आत्मतत्व का तृतीय दृष्टिकोण :-
हूँ (इसमें न कोई विशेषण है और न कोई विशेष्य) यह बस स्वीकारोक्ति है। किसकी, ये ज्ञात नहीं। मैं क्या हूँ ?? ज्ञानी, अज्ञानी, जीव, ब्रह्म, सुंदर, कुरूप, इसका कोई भाव नहीं। बस अस्तित्व की स्वीकारोक्ति है बिना किसी परिभाषा की सीमा में बंधे। यहाँ अहंकार तत्व नहीं है।

ॐ अहंकार रहित आत्मतत्व है। इसीलिए कहा :- तस्य वाचकः प्रणवः। उसका संकेत प्रणव से ही होता है। ओंकार से ही होता है। ओंकार का अर्थ ये नहीं कि *मैं ब्रह्म हूँ।* ओंकार का अर्थ यह भी नहीं कि *मैं हूँ।* ओंकार का अर्थ है कि *हूँ।* स्वीकारोक्ति ही प्रणव है। सामान्य संस्कृत में भी स्वीकारोक्ति के लिए ॐ का प्रयोग किया जाता है। बस स्वयं को अपने शाश्वत रूप में स्वीकार करना है। बिना परिभाषा के, बिना आश्रय से, बिना विशेषण के। वही मार्ग ही है। गंगा के जल और आपके मध्य घाट, रेत, मिट्टी तो मिलेगी ही न। परन्तु उसमें अपेक्षाकृत अधिक शीतलता होगी। वही शीतलता, उद्वेगहीनता साक्षात्कार है।

निःशेषं द्रावयति इति निद्रा। जो सबों को द्रवित कर दे, वह निद्रा है। अपने बाह्य स्वरूप का त्याग ही द्रवित होना है। हिम द्रवित होकर अपने बाह्य रूप का त्याग करता है। मनुष्य अपने बाह्य रूप की सुध नष्ट करके द्रवित होता है। करुणा से द्रवित होता है, परिश्रम से द्रवित होता है, चिंता से द्रवित होता है। इसके मुख्य भेद हैं :- मोहनिद्रा एवं योगनिद्रा। मोह निद्रा वह स्थिति है जब मदिरा आदि बाह्य कारकों से, क्लान्ति आदि आंतरिक कारणों से द्रवण की प्रक्रिया मोह निद्रा है। समत्व को स्थिति प्राप्त होकर आंतरिक यौगिक रसायनों के स्राव से प्राप्त समाधि आदि के रूप में हुई द्रवण की प्रक्रिया योग निद्रा है। कर्मभोग से इतर विशेष उद्देश्य हेतु लिया गया जन्म अवतरण है। (यह दिव्य जन्मों की सकारात्मकता से सम्बंधित है) अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे की ओर अवनति पूर्वक जन्म भी अवतरण है। (यह आसुरी पतनकारी जन्मों की नकारात्मकता से सम्बंधित है)

वैदिक काल में अवतरण हुए हैं। वह वैदिक काल क्या है ? म्लेच्छों ने जिसे कह दिया वही वैदिक काल ? वैदिक काल सृष्टि के प्रारम्भ में भी था और आज भी है, आगे भी रहेगा। क्योंकि वेद तब भी थे, आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। अथर्ववेद के अनुसार भगवे वस्त्र में श्वेत रंग का उदीयमान सूर्य ही हमारा ध्वज है। वेदमध्यापयद्विधिम्...उस (नारायण)

ने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को वेद पढ़ाया। वेद के रचयिता नहीं हैं नारायण, उसके प्रवाचक हैं। उस समय भी वैदिक काल ही था। दो तीन हज़ार ईसा पूर्व को हम वैदिक काल मानें तो फिर महाभारत के काल को क्या कहेंगे ?? रामायण के काल को और मनुओं के काल को ?? अच्छा, वक सब तो काल्पनिक थे क्योंकि न तो अल्लाह ने इसके बारे में कुछ कहा और न ईसा ने। हिरण्य नामक दैत्य ने तामसी शक्तियों से हयग्रीव रूप धरा। वेदों को चुराकर पी लिया। परंतु भगवान् उससे सम्पूर्ण वेदों को नहीं ले पाए क्योंकि उसने वेदों को आत्मसात किया था। उसी के प्रायश्चित स्वरूप हिरण्य ने दधीचि के पिता अथर्वा के रूप में जन्म लेकर शेष वेदांश को प्रकाशित किया और अथर्व संहिता बनाया। इसे बाद में भगवान् शिव ने वेद की प्रामाणिकता दी। वेद से ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। सृष्टि तो पुरुष सूक्त से भी हो सकती है और नासदीय सूक्त से भी। मत्स्य सूक्त से भी हो सकती है और शिव आथर्वण सूक्त से भी। जिस ऋषि ने जैसा देखा, जैसा समझा, वैसा कहा और बताया। कर्म हमारे संस्कार बनाते हैं, संस्कार से हम अपने परिवेश का चयन करते हैं, परिवेश हमारी बुद्धि को प्रभावित करता है और बुद्धि हमारे कर्मों को प्रेरित करती है। वही कर्म हमारे संस्कार बनाते हैं, संस्कार से हम अपने परिवेश का चयन करते हैं, परिवेश हमारी बुद्धि को प्रभावित करता है और बुद्धि हमारे कर्मों को प्रेरित करती है। लेकिन इस मध्य किसी ज्ञाताज्ञात सुकृत्य या दुष्कृत्य के विक्षेप से यह चक्र प्रभावित होता है और कर्मसंक्रमण से पाप से पुण्य तथा पुण्य से पाप की ओर संतुलन बनता रहता है।

अजामिल ने धर्मपूर्वक जीवन बिताया। वेश्या रमण देखने के लिए घर से निकला नहीं था। इच्छा भी नहीं थी, लेकिन फिर भी संयोग वश या अज्ञात दुष्कृत्य दृष्टि से इसी चक्र के मध्य विक्षेपित हो गया। फलतः संस्कार संक्रमित हुए, उन्होंने परिवेश को संक्रमित कर दिया, परिवेश ने बुद्धि और कर्म को प्रभावित किया। यहाँ पुण्य से पाप की ओर झुकाव होने लगा। लेकिन वही अजामिल जब अनिच्छा से नारायण कहता है तो यमदूत और विष्णुदूतों का संवाद सुनता है, उसकी इच्छा नहीं दी उस संवाद को देखने की, और न ही उसने उस संवाद को देखने के लिए नारायण पुकार लगाई। लेकिन फिर भी उसके अनैच्छिक कर्म का प्रभाव प्रकृति मण्डल पर पड़ा, चक्र संक्रमित हुआ और उसे तत्वबोध हो गया और क्षण भर में दुष्कर्म भष्म हो गए। लेकिन घटना न यहाँ से प्रारम्भ हुई और न समाप्त.. आखिर अजामिल को ही वह दुष्कर्म क्यों दिखा ?? और यदि दिखा भी तो उस समय विवेक ने उसका साथ क्यों नहीं दिया ? क्योंकि पूर्वकाल में अजामिल ने उपहास किया था ऋषियों का, साध्वियों का। उसी के परिणाम स्वरूप उसका पतन हुआ, विवेक ने सही समय पर साथ छोड़ दिया। उपहास करने में कोई विशेष कारण न था, लेकिन बस उसने कर दिया। यह अज्ञानता है, और अज्ञानावृत्त संसार का यही बल जीव को विवश करता है। और अजामिल अज्ञान से आवृत्त क्यों हुआ, क्योंकि उसने ऐसे व्यक्ति का अन्न खाया था जिसने अधर्मयुक्त विधि से उसे प्राप्त किया था, वह सूक्ष्म पातक अन्न के माध्यम से बुद्धि तक गया, अजामिल के कर्म को प्रभावित किया और उससे मान्यजनों का उपहास कराया। उपहास ने अगले जन्म में विवेक का नाश किया, लेकिन पूर्वकृत धर्म ने सही समय पर अनैच्छिक रूप से ही सही, लेकिन उसकी रक्षा भी की। मन बुद्धि के पीछे चलता है क्योंकि मन केवल संकल्प-विकल्प करने का माध्यम है। निर्णय लेने की क्षमता बुद्धि में है। मन जब तक बुद्धि के अधीन है, वह उन्नति कराएगा, अन्यथा अवनति कराएगा। ज्ञान सदैव ज्ञान है। बुद्धि से युक्त होकर वह योजना बनता है और मन के माध्यम से इंद्रियों के द्वारा उसका क्रियान्वयन

होता है। शुद्ध ज्ञान जैसा कुछ नहीं है। जो शुद्ध है , वो ज्ञान ही है। जो शुद्ध नहीं, वह ज्ञान नहीं। जैसे सफेद दूध कहना व्यर्थ है, वैसे ही शुद्ध ज्ञान कहना व्यर्थ है। आत्मोपनिषद, आत्मबोधोपनिषद, पाशुपतब्रह्मोपनिषद, हंसोपनिषद आदि में आत्मा को हंसरूप होने का संकेत किया गया है। वैसे तो और भी सैकड़ों जगह है ही। हंस विवेकी होता है, धैर्यवान और नीतिज्ञ होता है। अतः उससे आत्मा के गुण को समझने के लिए हंस कहा गया है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में आत्मा और हंस को भिन्न भिन्न कहा गया है। वहाँ समग्र चेतनों को आत्मा और उसमें से आत्मज्ञान युक्त चेतन को हंस की संज्ञा दी गयी है। शास्त्रों में अरण्यवासी की बड़ी प्रशंसा की गई है। जिस समय व्यक्ति अपने शत्रु के प्रति भी अहिंसक हो जाता है, उसके चित्त की शांति, उसका प्रेम, उसका धैर्य और उसकी क्षमाशीलता की शीतलता प्रबल शत्रु के द्वेष एवं क्रोध को भी बिना किसी उपक्रम के शांत कर दे, समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति अरण्य हो गया है। जिसका चित्त सदैव अपने विरोधी के प्रति चिंतित रहता है, जो सदैव इस नश्वर देह को अनश्वर मान कर इसके पोषण में लिप्त रह कर समस्त संसार से सशंकित रहता है, वह चाहे कितने भी वनों में एकांतवास कर ले, वह अरण्य भाव को प्राप्त नहीं कर सकता।

जब एक क्षुधित व्यक्ति अपने अधिकार के अन्न को अन्य क्षुधित व्यक्ति को बिना किसी अपेक्षा के दे देता है, तब वह अरण्य भाव में है, ऐसा जानिए.. जब एक पिपासु व्यक्ति अपने अधिकार के जल को बिना किसी अपेक्षा के अन्य पिपासु को दे देता है, तब वह अरण्य भाव में है, ऐसा जानिए.. जिसके चित्त की स्थिरता से सिंह भी मृगों की हिंसा छोड़ देते हैं, जिसके चित्त की शांति से प्रेतादि उससे दूर भागते हैं, जिसके दर्शन मात्र से उद्वेग वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्निसेवन से शीत, वही अरण्य का साधक है, ऐसा जानिए... जो चेतन है परंतु अपने ऊपर आघात करने वाले लकड़हारों का प्रतिकार नहीं कर सकता, उस वृक्ष समुदाय से युक्त वन के सानिध्य से आप किस सिद्धि की अपेक्षा करते हैं ? जिस परिवेश के चिंतन मात्र से धीर पुरुषों का चित्त भी कम्पित हो जाता है, जहाँ सभी ऋतुओं में केवल कष्ट ही कष्ट है, उस घोर वन के सानिध्य से आप किस सिद्धि की अपेक्षा करते हैं ? जिस वन में मूषक, मार्जार, सर्प, नकुल, वृक, व्याघ्र, गज, सिंह एवं व्याध परस्पर वैर भाव रखकर एक दूसरे के प्राणों का बलपूर्वक हरण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, जो असहाय प्राणियों के चीत्कार, शवादि से सदैव बीभत्स बना रहता है, उस वन के सानिध्य से आप किस सिद्धि की अपेक्षा करते हैं ? यह संसार ही वन है। यह भव ही अटवी है। इसमें ही आने के बाद चेतन अपने ऊपर आक्रमण करने वाले कामादि प्रबल रिपुओं का प्रतिकार नहीं कर पाता। इसमें आने के बाद ही धीर पुरुष भी कम्पित होते हैं, सदा सर्वदा दुःखमूल यह संसार ही वन है। इस भवाटवी में आने के बाद ही स्वयं के पोषण एवं उन्नति के उद्देश्य से अन्य समस्त प्राणियों के विनाश एवं शोषण की प्रबल इच्छा होती है, दूसरे के कष्ट में अपना आनंद दिखता है, दूसरे के आनंद में अपना क्लेश प्रतीत होता है। इस वन को साधने वाले ही अरण्यवासी हैं। इस वन के दुर्भेद्य प्रभाव का भेदन करने वाला ही मृत्युंजय है। वही शक्ति का पात्र है, वही मृत संजीवनी का पात्र है। वही सर्वज्ञ है, वही अरण्य है.....

--*

सद्गुरु कौन है ?

लोक में गुरु की बड़ी महत्ता बताई गई है। सनातन धर्म में गुरु और ईश्वर में अभेदबुद्धि रखने का निर्देश है। किन्तु आजकल गुरु के नाम और पद का बहुत दुरुपयोग होने लगा है। गुरु की पहली अनिवार्यता :-

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो यथावत् साङ्गवेदवित् ॥
(विश्वामित्र संहिता)

ब्राह्मणी के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा जन्म हो तथा अंगों सहित वेद का विद्वान् हो। (आगे और भी बहुत सी अनिवार्यता बताई गई है)

ब्राह्मणः सत्वसम्पन्नः शुचिर्दक्षो जितेन्द्रियः। समर्थोऽधीतवेदश्च सर्व तंत्रार्थवित् सुधीः ॥
मायमतत्वविद्भक्तस्त्यागी नित्यं प्रियंवदः। एवमादिगुणैश्चान्यैर्युक्तः आचार्यसत्तमः ॥
(पञ्चप्रश्नगुह्यतंत्र, षष्ठ पटल, ३-४)

ऐसा ब्राह्मण, जो सात्विक हो, शुद्ध, निपुण, जितेन्द्रिय, समर्थ, वेदज्ञ, तंत्रवेत्ता, बुद्धिमान, मायावाद से रहित, भक्त, त्यागी, सदैव मधुरभाषी होना, आदि गुणों से युक्त हो वही श्रेष्ठ गुरु है।

गुरौ मनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरबुद्धिताम्। न कुर्याद्यन्त्रमूर्त्यादौ शिलाबुद्धिं कदाचन ॥
(परमानन्द तंत्र, त्रयोदश उल्लास)

गुरु में मनुष्यबुद्धि, मन्त्र में अक्षरबुद्धि और यंत्र, देवमूर्ति आदि में पाषाण बुद्धि कभी नहीं करना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः। बंधाय विषयासक्तिः मुक्त्यै कृष्णेऽनुयोजनम् ॥
(रहस्याम्नाय वैहायसी संहिता, तृतीय अवतार)

मन ही मनुष्यों के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। बंधन हेतु सांसारिक विषयों में आसक्ति करनी चाहिए तथा मुक्ति के लिए श्रीकृष्ण में लगाना चाहिए।

अलं वेदैः पुराणैश्च स्मृतिभिः संहितादिभिः। किमन्यैर्बहुभिस्तन्त्रैर्ज्ञात्वैकं सर्वविद्भवेत् ॥
(महानिर्वाणतंत्र, चतुर्दश पटल)

वेदों को पढ़ कर क्या ? पुराण, स्मृति, संहिता आदि से भी क्या ? अथवा नाना प्रकार के तन्त्रों से भी क्या ?? उस एक (ब्रह्म) को जानकर ही व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। (यहाँ किसी की निंदा नहीं की गयी है, अपितु ब्रह्मविद्या को ही सर्वोच्च और सबसे पूर्ण बताया गया है। वेदों के सब अधिकारी नहीं हैं। पुराण कथाओं से पूर्ण हैं और स्मृतियां सामाजिक व्यवस्था पर ही केन्द्रित हैं। संहिताएं अपने अपने मत से मात्र सम्प्रदाय विवेचन करती हैं तथा तन्त्र भी आपस में बहुत उलझन और विरोधाभास से भरे हैं। इसीलिए इनमें व्यर्थ विवाद न करते हुए मात्र ब्रह्मोपादेय ज्ञान को ही सार समझ कर ग्रहण करना चाहिए, यह उक्त श्लोक का भाव है।)

आस्तिकोऽथ शुचिर्दक्षो द्वैतहीनो जितेन्द्रियः। ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मवादी च ब्राह्मी ब्रह्मपरायणः॥
सर्वहिंसाविनिर्मुक्तः सर्वप्राणिहिते रतः। सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारी स्यात्तदन्यत्र न साधकः॥
(गन्धर्व तंत्र, द्वितीय पटल)

आस्तिक, शुद्ध, निपुण, अद्वैती, जितेन्द्रिय, ब्रह्म में स्थित, ब्रह्मवाद का अनुयायी, स्वयं ब्रह्मरूप एवं ब्रह्मभावाश्रित, सभी प्रकार ही हिंसा से मुक्त और सभी प्राणियों के हित में रत व्यक्ति तंत्रशास्त्र का अधिकारी है, अन्य नहीं।
अब शंका हो सकती है कि कदम कदम पर जो मांस मदिरा की बात तंत्रों में है, उसमें सर्वहिंसाविनिर्मुक्तः से अधिकारत्व कैसे सिद्ध होगा ?

ज्यौतिषे मन्त्रवादे च वैद्यके वेदकर्मणि। अर्थमात्रं तु गृह्णीयान्नापशब्दं विचारयेत्॥
(मत्स्यसूक्त)

ज्यौतिष, मंत्रशास्त्र, चिकित्सा एवं वेदकर्म (गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र में वर्णित वेदविहित संस्कार यज्ञादि कर्म के बारे में) केवल शुद्ध अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, अपशब्द (विकृत अर्थ) ग्रहण न करे। (आशा है कि पारस्कर गृह्यसूत्र में वर्णित अन्नप्राशन मांसभक्षण का समाधान हो गया होगा) यहाँ पुनः शंका होती है कि उपर्युक्त प्रमाण में तो मन्त्रवाद कहा, तंत्रवाद तो नहीं। इसका समाधान यह है :-

मंत्रस्य वादो यत्र इति मंत्रवादस्तंत्रमिति।
(प्राणतोषिणी तंत्र, सर्ग कांड)
अहमेव परं ब्रह्म जगन्नाथो महेश्वरः। इति स्यान्निश्चितो मुक्तो बद्धः स्यादन्यथा पुमान्॥
योऽसौ सर्वेषु शास्त्रेषु पठ्यते ह्यज ईश्वरः। अकायो निर्गुणो ह्यात्मा सोऽहमस्मि न संशयः॥
हेतुर्नास्ति फलं नास्ति नास्ति कर्म स्वभावतः। असद्भूतमिदं सर्वं नास्ति लोको न लौकिकः ॥
(देवीकालोत्तरागम तन्त्र)

मैं ही परब्रह्म हूँ, मैं ही जगन्नाथ और महेश्वर हूँ, इस तरह के निश्चय से सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा वह

बन्धन में ही पड़ा रहेगा। जो सभी शास्त्रों में अज, ईश्वर, अकाय, निर्गुण आत्मा के रूप में वर्णित है, वह मैं ही हूँ। इस संसार में हेतु (कारण) की और उसके फल की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। स्वभावतः कर्म भी विद्यमान नहीं है। इस संसार में सब कुछ असत्स्वरूप है, केवल उसका स्वप्नस्थ आभास होता है। इस तरह से इस लोक की और सारे लौकिक व्यवहारों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है।

श्रीमालिनीविजयोत्तर तंत्र के अनुसार सद्गुरु के लक्षणों के सन्दर्भ में परमेश (सदाशिव) ने कहा है :-
हे देवि !! वैसे तो गुरु और मुझमें (ब्रह्म में) कोई भेद नहीं देखना चाहिए, गुरु प्रत्यक्ष ब्रह्म है। उसकी कृपा से दुर्गम शास्त्र भी सुगम हो जाते हैं। वैसे तो आगम शास्त्रों तथा पुराणों में गुरु के कई लक्षण, योग्यता आदि बताए गए हैं, किंतु उनमें से पांच सर्वप्रमुख लक्षण मैं बताता हूँ। देह, जाति, लिंग, आयु, आदि भौतिक लक्षणों का विचार ब्रह्मज्ञान में अधिक महत्व नहीं रखता है। हालांकि, आधार यही है गुरुचयन का, किंतु इससे भी ऊपर पांच लक्षण और हैं।

१ :- सद्गुरु की पहली पहचान उसके व्यवहार से होती है। उसके मन में किसी भी प्रकार से ईश्वर और धर्मशास्त्र के प्रति द्वेषबुद्धि नहीं डाली जा सकती है। ईश्वर और धर्म के प्रति उसकी आस्था अटूट होती है और यह बात उसके व्यवहार से भी दिखती है।
२ :- सद्गुरु कुशल मन्त्रवेत्ता होता है। वह मन्त्रों की गोपनीयता की रक्षा करता है, उसके दुरुपयोग से बचता है और मन्त्र उसके लिए सदैव फलदायी होते हैं। मन्त्रों की साधना में उसे विशेष दक्षता होती है तथा वह उनके रहस्यों से अवगत होता है।
३ :- सद्गुरु के समक्ष जाने वाले व्यक्ति उसके व्यक्तित्व की ओर स्वतः ही आकृष्ट हो जाते हैं। मनुष्य ही नहीं, अन्य जीव जंतु भी उसके प्रति आदर का भाव रखते हैं। उसके प्रति चित्त में स्वभावतः सम्मान उत्पन्न होता है तथा सत्पुरुषों के समाज में उसकी विशेष प्रतिष्ठा देखी जाती है।
४ :- सद्गुरु के लिखे गए ग्रंथ, उनके द्वारा दिये गए उपदेश और प्रवचनों के अध्ययन श्रवण के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कंठ में साक्षात् सरस्वती का वास हो। उसके उपदेश सदैव धर्मसम्मत और कल्याणकारी होते हैं। उनमें क्रोध, लोभ और भय का अभाव होता है।
५ :- सद्गुरु का पांचवां लक्षण है उसकी व्यापकता। वह सभी शास्त्रों का ज्ञाता होता है। अपने सम्प्रदाय के साथ साथ वह अन्य मतों का भी विशेषज्ञ होता है। अपनी परम्परा के संरक्षण तथा अपने शिष्यों के सन्देहनाश में दक्ष होता है। उसके पास शेष के प्रति आसक्ति और अशेष के प्रति आशा नहीं होती।
हे देवि !! ऐसा सद्गुरु अपने शिष्यों को भवसागर से उसी प्रकार पार कर देता है, जैसे एक कुशल नाविक यात्रियों को। ऐसा सद्गुरु अत्यंत दुर्लभ है। वह निकट होने पर भी किसी किसी को नहीं दिखता और दूर होने पर भी किसी को सौभाग्य से मिल जाया करता है।

गुकारश्चान्धकारो हि रुकारस्तेज उच्यते। अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः ॥

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः। रुकारोऽस्ति परं ब्रह्म मायाभ्रान्तिविमोचनम् ॥
(गुरुगीता के आधार पर धुरन्धर संहिता, सत्रहवां पटल)

गुरु शब्द में जो 'गु'कार है वह अन्धकार का प्रतीक है और जो 'रु'कार है उसे तेज कहते है। अज्ञान को अपना ग्रास बनाने वाला अर्थात् अज्ञान को नष्ट करने वाला ब्रह्म गुरु ही है, इसमें संशय नहीं है। 'गु'कार पहला वर्ण है, जो माया आदि गुण का भास कराता है। 'रु'कार का अर्थ परब्रह्म है जो माया की भ्रान्ति का विमोचन करता है।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः। तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यचिन्तापहारकम्॥
अशास्त्रे वञ्चके धूर्ते पाषण्डे नास्तिकादिषु। गुरुबुद्धिं न वै कुर्यात्कृत्वा दुर्गतिभाग्भवेत्॥
मोहमारणवश्यादितुच्छमन्त्रोपदर्शिनम्। निषिद्धगुरुरित्याहुः पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः॥
ज्ञानाचारविहीनो यः कार्याकार्यविवेकधृक्। तमुत्पथं परित्यज्य पुनः शुद्धं समाश्रयेत्॥
अनित्यमिति निर्दिश्य संसारं सङ्कटालयम्। वैराग्यपथदर्शी यः स गुरुर्विहितः सुधीः॥
कुलं धनं बलं शास्त्रं बान्धवास्सोदरा इमे। मरणे नोपयुज्यन्ते गुरुरेको हि तारकः॥
(गुरुगीता के आधार पर धुरन्धर संहिता, सत्रहवां पटल)

अपने शिष्य के धन का अपहरण करने वाले तो इस संसार में बहुत से गुरु हैं, लेकिन मैं उसे दुर्लभ मानता हूँ जो शिष्य की चिन्ता का अपहरण कर दे। जो शास्त्रज्ञान से रहित हो, ठग हो, धूर्त हो, वेद के ज्ञान का खंडन करता हो, नास्तिक आदि हो, उन लोगों में व्यक्ति अपने गुरु की बुद्धि न करे, यदि करता है तो वह दुर्गति का भागी होता है। जो मारण-मोहन-वशीकरण इत्यादि तुच्छ मन्त्रों का उपदेश करता है, ऐसे गुरु को तत्त्वदर्शी पण्डितजन निषिद्ध गुरु कहते हैं। जो ज्ञान के आचार से विहीन है और कार्य एवं अकार्य में अपने विवेक को धारण नहीं करता, उस उत्पथगामी मनमौजी गुरु को छोड़कर शुद्ध गुरु का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यह संसार अनित्य है और संकटों से घिरा हुआ है, इस प्रकार से जो बताकर वैराग्य-पथ का प्रदर्शन करे, उसे ही बुद्धिमान् गुरु बताया गया है। कुल-धन-बल-शास्त्र तथा सहोदर बन्धु-बान्धव भाई इत्यादि कोई भी मरने के समय कार्य नहीं आते (उपयोगी सिद्ध नहीं होते), केवल गुरु ही उद्धार करने वाला है। लोगों के साथ समस्या यह है कि एक बार किसी को गुरु मान लिया तो उनके सही गलत, झूठ सच, सबको आंख मूंद कर मानते जाते हैं।

व्यङ्गाङ्गहीना वधिराः कुयोनिषुरताश्च ये । तेषां मन्त्रो न सुखदः प्रोक्तः कविभिरेव च ॥
(जैमिनीय महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, द्वितीय अध्याय)
गुरुर्मंत्रस्य मूलं स्यान्मूलशुद्धौ तु तच्छुभम्। सफलं जायते यस्मात् तस्माद् यत्नेन वीक्षयेत्॥
(कालिका पुराण)

हीनांग, अधिकांग, बधिर और अनुचित आचरण वाले वाले व्यक्ति से गुरुमन्त्र लेने पर वह मन्त्र सुखदायी नहीं होता, ऐसा विद्वानों का मत है।गुरु ही मंत्र के मूल हैं। मूल के शुद्ध होने पर मंत्र भी शुभ एवं सफल होता है। इसीलिए

यत्नपूर्वक गुरु बनाने से पहले उसके गुण दोषादि का विचार कर लेना चाहिये।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥
(महाभारत, उद्योगपर्व)
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्यकार्यमजानतः। कामाचारप्रवृत्तस्य न कार्यं ब्रुवतो वचः॥
(वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड)

कार्य तथा अकार्य में ज्ञानरहित तथा उत्पथगामी गर्वित अभिमानी गुरु का त्याग उचित है। कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित मनमानी करने वाले गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए।

गृहीतमंत्रस्त्यक्तो गुरुश्चेद्दोषसंयुतः।
महापातकयुक्तो वा गुरुदेवविनिंदकः। त्यक्त्वा सर्वं प्रयत्नेन पुनर्ग्राह्यं यथाविधि॥
(यामल तंत्र)

यदि गुरु दोष से युक्त है अथवा महापातकयुक्त है अथवा अपने गुरु तथा देवताओं की निंदा करने वाला हो, तो उस स्थिति में प्रयत्न करके उसका त्याग करके पुनः यथाविधि नए गुरु का चयन करना चाहिए। हालांकि मुण्डमाला तंत्र आदि के अनुयायी यह कहते हैं कि गुरु चाहे उचित हों या अनुचित हों, अथवा पातकी ही क्यों न हों, एक बार उनमें आस्था बन जाने पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि गुरु में दोषदर्शन की प्रवृत्ति वाला व्यक्ति अन्य योग्य गुरुओं में भी दोषदर्शन करेगा। अतएव गुरु के ऊपर विश्वास की हानि न होने दे। आगमतत्वविलास के अनुसार इस मत का विस्तृत परिमार्जन स्कन्दपुराण एवं यामल तन्त्र में इस प्रकार किया गया है :- यदि गुरु दोष से युक्त है अथवा पातकयुक्त है अथवा अपने गुरु तथा देवताओं की निंदा करने वाला हो, तो उस स्थिति में प्रयत्न करके उसका त्याग करके पुनः यथाविधि नए गुरु का चयन करना चाहिए। क्योंकि जो स्वयं ब्रह्मज्ञान से रहित हो वह शिष्य को ब्रह्मबोध कैसे करा सकता है ? भला कहीं तैरने में असमर्थ पाषाण भी किसी के पारगमन का निमित्त बनेगा ?? जैसे एक रजक मलिन वस्त्रों को धोता है, कभी रगड़ता है, कभी पटकता है, कभी निचोड़ता है, कभी जलाप्लुत करता है, वैसे ही गुरु भी अपने मलिन चित्त वाले शिष्य का मार्जन कठोर अनुशासन, परीक्षा, आंशिक प्रताड़ना और आंशिक कृपाप्लुत दृष्टि से करता है। जैसे रजक अपने मार्जन क्रिया में वस्त्र को इतना अधिक नहीं रगड़ता कि वह घिस जाए, फट जाए, वैसे ही गुरु भी अपने शिष्य को सर्वदा संतुलित संयमन से ही शुद्ध करता है।जर्जर और समुचित बन्धन रहित तंतु वाला वस्त्र जैसे धोबी के रगड़ने पर फट जाता है, वैसे ही जर्जर विवेक वाला और समुचित धैर्य से रहित शिष्य भी गुरु के प्रशिक्षण की गुरुता को न सह पाने से नष्ट हो जाता है। कृपारहित गुरु और धैर्यरहित शिष्य एक दूसरे के साथ साथ स्वयं के लिए भी अहितकारी होते हैं....

--*

अक्षय तिथियाँ क्या हैं ?

क्या हैं अक्षय तिथियाँ, तथा इनका क्या महत्व है ? सनातन धर्म में कुछ विशेष योगों, दिनों तथा तिथियों को अक्षय कहा गया है। ये ऐसी तिथियां होती हैं जिस दिन दान, तीर्थस्नान, जप, हवन आदि का फल अक्षय एवं अनंत होता है। सामान्य तौर पर समाज में अक्षय के नाम से केवल वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) एवं कार्तिक शुक्ल नवमी (अक्षय नवमी) ही प्रचलित हैं। परंतु दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि शेष अक्षय तिथियों तथा योगों के बारे में लोग न जानते हैं और न ही पंचागकर्तागण इसका स्पष्ट संकेत करते हैं।
योगिनी तंत्र में भगवान् कहते हैं :-

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चंद्रसूर्ययोः। रविसंक्रांतिदिवसे युगाद्यासु सुरेश्वरि॥
मन्वन्तरासु सर्वासु महापूजादिने तथा। महातीर्थेषु सर्वेषु नास्ति कालस्य निर्णयः॥

अर्थात्, हे सुरेश्वरी !! उत्तरायण तथा दक्षिणायन की संक्रांति में (कर्क एवं मकर संक्रांति) चंद्र तथा सूर्य ग्रहण में (मात्र दृश्य होने पर) द्वादश सूर्य संक्रांति पर, युगादि तिथियों (चारों) में तथा मन्वन्तरादि तिथियों (चौदहों) में महातीर्थों का सानिध्य मिलने पर पूजा के विषय में काल मुहूर्त का निर्णय न करे।

ब्रह्म पुराण के अनुसार :-
वैशाख मासस्य च या तृतीया, नवम्यसौ कार्तिकशुक्लपक्षे।
नभस्य मासस्य तमिस्रपक्षे, त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे।
एता युगाद्याः कथिता, मुनींद्रैरनन्तपुण्यास्तिथयःश्चतस्रः॥

(गौणचांद्रगणना से, अर्थात् पहले कृष्ण, फिर शुक्लपक्ष) वैशाख (शुक्ल) तृतीया, कार्तिक शुक्ला नवमी, श्रावण कृष्णा त्रयोदशी तथा माघ की पूर्णिमा, इन चारों को युगादि तिथि कहा गया है, ये अनन्त पुण्य तिथियां हैं। कुछ के मत से पुण्य रूप सत्ययुग एवं त्रेता का प्रादुर्भाव शुक्ल पक्ष में हुआ था :- द्वे शुक्ले द्वे तथा कृष्णे, युगाद्ये परिकीर्तिते। इसीलिए पापरूप द्वापर एवं कलियुग का प्रादुर्भाव कृष्ण पक्ष में समीचीन है एवं ब्रह्मपुराण के उक्त श्लोक में पंचदशी का भाव माघ कृष्ण अमावस्या से है। आचार्य हलायुध एवं गोविंदानंद जैसे अन्य विद्वान कहते हैं कि :-

वैशाखे शुक्ल पक्षे तु तृतीयायां कृतं युगम्। कार्तिके शुक्लपक्षे तु त्रेताथ नवमेऽहनि॥
अथ भाद्रपदे मासि त्रयोदश्यान्तु द्वापरम्। माघे च पौर्णमास्यां वै घोरं कलियुगं स्मृतम्।

(क्षयमास, अधिकमास, तिथिक्षय, तिथिवृद्धि आदि के कारण किसी किसी समय)
वैशाख शुक्ल तृतीया को सत्ययुग, कार्तिक शुक्ल नवमी को त्रेता, भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी को द्वापर तथा माघ (शुक्ल)

पूर्णिमा को कलियुग की उत्पत्ति हुई है। और इसी के आधार पर सभी शुक्ला तिथियों को ही युगादि मानते हैं। गौणचांद्र तथा प्रबलचांद्र गणना के भेद से यह विरोधाभास दिखता है। भविष्य पुराण एवं मत्स्य पुराण के मत के अनुसार :-

अश्वयुक् शुक्ल नवमी द्वादशी कार्तिकी तथा। तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च॥
फाल्गुनस्याप्यमावास्या पौषस्यैकादशी तथा। आषाढ़स्यापि दशमी तथा माघस्य सप्तमी॥
श्रावणस्याऽष्टमी कृष्णा तथाषाढ़स्य पूर्णिमा।
कार्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्येष्ठी पंचदशी सिता। मन्वन्तरादयस्त्वेता दत्तसाक्षयकारिका॥

अर्थात्, आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिक शुक्ला द्वादशी, चैत्र तथा भाद्रपद शुक्ला तृतीया, फाल्गुन अमावस्या, पौष शुक्ला एकादशी, आषाढ़ शुक्ला दशमी, माघ शुक्ला सप्तमी, श्रावण कृष्णा अष्टमी, आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिक-फाल्गुन-चैत्र-ज्येष्ठ पूर्णिमा, इन तिथियों को मन्वन्तरादि कहते हैं तथा इनमें किया गया दानादि अक्षय होता है। इसका समर्थन विष्णुपुराण आदि में भी प्राप्त होता है। युगादि तिथियों की भांति मन्वन्तरादि तिथियों के विषय में भी विद्वानों में मतभेद मिलता है। कामधेनु ग्रंथकार इसमें चैत्र की तृतीया के स्थान पर तृतीया मानते हैं :- तृतीया चैव माघस्य। कल्पतरु ग्रंथकार इसका खंडन करते हुए पुनः श्रीपति रत्नमाला के पाठ का उद्धरण देते हुए चैत्र शुक्ला तृतीया के मत का समर्थन करते हैं। श्रीदत्त स्मार्त आदि विद्वान भी कल्पतरु के मत से सहमत हैं। इस प्रकार से सनातन धर्म में कई अक्षय तिथियां एवं पारिस्थितिक योग उपलब्ध हैं जिनका ज्ञान होना समाज के लिए आवश्यक है।

--*

देवता ३३ करोड़ हैं अथवा ३३ प्रकार के ?

देवता वास्तव में 33 करोड़ ही हैं, 33 प्रकार के नहीं। आमतौर पर जो लोग यह समझते हैं कि 33 कोटि शब्द में कोटि का अर्थ 'प्रकार' है, वे अपनी बात के समर्थन में निम्न बातें करते हैं।

भ्रमपूर्ण तर्क : उनका कहना है कि हिन्दू धर्म को भ्रमित करने के लिए अक्सर देवी और देवताओं की संख्या 33 करोड़ बताई जाती रही है। धर्मग्रंथों में देवताओं की 33 कोटि बताई गई है, करोड़ नहीं। जिस प्रकार एक ही शब्द को अलग-अलग स्थान पर प्रयोग करने पर अर्थ भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार देवभाषा संस्कृत में कोटि शब्द के दो अर्थ होते हैं।
कोटि का मतलब प्रकार होता है और एक अर्थ करोड़ भी होता है लेकिन यहां कोटि का अर्थ प्रकार है, करोड़ नहीं। इस बात के समर्थन में वे यह भी कहते हैं कि ग्रंथों को खंगालने के बाद कुल 33 प्रकार के देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है। ये निम्न प्रकार से हैं-
12 आदित्य, 8 वसु, 11 रुद्र और इन्द्र व प्रजापति को मिलाकर कुल 33 देवता होते हैं। कुछ विद्वान इन्द्र और प्रजापति की जगह 2 अश्विनी कुमारों को रखते हैं। प्रजापति ही ब्रह्मा हैं।
12 आदित्य : 1. अंशुमान, 2. अर्यमा, 3. इन्द्र, 4. त्वष्टा, 5. धाता, 6. पर्जन्य, 7. पूषा, 8. भग, 9. मित्र, 10. वरुण, 11. विवस्वान और 12. विष्णु।
8 वसु : 1. अप, 2. ध्रुव, 3. सोम, 4. धर, 5. अनिल, 6. अनल, 7. प्रत्यूष और 8. प्रभाष।
11 रुद्र : 1. शम्भू, 2. पिनाकी, 3. गिरीश, 4. स्थाणु, 5. भर्ग, 6. भव, 7. सदाशिव, 8. शिव, 9. हर, 10. शर्व और 11. कपाली।
2 अश्विनी कुमार : 1. नासत्य और 2. दस्त्र।
कुल : 12+8+11+2=33
33 देवी और देवताओं के कुल के अन्य बहुत से देवी-देवता हैं तथा सभी की संख्या मिलाकर भी 33 करोड़ नहीं होती, लाख भी नहीं होती और हजार भी नहीं। वर्तमान में इनकी पूजा होती है।

उपरोक्त तर्क का खंडन :
प्रथम तो कोटि शब्द का अर्थ करोड़ भी है और प्रकार भी है, इसे हम अवश्य स्वीकार करते हैं, परंतु यह नहीं स्वीकार करते कि यहां कोटि का अर्थ करोड़ न होकर प्रकार होगा। पहले तो कोटि शब्द को समझें। कोटि का अर्थ प्रकार लेने से कोई भी व्यक्ति 33 देवता नहीं गिना पाएगा। कारण, स्पष्ट है कि कोटि यानी प्रकार यानी श्रेणी। अब यदि हम कहें कि आदित्य एक श्रेणी यानी प्रकार यानी कोटि है, तो यह कह सकते हैं कि आदित्य की कोटि में 12 देवता आते हैं जिनके नाम अमुक-अमुक हैं। लेकिन आप ये कहें कि सभी 12 अलग-अलग कोटि हैं, तो जरा हमें बताएं कि पर्जन्य,

इन्द्र और त्वष्टा की कोटि में कितने सदस्य हैं? ऐसी गणना ही व्यर्थ है, क्योंकि यदि कोटि कोई हो सकता है तो वह आदित्य है। आदित्य की कोटि में 12 सदस्य, वसु की कोटि या प्रकार में 8 सदस्य आदि-आदि। लेकिन यहां तो एक-एक देवता को एक-एक श्रेणी अर्थात प्रकार कह दिया है।

द्वितीय, उन्हें कैसे ज्ञात कि यहां कोटि का अर्थ प्रकार ही होगा, करोड़ नहीं ? प्रत्यक्ष है कि देवता एक स्थिति है, योनि हैं जैसे मनुष्य आदि एक स्थिति है, योनि है। मनुष्य की योनि में भारतीय, अमेरिकी, अफ्रीकी, रूसी, जापानी आदि कई कोटि यानी श्रेणियां हैं जिसमें इतने-इतने कोटि अर्थात् करोड़ सदस्य हैं। देव योनि में मात्र यही 33 देव नहीं आते। इनके अलावा मणिभद्र आदि अनेक यक्ष, चित्ररथ, तुम्बुरु, आदि गंधर्व, उर्वशी, रम्भा आदि अप्सराएं, अर्यमा आदि पितृगण, वशिष्ठ आदि सप्तर्षि, दक्ष, कश्यप आदि प्रजापति, वासुकि आदि नाग, इस प्रकार और भी कई जातियां देवों में होती हैं जिनमें से 2-3 हजार के नाम तो प्रत्यक्ष अंगुली पर गिनाए जा सकते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद ने कहा : अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।
अथर्ववेद में आया है : अहमादित्यरुत विश्वेदेवै।

इसमें अग्नि और वायु का नाम भी देवता के रूप में आया है। अब क्या ऊपर की 33 देव नामावली में ये न होने से देव नहीं गिने जाएंगे? मैं ये नहीं कह रहा कि ये ऊपर के गिनाए गए 33 देवता नहीं होते बिलकुल होते हैं लेकिन इनके अलावा भी करोड़ों देव हैं। भगवती दुर्गा की 5 प्रधान श्रेणियों में 64 योगिनियां हैं। हर श्रेणी में 64 योगिनी। इनके साथ 52 भैरव भी होते हैं। सैकड़ों योगिनी, अप्सरा, यक्षिणी के नाम मैं बता सकता हूं। 49 प्रकार के मरुद्गण और 56 प्रकार के विश्वेदेव होते हैं। ये सब कहां गए? इनकी गणना क्यों न की गई?

33 कोटि बताने वालों का दूसरा तर्क :
शिव-सती : सती ही पार्वती है और वही दुर्गा है। उसी के 9 रूप हैं। वही 10 महाविद्या है। शिव ही रुद्र हैं और हनुमानजी जैसे उनके कई अंशावतार भी हैं।
विष्णु-लक्ष्मी : विष्णु के 24 अवतार हैं, वही राम हैं और वही कृष्ण भी। बुद्ध भी वही है और नर-नारायण भी वही है। विष्णु जिस शेषनाग पर सोते हैं वही नागदेवता भिन्न-भिन्न रूपों में अवतार लेते हैं। लक्ष्मण और बलराम उन्हीं के अवतार हैं।
ब्रह्मा-सरस्वती : ब्रह्मा को प्रजापति कहा जाता है। उनके मानस पुत्रों के पुत्रों में कश्यप ऋषि हुए जिनकी कई पत्नियां थीं। उन्हीं से इस धरती पर पशु-पक्षी और नर-वानर आदि प्रजातियों का जन्म हुआ। चूंकि वे हमारे जन्मदाता हैं इसलिए ब्रह्मा को प्रजापिता भी कहा जाता है।

इनके तर्क का पुन: खंडन : यदि कश्यप आदि को आप इसीलिए देव नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्मा के द्वारा इनका प्राकट्य

हुआ है, सो ये सब ब्रह्मरूप हुए सो इनकी गिनती नहीं होगी तो कश्यप के द्वारा प्रकट किए गए 12 आदित्य और 8 वसु तथा 11 रुद्रों को आप कश्यप रूप मानकर छोड़ क्यों नहीं देते? इनकी गिनती के समय आपकी प्रज्ञा कहां गई? यदि सारे रूद्र शिव के अवतार हैं, स्वयं हनुमानजी भी हैं, तो क्या आप पार्वती को हनुमानजी की पत्नी कह सकते हैं? क्यों नहीं? इसीलिए क्योंकि हनुमान रुद्रावतार हैं। उस समय अवतार यानी वही ऊर्जा होने पर भी स्वरूपत: और उद्देश्यत: भिन्न हैं। ऐसे ही समग्र संसार नारायण रूप होने पर भी स्वरूपत: और उद्देश्यत: भिन्न हैं। इसी कारण आप सीता को कृष्ण पत्नी और रुक्मिणी को राम पत्नी नहीं कह सकते, क्योंकि अभेद में भी भेद है। और जो सभी के एक होने की बात करते हैं वे यदि इतने ही बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं तो क्या उन्हें शिव और विष्णु की एकाकारता नहीं दिखती ?

शिव और विष्णु में इन्हें भेद दिखता है इसलिए इन्हें अलग-अलग गिनेंगे और राम और विष्णु में अभेद दिखता है, सो इन्हें नहीं गिनेंगे। समग्र संसार ही विष्णुरूप है, रुद्ररूप है, देवीरूप है। भेद भी है और अभेद भी है। लेकिन यदि अभेद मानते हो फिर ये जो 33 देव गिना रहे हो ये भी न गिना पाओगे, क्योंकि जब विष्णु के अवतार राम और कृष्ण को अभेद मानकर नहीं गिन रहे, सती के 10 महाविद्या अवतार को नहीं गिन रहे तो फिर शिवजी के 11 रुद्र अवतार को किस सिद्धांत से गिन रहे हो? सभी ग्रामदेव, कुलदेव, अजर आदि क्षेत्रपाल, ये सबको कौन गिनेगा? ये छोड़ो, इस 33 वाली गणना में तो गणेश, कार्तिकेय, वीरभद्र, अग्नि, वायु, कुबेर, यमराज जैसे प्रमुख देवों को भी नहीं गिना गया। वेदों में कही-कहीं 13 देवता की भी बात आई है और कहीं-कहीं 36 देवता की भी चर्चा है।

3,339 और 6,000 की भी चर्चा है। अकेले वालखिल्यों की संख्या 60,000 है। तो वहां इन 33 में से कुछ को लिया भी गया है और कुछ को नहीं भी। तो क्या वह असत्य है? बिलकुल नहीं। जैसे जहां मनुष्य की चर्चा हो वहां आप केवल उनका ही नाम लेते हैं जिसका उस चर्चा से संबंध हो, सभी का नहीं। वैसे ही जहां जैसे प्रसंग हैं वहां वैसे ही देवों का नाम लिया गया है। इसका अर्थ ये नहीं कि जिनकी चर्चा नहीं की गई, या अन्यत्र की गई, उसका अस्तित्व ही नहीं। इस 33 की श्रेणी में गरूड़, नंदी आदि का नाम नहीं जबकि वेदों में तो है। विनायक की श्रेणी में, वक्रतुण्ड की श्रेणी में गणेशजी के सैकड़ों अवतार के नाम तंत्र में आए हैं।

हां, 33 कोटि देव की बात है जरूर और कोटि का अर्थ करोड़ ही है, क्योंकि देवता केवल स्वर्ग में नहीं रहते। उनके सैकड़ों अन्य दिव्यलोक भी हैं। और ऐसा कहा जाए तो फिर सभी एकरूप होने से सीधे ब्रह्म के ही अंश हैं तो ये 33 भी गिनती में नहीं आएंगे। फिर वैसे तो हम सब भी गिनती में नहीं आएंगे। सभी भारतीय ही हैं तो अलग-अलग क्यों गिनते हैं? शास्त्रीय तंत्र, वेद, पुराण अदि का शोधपूर्ण अध्ययन करने पास आपको हजारों देवताओं के नाम बहुत सरलता से प्राप्त हो जायेंगे। वैसे भी याज्ञवल्क्य ऋषि का वचन है, अनन्ता वै देवाः !! देवताओं की संख्या अनन्त है।

--*

सनातन धर्म के ऊपर वामपंथी आक्षेपों का उत्तर

आजकल एक वामपंथी लेख बहुत प्रचारित हो रहा है, जिसमें कुछ प्रश्न (आक्षेप) किये गए हैं। धर्मविरोधी जन ये प्रश्न करते तो हैं किंतु कभी स्वयं उसका उत्तर नहीं खोजना चाहते। इसका कारण यह है कि इनमें जिज्ञासा अथवा ज्ञान के प्रति श्रद्धा नहीं होती है, मात्र विवाद के आधार पर अपना अस्तित्व दृढ़ करने का निरर्थक प्रयास करते हैं। वैसे तो इनमें से अधिकांश प्रश्न अत्यंत ही निम्नस्तरीय हैं तथा कोई भी सामान्य अध्ययन वाला व्यक्ति इनका उत्तर अत्यंत सरलता से दे सकता है, किन्तु मैं अपनी ओर से कुछ शास्त्रीय आलोक में इनका समाधान कर रहा हूँ –

प्रश्न ०१ – सभी देवी देवताओं ने भारत में ही जन्म क्यों लिया? क्यों किसी भी देवी देवता को भारत के बाहर कोई नहीं जानता ?

उत्तर ०१ – सर्वप्रथम तो यह गलती सुधारें कि देवताओं ने जन्म लिया है। उनका जन्म लौकिक नहीं होता इसीलिए वे अवतार लेते हैं, जन्म नहीं। जहां उनके जन्म की चर्चा आयी है वहां अवतार का ही अर्थ समझना चाहिए। साथ ही, असंख्यात देवताओं में सभी अवतार नहीं लेते, कुछ देवता ही अवतार ग्रहण करके लोककल्याण का कार्य सम्पादित करते हैं। दूसरी बात यह, कि भारत के बाहर भी लोग देवताओं को जानते हैं, किन्तु भिन्न नाम-रूप-गुण के साथ। उदाहरण के लिए, सूर्यतत्व को नियंत्रित करने वाली शक्ति को भारतीय संस्कृति में आदित्य या सविता कहते हैं, तो यूनान में उसे Apollo कहा जाता था। मिस्र में सूर्य का नाम Ra, चीन में Xihe तथा जापान में Amaterasu है। जिस प्रकार से अलग अलग भाषा के लोग पशु, पक्षी, प्राकृतिक संसाधन एवं पारिवारिक सम्बन्धों को अलग अलग नाम से बुलाते हैं, किन्तु तात्पर्य वही रहता है, वैसे ही अलग अलग देशों में भी अलग अलग नाम, रूप एवं विधियों से देवताओं को पुकारा जाता था। देवताओं का यह विशेष गुण है कि उपासक की भावना के अनुसार वे स्वरूपधारण कर लेते हैं। जिसने जितना आध्यात्मिक विकास किया, जिसकी प्रज्ञा का स्तर जैसा रहा, उसने देवताओं के स्वरूप का वैसा ही अनुभव किया।

अब प्रश्न इस बात का है कि देवताओं ने भारत में ही क्यों अवतार ग्रहण किया !! आप हमें यह बताईये, कि जब आप हवाई जहाज से उतरते हैं, तो सीधा अपने घर पर ही उतरते हैं या विमान के अड्डे पर ? जब आप रेलगाड़ी से यात्रा करते हैं तो वे आपको सीधा आपके सटीक गंतव्य तक पहुंचाती है या अपने सर्वाधिक उपयुक्त निर्धारित स्थान पर ? ठीक उसी प्रकार, अवतार भी इधर उधर न होकर भारतभूमि में ही होते हैं, क्योंकि यह सर्वाधिक उपयुक्त स्थल है। भारतभूमि की संस्कृति, समाज, कौशल, पवित्रता एवं ज्ञान-विज्ञानसम्मत व्यवस्था के कारण ही यहां दिव्यावतार होते हैं।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय १९, श्लोक – ०१)

जो समुद्र से उत्तर दिशा, एवं हिमालय से दक्षिण दिशा की ओर स्थित है, उस वर्ष का नाम भारतवर्ष है, जहां की प्रजा भारती(य) कहलाती है।

अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयाति वै। तिर्य्यत्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा द्विजाः॥
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्ते च गच्छति। न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – १९, श्लोक – ०४-०५)

इसी (भारत) से व्यक्ति स्वर्ग जाता है, यहीं के मोक्ष के लिए प्रस्थान करता है, पशु पक्षी आदि की योनि में भी यहीं से जाता है एवं इसे ही कर्मभूमि निर्धारित किया गया है, इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र यह बात नहीं है।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने। यतो हि कर्म्मभूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम। कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – १९, श्लोक – २३-२४)

इस पूरे जम्बूद्वीप में भारतवर्ष अत्यंत श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कर्मभूमि है, जबकि अन्य सभी भोगभूमि हैं। हज़ारों जन्मों के पुण्य जब संचित होते हैं तब किसी किसी को यहां मनुष्य योनि में जन्म मिलता है।

क्षारोदधेरुत्तरं यद्धिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। ज्ञेयं तद्भारतं वर्षं सर्वकर्मफलप्रदम्॥
अत्र कर्माणि कुर्वन्ति त्रिविधानि तु नारद। तत्फलं भुज्यते चैव भोगभूमिष्वनुक्रमात्॥
भारते तु कृतं कर्म शुभं वाशुभमेव च। तत्फलं क्षयि विप्रेन्द्र भुज्यतेऽन्यत्रजन्तुभिः॥
अद्यापि देवा इच्छन्ति जन्म भारतभूतले। संचितं सुमहत्पुण्यमक्षय्यममलं शुभम्॥
कदा लभामहे जन्म वर्षभारतभूमिषु। कदा पुण्येन महता यास्याम परमं पदम्॥
(नारद पुराण, पूर्वभाग, प्रथमपाद, अध्याय – ०३, श्लोक – ४६-५०)

खारे समुद्र से उत्तर एवं बर्फ के पर्वत (हिमालय) से दक्षिण के भूभाग को सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला भारतवर्ष जानना चाहिए। हे नारद ! यहां तीन प्रकार के (उत्तम, मध्यम, अधम) कर्मों को करने के बाद उसके फल को अन्य भोगभूमि में क्रमशः भोगा जाता है। भारत में किया गया शुभ अथवा अशुभ कर्म प्राणियों के द्वारा अन्यत्र (स्वर्ग-नरक आदि सूक्ष्म लोकों में, पुष्कर-शाल्मलि आदि सूक्ष्म द्वीपों में अथवा अमेरिका-रूस आदि म्लेच्छ देशों में) भोगा जाता है। आज भी देवतागण इस भारतभूमि में जन्म लेने के लिए, महान् निर्मल अक्षय पुण्य के सञ्चय हेतु इच्छा करते हैं। वे कहते हैं – "वह दिन कब आएगा, जब हम भारतभूमि में जन्म लेंगे और कब महान् पुण्यबल से परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करेंगे !!

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः। इज्यायुतवणिज्यादि वर्तयन्तो व्यवस्थिताः॥
तेषां सव्यवहारोऽयं वर्तनन्तु परस्परम्। धर्मार्थकामसंयुक्तो वर्णानान्तु स्वकर्मसु॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय – ११४, श्लोक – १२-१३)

(इस भारत में) विभागपूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं उनके मध्य में शूद्रों का वास है जो यज्ञ, रक्षा, व्यापार आदि के माध्यम से व्यवस्थित हैं। वे सभी आपस में अच्छा व्यवहार करते हुए अपने अपने वर्णानुसार कर्म करते हुए, धर्म-अर्थ-काम में लगे रहते हैं।

भारते तु स्त्रियः पुंसो नानावर्णाः प्रकीर्तिताः। नानादेवार्चने युक्ता नानाकर्माणि कुर्वते॥
परमायुः स्मृतं तेषां शतं वर्षाणि सुव्रताः।
(कूर्मपुराण, पूर्वभाग, अध्याय – ४७, श्लोक – २१)

भारत में (ब्राह्मणादि) अलग अलग वर्णों वाले स्त्री-पुरुष रहते हैं जो विभिन्न देवताओं के पूजन और विभिन्न आजीविका वाले कर्मों को करते हैं। उनकी परमायु सौ वर्षों की बताई गई है। (यदि यहां मूर्खजन वर्ण का अर्थ शारीरिक रंग से लें, तो भी देखते हैं कि भारत में गोरे, काले, और सांवले, तीनों रंग के लोग बहुतायत से हैं)

शुभानामशुभानां च कर्मणां जन्म भारते। पुण्यक्षेत्रेऽत्र सर्वत्र नान्यत्र भुञ्जते जनाः॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय – २६, श्लोक – १५)

(अत्यंत प्रबल) शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप भारत में यदि जन्म मिले तो इस पुण्यक्षेत्र में ही उसका फल भोगना होता है, अन्यत्र नहीं। (सामान्य के लिए म्लेच्छ भूमि में जन्म मिलता है और वहीं भोगते हैं, किन्तु अत्यंत तीव्र प्रारब्ध के पाप-पुण्य भारत में ही क्षीण किये जाते हैं)

अवतारो हरेः प्रोक्तो भूभारहरणाय वै। पापात्मनां विनाशाय धर्मसंस्थापनाय च ॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध -०४/अध्यायः ०१, श्लोक – २८)

भगवान् विष्णु के अवतार पृथ्वी के (अधर्मजन्य) भार को दूर करने के लिए होते हैं। पापियों के नाश एवं धर्म की पुनः स्थापना के लिए होते हैं।

जिन म्लेच्छ देशों के लोग, सौ साल पहले तक ढंग से नहाना और धोना नहीं जानते थे, जहां तीन सौ वर्ष पहले तक लोकशिक्षण के लिए सार्वजनिक विद्यालय नहीं थे, जिन देशों में गैलेलियो को केवल इसीलिए दण्डित किया गया कि उसने कुछ अलग बात कही, वहां देवताओं का अवतार होगा ही क्यों ? हमारे यहां तो अनादिकाल से ही निरंतर ज्ञान

विज्ञान की भौतिक एवं दिव्यस्तरीय परम्परा रही है। भला आपने सुना है कि रूस या अमेरिका के राष्ट्रपति हमारे देश में आए हों और सीधा किसी अंधेरी गुफा में प्रवेश कर गए हों ? अथवा हमारे ही देश के राष्ट्राध्यक्ष किसी और देश में गए किन्तु वहां के अधिकारियों से न मिलकर किसी खदान में घुस गए ? नहीं न ... वैसे ही देवता भी वहीं और उसी के पास आते हैं, जहां उनके अनुकूल व्यवस्था और उद्देश्यपूर्ति में सहायक लोग होते हैं।

प्रश्न ०२ – जितने भी देवी देवताओं की सवारियां हैं, उनमें सिर्फ वही जानवर क्यों हैं जो कि भारत में ही पाये जाते हैं ? ऐसे जानवर क्यों नहीं, जो कि सिर्फ कुछ ही देशो में पाये जाते हैं, जैसे कि कंगारू, जिराफ आदि ?

उत्तर ०२ – यह प्रश्न ही बड़ा अज्ञानमूलक है। जब भारत में अवतार होंगे तो वैसे पशु ही वाहन बनाये जाएंगे जो भारत में उपलब्ध हों। वैसे मैं एक बात स्पष्ट कर दूं कि देवताओं के वाहन लौकिक पशु नहीं होते हैं, वे पशु पक्षी के जैसे दिखते हैं किंतु धर्ममय होते हैं। धर्म के ही आधार पर देवतत्व स्थित होता है। भगवान् शिव के वाहन नंदीश्वर हैं, जो बैल के रूप में धर्म ही हैं।

वृषो हि भगवान् धर्म:

(स्कन्दपुराण)

देवी का जो सोमनन्दी नामक वाहन है, वह आकृति से सिंह है, किन्तु वह भी धर्ममय ही है।

सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्

(वैकृतिक रहस्य)

ऐसे ही विष्णुदेव के गरुड़, सरस्वती देवी का हंस, आदि सभी ज्ञानादि के प्रतीक धर्मरूप ही हैं। वैसे देवताओं के अनेक दिव्य विमानों का वर्णन भी शास्त्रों में व्यापकता से प्राप्त होता है। दूसरी बात, इस प्रश्न में विरोधाभास है। देवताओं के वाहन केवल भारत में ही पाए जाते हैं, ऐसी बात नहीं है, अपितु कंगारू, जिराफ आदि तो एक दो देशों में ही पाए जाते हैं, किन्तु देवताओं के वाहन बहुतायत से लगभग पूरी पृथ्वी में पाए जाते हैं। आजकल लोगों के स्वार्थ, प्रदूषण, शिकार आदि के कारण बहुत स्थानों की जैव विविधता संकट में पड़ गई है किंतु हम आज भी देख सकते हैं कि देवताओं के वाहन जिस आकृति को धारण करते हैं वे भारत के अतिरिक्त भी अन्य अनेकों देशों में प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए – गंगादेवी का मगरमच्छ, गणेश जी का चूहा, कुमार कार्तिकेय का मोर, देवी का सिंह, विष्णु भगवान् का गरुड़, यमराज का भैंसा, इन्द्र का हाथी और घोड़ा, शनिदेव का कौवा, सरस्वती का हंस, अग्निदेव का भेड़ा, वायुदेव का हिरण आदि प्राणी तो लगभग सारे भूमंडल पर पाए जाते हैं। शिव जी का वृषभ भी पहले व्यापकता से उपलब्ध था किंतु अब म्लेच्छों के प्रभाव से भारत में ही गोवंश संकट की स्थिति में है।

प्रश्न ०३ – सभी देवी देवता हमेशा राज घरानों में ही जन्म क्यों लेते थे ? क्यों किसी भी देवी देवता ने किसी गरीब या शूद्र के यहां जन्म नहीं लिया ?

उत्तर ०३ – आप पहले तो यह स्पष्ट करें कि आप पूछना क्या चाहते हैं ? गरीब के यहां जन्म नहीं लिया, या शूद्र के यहां जन्म नहीं लिया ? क्या तात्पर्य है ? गरीब अलग है, शूद्र अलग है। गरीबी का शूद्र होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ ये नकली शोषण का रोना बन्द करो। सनातनी शास्त्रों में कहां लिखा है कि शूद्र को गरीब ही रहना चाहिए, शूद्र धन संग्रह नहीं कर सकता है आदि आदि ? कहीं नहीं लिखा है ऐसा। हां, यह अवश्य लिखा है कि ब्राह्मण को अकिंचन होना चाहिए, धनसंग्रह से बचना चाहिए, त्यागमय अपरिग्रही जीवन बिताना चाहिए, और इस बात के सैकड़ों प्रमाण मिलेंगे। समाज के नब्बे प्रतिशत कौशल कृत्य एवं आजीविकायें शूद्र के लिए धार्मिक रूप से आरक्षित हैं, जिन्हें यदि ब्राह्मण अपना ले तो दोषी होगा। वैसे बुद्ध ने भी राजपरिवार में जन्म क्यों लिया था ? बताईये ?

रही बात गरीब की, तो किसी भी वर्ण का व्यक्ति गरीब हो सकता है। धनी होना अथवा दरिद्र होना तो निजी प्रारब्ध का विषय है, इसमें शूद्र या ब्राह्मण की बात नहीं है। हमारे देश में तो हरिश्चंद्र, नल, युधिष्ठिर, सुरथ, द्युमत्सेन, आदि पुरातन चक्रवर्ती राजाओं एवं महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी जैसे बड़े बड़े शासकों ने भी अपने जीवन में कई कई बार घोर दरिद्रता एवं अभाव झेला है। हां, इसके बाद भी उन्होंने अन्यायपूर्ण तरीके से किसी शूद्र के धन को छीना नहीं।

भगवान् यूं ही कहीं सोते जागते अवतार नहीं ले लेते हैं। जगत्पिता के माता-पिता बनने के लिए सहस्रों वर्षों की अपार तपस्या एवं भक्ति लगती है। जैसे द्रोण और धरा ने तपस्या की, जैसे कश्यप और अदिति, स्वायंभुव मनु एवं शतरूपा, कर्दम एवं देवहूति, दक्ष एवं प्रसूति, मेना एवं हिमालय ने तपस्या की, तब जाकर उनके घर दिव्यावतार हुए। तो भगवान् का प्राकट्य कहाँ होगा यह तो तपस्यारत भक्तों के आधार पर निश्चित होता है किंतु अवतार के बाद भगवान् अपने भक्तों के प्रति कृपा करने में भेद नहीं करते। वे विदुर, शबरी, कुब्जा, गणिका, उद्धव, व्याध, निषाद, सुदामा, सुग्रीव, अक्रूर, मोरध्वज, आदि सबों पर कृपा करते हैं। और हां, उसका अवतार तो मनुष्य के अतिरिक्त मछली, कछुआ, हंस, सर्प, सिंह, वाराह, अश्व आदि अनेक योनियों के रूप में होते रहता है, यह उनकी इच्छा एवं अवतार के उद्देश्य का विषय है कि कब कौन सा स्वरूप धारण करेंगे। आपलोग जैसी अनर्गल शंका करते हैं, उससे स्पष्ट है कि कभी वास्तव में शंका समाधान हेतु प्रयास नहीं करते। वैसे एक बात पूछूँ ? बौद्धों का आदि ललितविस्तर ग्रंथ यह क्यों कहता है कि बुद्धावतार केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में ही हो सकता है ?

प्रश्न ०४ – पौराणिक कथाओं में सभी देवी देवताओं की दिनचर्या का वर्णन है, जैसे कि कब पार्वती ने चंदन से स्नान किया, कब गणेश के लिये लड्डू बनाये, गणेश ने कैसे लड्डू खाये.. आदि। लेकिन जैसे ही ग्रंथों की स्क्रिप्ट खत्म हो गयी, भगवानों की दिनचर्या भी खत्म... तो क्या बाद में सभी देवी देवताओं का देहांत हो गया ? अब वो कहाँ है ? उनकी औलादें कहाँ है ?

उत्तर ०४ – पहली बात तो यह कि पुराणों में किसी की “दिनचर्या” का वर्णन नहीं है। पुराणों में ही पुराणों के लक्षण

और परिभाषा बताई गई है, पुराणों के एक, पांच एवं दस लक्षण होते हैं।
एक लक्षण में – कल्याणकारी श्रुतिसम्मत मार्ग का उपदेश है।
पञ्चलक्षणों में – सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित का स्थान है।
दस लक्षणों में – सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय का स्थान आता है। चूंकि सर्वाधिक प्रसिद्ध पांच लक्षण ही हैं, इसीलिए उनका सामान्य परिचय दे देता हूँ। शास्त्रों के नानाविध विषय एवं रहस्य कोई संस्थान बना लेने से, आधुनिक पढ़ाई करके शोध विद्यार्थी या पीएचडी करने से, अथवा समितियों से सम्मानित होकर नहीं गम्य होते। कोई परिवार, समाज, परिषद्, संघ या समिति बनाने से भी शास्त्रों का संरक्षण नहीं होता। मूल परम्परागत आचार्यपीठ एवं शिष्यबल का संरक्षण एवं संवर्धन किये बिना कोई आधारभूत लाभ नहीं हो सकता है।

अनुवादों की वर्तमान शैली ने मूल परिभाषा एवं धारणा को विकृत करने का अक्षम्य अपराध किया है। गूगल से माइथोलॉजी का अर्थ पूछो तो पौराणिक बताता है। हमारे शास्त्रों से पूछो तो सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के वर्णन से युक्त ग्रंथों को पुराण कहते हैं, ऐसा बताते हैं। इसी को यदि अलग-अलग देखें तो आंग्ल में Origin of Universe, Expansion of Universe, Origin of Life, Systematic division of Time with Theory of Relativity, Chronological order of Events and History आदि के समकक्ष कह सकते हैं। अंग्रेजी में पढ़कर कितना उन्नत और वैज्ञानिक लगा न ? जबकि संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लगा होगा कि पता नहीं क्या क्या कह दिया। संस्कृतनिष्ठ हिंदी में कहें तो अंधविश्वास और माइथोलॉजी लगती है किंतु अंग्रेजी में कहें तो वैज्ञानिक लगता है, यही हमारे समाज की शिक्षित मूर्खता का प्रमाण है। मैं समझ नहीं पाता कि माइथोलॉजी में पौराणिक क्या है एवं पुराणों में माइथोलॉजी क्या है। दो नितांत भिन्न विषय एवं सन्दर्भों का पर्याय रूप में प्रयोग करने का उद्देश्य मात्र सनातनी समाज को सनातनी ज्ञान एवं गौरव से घृणास्पद रीति के द्वारा वंचित रखना ही है।

अब दूसरी बात, पुराणों के संस्करण प्रत्येक ४३,२०,००० वर्ष में, द्वापरांत के समय, किसी योग्य देवतुल्य विद्वान् को वेदव्यास के पद पर स्थापित करके नवीनीकृत किये जाते हैं, जिनमें कुछ पाठभेद के साथ अलग अलग कल्पों का वर्णन होता है। किस कल्प में क्या क्या हुआ, पूरी दिनचर्या का एक एक विवरण, एक एक बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। भविष्य पुराण का मत है कि कल्पों के विस्तार और एक एक का हिसाब असंभव है। कल्प की क्षमता ब्रह्मा के एक दिन के बराबर है। आप ठीक ठीक बता सकते हैं कि आपके पूरे जीवन में कौन सी घटना ठीक किस दिन हुई थी ? नहीं न ... केवल मुख्य मुख्य बातों की तिथि बता सकते हैं। किंतु ९० प्रतिशत के विषय में केवल घटना बता पाते हैं, दिन नहीं। वैसे ही ब्रह्मा के एक एक दिन यानी कल्प में हिसाब नहीं रखे जाते।

केवल मुख्य मुख्य कल्पों के बात उल्लिखित हैं। वैसे भी सौ करोड़ रामायण एवं सौ करोड़ पुराण संहिता में पृथ्वीलोक को मात्र आठ दस लाख तक मिले हैं। हज़ार में बस एक रुपया। तो एक एक बात पृथ्वी वालों को बताई नहीं जा

सकती, क्योंकि उनकी क्षमता और अधिकार उतने का नहीं है। सरकार जब बजट निकालती है तो केवल रकम बताती है, एक एक नोट का नंबर नहीं बताती। जब हम अपने इस क्षुद्र जीवन की सामान्य घटनाओं में एक एक दिन का हिसाब नहीं बता सकते तो गूढ़ लीलाओं का एक एक कल्प का हिसाब कैसे रखेंगे ? वर्तमान ब्रह्मा के ही जीवन में अभी तक छत्तीस हज़ार कल्प बीत चुके हैं। उनके नामों तक की गणना सम्भव नहीं है, घटनाओं की बात तो दूर है। मैंने अनेकानेक ग्रंथों के शोध से अभी तक मात्र तीन चार सौ कल्पों के नाम खोजे हैं। केवल वर्तमान ब्रह्मा के भुक्त कल्पों में से मात्र एक प्रतिशत के नाम ...

पूर्वकाल में भी देवता ऐसे सड़क पर घूमते नहीं रहते थे। उस समय भी केवल तपोबल से युक्त अधिकारी को ही उनके दर्शन होते थे। तो देवताओं की स्थिति आज भी वही है, तो पहले थी। पूर्वकाल में लोग अधिक संस्कार और सद्गुणों से युक्त होते थे इसीलिए देवताओं के साक्षात्कार का लाभ बहुतों को मिलता था। अब इसका अभाव हो गया है, ऐसे लोगों की संख्या कम हो गयी है, इसीलिए देवताओं के प्रत्यक्ष सानिध्य का लाभ गिने चुने महात्माओं को ही मिलता है। देवता भी हैं और दैत्य भी। दैत्यों की औलादें आज भी धर्म पर प्रहार कर रही हैं, एवं देवताओं की सन्तानें उनका प्रत्युत्तर दे रही हैं।

प्रश्न ०५ – ग्रंथों के अनुसार पुराने समय में सभी देवी देवताओं का पृथ्वी पर आना-जाना लगा रहता था, जैसे कि किसी को वरदान देने या किसी पापी का सर्वनाश करने। लेकिन अब ऐसा क्या हुआ जो देवी देवताओं ने पृथ्वी पर आना बंद ही कर दिया ?

उत्तर ०५ – ऐसा नहीं है कि पहले देवगण बराबर पृथ्वी पर आते जाते ही रहते थे। वे तो आवश्यकता के अनुसार ही आवागमन करते हैं। पहले धर्मात्मा अधिक थे, तुम जैसे देश और धर्म के द्रोही कम थे, इसीलिए देवताओं की धर्मसम्मत रीति से उपासना करने वालों की संख्या अधिक होने से देवताओं का वरदान आदि देने के लिए आना जाना अधिक होता था। अब आवश्यकता कम है, तो उस हिसाब से ही आवागमन करते हैं। पहले भी देवताओं का आवागमन होता था तो वे सबको नहीं दिखते थे, अपितु जिससे कार्य है, उसी के सामने प्रकट होते थे, आज भी वे जब आते हैं तो केवल विशेष व्यक्तियों को ही दर्शन मिलता है, सार्वजनिक रूप से सबके सामने नहीं आते हैं।

न देवा यष्टि(दण्ड)मादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥
(महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय – ३५, श्लोक – ३३)

देवता लाठी लेकर किसी की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि से युक्त कर देते हैं। (उसी प्रकार जिसे नष्ट करना चाहते हैं, उसे दुर्बुद्धि दे देते हैं। रावण, दुर्योधन, कंस आदि के नाश का प्रारम्भ उनकी दुर्बुद्धि से ही हुआ)

प्रश्न ०६ – जब भी कोई पापी पाप फैलाता था, तो उसका नाश करने के लिये खुद भगवान् किसी राजा के यहां जन्म लेते थे। फिर 30-35 की उम्र तक जवान होने के बाद वो पापी का नाश करते थे, ऐसा क्यों ? पापी का नाश जब भगवान् खुद ही कर रहे है तो 30-35 साल का इतना ज्यादा वक्त क्यों ? भगवान् सीधे कुछ क्यों नहीं करते, जिस प्रकार उन्होंने अपने खुद के ही भक्तों का उत्तराखण्ड में नाश किया ?

उत्तर ०६ – इस प्रश्न से ही यह स्पष्ट है कि प्रश्नकर्ता केवल निजी द्वेष से प्रश्न कर रहा है, न कि किसी जिज्ञासा से। साथ ही उसने कभी धर्मग्रंथों का मुख्यपृष्ठ भी नहीं देखा है तभी ऐसे प्रश्न कर रहा है। तीन चरणों में इसका उत्तर देता हूँ।

१) भगवान् "जब भी कोई पापी पाप करता है", तब अवतार ले लेते हैं ऐसा नहीं है। पापियों को दण्ड देने के लिए उन्होंने शासन एवं राजा की व्यवस्था की है।

गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम् । इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥
गरुडपुराण, प्रेतकाण्ड (धर्मकाण्ड), अध्याय – ४६, श्लोक – ०८)

आत्मतत्व के जिज्ञासु पर उनका गुरु शासन करता है, अनुचित आचरण करने वालों पर राजा शासन करता है (उन्हें नियंत्रित करता है चाहे वे बात से समझें, या लात से)। जो लोग यहां पर राजा की दृष्टि से छिपकर पाप करते हैं, उनपर सूर्यपुत्र यमराज शासन करते हैं। यही मत स्कन्दपुराण, महाभारत, नारदस्मृति, आदि का भी है। पापियों को दण्ड देने का काम पहले तो राजा का है, फिर यमराज का है। यदि कोई व्यक्ति वरदान आदि के दुरुपयोग से अत्यंत प्रबल हो जाए, उसकी नकारात्मक शक्तियों को नष्ट करने में राजा आदि लौकिक शासक एवं यमराज आदि दिव्य शासक भी समर्थ न हो सकें, तब ऐसी स्थिति में, देवताओं एवं भक्तों की विशेष प्रार्थना पर ही भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। अथवा स्थितिभेद से यदि किसी व्यक्ति को दण्डस्वरूप राक्षस, वृक्ष, शिला या पशु आदि होने का श्राप मिला हो एवं उसका उद्धार केवल भगवान् के ही द्वारा निश्चित किया गया हो, तभी भगवान् के अवतार लेते हैं।

२) भगवान् बिना अवतार लिए ही दुष्टों का संहार कर सकते हैं, जैसा कि उन्होंने सुमाली, मधु, कैटभ आदि कई दैत्यों को बिना किसी अवतार के ही सीधे देवासुरसंग्राम आदि के अवसरों पर मारा था। हां, यदि विशेषरूप से अवतार लिया हो तो भी सदैव ३०-३५ वर्ष की आयु तक प्रतीक्षा नहीं करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् ने कुछ दिनों की आयु से ही राक्षसों का संहार प्रारम्भ कर दिया था। दस वर्ष की भौतिक आयु तक वे पूतना, तृणावर्त, अघासुर, बकासुर आदि अनेकानेक राक्षसों का शमन कर चुके थे। श्रीराम के रूप में भी भगवान् ने ताड़का आदि का संहार चौदह वर्ष की आयु में ही किया था। भुशुण्डि महारामायण में तो ब्रह्माजी ने श्रीरामावतार के कई बाललीलाओं का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीराम ने अत्यंत बाल्यकाल में ही जिन राक्षसों का वध किया है, उनके नाम और घटनाओं का वर्णन किया है।

३) भगवान् कई बार संसार में लम्बा समय इसीलिए व्यतीत करते हैं क्योंकि उनका कार्य केवल अधर्मियों का नाश

करने का ही नहीं है, अपितु धर्ममार्ग की स्थापना करने का भी है। स्वयं श्रीहनुमान् जी प्रभु श्रीराम जी उपासना करते हुए कहते हैं कि – हे प्रभो ! आपकी यह जो लीला है, यह जो अवतार है, वह केवल राक्षसों के वध के लिए नहीं है। वह मनुष्यरूप में इसीलिए है, ताकि मानवीय आदर्शों का आचरण करते हुए आप मनुष्यों को उसी आदर्श की शिक्षा दें।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम् रक्षोवधायैव न केवलं विभो:
(श्रीमद्भागवत महापुराण, पञ्चम स्कंध, अध्याय – १९, श्लोकार्द्ध – ०५)

इसीलिए भगवान् की लीलाओं में दिव्य एवं प्राकृत दोनों गुणों को समयानुसार जोड़कर उसका रहस्य समझना चाहिए, कि कहां उन्होंने दिव्य व्यवहार किया है, एवं कहाँ मानवों के समान प्राकृत व्यवहार किया है, अन्यथा सदैव उलझे ही रहेंगे। उत्तराखण्ड आदि की घटनाओं में सर्वथा मनुष्य का स्वार्थ ही जिम्मेदार है। प्रकृति तो ये सब चेतावनी देती है, स्वार्थी अधर्मपरक, तुम जैसे लोग ही नहीं समझते। नदियों को अप्राकृतिक रूप से अवरुद्ध करोगे, वृक्षों एवं वन्य प्राणियों का अंधाधुंध विनाश करोगे, प्राकृतिक संसाधनों, खनिजों का दोहन करोगे, मोबाइल विकिरण, परमाणु परीक्षण, भीषण युद्ध आदि के माध्यम से जलवायु को विकृत करोगे, तीर्थस्थलों की मर्यादा भंग करके उन्हें मनोरंजन और होटलबाजी का माध्यम बना दोगे, देवता, विप्र, गौ, स्त्री, बालक, अनाथ एवं असहायों पर अत्याचार करोगे, और जब प्रकृति उसका दण्ड देगी तो कहते हो कि भगवान् गलत हैं ?

प्रश्न ०७ – अगर हिन्दू धर्म कई हज़ार साल पुराना है, तो फिर भारत के बाहर इसका प्रचार-प्रसार क्यों नहीं हुआ और एक भारत से बाहर के धर्म “इस्लाम-ईसाई” को इतनी मान्यता कैसे हासिल हुई ? वो आपके अपने पुरातन हिन्दू धर्म से ज़्यादा अनुयायी कैसे बना सका? हिन्दू देवी-देवता उन्हें नहीं रोक रहें ?

उत्तर ०७ – यह आपका एक और भ्रम है। सनातनी ग्रंथों के अनुसार हमारे धर्म का अस्तित्व कुछ चंद हज़ार वर्षों का नहीं, अपितु ब्रह्मांडीय स्तर पर अनादि और अनंत है, इसीलिए बाकियों के समान इसका निश्चित प्रवर्तक ज्ञात नहीं होता। हमारे ग्रंथों में यह कब से प्रारम्भ हुआ, किसने चलाया, कब तक चलेगा, ये सब बातें नहीं हैं। यह “है”, बस इतना ही है। हिन्दू धर्म को जानने के लिए विशेष प्रज्ञा का होना आवश्यक है, जो अत्यंत परिश्रम और पुण्यबल से ही सम्भव है। जो देश तीन चार सौ वर्ष पहले तक ढंग से कपड़े पहनना, साफ सफाई रखना एवं खेती करना भी नहीं जानते थे, वे हिन्दू धर्म के विषय में बताए जाने पर भी कैसे समझेंगे ?

आपके बताए गए ईसाई-इस्लाम आदि के उदाहरण में ही आपका उत्तर निहित है। हिन्दू धर्म में तलवार के भय या धन के प्रलोभन से सदस्य नहीं बनाए जाते हैं। कुरान और बाइबल के नाम पर करोड़ों लोगों को पिछले दो हज़ार वर्षों में मार दिया गया, जिसे जिहाद कहते हैं, क्रूसेड कहते हैं। हिंदुओं ने तलवार के दम पर अपने सदस्य बढ़ाने के लिए करोड़ों गैर हिंदुओं को कब मारा ? क्या कहते हैं उस नरसंहार को ? हमारे यहां तो रामायण एवं महाभारत के युद्ध में

भी दोनों पक्ष हिन्दू धर्म वाले ही थे। भय और लोभ से यदि म्लेच्छ देशों में किसी मान्यता के अधिक सदस्य बन गए तो इससे उनकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो जाती। संसार में रोगियों की संख्या अधिक है, चिकित्सकों की कम, किन्तु महत्व चिकित्सकों का ही है। वैसे ही अधर्म को मानने वालों की संख्या अधिक है, धार्मिकों की कम, किन्तु महत्व धार्मिकों का ही है।

देवी देवताओं को कोई राजनीतिक पार्टी नहीं बनानी है कि वे अपनी सदस्यता बढ़ाने में लगे रहेंगे। यदि रात्रि को अन्धकार फैल रहा है तो इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य की क्षमता समाप्त हो गयी। इसका अर्थ यह है कि सूर्य तो पहले जैसा ही है, किन्तु पृथ्वी का ही भाग विशेष सूर्य से विमुख हो गया है। सूर्य के सम्मुख होते ही अन्धकार पुनः दूर हो जाएगा। वैसे ही धर्म से विमुख लोग कलियुग में अधिक होंगे, ऐसे स्वाभाविक युगधर्म की घोषणा तो हजारों वर्षों पहले ही ग्रंथों में कर दी गयी थी। पुनः धर्म के सम्मुख होने से पाप का नाश होगा, यह बात भी सहज रूप से सिद्ध है।

प्रश्न ०८ – अगर हिन्दू धर्म के अनुसार एक जीवित पत्नी के रहते, दूसरा विवाह अनुचित है, तो फिर राम के पिता दशरथ ने चार विवाह किस नीति अनुसार किये थे ?

उत्तर ०८ – ऐसा कोई सर्वमान्य नियम तो सनातन धर्म में नहीं है, कि एक ही पत्नी हो, किन्तु एकपत्नीव्रती को विशेष सम्मान दिया जाता है और आदर्श के रूप देखा जाता है। उसे विशेष पुण्यबल की प्राप्ति भी होती है। यज्ञादि से पूर्व के पुण्याहवाचन में हमलोग विशेष रूप से अरुंधतिपति वशिष्ठ आदि एकपत्नीव्रत का पालन करने वालों के नाम से अर्चना निवेदित करते हैं, किन्तु बहुविवाह वालों के लिए नहीं।

राजाओं और प्रजापति श्रेणी के देवताओं को विवाह में छूट है।राजागण वैवाहिक सम्बन्धों से राजनीतिक गठबंधन भी करते, साथ ही अनेकों राजघरानों से सम्बन्ध होने पर विपत्ति में राष्ट्र अकेला नहीं पड़ता था। कश्यप आदि प्रजापतियों को इसीलिए छूट है क्योंकि उनका कार्य ही सृष्टि के प्रारम्भ में जनसंख्या को बढ़ाना है। वैसे आपको बता दूं कि अनेक पद्मपुराण, बृहद्धर्म पुराण और रामायणों में राजा दशरथ की तीन, चार और अधिकतम साढ़े सात सौ पत्नियों का उल्लेख भी है, जो अलग अलग कल्पों में हुए। वैसे तुम्हें कभी उन लोगों पर भी प्रश्न करना चाहिए, जो पहले से तेरह शादी करने के बाद भी, बुढ़ापे में, ६ वर्ष की बच्ची से शादी कर लेते हैं।

प्रश्न ०९ – अगर शिव के पुत्र गणेश की गर्दन शिव ने काट दी, तो फिर यह कैसा भगवान् है, जो उस कटी गर्दन को उसी जगह पर क्यों नहीं जोड़ सका ? क्यों एक निरपराध जानवर (हाथी) की हत्या करके उसकी गर्दन गणेश की धड़ पर लगाई ? एक इंसान के बच्चे के धड़ पर हाथी की गर्दन कैसे फिट आ गयी ?

उत्तर ०९ – यदि आपने श्रद्धा से ग्रंथों को पढ़ा होता तो जानते कि पुराणों में केवल गणेश जी के मस्तक कटने की ही

बात उल्लिखित नहीं है, और भी कई घटनाएं हैं, जिन्हें या तो अज्ञानता से, या जानबूझकर आपने अनदेखा किया है। भगवान् शिव, जिनका विशेष प्रभाव मृतसंजीवन का ही है, उनके लिए गणेश जी को पुनर्जीवित करना कठिन नहीं था। किंतु पूर्वकाल में एक हाथी ने देवत्व एवं सर्वज्ञता का वरदान मांगा था, जो पशुदेह में सम्भव नहीं था, इसीलिए उसके मस्तक को गणेश जी के मस्तक के स्थान पर लगाया गया। दूसरी बात, वह हाथी निरपराध नहीं था, वह मार्ग में उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके सो रहा था, और मार्गशायी एवं उत्तरशायी के प्राणों का अधिकारी देवता होते हैं, इसीलिए उसके मस्तक को देवतागण ले गए। हाथी का ही मस्तक इसीलिए भी लगाया गया क्योंकि ब्रह्म की पञ्चशक्तियों में अनुग्रह नाम वाली शक्ति के स्वामी गणपति होते हैं, जिसका अथर्ववेदोक्त अनादि स्वरूप हाथी के मस्तक वाला ही है, किन्तु भौतिक अवतार में इसका अभाव था जिसे संशोधित करना आवश्यक था।

वे कोई "इंसान" के बच्चे नहीं थे जिनके साथ ऐसा न हो सके। देवताओं में अपनी दिव्य शक्ति से इच्छानुसार रूप व्यवस्थापन की क्षमता होती है। एक ओर आप कहते हैं कि शिव जी कैसे भगवान् थे, दूसरी ओर आप कहते हैं कि गणेश जी "इंसान" के बच्चे थे !! इंसान में भले आजकल की तकनीक से यह सम्भव नहीं हो, देवताओं के स्तर पर सम्भव है। इतने के बाद भी शिव जी ने बाद ने उस हाथी को भी पुनर्जीवित कर दिया था, जिसका वर्णन भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व, खण्ड ४ के अध्याय १२ में है। शिव जी ने स्वयं ब्रह्म होते हुए भी गणेश जी के साथ जो क्रोध में कृत्य किया उसके लिए स्वयं ही अपना दण्ड निर्धारित भी किया, क्योंकि देवता स्वयं भी धर्म की मर्यादा का पालन करते हैं।

तदा त्वया समं तात पुरे शोणितसंज्ञके। संग्रामः सुमहानेव भविष्यति सुनिश्चितम् ॥
तत्राहं सर्वलोकस्यस पश्यतस्तद्रणाजिरे। सशूलस्तंभितोऽवश्यं भविष्यामि त्वयैव हि ॥
(महाभागवत उपपुराण, अध्याय – ३५, श्लोक – ३०-३१)

शिव जी ने भगवान् विष्णु से कहा कि (इसी कृत्य के प्रायश्चित्त हेतु) भविष्य में कृष्णरूप से शोणितपुर में बाणासुर के साथ जब आपका युद्ध होगा, तब मैं आपके विरुद्ध लड़ते हुए शस्त्रसहित स्तम्भित हो जाऊंगा, पराजित हो जाऊंगा।

प्रश्न १० – अगर हिन्दू धर्म में मांसाहार वर्जित है, तो फिर राम स्वर्णमृग (हिरण) को मारने क्यों गए थे ? क्या मृग हत्या जीव हत्या नहीं है ?

उत्तर १० – भगवान् जानते थे कि या हिरण नहीं, मारीच नाम का राक्षस है, इसीलिए उस राक्षस का वध करने ही गए थे। बिना गए भी मार सकते थे किन्तु फिर सीताहरण का प्रसङ्ग कैसे होता, बाकी सारी घटनाओं के अभाव में रावणवध का उद्देश्य पूरा नहीं होता।

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ॥
एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना । वने विचरता पूर्वम् हिंसिता मुनिपुंगवाः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग – ४३, श्लोक – ३९)

रामजी ने लक्ष्मण से कहा – ये इस राक्षस की माया है, जिसका वध करना मेरा कर्तव्य है। इसी निर्दयी मारीच के द्वारा पूर्वकाल में अनेकों मुनिश्रेष्ठ मारे गए हैं।

प्रश्न ११- राम अगर भगवान् है, तो फिर उसको यह क्यों नहीं पता था कि रावण की नाभि में अमृत है ? अगर उसको घर का भेदी न बताता कि रावण की नाभि में अमृत है, तो उस युद्ध में रावण कभी नहीं मारा जाता। क्या भगवान् ऐसा होता है ?

उत्तर ११ – ये घटना कैसे जानते हो तुम ? देखने तो गए नहीं थे !! निश्चय ही किसी रामकथानक सम्बन्धी ग्रंथ में पढ़ा होगा !! तो तुम्हें थोड़ा और आगे पढ़ना चाहिए था, कि कैसे युद्ध के बाद भगवान् तो समस्त वानर सेना को जीवित करा दिया था। जो इच्छानुसार मृत्यु और जीवन पर नियंत्रण करे, भगवान् ऐसा होता है। अथवा उतनी दूर तक न भी पढ़ा होगा तो समुद्रबन्धन के प्रसङ्ग के बाद ही लंका के युद्ध तक पहुंचे होंगे। तो समुद्र ने श्रीराम जी की स्तुति में भयभीत होकर जो कहा था उसे पढ़ने के बाद तुम्हें ज्ञात हो जाता कि भगवान् कैसे होते हैं। यदि इन बातों पर तुम्हें विश्वास नहीं तो फिर नाभिअमृत की बात पर इतना विश्वास क्यों कर रहे हो ? केवल धर्म को गाली देने के लिए ? भगवान् केवल दुष्टों को मारते नहीं हैं, लोकमर्यादा की रक्षा भी करते हैं। विभीषण जी उनके मंत्री थे, शत्रु के भेद जानते थे। रामजी ने यह दिखाया कि एक कुशल राजा को सदैव अपने मंत्रियों से परामर्श करके ही समाधान निकालना चाहिए !! विभीषण जी घर के भेदी नहीं थे। वे रावण को धोखा देकर नहीं भागे थे। उन्हें स्वयं रावण ने लात मार कर अपमानित किया और कहा कि राम के पास चले जाओ।

विभीषण की कल्याणकारी बात रावण के स्वार्थबुद्धि में समाहित नहीं हो रही थी, इसीलिए रावण ने अपने अहंकार में ऐसा किया था। विभीषण जी ही केवल रावण को समझा रहे थे, ऐसा नहीं है। मन्दोदरी, प्रहस्त, माल्यवान्, पुलस्त्य, कुम्भकर्ण, और उनसे पहले मारीच, जटायु आदि कितनों ने रावण को अनेकों प्रकार से समझाया था। विभीषण जी को बिना मांगे ही, रामजी ने लंका का राजा बना दिया था। अब लंका के राजा विभीषण थे। रावण तो केवल सिंहासन पर कब्जा करके बैठा था और बैठकर निरपराध स्त्रियों का अपहरण करके बलात्कार करता था। विभीषण जी ने उसके अत्याचार को चुनौती देते हुए श्रीरामकृपा से उसकी सत्ता नष्ट की और स्वयं धर्मपूर्वक शासन को आगे बढ़ाया। तुम्हें गणेश जी के प्रसङ्ग में हाथी निरपराध दिखता है, फिर बलात्कारी रावण के शिकार में फंसी निरपराध स्त्रियां क्यों नहीं दिखती हैं ?

प्रश्न १२ – तुम कहते हो कि कृष्ण तुम्हारे भगवान् हैं, तो क्या नहाती हुई निर्वस्त्र गोपीयों को छुपकर देखने वाला व्यक्ति, भगवान् हो सकता है ? अगर ऐसा काम कोई व्यक्ति आज के दौर में करे, तो हम उसे छिछोरा-नालायक कहते हैं। तो आप कृष्ण को भगवान् क्यों कहते हो ?

उत्तर १२ – इसका उत्तर दो बिंदुओं में समझाता हूँ।

१) भगवान् कृष्ण का यह दैनिक कार्य नहीं था कि जहां स्त्रियां नहा रही हों, वहां जानबूझकर छिप कर देखते हैं। उन्होंने बस एक बार, गोपियों को यह शिक्षा देने के लिए, कि निर्वस्त्र होकर जलाशय में नहीं स्नान करना चाहिए, उनके वस्त्रों को छिपा दिया था। उस समय गोपियों एवं श्रीकृष्ण की भौतिक आयु पांच-सात वर्ष की ही थी। ऐसे में उनमें सांसारिक दृष्टि से भी दोषबुद्धि अव्यावहारिक है।

२) माहेश्वर तन्त्र, आनंद रामायण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्मपुराण आदि के अनुसार पूर्वकाल के अनेक अप्सरा, ऋषिगण एवं वेद की ऋचाओं का ही गोपिरूप में प्राकट्य हुआ था क्योंकि वे भगवान् की लीला का सौभाग्य प्राप्त करना चाहते थे। वस्त्र हरण की घटना के समय भी वे गोप बालिकायें श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए कात्यायनी व्रत का अनुष्ठान कर रही थीं और इस कारण भी भगवान् कृष्ण का उनसे पतिभाव होने के कारण दोषबुद्धि उचित नहीं है।

प्रश्न १३ – हिंदुओं में बलात्कारियों के प्रमाण अधिक क्यों होते हैं ?

उत्तर १३ – हिंदुओं के किसी ग्रंथ में बलात्कार का समर्थन नहीं है। यदि किसी ने मोहवश ऐसा किया भी, तो भले ही वह देवता हो, उसे कठोर दण्ड दिया गया, ऐसा भी वर्णन है। हमारे यहां सामाजिक या धार्मिक, किसी भी रूप से बलात्कार और बलात्कारी का समर्थन नहीं है। बलात्कार की कुधारणा हिंदुओं की है ही नहीं। आज के कानून में भी देख लें कि गैर हिन्दू, अथवा धर्म मे आस्था न रखने वाले लोगों की संख्या ही ही बलात्कारियों की सूची में सबसे अधिक है। यह केवल भारत ही नहीं, पूरे विश्व की समस्या है।

जब से इस देश में म्लेच्छों का आक्रमण हुआ, तब से ही ऐसे मामले बढ़े हैं। गैर हिन्दू लोग तो अपने सगे सम्बन्धी और पुत्री, बहन, भतीजी, पोती, सास, बहू आदि से भी व्यापक बलात्कार करते हैं, जो सर्वविदित है। आज भी देख लें कि किसी हिन्दू ने यदि बलात्कार किया है तो उसके समर्थन में हिन्दू समाज खड़ा नहीं होता, उसका या उसके परिवार का सामाजिक बहिष्कार होता है। जबकि गैर हिन्दू बलात्कारियों को गिरफ्तार करने के लिए गयी हुई पुलिस पर उस बलात्कारी के समुदाय वाले पत्थरबाजी करते हैं, तहर्रुश गेमिया के नामपर एकजुट होकर बलात्कार करते हैं और बलात्कारी को आर्थिक सहायता भी देते हैं।

प्रश्न १४ – शिव के लिंग (पेनिस) की पूजा क्यों करते हैं ? क्या उनके शरीर में कोई और चीज़ पूजा के क़ाबिल नहीं ?

उत्तर १४ – लिंग इतना ही बुरा है तो आशा है कि तुम्हारे जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति ने उसे अभी तक काट कर फेंक दिया होगा। लिंग का अर्थ चिह्न, प्रतीक, लक्षण आदि होता है एवं व्यापकता में यही भाव भी है। विष्णु के चरण, ब्रह्मा का

मस्तक एवं शिव का लिंग पूज्य हैं। पूर्वकाल में ब्रह्मा एवं विष्णु के मध्य हुए लीला विवाद में एक दिव्य ज्योति:पुंज लिंगाकृति में प्रकट हुआ था जिसके माहात्म्य को जानने के बाद सबों ने उसकी पूजा की। यह कोई स्थूल जननेन्द्रिय नहीं है, अपितु दिव्य ज्ञान एवं ऊर्जा का अनंत प्रवाह है। ब्रह्माजी ने ब्राह्मी लिपि के दिव्याक्षरों से इसकी पूजा की थी।

ब्रह्मा ब्रह्माक्षरैर्दिव्यैर्लिङ्गं पूजयते सदा।
(शिवधर्म उपपुराण)

साथ ही बताया गया है कि आकाश को ही लिंग, एवं पृथ्वी को उसका आधार बताया गया है, जिसके मध्य सभी प्राणी निवास करते हैं।

आकाशं लिङ्गमित्याहु: पृथिवी तस्य पीठिका।

उसी आकाशधरामण्डल का जीवनीय प्रारूप शिवलिंग के प्रतीक में हम पूजते हैं। किन्तु चूंकि तुमने प्रश्न में लिंग का स्पष्ट भाव जननेन्द्रिय से रखा है, इसीलिए मैं उसी दृष्टिकोण से उत्तर दूंगा। हम शिवलिंग की पूजा इसीलिए करते हैं क्योंकि ऐसा ही ब्रह्मा जी का आदेश है।

लिङ्गं यत्पतितं तस्य देवदेवस्य शूलिनः। पूजयध्व प्रसन्नेन मनसा परमेश्वरम्॥
(वारुणोपपुराण, अध्याय – ०८, श्लोक – १८)

शूलधारी देवाधिदेव शिव जी का यह लिंग, जो गिरा है, आप सब उस निमित्त प्रसन्न मन से उन परमेश्वर का पूजन करें। अब प्रश्न करेंगे कि शिवलिङ्ग क्यों गिरा था एवं उसके पूजन की बात क्यों आयी, तो उसके लिए एक कथा संक्षिप्त रूप से बताता हूँ। यह कथा स्कन्दपुराण के नागरखण्ड के पहले ही अध्याय में मिल जाएगी, मैं केवल मुख्य मुख्य श्लोक दे रहा हूँ।

हरस्य पूज्यते लिंगं कस्मादेतन्महामते। विशेषात्संपरित्यज्य शेषांगानि सुरासुरैः॥

ऋषियों ने पूछा – सभी देवताओं एवं असुरों के द्वारा शिवजी के शरीर के अन्य अंगों को छोड़कर विशेषतः लिंगभाग की ही पूजा क्यों होती है ? इसका उत्तर दिया गया – एकबार शिवजी ने विरक्त भाव का प्रदर्शन करते हुए भिक्षा की लीला की। अब शिव जी तो अवधूत वेश वाले ठहरे, योगी हैं, मोह माया से परे तो दिगम्बर रूप में ही, बिना वस्त्र के ही भिक्षाटन के उद्देश्य से चल पड़े। कुछ समय बाद एक वन में ऋषियों के आश्रम के समीप जाकर भिक्षा की याचना की।

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा तं तथा विगतांबरम्। कामोद्भवकरं स्त्रीणां प्रोचुः कोपारुणेक्षणाः॥
यस्मात्पाप त्वयास्माकमाश्रमोऽयं विडंबितः। तस्माल्लिंगं पतत्वाशु तवैव वसुधातले॥

शिव जी के उस अद्भुत दिगम्बर वेश को देखकर ऋषिपत्नियाँ काममोहित हो गईं। इस बात से ऋषियों को क्रोध हो गया। (वे भूल गए कि समस्त पुरुषों में शिव तथा स्त्रियों में शक्तितत्व निहित है एवं) उन्होंने शिव जी को श्राप दे दिया कि आपके इस अशोभनीय वेश और उसके परिणाम से उत्पन्न पापकारी कृत्य से हमारा आश्रम भ्रष्ट हो गया है, अतः आपका यह लिंग तुरन्त पृथ्वी पर गिर जाए। ऋषियों के श्राप से वैसा ही हुआ। उस समय उस लिंग की ऊर्जा को धारण करने में पृथ्वी समर्थ न हो सकी, सो वह भेदन करता हुआ, पाताल में स्थित हो गया। इसके बाद सृष्टि में ऊर्जा का भयंकर असंतुलन हुआ जिससे प्रलय की स्थिति आ गयी।

संधारय पुनर्लिंगं स्वकीयं सुरसत्तम॥ नोचेज्जगत्त्रयं देव नूनं नाशममुपेष्यति।

ब्रह्माजी ने देवगणों के साथ आकर शिव जी से प्रार्थना की, हे देवश्रेष्ठ ! आप अपने लिंग को पुनः धारण कर लें, अन्यथा निश्चय ही तीनों लोकों का नाश हो जाएगा। शिव जी ने एक शर्त रखी।

अद्यप्रभृति मे लिंगं यदि देवा द्विजातयः। पूजयन्ति प्रयत्नेन तर्हीदं धारयाम्यहम्॥

आज के बाद यदि सभी देवता, ऋषि आदि प्रयत्नपूर्वक मेरे लिंग का पूजन करेंगे तो ही मैं इसे पुनः धारण करूँगा। फिर ब्रह्मा जी ने पाताल में जाकर शिवलिङ्ग की विधिवत् पूजा की, एवं सब कुछ सामान्य हुआ।

एतस्मात्कारणाल्लिंगं पूज्यतेऽत्र सुरासुरैः। हरस्य चोत्तमांगानि परित्यज्य विशेषतः॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय – ०१)

यही कारण है कि शिवलिंग की, बाकी शिवांगों से विशेष प्रधानता है। (वैसे हमलोग पञ्चवक्त्र पूजन में मुख की प्रधानता से भी पूजन करते हैं।)

प्रश्न १५ – खजुराहो के मंदिरों में काम-क्रीड़ा और उत्तेजक चित्र हैं, फिर ऐसे स्थान को मंदिर क्यों कहा जाता है ? क्या काम-क्रीडा, हिन्दू धर्मानुसार पूजनीय है ?
उत्तर १५ – निःसन्देह हिंदुओं में काम क्रीड़ा पूजनीय है। भला तुमने कैसे जन्म लिया ? पेड़ से तोड़े गए थे या डाऊनलोड हुए थे ? केवल देवालय को ही मन्दिर कहते हैं ऐसी बात नहीं है। शब्दकल्पद्रुम आदि में मन्दिर शब्द की परिभाषा है – मन्दन्ते मोदन्ते लोका यत्र … मन्द्यते सुप्यतेऽत्र मन्द्यते स्तूयते इति वा …
जहां जाने से लोग प्रसन्न हो जाये, सो जाएं या शांतचित्त होकर स्थिर हो जाएं, उसे मन्दिर कहते हैं। इसीलिए सामान्य घर को भी मन्दिर कहते हैं, क्योंकि वहां आप विश्राम करते हैं। कामदेव को विष्णु का अंश कहते हैं।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
(श्रीमद्भगवद्गीता)

धर्मसम्मत काम को भगवान् का ही अंश बताया गया है, क्योंकि वह गृहस्थ आश्रम एवं लोकविस्तार का आधार है। नंदीश्वर को भगवान् शिव ने कामशास्त्र का उपदेश किया था जो परम्परा से वात्स्यायन ऋषि के पास आया और उन्होंने कामसूत्र की रचना की। राजा पुरूरवा ने उर्वशी से देवकाम सीखकर कामकुंजलता की रचना की। शास्त्रसम्मत काम क्रीड़ा मान्य है। स्वामी कार्तिकेय के विवाह के बाद देवताओं ने उन्हें उपहार दिये जिनमें कामशास्त्र भी था। वेदों में भी काम की महिमा उसकी लोकधारण शक्ति के कारण बताई गई है।

कामशास्त्रं कामदेवो ददौ तस्मै मुदाऽन्वितः ॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपतिखण्ड अध्याय – १७, श्लोक – १२)
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते
(अथर्ववेद, काण्ड – ०३, सूक्त – २९, मन्त्र – ०७)

खजुराहो के मंदिर भी कामशास्त्र को समर्पित हैं, किन्तु लोक में बहुतों के लिए अनुपयुक्त होने से इन्हें निर्जन वन, गुफाओं में बनाया गया है, ये अलग बात है कि संसार में जनसंख्या की भीड़ बढ़ने से ये समाज के सामने प्रकट हो गए। ये मन्दिर इस बात को भी दिखाते हैं कि कलियुग में लोग केवल कामशास्त्र पर ही आश्रित हो जाएंगे। वस्तुतः उपर्युक्त सभी प्रश्न, बिना स्वस्थ अध्ययन या चिंतन के, मात्र अपना क्षोभ व्यक्त करने एवं सनातन धर्म पर आक्षेप करके अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से खड़े किए गए हैं, तथा ऐसे प्रश्नों को देशद्रोही शक्तियां ही प्रायोजित करती हैं।

--*

योगभ्रष्ट किसे कहते हैं ?

आचार्यश्री शंकरदास गुरु : शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते। इसकी व्याख्या करने की कृपा की जाय।

श्रीभागवतानंद गुरु :- सर्वप्रथम योग क्या है, और भ्रष्टता क्या है। योगः कर्मसु कौशलम्... कर्म में कुशलता ही योग है !! कर्म क्या है ? मन के उपक्रम इच्छा, तथा देह के उपक्रम संवेदना एवं गति के सम्मिश्रित होने पर जिस घटना विशेष का निष्पादन होता है, वह कर्म है। कुशलता क्या है ? आनन्द ही कुशल कहा गया है। आनन्द से युक्त होना ही कुशलता है। उपनिषदों ने कहा :- आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति... इति च। आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनंद से ही उनका पोषण होता है तथा वे आनंद में ही समाहित हो जाते हैं। सृष्टि, स्थिति एवं विनाश का कारण आनन्द ही है। सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण ब्रह्म ही है, इसीलिए उसे चिदानंद, परमानंद, महानंद आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है। जिस क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कर्ता, द्रष्टा तथा भोक्ता, तीनों ही आनंदित होते हैं, वही क्रिया कुशलता है।

उदाहरण :- एक चित्रविक्रेता के पास एक कलाप्रेमी ने चित्रविशेष की मांग की, जो उस समय पण्यभंडारण में नहीं थी। विक्रेता ने चित्रकार से सम्पर्क करके उसे तत्सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करने को कहा। चित्रकार ने अत्यंत ध्यान से तदनुरूप चित्र बनाकर विक्रेता को दे दिया जो उसने अपने ग्राहक को बेच दिया। ग्राहक इसीलिए प्रसन्न हुआ क्योंकि उसे अपेक्षित वस्तु मिली, विक्रेता अपेक्षित धनलाभ से प्रसन्न हुआ तथा चित्रकार को उसकी प्रशंसा, धनलाभ और गौरव से प्रसन्नता हुई। यहाँ तीनों पक्ष आनंदित हैं, अतएव चित्रकार के कार्य की, कुशलता संज्ञा हुई। चित्रकार को उसके कार्य में कुशल माना गया। यही बात मूर्तिकार, स्वर्णकार आदि भौतिक उदाहरणों से, तथा तपस्या, यज्ञ, दान आदि पारमार्थिक उदाहरणों से समझनी चाहिए।

कर्म में कुशलता (सबों को आनंदित करने की क्षमता) ही योग है। यहाँ ध्यान रहे कि शंका हो सकती है कि योद्धा की कुशलता इसमें है कि वह कितने प्राण लेता है !! फिर इसमें दोनों पक्ष कैसे आनंदित हो सकते हैं ?? परन्तु समाधान प्रश्न में ही निहित है। यदि युद्ध पराक्रम और गौरवपूर्ण रूप से लड़ा जा रहा है तो महाभारत, रामायण आदि की भांति वहां दोनों पक्ष एक दूसरे की वीरता और नीतियों की प्रशंसा भी करते थे। युद्धस्थल में विपक्षी अपने शत्रु की प्रतिभा की प्रशंसा करते थे। युद्ध के नियम होते थे, शस्त्रहीन, शरणागत, आर्त, व्यस्त, आहत, शत्रु पर प्रहार नहीं करते थे। इसीलिए हमने योद्धा कहा, व्याध नहीं। व्याधवृत्ति कुशलता नहीं कही जाएगी। वह प्रतिभा कही जाएगी। जिस क्रिया से एक पक्ष प्रसन्न हो और दूसरा दुःखी, जिस क्रिया से एक पक्ष अभीष्टसिद्धि करे और दूसरा पक्ष मर्दित हो, वह प्रतिभा है। प्रति का अर्थ है विपक्ष, और भा का अर्थ है तेज। विपक्षी के तेज से प्रतिहत होना ही प्रतिभा है। वहीं पक्षद्वय की प्रसन्नता कुशलता है। इसीलिए सामान्य रूप से भी परिचित मित्रगणों तथा सम्बन्धियों के मिलन के अवसर पर पक्षद्वय की कुशलता पूछी जाती है, न कि प्रतिभा।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

योग क्या है ? संयोजन ही योग है। संयुक्त करने वाली क्रिया ही योग है। यदि युक्त करने का माध्यम, संयोजक भक्ति है, तो वह भक्तियोग (शबरी) है। कर्म है, तो वह कर्मयोग है (सुदामा) , ज्ञान, गान, ध्यान, सांख्य है तो वह ज्ञानयोग (वशिष्ठ), गानयोग (नारद), ध्यानयोग (सुतीक्ष्ण), सांख्ययोग (मार्कण्डेय) है। जैसे प्रतिबिम्ब शाश्वत रूप से बिंबकारक पिंड पर आश्रित है तथा वास्तव में प्रतिबिंब तो दर्पण विक्षेप का परिणाम है, वैसे ही जिनका शाश्वत स्वरूप एकात्म है, ऐसे जीव और ब्रह्म, जो माया विक्षेप से भिन्न प्रतिभासित होते हैं, उनका मायामुक्त होकर पुनः एकात्म होना ही योग है। जैसे दर्पण नाश के लिये हथौड़ा, पत्थर आदि से नष्ट करने जैसे उग्र साधन, तथा स्थानांतरित, प्रवाहित करने जैसे सौम्य साधन हैं, वैसे ही माया विक्षेप के नाश के लिए हठयोग, अष्टांगयोग जैसे उग्र साधन, तथा भक्तियोग, गानयोग जैसे सौम्य साधन उपलब्ध हैं।

अपने कर्म में कुशलता ही योग है। योगः कर्मसु कौशलम्... और यह कुशलता कब आती है ?? जब सुकृत और दुष्कृत की चिंता नहीं होती। उभे सुकृतदुष्कृते इह जहाति। सुख और दुःख को छोड़ देता है। यहीं छोड़ देता है। यहीं का अर्थ है, इसी भौतिक कलेवर में छोड़ देता है। जब इच्छाएं बची रहें और शरीर नष्ट हो जाये तो वह मृत्यु है। और इच्छाएं नष्ट हो जाएं और शरीर बचा रहे तो वह मोक्ष है। इसीलिए जीवन्मुक्त शब्द आया है। जीते ही मुक्ति होती है, और वह प्रामाणिक भी है तथा प्रत्यक्ष भी। इच्छाओं का पूरा होना सुख है, न होना दुःख है। इस इच्छा के भी दो भेद हैं। जब कर्म का आधार भौतिक इच्छा बनती है तो वह सुख और दुःख के रूप में फलित होती है। और जब इच्छा का आधार शास्त्रादेश बनता है तो वह निःश्रेयस के रूप में फलित होती है। निःश्रेयस न सुख है, और न दुःख है। वह आनन्द है। सुख और दुःख परिणामाश्रित होते हैं जबकि आनन्द स्वभावाश्रित। इसीलिए ब्रह्म को सुखी या दुःखी नहीं कहा गया। अपितु आनंदित कहा गया, आनन्दमय, परमानंदमय, चिदानंदमय, सच्चिदानंदमय कहा गया।

स्वभाव ही आनन्द है। स्वभाव ही अध्यात्म है। स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते... इसी स्वभाव, इसी आनन्द, इसी आनंदमय ब्रह्म के साथ पुनः युक्त होने की प्रक्रिया योग है। उपनिषद ने कहा कि :- भोक्ता, भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा। उस परमानंद को तीन स्थितियों वाला बताया गया है। भोक्ता जीव, भोग्य माया, और प्रेरक ब्रह्म। जब भोक्ता जीव भोग्य माया से हटकर प्रेरक ब्रह्म से युक्त होने कब लिए स्वभावतः (अध्यात्मत:) सक्रिय होता है तब इस योग के मध्य यदि भोग्य माया का विक्षेप (जो त्रिगुणाश्रय से बली होता है) प्रबल हो जाये तो यह योग खण्डित हो जाता है। यही योगभ्रष्टता है। मूल उद्देश्य से, मूल स्वरूप से इतर सबकुछ भ्रष्ट है। भ्रष्ट होने का अर्थ सर्वदा असफलता या नकारात्मक नहीं होता है। भ्रष्ट का अर्थ है मूल उद्देश्य या स्वरूप से भिन्न हो जाना।

यह भ्रष्टता सकारात्मक भी हो सकती है और नकारात्मक भी। जैसे घास गाय के उदर में भ्रष्ट होकर दूध, वहां से भ्रष्ट होकर दही, वहाँ से दो बार और भ्रष्ट होकर घृत बनता है। परन्तु घृत से दीपक जला सकते हैं, भोजन बना सकते हैं, घास से नहीं। यह घास की घृत के रूप में ऊर्ध्वभ्रष्टता है जो उसके मूल स्वरूप से भिन्न है। वहीं यदि गर्मी के दिन में

भोजन को अधिक देर छोड़ दिया जाय तो वह भ्रष्ट होकर त्याज्य होता है। धान का चावल, और पुनः भात बनना उसकी ऊर्ध्वभ्रष्टता है और विकृति अधोभ्रष्टता। यह भी उसके मूल स्वरूप से भिन्न ही है।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभि जायते। जो सत्य, दया आदि आंतरिक सद्गुणों से युक्त हो, तथा वैदिक संस्कार, स्नान, निर्मलता आदि बाह्य सद्गुणों से भी युक्त हो, वह शुचि है। शुचिता ही श्री अर्थात् शोभा का आधार है। शोभा ज्ञान की भी हो सकती है, धन या पराक्रम की भी हो सकती है, रूप की भी हो सकती है। आधिदैविक, आधिभौतिक या आध्यात्मिक पटल के किसी भी दैवी सम्पदा से युक्त व्यक्ति श्रीमान् है। योगभ्रष्ट व्यक्ति अपने मूल उद्देश्य एवं स्वरूप से इतर हो, ऐसे ही शुचिता युक्त श्रीमान् के यहाँ प्रादुर्भूत होता है, जिसके माध्यम से वह पुनः एक नवीन लक्ष्य, उद्देश्य और मार्ग के साथ मूल स्वरूप या आनंद में समाहित हो सके..... योग का प्रथम मापदंड संयम पर ही आश्रित है।

सम्पराहृत्य स्वार्थेभ्य इन्द्रियाणि विवेकत:। सर्वत्र समताबुद्धि: स योगी भूप मे मत: ॥
(गणेशपुराण, क्रीड़ाखण्ड, सांख्यसारार्थ प्रकरण)

जो ज्ञान द्वारा इंद्रियों को विषयों से हटाकर सर्वत्र समबुद्धि रखता है, वही मेरी दृष्टि में योगी है।

सुखे सुखेतरे द्वेषे क्षुधि तोषे समस्तृषि। आत्मसातम्येन भूतानि सर्वगं मां च वेत्ति यः ॥
जीवन्मुक्तः स योगीन्द्रः केवलं मयि संगत:। ब्रह्मादीनां च देवानां स वंद्यः स्याज्जगत्त्रये ॥

सुख, दुःख, द्वेष, क्षुधा, सन्तोष और तृष्णा में जो अपने हितानुसार आत्मभाव से ही सभी प्राणियों को देखते हुए मुझे सर्वव्यापी मानता है, वही जीवन्मुक्त है, ब्रह्मादि के द्वारा भी तीनों लोकों में वंदनीय है।

दिव्यदेहधरो योगाद् भ्रष्ट: स्वर्भोगमुत्तमम्। भुक्त्वा योगिकुले जन्म लभेच्छुद्धिमतां कुले ॥
(गणेशपुराण, क्रीड़ाखण्ड, योगवृत्तिप्रशंसा प्रकरण)

(ऊर्ध्व)योगभ्रष्ट व्यक्ति दिव्यदेह धारण करके स्वर्ग का उपभोग करने के बाद शुद्ध आचरण वाले योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। इस मनुष्य जीवन की दुर्लभता को जान कर भी जो इसके माध्यम से आत्मोद्धार का प्रयत्न नहीं करता, उसके लिए कहा गया है :-

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम्। तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥
सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः। मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृत: ॥

देवताओं के भी प्रार्थनीय मनुष्य जन्म और उसमें भी ब्राह्मण शरीर को प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ (परमार्थ) का नाश करते हैं, वे अशुभ गति को प्राप्त होते हैं। इस संसार में मनुष्य को कोई दूसरा सुख या

दुःख नहीं देता। यह तो उसके चित्त का भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन, और शत्रु के भेद अज्ञान कल्पित हैं। (श्रीमद्भागवत, एकादश स्कंध)

स्मृतिलोपश्च मूकत्वं बाधिर्यं मंदता ज्वरः। जड़ता जायते सद्यो दोषाज्ञानाद्धि योगिनः॥
(गणेश पुराण, क्रीड़ाखण्ड, योगवृत्ति प्रशंसा प्रकरण)

अर्थात् योगभ्रष्ट को अज्ञान के कारण स्मृतिनाश, गूंगापन, बधिरता, मंदता, ज्वर और मूढ़ता आदि दोष तुरन्त हो जाते हैं।

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः, संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके ततो महान्मानुषतामुपैति॥
(वृत्रगीता, मोक्षधर्म प्रकरण)

जो भलीभांति योगसाधन में असमर्थ हैं, वे (ऊर्ध्व) योगभ्रष्ट पुरुष सौ कल्पों तक सत्यादि सप्तोत्तर लोकों में निवास करते हैं। फिर बचे हुए कर्म संस्कारों के सहित वहां से लौटकर मनुष्यलोक में पहले से अधिक श्रेष्ठ संस्कार से सम्पन्न हो मनुष्य शरीर पाता है। आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र वीराध्वनः पारमुपैति योगम्॥ (उन अज्ञानियों में से किसी ने भी) न लौट पर परमानन्दमय योगविधि से परमात्मा को प्राप्त किया और न ही स्वबल से संसारचक्र को पार ही कर सके। (श्रीमद्भागवत, पंचम स्कंध)

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो, विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥
शरीरमेवायतनं सुखस्य दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म, तेनैव देही समुपाश्नुते तत्॥
(महाभारत, शांतिपर्व)
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान् बिभ्यति। यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

जो न पाप में लगा हो और न पुण्य में, न तो अर्थोपार्जन में तत्पर हो, न धर्म में और न काम में ही। वह सब प्रकार के दोषों से रहित मनुष्य सुख और दुःख को देने वाली सिद्धियों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टी के ढेले और सोने में उसका समान भाव हो जाता है। यह शरीर ही सुख और दुःख का आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीर से जो जो कर्म करता है, उसी के अनुरूप वह सुख एवं दुःख को भोगता है।जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता, तो इससे भी किसी को भय नहीं होता। जब यह किसी को चाहता नहीं, तो द्वेष भी नहीं करता, तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर चुका है, ऐसा जानना चाहिए।

आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्। नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा॥
नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः। प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः॥
(शम्पाकगीता)

अकिंचनता तथा राज्य में बड़ा भारी अंतर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौत के मुख में पड़ा हुआ हो। परन्तु जो मनुष्य धन को त्यागकर उसकी आसक्ति से मुक्त हो गया है और मन में किसी तरह की कामना नहीं रखता, उसपर न अग्नि का जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहों का, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही।

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्। युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनु तिष्ठता॥
यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्। अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते॥
(मङ्कीगीता)

मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धन को वह श्रद्धापूर्वक भलीभांति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता। यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखाई देता है, तो वहाँ भी खोज करने पर दैव का ही सहयोग होता है।

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः। उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतों को नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलय के तत्व को जानता है, उसके लिए यहाँ कौन सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है ?

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्। एवमीहासुखासक्तं कृतांतः कुरुते वशे॥
जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम्। अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजंगमाः॥
(मेधावीगीता/पुत्रगीता)

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा हुआ है, इस प्रकार चेष्टाजनित सुख में आसक्त हुए मानव को काल अपने वश में कर लेता है। देहधारी जीव के जन्म लेते ही अंत करने के लिए जरा एवं मृत्यु उसके पीछे लग जाते हैं। समस्त चराचर प्राणी इन्हीं दोनों से बंधे हुए हैं।

भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्योगी योगं सारमार्गं विचिंत्य।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि॥

व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्कामेन यो नारभते विदित्वा।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम्॥
(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व)

योगी पुरुष अनेक जन्मों के अभ्यास से योग को ही मोक्ष का मार्ग निश्चित करके कामनाओं का नाश कर डालता है। जो इस बात को जानता है, वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान योगादि का कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता (अपितु निष्काम करता है)... वास्तव में कामनाओं का निग्रह नियमन ही धर्म है, और वही मोक्ष का मूल है। कामनायुक्त कर्म सच्चा धर्म नहीं।

हरति परधनं निहन्ति जंतून् वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च।
अशुभजनित दुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः॥
(विष्णुपुराण)

जो पुरुष दूसरों के धन का हरण करता है, जीवों की हिंसा करता है, तथा मिथ्या और कटुभाषी है, उस अशुभ कर्मों से उन्मत्त दुष्ट के हृदय में सर्वव्यापी भगवान् विष्णु भी नहीं रह सकते।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांश्चेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(अग्निपुराण)
सात्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्वविवृद्धये। ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥
(श्रीमद्भागवत, एकादश स्कंध)

आत्मा को रथी और शरीर को रथ समझो। बुद्धि को सारथीं और मन को लगाम समझो। विवेकी पुरुष इंद्रियों को घोड़े, विषयों को मार्ग, तथा देहान्द्रिय से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। जब तक अपने आत्मा का साक्षात्कार न हो और त्रिगुण्यप्रधानशरीर के मोह से निवृत्ति न हो, तब तक सत्वगुण की वृद्धि के लिए सात्विक शास्त्र का ही सेवन करे। क्योंकि उसी से धर्म की वृद्धि होती है, जिससे पुनः अंतःकरण की शुद्धि एवं आत्मज्ञान होता है।

वेदोपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः। दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥
(हंस गीता)
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥
(नारद गीता)

वेदाध्ययन का सार है सत्यभाषण, सत्यभाषण का सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयम का फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश है। सत्य बोलना श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य से भी श्रेष्ठ है, हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियों का अत्यंत हित होता हो, वही मेरे मत में सत्य है।

न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः। स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ॥
(उत्तरगीता/अनुगीता)

जीव को कहीं भी अत्यंत सुख नहीं मिलता। किसी भी लोक में वह सदा नहीं रह पाता। तपस्या आदि अनेक कष्टप्रद उपक्रमों के द्वारा उच्च लोकों को प्राप्त करके भी वह बार बार नीचे ही आता है।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥
(अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड)

संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और इन शास्त्रों में उसके नाश का ही उपाय बताया गया है। अज्ञान का नाश करने में ज्ञान ही समर्थ है, सकाम कर्म नहीं, क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न होने वाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता। “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” इस न्याय सूत्र के अनुसार जो जिससे उत्पन्न होता है वह उस सम्बन्ध के नाश का कारण नहीं हो सकता। इसी कारण अज्ञान से उत्पन्न कर्म से अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता।

नित्य: सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥
तस्मादद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः। भेदोऽव्यक्तस्वभावेन सा च मायात्मसंश्रया॥
(अद्भुत रामायण)

आत्मा तो नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ, दोषरहित, और एक है, किंतु माया की शक्ति से उसमें भेद प्रतीत होता है, स्वभावतः नहीं। इसीलिए ज्ञानीजन यथार्थ में अद्वैत की ही सत्ता कहते हैं,किंतु माया के आत्मा के साथ लगी रहने के कारण वह अव्यक्त आत्मा भी स्वभावतः द्वैतभेद वाली प्रतीत होने लगती है।

द्वेषमूलो मनस्तापो द्वेषः संसारखंडनम्। मोक्षविघ्नकरो द्वेषस्तं यत्नात्परिवर्जयेत् ॥
(महाभागवत उपपुराण, पार्वतीगीता)

द्वेष मन के संताप का मूल है, सांसारिक सम्बन्धों को भंग करने वाला तथा मोक्ष के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाला है, अतः द्वेष का प्रयत्न पूर्वक परित्याग कर देना चाहिए।

अहो भुवन कल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्। मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते॥
(अष्टावक्र गीता, द्वितीय प्रकरण)

आश्चर्य है, मुझ अनन्त महासमुद्र में जब चित्तरूपी वायु चलने लगती है तब झटपट बहुत से दृश्य पदार्थों की तरंगें उठने लगती हैं।

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि। योगिनस्तत्र लीयन्ते घटाकाशमिवाम्बरे॥
(अवधूत गीता)

योगिजन जिस किसी भी भाव से जहां कहीं भी देहत्याग करें, वे वैसे ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं जैसे घट के छिन्न होने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है।

कर्म सर्वत्र आदिष्टं न जानाति च किञ्चन। कर्म ब्रह्म विजानाति जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
अनादिवर्ती भूतानां जीवः शिवो न हन्यते। निर्वैरः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
(जीवन्मुक्त गीता)

शास्त्रविहित निष्काम कर्म के अतिरिक्त कुछ और न जानता हुआ जो कर्म को ब्रह्मरूप मानकर संपादित करता रहता है, प्राणियों में स्थित शिवस्वरूप जीवात्मा अनादि है और इसका नाश न सम्भव है और न वांछित, ऐसा जानकर सभी प्राणियों के प्रति द्वेष का दमन करने वाला व्यक्ति ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा गया है। अतएव अपने इच्छाओं का दमन करके शास्त्रानुसार कर्म में निष्काम भाव से प्रवृत्त होकर निर्वैरता का पालन ही योगी होना है। ऐसा योगी यदि योगभ्रष्ट भी होता है तो ऊर्ध्वगति को प्राप्त करके सम्मानित होता है।

--*

द्रौपदी के कितने पति थे ?

शास्त्रों के परम्परागत अध्ययन से विमुख लोगों ने एक नया प्रपञ्च फैलाया है – "द्रौपदी के पांच नहीं, एक ही पति थे" । इस विषय में उन्होंने एक लघु लेख भी लिखा है, जिसका बड़ा हास्यास्पद नाम दिया है, "२०० वर्षों से प्रचारित झूठ का खंडन" ... इन्हें लगता है कि मैक्समूलर आदि ने २०० वर्ष पूर्व महाभारत आदि में कुछ मिलावट कर दी, अथवा समाज में एक भ्रम फैला दिया कि द्रौपदी के पांच पति थे। इस लेख में हम इसी का समाधान करेंगे।

कुतर्की लेख की भूमिका -

जर्मन के संस्कृत जानकार मैक्समूलर को जब विलियम हंटर की कमेटी के कहने पर वैदिक धर्म के आर्य ग्रंथों को बिगाड़ने का जिम्मा सौंपा गया तो उसमे मनु स्मृति, रामायण, वेद के साथ साथ महाभारत के चरित्रों को बिगाड़ कर दिखाने का भी काम किया गया। किसी भी प्रकार से प्रेरणादायी पात्र – चरित्रों में विक्षेप करके उसमे झूठ का तड़का लगाकर महानायकों को चरित्रहीन, दुश्चरित्र, अधर्मी सिद्ध करना था, जिससे भारतीय जनमानस के हृदय में अपने ग्रंथो और महान पवित्र चरित्रों के प्रति घृणा और क्रोध का भाव जाग जाय और प्राचीन आर्य संस्कृति सभ्यता को निम्न दृष्टि से देखने लगें और फिर वैदिक धर्म से आस्था और विश्वास समाप्त हो जाय। लेकिन आर्य नागरिकों के अथक प्रयास का ही परिणाम है कि मूल महाभारत के अध्ययन बाद सबके सामने द्रोपदी के पाँच पति के दुष्प्रचार का सप्रमाण खण्डन किया जा रहा है। द्रोपदी के पवित्र चरित्र को बिगाड़ने वाले विधर्मी, पापी वो तथाकथित ब्राह्मण, पुजारी, पुरोहित भी हैं जिन्होंने महाभारत ग्रंथ का अध्ययन किये बिना अंग्रेजों के हर दुष्प्रचार और षड्यंत्रकारी चाल, धोखे को स्वीकार कर लिया और धर्म को चोट पहुंचाई।

कुतर्की लेख की भूमिका का समाधान -
वैसे तो मैंने इन प्रक्षिप्तवादियों के षड्यंत्र के ऊपर कई विस्तृत लेख लिखे ही हैं, किन्तु जो चली बात हिन्दूग्रन्थों से छेड़छाड़ की, तो यह बताईये कि भारत में एक ही पुस्तक तो थी नहीं, कि छेड़छाड़ हो जाए। लगभग सभी गुरुकुलों में सैकड़ों ग्रन्थ थीं क्या सबमें बैठ कर मिलावट की ? और जो श्रौत परम्परा के वीर थे , समग्र ग्रन्थ को याद रखने वे थे, आज भी हैं, उनके मस्तिष्क में भी छेड़छाड़ की गयी ? उन्होंने विरोध क्यों नहीं किया ? और जो प्रतियां अभी भी मठों और गीताप्रेस, खेमराज, चौखम्बा, सरस्वती महल, सम्पूर्णानंद आदि के संग्रहालय में, कश्मीर महाराज, राजस्थान के अनेकानेक महाराज, दक्षिण के मठ और संग्रहालय में हैं, जो मैक्समूलर से पुरानी हैं, उनमें भी यही पाठ है। फिर कैसे मिलावट हुई ?

लाखों विद्वान, भाष्यकार, श्रुतधरों के देश में मानसिक और लिखित असंख्य प्रतियां सब मिलावटी ? गजब है न ? और एक बात, वेदों में मिलावट की बात क्यों नहीं की जाती ? क्या वहां मिलावट नहीं ? या फिर उन्हें छोड़ दिया गया ?

यदि हाँ, तो क्यों ? एक बात बताईये, मैक्समूलर आदि अंग्रेजों ने जो भाष्य आदि लिखे, वो वेदों पर ही लिखे। पुराणों पर तो काम हुआ ही नहीं विशेष। फिर मिलावट होनी चाहिए वेदों में, लेकिन उसका तो उल्लेख तक नहीं करते। जहाँ काम हुआ नहीं, वहां कैसी मिलावट ? ये भ्रम दयानन्द मत वाले समाजियों का फैलाया है। हाँ, एक जगह मिलावट है। वो है वेद के भाष्य में अर्थात् मैक्समूलर ने जो छद्म भाष्य लिखा उसमें।

मूल में कोई मिलावट नहीं, उसके अंग्रेजी प्रायोजित अनुवाद में मिलावट है, कुत्सितार्थ है, वो भी मात्र वेदों का। मूल तब भी थे, सही थे और यही थे। और आज भी हैं, सही हैं और यही हैं। छद्म भाष्यों का विरोध जम कर हुआ और हो रहा है। किन्तु असंख्य मठ, मन्दिर, गुरुकुल और कुशाग्र श्रुतधर विद्वानों के देश में इतने महत्वपूर्ण ग्रन्थों में मिलावट सम्भव नहीं। सम्भव भी तो प्रसार नहीं, तुरन्त दण्डित हो जाएंगे। दक्षिण के महानतम श्रृंगेरी, पेजावर, उडुपी, और कामकोटि आदि के मठ में जो ग्रन्थ ७०० वर्षों से पुराने पड़े हैं, उनमें भी मिलावट की गयी ? वो भी मैक्समूलर की जन्म के ४०० साल पहले ? वाह रे प्रक्षिप्तवादियों !! एक सत्य बताऊँ ? ये अफवाह इसीलिए बनायी गयी ताकि हमें अपने ग्रन्थों पर सन्देह हो और अनास्था हो जाए। जब मिठाई से मार सकते हैं तो विष क्यों दें ? जब केवल अफवाह से काम चल सकता है तो मेहनत कौन करें ? मिलावट अनुवाद में हुई है जिसका खण्डन शंकराचार्य पीठ आदि और सैकडों मान्य विद्वान कर चुके हैं। बीच में एकबार समाजियों के चहेते राजीव दीक्षित जी भी इनके फेर में फंसे थे। विलम्ब से उन्हें भी सत्य का ज्ञान हुआ जब कांची पीठ के अधिपति से मिले। पुराणों के विषय में व्यर्थ विवाद करने वाले, स्वयं को श्रेष्ठ कहने वाले म्लेच्छों के लिए मैं उनकी ही शैली में एक बात कहूंगा, जो वर्षों पहले किसी ने कही थी – उलझनों में ही, उलझ कर, रह गए वो बदनसीब, जो तेरी उलझी हुई जुल्फों को सुलझाने गए …

अच्छा, ये बताओ, कि तुमलोग कहते हो पुराणों में मिलावट की गयी है, हर वस्तु में मिलावट हो रही है, तो पुराणों में सम्भव क्यों नहीं !! तो, जब पुराणों में मिलावट है, तो वेदों को क्यों छोड़ दिया गया ? उनमें मिलावट सम्भव नहीं थी क्या ? और यदि तुम कहो कि मिलावट तो की थी, लेकिन दयानंद ने शुद्ध कर दिया। तो ये शुद्धीकरण केवल वेदों में ही क्यों किया दयानन्द ने ? पुराणों में क्यों नहीं ? उन्हें क्या ईश्वर ने इसकी ठेकेदारी नहीं दी थी ? अथवा उनकी बुद्धि पुराणों की दिव्यता के आगे फीकी पड़ गयी ? पुराणों की ये मिलावट केवल उन्हीं को, अथवा उनसे पूर्वापर अन्य सहस्रों विद्वानों को क्यों नहीं दिखी ? बाकियों को क्यों नहीं ? जहाँ जहाँ शंकराचार्य जी, रामानुजाचार्य जी और अन्यान्य विद्वत् परिषत् के द्वारा दयानन्द मत खण्डित किया गया, आर्य समाजी हार हार कर भागे, उन विजेताओं को पौराणिक मिलावट क्यों न दिखी ? अब हम द्रौपदी जी के विषय में एक सरल बात समझ लेते हैं। इस बात के लिए मैं मात्र संकेत कर रहा हूँ, श्लोकादि अधिक नहीं दे रहा, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि में ही श्लोक मिल जाएंगे, इसीलिए मात्र संकेत कर दे रहा हूँ।

१) पूर्व जन्म में वेदवती ने श्राप दिया था रावण को कि उसके घर जाकर उसका सर्वनाश करेंगी ऐसा कहकर वेदवती अग्नि में समाहित हो गयी।

२) सीताहरण की लीला से पूर्व श्रीरामजी ने वास्तविक सीताजी को अग्नि में छिपा दिया और अग्नि से वेदवती रूपी छाया सीता को निकाल कर स्थापित कर दिया।

३) छाया सीता का हरण हुआ और रावण वध हुआ। उसके बाद अग्निपरीक्षा के बहाने छाया सीता को वापस अग्नि में प्रवेश कराकर अग्निदेव से वास्तविक सीता को प्राप्त कर लिया।

४) पुनः वही पहले जन्म की वेदवती अथवा दूसरे जन्म की छाया सीता, जो अग्नि में ही निवास कर रही थी, तीसरे जन्म में द्रौपदी के रूप में यज्ञकुण्ड की अग्नि से प्रकट हुई।

सीताजी की इस प्रकार से हुई अदला बदली को लक्ष्मण जी तक से छिपा कर रखा गया था। एक कल्प में काली के अंश से, तो एक कल्प में लक्ष्मी के अंश से द्रौपदी का प्राकट्य अग्निकुण्ड के मध्य से हुआ है।

मदंशसम्भवां कृष्णामवमंस्यति दुर्मतिः। दुर्योधनाह्वयः क्रूरः सर्वेषां कंण्टकोपमः॥
(महाभागवत उपपुराण, अध्याय – ४९, श्लोक – ५०)

काली देवी ने कहा – मेरे अंश से उत्पन्न कृष्णा (द्रौपदी) का अपमान सभी प्राणियों के लिए कांटे के समान क्रूर दुर्मति दुर्योधन करेगा।

पुनः कुमारी पाञ्चाली सुभगा वेदिमध्यगा। अन्तर्वेद्यां समुद्भूता कन्या सा सुमनोहरा॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा। मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षाच्छ्रीरिव वर्णिनी॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – १४९, श्लोक – ६१)

इसके बाद सुंदर वेश वाली कुमारी पांचाली यज्ञकुण्ड की वेदी के अंदर से प्रकट हुई, जो श्यामवर्ण की थी, जिसके नेत्र कमल की पंखुड़ियों के समान थे एवं जिसके केश घुंघराले एवं नीले रंग के थे। उसका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो साक्षात् देवी लक्ष्मी ही मनुष्य का रूप धारण करके आयी हों। लक्ष्मी की अवतार द्रौपदी हों अथवा वसु के अवतार भीष्म पितामह, कलियुग का अवतार दुर्योधन हो या सूर्यांश से सहस्रकवच दम्भोद्भव का अवतार कर्ण, सभी वहां पाप पुण्यादि के क्षोभ के निमित्त बनकर पृथ्वी के भारहरण के लिए होने वाले श्रीकृष्णचन्द्र महावतार की लीला में सहयोग करने के लिए आये हुए थे।

अवतार के कई भेद हैं। पूर्णावतार, कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार आदि। पूर्णावतार कल्प में एक बार होता है। कलावतार एक कल्प में दो तीन बार, तथा अंश एवं आवेशावतार आदि कई कई बार हो सकते हैं। कल्कि की गणना कहीं अंशावतार तो कहीं आवेशावतार में होती है। पाद्म कल्प में श्रीराम अवतार अट्ठाईसवें में नहीं, चौबीसवें त्रेता में हुआ था। श्वेतवाराह कल्प में श्रीकृष्ण अवतार अट्ठाईसवें द्वापर में हुआ। जिस कल्प में रामावतार सातवें मन्वन्तर के

अट्ठाईसवें त्रेता में हुआ था उसे सारस्वत कहते हैं। अब ये अवतार पुनः अगले कल्प में होंगे। अवतारों के सन्दर्भ में कुछ बातें ध्यातव्य हैं –

१) ब्रह्म काल और कर्म से परे हैं।
२) श्रीकृष्ण और श्रीराम कर्मबन्धन में नहीं हैं इसीलिए ब्रह्म का कार्य, स्वरूप, स्वभाव आदि वही रहता है किन्तु जीव का बदलता रहता है।
३) ब्रह्म का अर्थ पांचरात्र मत से चतुर्व्यूह मूर्ति और उनकी शक्ति से है। इसमें श्रीकृष्ण, बलराम अथवा रामादि चारों भाई और उनकी सीतादि पत्नियां आएंगी। ब्रह्म का अवतारी व्यक्तित्व और शक्ति समान रहते हैं।
४) जीव में दशरथ कौशल्या आदि, रावण आदि, वसुदेव देवकी आदि आएंगे।
५) किसी कल्प में कश्यप अदिति दशरथ कौशल्या बने और किसी कल्प में स्वायम्भुव मनु और शतरूपा। किसी कल्प में एक ब्राह्मण परिवार बना था, जिसका वर्णन स्कन्दपुराण के कार्तिक माहात्म्य में आता है।
६) घटनाक्रम में आंशिक बदलाव होता है। जैसे जाम्बवन्त जी ने श्रीराम जी को जो पुराकल्प रामायण सुनाई है, उसमें कैकेयी थी ही नहीं। उसमें राजा दशरथ की चार पत्नियां थीं और सबसे एक एक सन्तान थी। तो कुछ घटना बदलती है। एक कल्प में जय विजय, तो कभी रुद्रगण, कभी प्रतापभानु तो कभी जलन्धर के अंश से रावण बनता है।

ब्रह्म के भी शिव, विष्णु, काली आदि कई सगुण रूप हैं। जिनमें से भी कभी अवतार व्यतिक्रम हो जाता है। जैसे श्रीमहाभागवत उपपुराण में यह वर्णन है कि पिछले कल्प में कालिका ने कृष्ण रूप और शिव ने राधिकावतार लिया था। विष्णु भगवान् उसमें अर्जुन बने थे। साथ ही देवी ने यह भविष्यवाणी भी की थी कि अगले कल्प का कृष्णावतार श्रीविष्णु जी लेंगे। इसीलिए देवताओं में अभेदबुद्धि रखने कहा गया है।

कल्पांतरे तु भूपृष्ठे द्वापरान्ते महामुने। विष्णुः श्रीकृष्णरूपेण पूर्णांशेन जगत्प्रभुः ॥
शम्भोर्वरप्रदानेन सम्भविष्यति लीलया। निहनिष्यति भूभारमेवमेव महामते ॥
(महाभागवत, अध्याय – ५८, श्लोक – ५१-५२)

ऐसे ही हम देखें तो श्रीमद्भागवत में जिस कल्प की कथा है, उसमें प्रह्लाद जी ५ वर्ष के लगभग थे, जब नृसिंह भगवान् ने उनकी रक्षा हेतु अवतार लेकर दो घड़ी में ही राक्षसों का वध करके लीला पूर्ण कर दी थी। किन्तु एक कल्प में ऐसा भी हो चुका है कि जब नृसिंह भगवान् हिरण्यकशिपु के वध के लिए आये, तो प्रह्लाद जी ही उनसे भिड़ गए। प्रह्लाद जी को लगा कि कोई शत्रु मेरे पिता को मारना चाहता है। इसीलिए उन्होंने अपने संह्लाद, अनुह्लाद आदि भाईयों के साथ मिलकर नृसिंह जी से ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया। करीब दो तीन सौ वर्ष तक युद्ध के बाद प्रह्लाद जी को अपनी भूल ज्ञात हुई और उन्होंने नृसिंह देव को विष्णुरूप में पहचान लिया, तब युद्ध से विरत हुए और भगवान् ने अपनी लीला पूर्ण की। इस कथा का सांकेतिक वर्णन सौर पुराण के अट्ठाईसवें अध्याय में है।

हिरण्यकशिपुर्दृष्ट्वा नृसिंहमतिभीषणम्। वधाय प्रेषयामास प्रह्लादादीन् महाऽसुरान्॥
प्रह्लादश्चानुह्लादश्च संह्लादो ह्लाद एव च। हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः॥

....

नरसिंहेन ते सार्धं युयुधुर्दानवास्तदा॥ विनिवृत्तोऽथ संग्रामात्प्रह्लादो दैत्यराट् ततः॥
ज्ञात्वा तु भगवद्भावं नृसिंहस्यामितौजसः। ध्यात्वा नारायणं देवं वारयामास दानवान्॥
एष नारायणो योगी परमात्मा सनातनः। ध्यातव्यो न तु योद्धव्यो भवद्भिरिति निश्चितम्॥
पुत्रोदितमनादृत्य हिरण्यकशिपुः पुनः। युयुधे हरिणा सार्धं यावद्वर्षशतत्रयम्॥
अथ विश्वात्मको विष्णुः क्रोधसंरक्तलोचनः। नखैर्विदारयामास हिरण्यकशिपुं तदा॥

ऐसे ही वैवस्वत मन्वतर में जो मत्स्यावतार हुआ वह राजा सत्यव्रत को अगले मनु, श्राद्धदेव के रूप में पदोन्नत करने के लिए हुआ। किन्तु स्वायंभुव मन्वतर का मत्स्यावतार कपिल मुनि के श्राप के कारण हुए प्रलय से प्रजा की रक्षा करने के लिए हुए था। तो कुछ घटनाओं में परिवर्तन नहीं होता है और कुछ में अंतर होता है। ब्रह्म का किरदार वही रहता है, जीव का बदलता है। जैसे आप एक ही मार्ग पर रोज अपने ऑफिस जाते हैं। किंतु उसमें जो मूल फार्मा है, वह एक ही है पर घटनाओं में कुछ परिवर्तन होता हैं। आप इसकी तो भविष्यवाणी कर सकते हैं कि रास्ते में कितने मोड़, कौन सी दुकान, कौन सा सिग्नल आदि आएगा, किन्तु वह दुकान और सिग्नल किन लोगों से भरा होगा, यह नहीं बता सकते।इसी प्रकार से आप बता तो सकते हैं कि ताड़का वध, वनवास, सीताहरण, लंकादहन, रावणवध आदि होगा किन्तु बिल्कुल सटीक शैली और जीवों के पात्र की भविष्यवाणी नहीं कर सकते। इसीलिए पाद्म कल्प में श्रीरामजी चैत्र कृष्ण चतुर्दशी को रावण वध करते हैं, तो सारस्वत कल्प में विजयादशमी के दिन।

कर्मफल का सिद्धांत चलता रहता है, इसीलिए जिस जीव का कर्मफल रावण बनने लायक होता है, उसे अगली लीला में रावण बनाते हैं और जिसका कर्मफल दशरथ बनने लायक होता है, उसे दशरथ बनाते हैं। कर्मफल का उपभोग भी हो जाता है और वह लीला भी पूर्ण हो जाती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में जो कथा है, वह रथन्तर कल्प की घटना पर आधारित है। उस कल्प में जो कुब्जा है, वह पिछले जन्म की शूर्पणखा थी, किन्तु कभी श्रीरामावतार की पिङ्गला नाम की वेश्या भी अगले जन्म में श्रीकृष्णावतार की कुब्जा बनती है। ऐसे ही अलग अलग कल्पों की कथा से अलग अलग ग्रंथ बने हैं। पुराणों का, महाभारत आदि का रहस्य गूढ़ है। जिसमें श्रद्धा न हो, अपना प्रलाप कहीं और जाकर करें। द्रौपदी का जन्म, विवाह, आदि सब कुछ अलौकिक था। वे अयोनिजा दिव्य कन्या थीं, उनके साथ लौकिक न्याय से हम समीक्षा नहीं कर सकते हैं। भ्रम फैलाने वाले कहते हैं कि द्रौपदी के पांच पतियों वाली बात को मैक्समूलर ने २०० वर्ष पहले मिलावट से फैलाया है। किंतु मैं उन्हें आठ सौ वर्ष पूर्व में हुए वायुदेव के अवतार द्वैतवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमज्जगद्गुरु मध्वाचार्य जी के द्वारा लिखे गए "महाभारततात्पर्यनिर्णय" नामक सन्देहनिवारक ग्रंथ से प्रमाण देता हूँ, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति आज भी उत्तरादि मठ के स्वामी श्रीजयतीर्थ संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकालय में उपलब्ध है।

कृष्णस्तदाऽह नृपतिं प्रति देहि कन्यां सर्वेभ्य एव वृषवायुपुरन्दरा हि।
नासत्यदस्रसहिता इम एव इन्द्राः पूर्वे च सम्प्रतितनश्च हरेर्हि पश्चात्॥
एषां श्रियश्च निखिला अपिचैकदेहाः पुत्री तवैव न ततोऽत्र विरुद्धता हि।
इत्युक्तवत्यपि यदा द्रुपदश्चकार संवादिनीं न धियमेनमथाऽह कृष्णः॥
दिव्यं हि दर्शनमिदं तव दत्तमद्य पश्याऽशु पाण्डुतनयान् दिवि सं स्थितांस्त्वम्।
एतां च ते दुहितरं सह तैः पृथक्स्थां तल्लक्षणैः सह ततः कुरु ते यथेष्टम्॥
इत्युक्तवाक्यमनु तान् स ददर्श राजा कृष्णप्रसादबलतो दिवि तादृशांश्च।
एतान्निशाम्य चरणौ जगदीशितुश्च भीतो जगाम शरणं तदनादरेण॥
दत्वाऽभयं स भगवान् द्रुपदस्य कार्ये तेनोमिति स्म कथिते स्वयमेव सर्वाम्।
वैवाहिकीं कृतिमथ व्यदधाच्च धौम्य युक्तः क्रमेण जगृहुर्निखिलाश्च पाणिम्॥
(महाभारततात्पर्यनिर्णय, अध्याय – १९, श्लोक – १५४-१५८)

तात्पर्य यह है कि भगवान् वेदव्यास जी ने राजा द्रुपद को कहा कि धर्म, वायु, इन्द्र, नासत्य एवं दस्र (अश्विनीकुमार) के अंशभूत इन पांडवों को अपनी पुत्री प्रदान करो। ये सभी पहले इन्द्र रह चुके हैं, जिनकी राज्यश्री के अंश से ही द्रौपदी हुई है, इसीलिए ऐसे विवाह में कोई धर्मविरुद्ध बात नहीं होगी। इसके बाद भी द्रुपद का मन इस रहस्य को समझ नहीं पा रहा था इसीलिए वेदव्यास जी ने उन्हें आकाश में स्थित स्वलक्षणों से युक्त पांडवों एवं उनकी पत्नीरूप में खड़ी द्रौपदी के दिव्यरूप का दर्शन कराया और कहा, कि अब तुम्हारी जो इच्छा हो, सो करो।

उन्हें देखकर राजा द्रुपद भयभीत होकर वेदव्यास मुनि की शरण में गए और मुनि ने उन्हें अभय देकर धौम्य मुनि के निर्देशानुसार विवाहसम्बन्धी समस्त कृत्य सम्पादित कराए। उपर्युक्त प्रमाण से, जो मैक्समूलर से सैकड़ों वर्ष पूर्व, महाभारत के ही तात्पर्य का निर्णय करते हुए श्रीमध्वाचार्य जी ने लिखा था, यह सिद्ध होता है कि द्रौपदी जी के पांच पतियों की बात कोई "२०० वर्षों से प्रचारित होने वाला झूठ" नहीं है। आक्षेपकर्ता लिखता है "द्रौपदी के पवित्र चरित्र को बिगाड़ने वाले विधर्मी, पापी वो तथाकथित ब्राह्मण, पुजारी, पुरोहित भी हैं जिन्होंने महाभारत ग्रंथ का अध्ययन किये बिना अंग्रेजों के हर दुष्प्रचार और षड्यंत्रकारी चाल, धोखे को स्वीकार कर लिया और धर्म को चोट पहुंचाई।"

किन्तु हम देखते हैं कि जैसा कि आर्य समाजी लोग प्रारम्भ से ही ब्राह्मण, पुरोहित एवं पुराणागम के विशेषज्ञ विद्वानों से चिढ़ते हैं, कारण कि आर्य समाज के काल्पनिक सिद्धांत हमेशा इन्हीं के कारण खंडित होते आये हैं, अतएव ये बात केवल भर्त्सना हेतु कही गयी है। वास्तव में आर्य समाज के लोग ही अंग्रेजों के साथ मिलकर हमारे ग्रंथों को मिलावटी और अप्रामाणिक सिद्ध करने का षड्यंत्र करते आये हैं। इन लोगों ने कहा कि इन्होंने "मूल महाभारत" का अध्ययन करके सिद्ध किया है कि द्रौपदी का एक ही पति था। क्या ये लोग वह मूल प्रति दिखाएंगे, जो मैक्समूलर से अधिक

पुरानी हो एवं उसमें द्रौपदी के पांच पतियों का वर्णन नहीं हो ? वस्तुतः ये लोग स्वयं ही वेदमन्त्रों को अपनी सुविधा के अनुसार बदल देते हैं, अब तो एक दयानंदोपनिषत् भी लिख दिया है। स्वयं प्राचीन प्रतियों की उपेक्षा करके अपने से मिलावट करके महाभारत और रामायण के श्लोकों को हटाकर, अपने से श्लोक जोड़कर मिलावट करके छाप रहे हैं और उस कुकृत्य का आरोप हमलोगों पर लगा देते हैं।

कुतर्की के प्रमाण ०१, ०२ एवं ०३ -
क्या कोई ऐसा प्रमाण है जिसमें द्रौपदी ने अपने को केवल एक की पत्नी कहा हो या अपने को युधिष्ठिर की पत्नी बताया हो ? उत्तर:-
(1) द्रौपदी को कीचक ने परेशान कर दिया तो दुःखी द्रौपदी भीम के पास आई। उदास थी। भीम ने पूछा सब कुशल तो है? द्रौपदी बोली जिस स्त्री का पति राजा युधिष्ठिर हो वह बिना शोक के रहे, यह कैसे सम्भव है?
अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्य भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ।।-(विराट १८/१)
द्रौपदी स्वयं को केवल युधिष्ठिर की पत्नी बता रही है।
(2) – वह भीम से कहती है – जिसके बहुत से भाई, श्वसुर और पुत्र हों,जो इन सबसे घिरी हो तथा सब प्रकार अभ्युदयशील हो, ऐसी स्थिति में मेरे सिवा और दूसरी कौन सी स्त्री दुःख भोगने के लिए विवश हुई होगी-
भ्रातृभिः श्वसुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं सुमुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ।।-(२०-१३)
द्रौपदी स्वयं कहती है उसके बहुत से भाई हैं, बहुत से श्वसुर हैं, बहुत से पुत्र भी हैं,फिर भी वह दुःखी है। यदि बहुत से पति होते तो सबसे पहले यही कहती कि जिसके पाँच-पाँच पति हैं, वह मैं दुःखी हूँ, पर होते तब ना ।
(3)- और जब भीम ने द्रौपदी को,कीचक के किये का फल देने की प्रतिज्ञा कर ली और कीचक को मार-मारकर माँस का लोथड़ा बना दिया तब अन्तिम श्वास लेते कीचक को उसने कहा था, "जो सैरन्ध्री के लिए कण्टक था,जिसने मेरे भाई की पत्नी का अपहरण करने की चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचक को मारकर आज मैं अनृण हो जाऊंगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी।"
अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम् ।
शांति लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रीकण्टकम् ।।-(विराट २२-७९)
इस पर भी कोई भीम को द्रौपदी का पति कहता हो तो क्या करें? मारने वाले की लाठी तो पकड़ी जा सकती है, बोलने वाले की जीभ को कोई कैसे पकड़ सकता है ?

कुतर्की के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रमाण का समाधान -
उपर्युक्त प्रमाणों में बड़ी ही हास्यास्पद बात है कि कितनी धूर्तता से इन्हीं प्रमाणों और प्रसङ्गों के आस पास वाले सभी श्लोकों को छिपा दिया गया है जिनसे द्रौपदी के पांच पति सिद्ध होते। अस्तु, हम कीचक आदि के प्रसङ्ग से ही द्रौपदी

के पांचों पतियों का प्रमाण देते हैं। सर्वप्रथम यह बात समझ लें कि पाँचों पाण्डव द्रौपदी के पति थे, जिनमें युधिष्ठिर का नाम भी आता है। युधिष्ठिर राजा थे, बड़े भाई थे,इसीलिए उनका नाम विशेष प्रधानता से लिया जाता है। युधिष्ठिर का द्रौपदी के पति के रूप में उल्लेख होना, मात्र यह सिद्ध करता है, कि वे द्रौपदी के पति थे। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि केवल वे ही द्रौपदी के पति थे। जैसे यदि किसी के चार पांच पुत्र हों, तो वह व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर अपने सभी पुत्रों के नाम का परिचय नहीं देता, मात्र ज्येष्ठ पुत्र से भी उनके माता पिता जाने जाते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष उसकी संतानें नहीं हैं। द्रौपदी के पांच पतियों में कहीं इच्छानुसार एक ही का वर्णन है, तो कहीं पांचों का। किन्तु यह वर्णन कहीं नहीं है कि केवल एक ही पति थे, शेष का निषेधवाक्य कहीं नहीं है। कुतर्की आक्षेपकर्ता ने श्लोकों के आधार पर मुख्यतः तीन बातें सिद्ध करने का प्रयास किया है –

१) द्रौपदी के एक ही पति थे, पांच नहीं।
२) वो एक पति राजा युधिष्ठिर ही थे, अन्य नहीं।
३) भीम ने द्रौपदी को अपने भाई की पत्नी कहा है, अपनी नहीं।

अस्तु, हम इन कुतर्कों का समाधान भी इन्हीं प्रसङ्गों एवं सम्वादों के माध्यम से करेंगे। जब कीचक द्रौपदी के साथ दुराचार की मंशा बना रहा था, उस समय उसके भय द्रौपदी ने देवताओं एवं पितरों से प्रार्थना की ...

यथाऽहमन्यं पार्थेभ्यो नाभिजानामि मानवम्। तेन सत्येन मां दृष्ट्वा कीचको मा वशं नयेत्॥
यथाऽहं पाण्डुपुत्रेभ्यः पञ्चभ्यो नान्यगामिनी। तेन सत्येन मां दृष्ट्वा कीचको मा वशं नयेत्॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – १८, श्लोक – ५५-५६)

चूंकि मैं कुन्तीपुत्रों के अतिरिक्त किसी और मानव को नहीं जानती हूँ, इस सत्य के प्रभाव से मुझे देखने के बाद कीचक मुझे अपने वश में न कर सके। चूंकि मैं पांचों पांडवों के अतिरिक्त किसी और का अनुसरण नहीं करती हूँ, उस सत्य के प्रभाव से मुझे देखने के बाद भी कीचक मुझे अपने वश में न कर सके। (सती स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी और को नहीं जानती, यह उक्ति प्रसिद्ध है। यहां “नहीं जानने” का अर्थ पतिभाव से नहीं जानना है। यह भी प्रसिद्ध है कि सती स्त्री अपने पति का ही अनुसरण करती है।)

जब राजा विराट की सभा में कीचक ने द्रौपदी को लात से मारा था, तब राजा को उसे दण्ड न देता हुआ देख कर द्रौपदी ने निम्न वचन कहे थे। इस सभी श्लोकों में अपने पति के सन्दर्भ में मात्र बहुवचन का ही प्रयोग है जो अनेकों पतियों के स्पष्ट निर्देश करता है।

येषां न वैरी स्वपिति पदा भूमिमुपस्पृशन्। तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्॥
ये च दद्युर्न याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः। येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयते भृशम्॥
तेषां मां दयितां भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्। तेजस्विनस्तथा क्षान्ता बलवन्तश्च मानिनः॥
महेष्वासा रणे शूरा गर्विता मानतत्पराः। तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्॥

जिन लोगों के भूमि पर पैर रख देने मात्र से वैरियों की नींद समाप्त हो जाती है, उन्हीं लोगों की सम्माननीया पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है। जिन्होंने आजतक केवल दिया है, कभी किसी से मांगा नहीं, जो ब्राह्मणभक्त एवं सत्यवादी हैं, जिनकी दुंदुभि एवं धनुष की टंकार का घोष बारम्बार सुनाई पड़ता है, उन्हीं लोगों की सम्माननीया पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है। जो तेजस्वी हैं, क्षमाशील हैं, बलवान् एवं स्वाभिमानी हैं। विशाल धनुष को धारण करने वाले, युद्ध में वीरता का प्रदर्शन करने वाले, गर्व से भरे हुए एवं सम्मान हेतु तत्पर रहते हैं, उन्हीं लोगों की सम्माननीया पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है।

सर्वलोकमिमं हन्युर्यदि क्रुद्धा महाबलाः। तेषां मां दयितां भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्॥
येषां नास्ति समः कश्चिद्वीर्ये सत्ये बले दमे। तेषां मां दयितां भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्॥
येषां न सदृशः कश्चिद्धनाद्यैर्भुवि मानवः। तेषां मां दयितां भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत्॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २०, श्लोक – १७-२२)

जो लोग क्रुद्ध होने पर सभी लोकों का नाश कर सकते हैं, उन्हीं लोगों की समर्पिता पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है। पराक्रम, सत्य, बल, सहनशक्ति में जिनके समान दूसरा कोई नहीं है, उन्हीं लोगों की समर्पिता पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है। धन आदि में भी जिनके समान इस संसार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, उन्हीं लोगों की समर्पिता पत्नी को आज इस सूतपुत्र ने पैरों से मारा है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि द्रौपदी के कई पति थे, जो पांच पाण्डव ही थे, यह सर्वविदित है। जब बारम्बार विरोध करने पर भी कीचक का अनाचार नहीं रुका तो द्रौपदी ने कीचक की बहन महारानी सुदेष्णा को निम्न बात कहते हुए चेतावनी दी है –

भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवच्छ्राद्धं त्वमद्य वै। सुहृष्टं कुरु वै चैनं नासून्मन्ये धरिष्यति॥
तेषां हि मम भर्तॄणां पञ्चानां धर्मचारिणाम्। एको दुर्धषणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि॥
निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात्क्रुद्धो निशामिमाम्। न स संक्रुध्यते तावद्गन्धर्वः कामरूपधृत्॥
नूनं ज्ञास्यति यावद्वै ममैतत्पादघातनम्।
तत्क्षणात्कीचकः पापः सपुत्रभ्रातृबान्धवः। विनशिष्यति दुष्टात्मा यथा दुष्कृतकर्मकृत्॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २०, श्लोक – ७१-७४)

तुम अपने भाई के जीवित रहते ही, शीघ्र उसका श्राद्ध कर डालो। उसके मन को प्रसन्न लगने वाले कृत्य भी कर दो, क्योंकि वह अधिक समय तक अपने प्राणों को धारण नहीं कर पायेगा, ऐसा मैं समझती हूँ। धर्म का आचरण करने वाले मेरे पांच पतियों में से एक, जिसका बल अत्यंत भीषण है, जिसकी कहीं कोई तुलना नहीं है, वह आज की रात्रि को क्रोधित होकर इस स्थान को मनुष्यहीन कर देगा। इच्छानुसार रूप धारण करने वाला वह गंधर्व जब तक क्रोधित नहीं होता है (तभी तक कीचक सकुशल है)। मेरे ऊपर जो कीचक ने लात से प्रहार किया है, उसे वह (गंधर्व) शीघ्र

ही जान जाएगा और जब ऐसा होगा उसी समय दुष्कृत्य करने वाला वह पापी कीचक अपने पुत्र, भाई एवं बांधवों के साथ नष्ट हो जाएगा। यहां ध्यान देने की बात है कि अज्ञातवास के समय पांडवों ने अपना वास्तविक नाम, गुण एवं स्वरूप छिपा रखा था। द्रौपदी भी सैरंध्री बनकर रहती थी एवं राजा विराट के महल में अर्धसत्य बोलते हुए अपने आप को पांच गंधर्वों की पत्नी बताया था। इसके बाद वह भीमसेन के कक्ष में सहायता मांगने के लिए चली गयी और वहां उन्होंने जो व्यवहार किया, उससे सिद्ध हो जाएगा कि द्रौपदी भीमसेन की भी पत्नी थीं।

अभिप्रसार्य बाहुभ्यां पतिं सुप्तं समाश्लिषत् । सुजातं गोमतीतीरे सालं वल्लीव पुष्पिता॥
परिस्पृस्य च पाणिभ्यां पतिं सुप्तमबोधयत्। श्रीरिवान्या महोत्साहं सुप्तं विष्णुमिवार्णवे॥
क्षौमावदाते शयने शयानं वृषभेक्षणम्। यथा शची देवराजं रुद्राणी शंकरं यथा॥
ब्रह्माणमिव सावित्री देवसेना गुहं यथा।
दिशागजसमाकारं गजं गजवधूरिव। भीमं प्राबोधयत्कान्ता लक्ष्मीर्दामोदरं यथा॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २२, श्लोक – ०८-११)

(द्रौपदी ने भीमसेन के कक्ष में जाकर) अपने सोये हुए पति का बाहें फैलाकर आलिंगन किया, जैसे गोमती नदी के किनारे उत्पन्न साल वृक्ष का फूलों से भरी हुई लता आलिंगन करती है। उस (द्रौपदी) ने अपने हाथों से स्पर्श करके वृषभ के समान विशाल नेत्रों वाले सोये हुए पति (भीमसेन) को रेशमी गद्दों के ऊपर से जगाया, जैसे क्षीरसागर में सोए हुए भगवान् विष्णु को देवी लक्ष्मी जगाती हैं। जैसे देवी शची देवराज इन्द्र को, देवी पार्वती भगवान् शिव को, देवी सावित्री ब्रह्मदेव को एवं देवसेना स्वामिकार्तिकेय को जगाती हैं। जैसे दिग्गजों को उनकी गजवधू जगाती है, जैसे देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु को जगाती हैं, वैसे ही उस पत्नी (द्रौपदी) ने भीमसेन को जगाया। इसके आगे भीमसेन एवं द्रौपदी में सम्वाद हुआ। इस सम्वाद के प्रथम श्लोक को तो आक्षेपकर्ता ने उल्लिखित करते हुए युधिष्ठिर को द्रौपदी का पति सिद्ध कर ही दिया किन्तु इसी सम्वाद के अंतिम श्लोक को भी यदि उल्लिखित करता तो साथ साथ ही, द्रौपदी के ही वचन से उनके पांचों पतियों की सिद्धि हो जाती। वह अंतिम श्लोक है,

एकभर्ता तु या नारी सा सुखेनैव वर्तते। पञ्च मे पतयः सन्ति मम दुःखमनन्तकम्॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २२, श्लोक – १२५)

द्रौपदी कहती हैं – जिस स्त्री का एक ही पति हो, वह सुख से ही रहती हैं। मेरे तो पांच पति हैं, फिर भी मेरा दुःख अनंत है। इसी सम्वाद के प्रथम श्लोक का उदाहरण देते हुए आक्षेपकर्ता ने केवल युधिष्ठिर को ही द्रौपदी का पति बताया है, आईये उसकी भी समीक्षा करते हैं –

अशोच्यता कुतस्तस्या यस्या भर्ता युधिष्ठिरः। जानन्सर्वाणि दुःखानि किं मां भीमानुपृच्छसि॥

हे भीम ! जिसके पति युधिष्ठिर हों, वह कैसे चिंतामुक्त हो सकती है, मेरे सभी दुःखों को जानते हुए भी तुम क्या पूछते हो ? यहां युधिष्ठिर का नाम इसीलिए आया है क्योंकि आप इस पूरे सम्वाद को देखें तो द्रौपदी ने दुःखी होकर पांडवों एवं उसकी स्वयं की दुर्गति का कारण युधिष्ठिर को ही बताया है। द्रौपदी के अनुसार युधिष्ठिर के द्यूतक्रीड़ा के कारण ही बाकी सबों को इतना कठोर कष्ट भोगना पड़ता था, इसीलिए द्रौपदी ने क्रोधित होकर कहा कि जिसके पति युधिष्ठिर हों, वह सुखी कैसे रह सकती है ? बीच में सैरंध्री का रूप धारण करके अज्ञातवास करने वाली द्रौपदी ने कीचक को चेतावनी देते हुए कहा था –

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया । ते त्वां निहन्युर्दुर्धर्षाः शूराः साहसकारिणः॥
एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह। नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २४, श्लोक – ३७-३८)

द्रौपदी ने कहा – मैं पांच गंधर्वों की प्रिय भार्या हूँ। वे अपराजित, साहसी और पराक्रमी (गंधर्व) तुम्हें मार डालेंगे। द्रौपदी की बात सुनकर दुष्टात्मा कीचक ने कहा – हे पवित्र मुस्कान वाली सैरंध्री ! मैं गंधर्वों से नहीं डरता हूँ। कीचक से द्वंद्वयुद्ध के समय भी भीमसेन ने इस बात की पुनः पुष्टि की …

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति। सुखमेव चरिष्यन्ति सैरन्ध्र्याः पतयः सदा॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २६, श्लोक – २१)

भीम ने कीचक से कहा – तुम्हारे मारे जाने पर सैरंध्री (द्रौपदी) बिना बाधा के विचरण करेगी। उसके पति (यहां पतयः, बहुवचन शब्द है) भी सदा सुख से रहेंगे। कीचक के मारे जाने पर द्रौपदी ने उसके भाईयों को यही कहा था कि परस्त्री की कामना करने वाला यह कीचक मेरे गंधर्व पतियों के द्वारा मारा गया –

कीचको निहतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम। परस्त्रीकामसंतप्तं समागच्छन्त पश्यत॥

जब कीचक के मारे जाने पर उसके भाई, उपकीचकों ने द्रौपदी को जीवित जलाने का षड्यंत्र किया तो द्रौपदी ने कूट शब्दों में अपने पतियों को पुकारा था –

जयो जयेशो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः। त मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम्॥
(महाभारत, विराटपर्व, अध्याय – २७, श्लोक – १९)

जय, जयेश, विजय, जयत्सेन और जयद्बल मेरी इस वाणी को सुनकर जान जाएं कि सूत्रपुत्र मुझे उठाकर ले जा रहे हैं। पांडवों ने अपने गुप्त नामों के माध्यम से आपसी संवाद करने का निश्चय किया था ताकि उनकी वास्तविकता किसी को ज्ञात न हो। युधिष्ठिर का नाम जय था, क्योंकि वे धर्मावतार थे, यतो धर्मस्ततो जयः। ऐसे ही अर्जुन का नाम विजय

था। अर्जुन ने अपने सातवें नाम, विजय की परिभाषा बाद में विराटपुत्र उत्तर को बताई थी। ऐसे ही सबों के गुप्त नाम थे। इस पर भी कोई भीम को द्रौपदी का पति 'नहीं' कहता हो तो क्या करें ? मारने वाले की लाठी तो पकड़ी जा सकती है, बोलने वाले की जीभ को कोई कैसे पकड़ सकता है ? साथ ही द्रौपदी को भीमसेन से सुतसोम नामक पुत्र की प्राप्ति भी हुई थी।

कुतर्की का प्रमाण ०४ - द्रौपदी को दांव पर लगाकर हार जाने पर जब दुर्योधन ने उसे सभा में लाने को दूत भेजा तो द्रौपदी ने आने से इंकार कर दिया। उसने कहा जब राजा युधिष्ठिर पहले स्वयं अपने को दांव पर लगाकर हार चुका था तो वह हारा हुआ मुझे कैसे दांव पर लगा सकता है? महात्मा विदुर ने भी यह सवाल भरी सभा में उठाया। द्रौपदी ने भी सभा में ललकार कर यही प्रश्न पूछा था -क्या राजा युधिष्ठिर पहले स्वयं को हारकर मुझे दांव पर लगा सकता था? सभा में सन्नाटा छा गया। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। तब केवल भीष्म ने उत्तर देने या लीपा-पोती करने का प्रयत्न किया था और कहा था, "जो मालिक नहीं वह पराया धन दांव पर नहीं लगा सकता परन्तु स्त्री को सदा अपने स्वामी के ही अधीन देखा जा सकता है।"-
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्व । स्त्रियाश्च भर्तुरवशतां समीक्ष्य ।-(२०७-४३) "ठीक है युधिष्ठिर पहले हारा है पर है तो द्रौपदी का पति और पति सदा पति रहता है, पत्नी का स्वामी रहता है।" यानि द्रौपदी को युधिष्ठिर द्वारा हारे जाने का दबी जुबान में भीष्म समर्थन कर रहे हैं। यदि द्रौपदी पाँच की पत्नी होती तो वह ,बजाय चुप हो जाने के पूछती,जब मैं पाँच की पत्नी थी तो किसी एक को मुझे हारने का क्या अधिकार था? द्रौपदी न पूछती तो विदुर प्रश्न उठाते कि "पाँच की पत्नि को एक पति दाँव पर कैसे लगा सकता है? यह न्यायविरुद्ध है।" स्पष्ट है द्रौपदी ने या विदुर ने यह प्रश्न उठाया ही नहीं। यदि द्रौपदी पाँचों की पत्नी होती तो यह प्रश्न निश्चय ही उठाती। इसीलिए भीष्म ने कहा कि द्रौपदी को युधिष्ठिर ने हारा है। युधिष्ठिर इसका पति है। चाहे पहले स्वयं अपने को ही हारा हो, पर है तो इसका स्वामी ही। और नियम बता दिया – जो जिसका स्वामी है वही उसे किसी को दे सकता है,जिसका स्वामी नहीं उसे नहीं दे सकता।

कुतर्की के चौथे प्रमाण का समाधान - इस प्रसङ्ग में युधिष्ठिर मूर्धाभिषिक्त राजा थे। द्यूत के पक्षकार भी वही थे, दांव लगाने का कार्य उन्हीं का था। शेष भाई और द्रौपदी, उनके धन के समान थे, इसीलिए उस समय शेष पांडवों के अधिकार सीमित थे। फलतः, सम्पूर्ण घटना का केंद्र युधिष्ठिर ही बन गए, क्योंकि उन्होंने केवल द्रौपदी को ही नहीं, अपितु अपने सभी भाईयों को भी क्रमशः हारा था। इस प्रसङ्ग में युधिष्ठिर का ही मुख्य कार्य होने से शेष पाण्डवों का वर्णन विशेष रूप से नहीं आया है। किंतु भीष्म पितामह के उत्तर को सुनने के ठीक बाद, जब दुःशासन ने द्रौपदी का अपमान किया है उसके मध्य में द्रौपदी का वर्णन देखिए –

तथा ब्रुवन्तीं करुणां रुदन्तीमवेक्षमाणां कृपणान्पतींस्तान् ॥

ऐसा बोलती हुई, करुणा से रोती हुई और अपने उन असहाय "पतियों" की ओर देखती हुई ....

ऐसी स्थिति में द्रौपदी का वर्णन है – पतींस्तान् शब्द है, बहुवचन है। एक पति होते तो पतिं तम्, एकवचन होता, किन्तु ऐसा नहीं है।

कुतर्की का प्रमाण ०५ - द्रौपदी कहती है- "कौरवो ! मैं धर्मराज युधिष्ठिर की धर्मपत्नी हूँ तथा उनके ही समान वर्ण वाली हूँ। आप बतावें मैं दासी हूँ या अदासी ? आप जैसा कहेंगे,मैं वैसा करुंगी।"-
तमिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णनाम् ।
ब्रूत दासीमदासीम् वा तत् करिष्यामि कौरवैः ।।-(६९-११-९०७)
द्रौपदी अपने को युधिष्ठिर की पत्नी बता रही है।

कुतर्की के पांचवे प्रमाण का समाधान - धूर्तों ने बड़ी चालाकी से यहां मात्र एक दो ही श्लोक दिए हैं, जिससे उनके भ्रम की पुष्टि हो सके। वैसे दिए गए श्लोक का सन्दर्भ (६९-११-९०७) बड़ा विचित्र है। इसमें न पर्व, न अध्याय और न ही श्लोक संख्या की स्पष्टता हो रही है। सम्भवतः उन्होंने, अध्याय, श्लोक और पृष्ठ संख्या लिखी हो। श्लोक भी अशुद्ध लिखा है , सही श्लोक है –

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् । ब्रूत दासीमदासीम् वा तत् करिष्यामि कौरवैः ॥

अस्तु, हम देखते हैं कि इसमें क्या समस्या है। इस प्रमाण में द्रौपदी स्वयं को युधिष्ठिर की पत्नी बता रही है। इसमें गलत क्या है ? पांचों पांडवों में युधिष्ठिर भी तो आते हैं, तो फिर उनका नाम लेना सर्वथा उचित है। साथ ही, सभा में आयोजित द्यूत के मध्य दांव लगाने के मुख्य पक्षकार तो राजा युधिष्ठिर ही थे, इसीलिए उनका नाम विशेष रूप से उल्लिखित किया गया। किन्तु हम देखते हैं, कि उसी प्रसङ्ग के कई श्लोकों में द्रौपदी के पांच पतियों का स्पष्ट संकेत मिलता है, कुछ उदाहरण देखें –

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगेष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम्॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ८९, श्लोक – १५)

इस प्रकार से आदेश मिलने पर सूत प्रातिकामी राजा (दुर्योधन आदि) की बात मानकर शीघ्र ही गया। जैसे कोई कुत्ता सिंह के झुंड में घुस जाए वैसे ही वह "पांडवों" की पटरानी के पास गया। (यहांमहिषीं पाण्डवानाम् शब्द के बहुवचन से द्रौपदी का सभी पांडवों की पत्नी होना सिद्ध है) आक्षेपकर्ता ने अपने पक्ष के प्रमाण में जो श्लोक दिया है, उससे ठीक पहले वाला श्लोक ही देख लें,

कथं हि भार्या पाण्डुनां पार्षतस्य स्वसा सती। वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ९१, श्लोक – १०,११)

पाण्डुओं (आत्मा वै जायते पुत्रः से, पांडवों) की पत्नी, धृष्टद्युम्न की बहन और वासुदेव श्रीकृष्ण की सखी (द्रौपदी), राजाओं की इस सभा में इस प्रकार से कैसे लायी गयी है ? (यहां भी पतियों के विषय में बहुवचन है)

द्रौपदी ने मुख्यतः इस प्रसंग में युधिष्ठिर का नाम इसीलिए लिया क्योंकि,
* द्यूतक्रीड़ा के मुख्य पक्षकार युधिष्ठिर ही थे, वही दांव लगा रहे थे।
* शेष सभी भाई एवं द्रौपदी का पक्ष स्वतन्त्र न होकर, राजा युधिष्ठिर के धन के रूप में था।
* युधिष्ठिर के निर्णय पर ही शेष भाईयों एवं द्रौपदी का अस्तित्व आश्रित था। अतएव मुख्यतः युधिष्ठिर का ही उल्लेख मिलता है।
जब विकर्ण ने सभा में द्रौपदी का पक्ष लिया था तो कर्ण ने उपहास करते हुए निम्न बात कही –

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन। इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ९०, श्लोक – ३५)

हे कुरुनन्दन ! देवताओं ने स्त्रियों का एक ही पति निश्चित किया है। किंतु इसके तो पहले से ही बहुत हैं, इसीलिए यह निश्चय ही बन्धकी (पांच पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली वेश्या) है। (यहां कर्ण ने जानबूझकर अपमान करने के लिए अनुचित व्यंग किया है) दुर्योधन ने सभा में द्रौपदी के आ जाने के बाद निम्न बात कही है –

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्वा यथाव- त्पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान्॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ९२, श्लोक – ०६)

कौरवों की इस सभा में तुम्हारे दुःख को देखकर भी श्रेष्ठ आचरण करने वाले ये लोग कुछ इसीलिए नहीं कह रहे हैं क्योंकि ये तुम्हारे भाग्यहीन "पतियों" को देख रहे हैं। (यहाँ भी पतिं, एकवचन नहीं, पतीन्, बहुवचन है)

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भामिनि यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये विदितं तत्तवास्तु॥
पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति॥
(महाभारत, सभापर्व, अध्याय – ९२, श्लोक – २१-२२)

इस द्यूत से उत्पन्न दासीभाव से यदि तुम बचना चाहती हो तो किसी और को अपना पति बना लो। तुम अपने पतियों से इच्छानुसार व्यवहार नहीं कर सकती हो, क्योंकि अब तुम दासी हो गयी हो। नकुल और भीमसेन पराजित हो गए हैं।

युधिष्ठिर, सहदेव एवं अर्जुन भी हार गए हैं। हे याज्ञसेनि ! तुम भी अब दासी बन गयी हो। ये हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं रहे। (यहां भी पतयो शब्द से बहुवचन का उल्लेख है)

कुतर्की का प्रमाण ०६ - पाण्डव वनवास में थे, दुर्योधन की बहन का पति सिंधुराज जयद्रथ उस वन में आ गया। उसने द्रौपदी को देखकर पूछा -तुम कुशल तो हो? द्रौपदी बोली सकुशल हूं।मेरे पति कुरु कुल-रत्न कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर भी सकुशल हैं। मैं और उनके चारों भाई तथा अन्य जिन लोगों के विषय में आप पूछना चाह रहे हैं, वे सब भी कुशल से हैं। राजकुमार ! यह पग धोने का जल है। इसे ग्रहण करो।यह आसन है, यहाँ विराजिए।-
कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः
अहं च भ्राताश्चास्य यांश्चा न्यान् परिपृच्छसि ।-(१२-२६७-१६९४)
द्रौपदी भीम,अर्जुन,नकुल,सहदेव को अपना पति नहीं बताती,उन्हें पति का भाई बताती है।
और आगे चलकर तो यह एकदम स्पष्ट ही कर देती है। जब युधिष्ठिर की तरफ इशारा करके वह जयद्रथ को बताती है — एतं कुरुश्रेष्ठतमम् वदन्ति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ।-(२७०-७-१७०१)
“कुरू कुल के इन श्रेष्ठतम पुरुष को ही ,धर्मनन्दन युधिष्ठिर कहते हैं। ये मेरे पति हैं।” क्या अब भी सन्देह की गुंजाइश है कि द्रौपदी का पति कौन था ?

कुतर्की के छठे प्रमाण का समाधान - इस पूरे प्रसङ्ग में भी जानबूझकर कर आक्षेपकर्ता ने वे सारे प्रमाण छोड़ दिये हैं, जिनसे द्रौपदी पांचों पांडवों की पत्नी सिद्ध हो सकती थी। जब कोटिकास्य को जयद्रथ ने द्रौपदी का परिचय लेने भेजा था, तो द्रौपदी ने कहा -

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः।
साऽहं वृणे पञ्चजनान्पतित्वे ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय – २६७, श्लोक – ०५)

मैं राजा द्रुपद की बेटी हूँ, मुझे लोग कृष्णा के नाम से जानते हैं। मैं वही हूँ, जिसने खाण्डवप्रस्थ के अधिपति के रूप में प्रसिद्ध पांच जनों (पांडवों) का पतिरूप में वरण किया है। यही बात कोटिकास्य ने भी जाकर जयद्रथ को बताई –

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी। पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी संमता भृशम् ॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय – २६८, श्लोक – ०६)

यह यशस्विनी स्त्री, राजकुमारी कृष्णा, द्रौपदी है। ये पांचों पांडवों की स्वीकृति से अपनायी हुई, रानी है।
पुनः जयद्रथ भी जाकर द्रौपदी से उनके ‘पतियों’ की चर्चा करता है –

कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः। येषां कुशलकामासि तेऽपिकच्चिदनामयाः ॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय – २६८, श्लोक – १०)

हे सुंदर कटिप्रदेश वाली ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे पति भी स्वस्थ होंगे। तुम तो जिनके कुशल की कामना करती हो, वे लोग भी रोग आदि से मुक्त ही रहते हैं। (ध्यान दें, श्लोक में भर्तारः शब्द है, बहुवचन है, बहुत से पतियों की बात है) अब आते हैं इस प्रसङ्ग के सर्वाधिक पुष्ट प्रमाणों की ओर ... आक्षेपकर्ता ने युधिष्ठिर को पति बताने वाला श्लोक तो प्रमाण में दिया किन्तु उसके ठीक बाद के जिन श्लोकों में द्रौपदी ने शेष पांडवों का परिचय देते हुए उनको अपना पति बताया है, उन्हें जानबूझकर, समाज को भ्रमित करने के उद्देश्य से छोड़ दिया। हम आपको वे सभी श्लोक बताते हैं।

य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७१, श्लोक – ०७)
अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं महाभुजं सालमिव प्रवृद्धम्।
संदष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७१, श्लोक – ०९)
धनुर्धराग्र्यो धृतिमान्यशस्वी जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य धनञ्जयो नाम पतिर्ममैषः॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७१, श्लोक – १२)
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे।
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलः पतिर्मे॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७१, श्लोक – १५)
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः।
स एष शूरो नित्यममर्षणश्च धीमान्प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २७१, श्लोक – १८)

जो गोरे रंग के हैं,स्वर्ण के समान तेजस्वी हैं, विशाल नासिका, शरीर और नेत्रों वाले हैं, इन्हें कुरुवंश में श्रेष्ठ कहा जाता है, ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे पति हैं। और अब तुम जिन्हें रथ में बैठा हुआ देख रहे हो, जो विशाल भुजाओं वाले हैं, साल के वृक्ष के समान विस्तृत हैं, जो क्रोध से अपने होठ चबा रहे हैं एवं जिनकी भृकुटि टेढ़ी हो गयी है, वो वृकोदर (भीम का दूसरा नाम) मेरे पति हैं। जो धनुर्धरों में अग्रणी हैं, सहनशील हैं, यशस्वी हैं, अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाले हैं, वृद्धों की सेवा करने वाले हैं, मनुष्यों के श्रेष्ठ वीर हैं, जो युधिष्ठिर के भाई (एवं अनुगामी शिष्य) हैं, वे धनञ्जय (अर्जुन का दूसरा नाम) मेरे पति हैं। जो इस पृथ्वी पर अत्यंत उत्तम रूप वाले हैं, सभी पांडव अपने प्राणों से बढ़कर जिनकी रक्षा करते हैं, जो अपने भाईयों के अनुरूप आचरण करते हैं, ऐसे वीर नकुल मेरे पति हैं। जिनके समान

बुद्धि किसी मनुष्य में नहीं है, जो श्रेष्ठ जनों के मध्य उत्तम निर्णय करते हैं, अच्छे वक्ता हैं, ये ओजस्विता से भरे हुए वीर, एवं बुद्धिमान् ज्ञानी सहदेव मेरे पति हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कैसे धूर्त समाजियों ने अपनी बात को बलपूर्वक मनवाने के लिए युधिष्ठिर को पति बताने वाला श्लोक तो लिखा किन्तु उसके ठीक बाद जिन श्लोकों में द्रौपदी ने क्रमशः अपने बाकी पतियों का विवरण दिया है, उन श्लोकों को जानबूझकर कर नहीं लिखा है। स्वयं इस प्रकार का भ्रम फैलाने वाले ये लोग समाज को भ्रममुक्त करने का दावा करते हैं। स्वयं महाप्रस्थान के समय द्रौपदी की मृत्यु होने पर युधिष्ठिर ने भीम को उत्तर दिया था –

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये। तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम॥
(महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, अध्याय – ०२, श्लोक – ०६)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! इस द्रौपदी का अर्जुन के प्रति विशेष आकर्षण था, (जबकि यह सबों की पत्नी थी) इसी पक्षपात के कारण उत्पन्न फल को यह भोग रही है (मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो गयी) पांचों पांडवों से द्रौपदी को एक एक सन्तान की प्राप्ति भी हुई थी, जिनका विवरण भी मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ। वनवास के मध्य महारानी सत्यभामा द्रौपदी सम्वाद है। – ध्यान देंगे कि कुचक्री समाजी जन तो श्रीकृष्ण भगवान् की एक ही पत्नी रुक्मिणी का उल्लेख करते हैं, जबकि महाभारत में ही द्रौपदी और सत्यभामा का विस्तृत सम्वाद वर्णित है। ये लोग तो भगवान् श्रीकृष्ण को ईश्वर अथवा वैष्णव अवतार मानते ही नहीं हैं, और जिन प्रसङ्गों से इनके मत का खण्डन होता है, उन्हें ये लोग धूर्तता करते हुए मिलावटी घोषित कर देते हैं। अस्तु, सत्यभामा जी ने द्रौपदी से कहा है –

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः। श्रुतकर्माऽर्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः। सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव॥
अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम्। त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय – २३६, श्लोक – १०-१२)

तुम्हारा प्रतिविन्ध्य नाम का पुत्र, एवं उसी प्रकार सुतसोम, अर्जुन का पुत्र श्रुतकर्मा एवं नकुल का पुत्र शतानीक, तथा सहदेव से तुम्हारा जो पुत्र उत्पन्न हुआ है, श्रुतसेन, ये सभी वीर कुशल हैं, सभी जन अस्त्रों से युक्त हैं। जैसे द्वारिका में अभिमन्यु सुखपूर्वक रह रहा है, वैसे ही ये सभी रह रहे हैं। तुम जैसे इनका पालन करती थी, सुभद्रा भी वैसा ही करती है। अब मैं बताता हूँ कि द्रौपदी को उपर्युक्त पांचों पुत्र किस प्रकार और गुणों से युक्त होकर पांचों पांडवों से प्राप्त हुए थे –

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा। लेभे पञ्च सुतान्वीराञ्श्रेष्ठान्पञ्चाचलानिव॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात्। अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम्॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान्पञ्च महारथान्। पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा॥

शुभ लक्षणों वाली पाञ्चाली (द्रौपदी) ने भी पांच पतियों से पांच श्रेष्ठ पर्वतों के समान पांच वीर पुत्र प्राप्त किये। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, वृकोदर (भीम) से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा और नकुल से शतानीक को प्राप्त किया। सहदेव से श्रुतसेन, इन पांचों महारथियों को पांचाली से वैसे ही जन्म दिया, जैसे अदिति ने आदित्यों को जन्म दिया था।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यन्तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम्। परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भत्वयम्॥
सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम्। सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः॥
श्रुतं कर्म महत्कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना। जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत्॥

शास्त्र की बात को जानने वाले ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर से कहा, दूसरे (शत्रु) के (बल, कीर्ति, प्राण) हरण में दक्ष होने से इस बालक का नाम प्रतिविन्ध्य होगा। भीमसेन से जिस पुत्र की प्राप्ति हुई है वह हज़ारों चंद्रमा के समान, और हज़ारों सूर्यों के समान तेजस्वी है। (भविष्य में) विशाल धनुष को धारण करने वाले इस बालक का नाम सुतसोम होगा। मुकुट धारण करने वाले अर्जुन ने महान् कर्म को करने के बाद इस पुत्र को जन्म दिया है, इसीलिए यह पुत्र "श्रुतकर्मा", इस नाम वाला हुआ।

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः। चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम्॥
ततस्त्वजीजनत्कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते। सहदेवात्सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति तं विदुः॥
एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः। अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – २४७, श्लोक – ७४-८२)

कुरुवंश में जो शतानीक नाम वाले महात्मा राजर्षि हो चुके हैं, उन्हीं के समान कीर्ति को बढ़ाने वाले इस नकुल पुत्र का नाम शतानीक होगा। अग्नि सम्बन्धी नक्षत्र में कृष्णा (द्रौपदी) ने सहदेव से जिस पुत्र को जन्म दिया है, उसे श्रुतसेन के नाम से जानो। इस प्रकार, एक-एक वर्ष के अंतराल से आपस में हितकारिणी भावना वाले उन द्रौपदीपुत्रों ने जन्म लिया। इतने प्रमाणों के बाद भी किसी को संदेह होगा, कि द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की ही पत्नी थी ? ऐसा नहीं है। अपितु, वह सभी पांडवों की पत्नी थी।

कुतर्की का प्रमाण ०७ -
कृष्ण संधि कराने गए थे। दुर्योधन को धिक्कारते हुए कहने लगे"– दुर्योधन! तेरे सिवाय और ऐसा अधम कौन है जो बड़े भाई की पत्नी को सभा में लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करे जैसा तूने किया। –
कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदीम् त्वया ॥(२८-८-२३८२)
कृष्ण भी द्रौपदी को दुर्योधन के बड़े भाई की पत्नी मानते हैं।

अब सत्य को ग्रहण करें और द्रौपदी के पवित्र चरित्र का सम्मान करें।

कुतर्की के सातवें प्रमाण का समाधान - उपर्युक्त श्लोक के सन्दर्भ में जो संख्या (२८-८-२३८२) दी गयी है, उसका भाव स्पष्ट नहीं है, किन्तु फिर भी मैं बताता हूँ कि यह श्लोक महाभारत के उद्योगपर्व, अध्याय १२८ (पाठभेद से अध्याय संख्या में भिन्नता हो सकती है), श्लोक आठ के रूप में वर्णित है।

किन्तु कुतर्की ने यहां अर्थ का घोर अनर्थ किया है। श्लोक में भी द्रौपदी के स्थान पर द्रौपदीम् लिख कर अशुद्धि की है। भगवान् श्रीकृष्ण के वचन वाले इस श्लोक में केवल "भ्रातृभार्यां" शब्द है। इसका अर्थ है, 'भाई की पत्नी'। भातृभार्या शब्द से कहीं भी यह बोध नहीं होता कि बड़े भाई की पत्नी या छोटे भाई की पत्नी ... किन्तु कुतर्की बलपूर्वक आज सिद्ध करना चाहता है कि द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी है, इसीलिए दुर्बुद्धि से युक्त होकर भातृभार्या का अर्थ "बड़े भाई" की पत्नी किया, जबकि इसके अर्थ में बड़े या छोटे का कोई भाव ही नहीं है।

वैसे भी युधिष्ठिर की पत्नी होने से द्रौपदी दुर्योधन की (बड़े भाई की पत्नी) मातृतुल्या होती और साथ ही अर्जुनादि (छोटे भाईयों) की पत्नी होने से दुर्योधन के लिए पुत्रीतुल्या होतीं। दोनों स्थितिभेद से दुर्योधन का द्रौपदी के साथ माता या पुत्री सा व्यवहार होता, जो दुर्योधन में नहीं किया। इसीलिए भातृभार्या शब्द का अर्थ, "बड़े" भाई की पत्नी न होकर, मात्र भाई की पत्नी ही है। मुझे इसका आश्चर्य नहीं होता कि इसके ठीक बाद वाले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने जो बात कही है, उसे आक्षेपकर्ता ने क्यों नहीं उल्लिखित किया। अगले ही श्लोक में श्रीकृष्ण के वचनों से द्रौपदी का सभी पांडवों की पत्नी होना सिद्ध होता है।

कुलीना शीलसंपन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी । महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया॥
(महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय – १२८, श्लोक – ०९)

ये उत्तम कुल में उत्पन्न, शील से युक्त (द्रौपदी), जो 'पाण्डु के पुत्रों' की प्राणों से भी अधिक प्रिय पटरानी है, तुम्हारे द्वारा अपमानित की गई। यहां भगवान् ने द्रौपदी के पति के लिए बहुवचन 'पाण्डुपुत्राणां' शब्द का प्रयोग करके यह स्वीकार किया है कि द्रौपदी सभी पांडवों की पत्नी थी। द्रौपदी जी के चरित्र का सम्मान सभी सनातनी करते हैं। उनपर कोई पुराणेतिहासज्ञ व्यक्ति आक्षेप नहीं करता। हां, वामपंथी और नास्तिक धर्मद्रोही व्यक्ति अवश्य उनपर आक्षेप करते हैं, जिनको उत्तर देने का पाखण्ड करते हुए आर्य समाज जैसी प्रायोजित संस्थाओं के लोग बड़ी धूर्तता से हमारे सनातनी ग्रंथों को ही प्रक्षिप्त कहने लगते हैं।

वस्तुतः द्रौपदी के पांच पति थे, और ऐसा क्यों था, इसका मैं पूरा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर चुका हूँ। अब सत्य को ग्रहण करें और द्रौपदी के पवित्र चरित्र का सम्मान करें, उनमें न कोई दोष है, न ग्रंथ में कोई मिलावट। मिलावट केवल इन धूर्तों के मस्तिष्क में है, जो स्वयं ही अपने लेखों में श्लोक लिखते समय उसी प्रसङ्ग के अगले पिछले अध्याय

अथवा श्लोकों की उपेक्षा करके केवल मनमानी बातों को कहते जाते हैं, और जब पूरे प्रसङ्ग का सर्वांगीण सत्य हम जैसे लोग समाज के सामने रखते हैं, तो उल्टा हमें ही, ब्राह्मणों एवं पुरोहितों को ही अंग्रेजों का दलाल, मिलावटकर्ता अथवा धर्मद्रोही कहकर अपमानित कर दिया जाता है।

प्रकरण का उपसंहार एवं द्रौपदी के पञ्चभर्त्री होने का रहस्य - उपर्युक्त प्रमाण देकर एवं आक्षेपकर्ता के दिये प्रमाणों की समीक्षा करके हमने यह सिद्ध किया कि द्रौपदी जी के पांच पति थे, जिनके विषय में अनावश्यक विवाद एवं भ्रम की स्थिति उत्पन्न की जा रही है। हमने यब भी सिद्ध किया कि द्रौपदी के पांच पतियों की बात मैक्समूलर की फैलाई हुई अफवाह नहीं है। अब हम संक्षेप में आपको यह बताएंगे कि क्यों द्रौपदी जी का विवाह इस विचित्रता के साथ हुआ एवं इसमें कोई धार्मिक आपत्ति क्यों नहीं है। साथ ही, हम यह भी देखेंगे कि मानवों के समाज में यह बाकियों के लिए क्यों अव्यवहार्य है। पूर्व के प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने माता कुन्ती एवं शेष भाईयों के साथ परामर्श करके वेदव्यास जी के वाक्य का अनुसरण करते हुए सम्मिलित रूप से द्रौपदी के साथ विवाह करने का निश्चय किया। इसके बाद वे सभी राजा द्रुपद के महल में गए, जहां पर राजा ने युधिष्ठिर जी से निम्न बात कही –

भवान्वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम। यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश॥
युधिष्ठिर उवाच
सर्वेषां महिषी राजन्द्रौपदी नो भविष्यति। एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशांपते॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – २१०, श्लोक – २२-२३)

हे वीर ! आप ही मेरी पुत्री का विधिवत् पाणिग्रहण करें। अथवा जिसे भी आप उचित समझें, उसके साथ मेरी पुत्री के विवाह का निर्देश करें। युधिष्ठिर ने कहा – हे राजन् ! द्रौपदी हम सबों की पत्नी बनेगी, ऐसा मेरी माता के द्वारा पूर्व में ही निश्चित कर दिया गया है।

राजा द्रुपद को यह बात अव्यावहारिक लगी एवं वे संकोच में पड़ गए। उस समय वेदव्यास जी ने उन्हें द्रौपदी के एक अन्य पूर्वजन्म (नालायनी) का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि द्रौपदी किसी अन्य जन्म में पति की कामना से तपस्या कर रही थी। यह कथा गीताप्रेस अथवा सातवलेकर संस्करण में यथावत् नहीं है, किन्तु इस घटना का संक्षिप्त संकेत गीताप्रेस के महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – १९६ एवं सातवलेकर संस्करण के अध्याय १८९ के अंत में मिलता है। इससे पूर्व के नालायनी मौद्गल्य प्रसङ्ग के दो अध्याय सभी संस्करणों में प्राप्त नहीं होते हैं।

तीव्रेण तपसा तस्यास्तुष्टः पशुपतिः स्वयम्। वचं प्रादात्तदा रुद्रः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः॥
भविष्यति परं जन्म भविष्यति वराङ्गना। भविष्यन्ति परं भद्रे पतयः पञ्च विश्रुताः॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – २१३, श्लोक – १३-१४)

उसकी (नालायनी) की तीव्र तपस्या से संतुष्ट होकर पशुपति, सर्वलोकेश्वर भगवान् शिव ने उसे वचन दिया। हे वरांगने ! अन्य जन्म में तुम्हारे पांच पति प्रसिद्ध होंगे। फिर उस स्त्री ने कहा –

स्त्र्युवाच

एकः खलु मया भर्ता वृतः पञ्च त्विमे कथम्। एको भवति नैकस्या बहवस्तद्ब्रवीहि मे॥

महेश्वर उवाच

पञ्चकृत्वस्त्वया चोक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः। पञ्चते पतयो भद्रे भविष्यन्ति सुखावहाः॥

(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – २१३, श्लोक – १६-१७)

स्त्री ने कहा कि मैंने तो एक ही पति की कामना की थी, आप पांच कैसे दे रहे हैं ? एक स्त्री के तो बहुत से पति नहीं होने चाहिए। शिव जी ने कहा – तुमने मुझसे वरदान में पांच बार कहा – मुझे पति चाहिए। इसीलिए तुम्हारे सुखदाता पांच पति होंगे। इस बात पर पुनः उस स्त्री ने कहा –

यदि मे पतयः पञ्च रतिमिच्छामि तैर्मिथः। कौमारं च भवेत्सर्वैः संगमे संगमे च मे॥

यदि मेरे पांच पति होंगे, तो मैं उनमें से प्रत्येक के साथ संभोग करके पुनः कौमार्यावस्था को प्राप्त हो जाऊं। इस बात पर शिवजी ने पुनः वरदान दिया –

अन्यदेहान्तरे चैव रूपभाग्यगुणान्विता। पञ्चभिः प्राप्य कौमारं महाभागा भविष्यसि॥

रूप, सौभाग्य एवं गुणों से युक्त अन्य देह में तुम पांच पतियों से सुख पाकर भी कौमार्यावस्था से युक्त महाभाग्यवती बनी रहोगी। इसी क्रम में वेदव्यास जी पांच मन्वन्तरों के पांच इन्द्रों और उनकी राज्यश्री का प्रसङ्ग भी बताते हैं, उनका दिव्य दर्शन भी कराते हैं और कहते हैं कि कैसे वे पाँचों इन्द्र शिवश्राप से मनुष्य रूप में अवतरित हुए हैं और उनकी राज्यलक्ष्मी ही द्रौपदी बनकर आयी है इसीलिए पांचों के साथ विवाह में दोष नहीं लगेगा।

एवमेते पाण्डवाः संबभूवुर्ये ते राजन्पूर्वमिन्द्रा बभूवुः।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा॥

वेदव्यास जी आगे यह बात भी स्पष्ट करते हैं कि यह सभी लोग देवावतार हैं, अतएव इन्हें पूर्वनिर्धारित वरदान एवं श्राप के कारण दोष नहीं लगेगा, किन्तु स्मरण रहे कि ऐसा विवाह सामान्य मनुष्यों के लिए नहीं है।

नायं विधिर्मानुषाणां विवाहे देवा ह्येते द्रौपदी चापि लक्ष्मीः।
प्राक्कर्मणः सुकृतात्पाण्डवानां पञ्चानां भार्या देवदेवप्रसादात्॥
तेषामेवायं विहितः स्याद्विवाहो यथा ह्येष द्रौपदीपाण्डवानाम्।
अन्येषां नृणां योषितां च न धर्मः स्यान्मानवोक्तो नरेन्द्र॥

यह मनुष्यों के विवाह की विधि नहीं है। ये सभी (पाण्डव) देवता हैं, और द्रौपदी लक्ष्मी का अंश है। पांडवों के पूर्वकृत कर्म से ही, एवं देवाधिदेव महादेव की कृपा से ये इन पांचों की पत्नी होगी। यह विवाह इन लोगों के लिए ही बना है, द्रौपदी एवं पांडवों पर ही लागू होता है। अन्य मनुष्यों एवं उनकी स्त्रियों के लिए यह मार्ग धर्म का नहीं कहा गया है। (शेष जनों के लिए यह निषिद्ध है) यह प्रसङ्ग कुछ प्रतियों में मिलता है, एवं कुछ में नहीं। मैं सभी प्रतियों के पाठभेदों के सम्मिलित रूप का प्रयोग कर रहा हूँ। उदाहरण के लिए ये स्त्री की तपस्या एवं उसे शिव जी का वरदान गीताप्रेस की प्रति में आदिपर्व, अध्याय – १९६ में है तो नीलकंठ चतुर्धर के संस्करण में यह आदिपर्व, अध्याय – १९७ में है। सातवलेकर संस्करण में यह प्रसङ्ग आदिपर्व, अध्याय – १८९ में ही है। हालांकि उन तीनों में मेरे द्वारा दिये गए श्लोक इसी क्रम से नहीं हैं। उपर्युक्त संस्करणों में इस प्रसङ्ग को पढ़ने के लिए बताए गए अध्यायों में …

आसीत्तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः। नाध्यगच्छत्पतिं सा तु कन्या रूपवती सती॥
इस श्लोक से प्रारम्भ करके
सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयंभुवा श्रुत्वा राजन्द्रुपदेष्टं कुरुष्व॥
इस श्लोक के साथ कुल ९ श्लोकों में अध्याय पूर्ति तक पढ़ें।

मैंने जो श्लोक दिए हैं वे संस्कृत विकिस्रोत परियोजना के अंतर्गत सभी उपलब्ध प्रतियों के सभी पाठभेदों के प्रसंगानुसार सम्मिलित सर्वाधिक बृहत्तर संस्करण से लिये गए हैं, जिसमें सभी प्रतियों के पाठ को एक साथ रखा गया है। उसमें जो गीताप्रेस एवं सातवलेकर आदि संस्करण के श्लोक हैं, वह आदिपर्व, अध्याय – २१४ में प्राप्त होंगे। बृहत्तर संस्करण में द्रौपदी के एक और जन्म, नालायनी एवं उसका मौद्गल्य के साथ रतिक्रिया को लेकर हुए विवाद एवं फलस्वरूप पञ्चभर्त्री होने के श्राप का गुप्त वर्णन है, उसी के श्लोक हमने ऊपर दिए हैं। शेष सभी प्रसङ्गों के श्लोक में भी अलग अलग संस्करणों के अनुसार अध्याय भेद अथवा किंचित्मात्र पाठभेदों की अतुल्यता हो सकती है, पाठक जन विवेक से अध्ययन करेंगे। अध्याय की संख्या में भेद हो सकता है किंतु तदनुसार प्रसङ्गों में श्लोक यथावत् ही मिलेंगे।

शिवपुराण में स्पष्ट वर्णन है कि पुराणों के कई संस्करण होते हैं जिन्हें अधिकृत वेदव्यास कई बार पाठभेद के साथ बदलते हैं। इतिहास ग्रंथों का अधिकार भी वेदव्यास जी के पास ही होता है जो अलग अलग लोकों के लिए निर्धारित की जाती है इसीलिए ऐसे अध्याय एवं पाठभेदों का होना अमान्य नहीं है अपितु स्वीकृत एवं अनुकरणीय ही है। महाभारत भी, रामायण की ही भांति मूलतः सौ करोड़ श्लोकों में लिखी गयी थी, जिसमें लक्षाधिक संस्करण पृथ्वीवासियों के लिए विहित किया गया। इसमें जो जो भाग वेदव्यास जी के उपदेश के अनुसार गणेश जी ने लिखा, एवं उन्हीं की कही बातों के आधार पर अन्य ऋषियों ने अपनी प्रतिलिपियाँ बनायीं, उसमें पाठभेद और अध्यायभेद होना मान्य ही है।

बस, आजकल जो नए नए सम्प्रदाय, समाज, और परिवार वाले अपनी बातों को बलपूर्वक सत्य सिद्ध करने के लिए भ्रामक और प्रक्षिप्तांश वाली प्रतियां छाप रहे हैं, उनसे सावधान रहें। किंतु सार यह है कि मैक्समूलर के जन्म से डेढ़ सौ वर्ष पहले आचार्य नीलकंठ चतुर्धर ने सम्पूर्ण महाभारत पर भाष्य लिखा था। इस भाष्य के लिए उन्होंने स्वयं भी देशभर की सैकड़ों प्रतियों एवं उनपर पूर्वाचार्य गुरुओं की सम्मति या टिप्पणियों के आश्रय लेकर स्वयं लेखन किया था। जैसा कि आचार्य नीलकंठ कहते हैं –

बहून् समाहृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान् विनिश्चित्य च पाठमग्र्यम्।
प्राचां गुरूणामनुसृत्य वाचमारभ्यते भारतभावदीपः॥

भारत भावदीप नामक इस महाभारतीय टीका की रचना मैक्समूलर के जन्म से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही हो गयी थी। इस टीका और उसके मूल पाठ में भी द्रौपदी के पांच पतियों का वर्णन बहुतायत से आया है, इसी टीका के पाठ को प्रधान आश्रय मानते ही गीताप्रेस ने महाभारत का प्रकाशन किया था। इसके अतिरिक्त मैक्समूलर से आठ सौ वर्ष पूर्व के श्रीमध्वाचार्य जी के महाभारततात्पर्यनिर्णय में भी यह बात स्पष्ट की गई है। इस प्रकार द्रौपदी के पांच पति होने की बात न २०० वर्ष से प्रचारित भ्रम है, और न ही यह प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है। अपितु यह सर्वथा सत्य है, सर्वमान्य है और निर्विवाद है।

--*

क्या जय लंकेश (रावण) का उद्घोष उचित है ?

सर्वप्रथम तो देखा जाय, जय किसकी होती है ? यतो धर्मस्ततो जयः। जहां धर्म है, जय भी वहीं है। धर्म कौन हैं ? रामो विग्रहवान् धर्मः । श्रीराम जी स्वयं धर्म की साकार मूर्ति हैं। और ? वृषो हि भगवान् धर्मः। नंदीश्वर भी धर्म का ही स्वरूप हैं। और ? धर्मः स्वयं तु संजातो लङ्कायां हि विभीषणः। विभीषण के रूप में लंका में साक्षात् धर्म ने ही अवतार लिया है ! जिसने साक्षात् धर्मरूपी श्रीराम जी का अपमान किया, सीताहरण जैसा कुकृत्य किया, जिसे स्वयं धर्मरूपी नंदीश्वर ने श्राप दे दिया, जिसने स्वयं धर्मरूपी विभीषण का अपमान किया, उसे धर्म के कारण मिलने वाली जयजयकार का अधिकारी कैसे माना जा सकता है ? विभीषण ने रावण को नहीं त्यागा, रावण ने विभीषण को अपमानित करके निकाला था क्योंकि रावण में कल्याणकारी सलाह को सुनने का सामर्थ्य नहीं था। इसीलिए धर्मावतार विभीषण जी अपने प्रभु श्रीराम जी के पास चले गए। क्यों गए ? आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः। सदाचार के प्रधानता से ही धर्म है और उसके स्वामी श्रीभगवान् स्वयं हैं। रावण आचारहीन होने से धर्महीन हो चुका था, उसने स्वयं धर्म का परित्याग किया अतएव धर्मदेव अपने प्रभु के पास चले गए। आपको रावण की जयजयकार करनी ही क्यों है ? उसमें ऐसा क्या था ? ज्ञान ? फिर आप उसके दादा ऋषि पुलस्त्य की जयजयकार क्यों नहीं करते ? क्योंकि आपको राजनीतिक दुराग्रह सिद्ध करना है। वो वर्ण से ब्राह्मण था ? फिर आप वर्ण और गुण दोनों के आधार पर श्रेष्ठता के उच्चतम स्तर पर स्थित उसके पिता विश्रवा की जयजयकार क्यों नहीं करते ? क्योंकि आपको राजनीतिक दुराग्रह सिद्ध करना है। तपस्या ? फिर आप उसके भाई विभीषण की जयजयकार क्यों नहीं करते, आखिर उन्होंने भी ब्रह्मदेव को संतुष्ट करके वरदान पाया था। वो चाहते तो रावण जैसा पराक्रम भी मांग सकते हैं किंतु उन्होंने केवल भक्ति और धर्म ही मांगा, और इस बात से ब्रह्मा जी इतने गद्गद हुए कि अपनी ओर से कृपा करते हुए बिना मांगे ही विभीषण जी को ब्रह्मास्त्र तक दे दिया। यहां तक कि प्रातःस्मरणीय चिरंजीवी एवं महाभागवत दिव्यों की श्रृंखला में विभीषण जी का नाम लेने का निर्देश शास्त्रों में है। फिर उनकी जयजयकार क्यों नहीं करते आप ? क्योंकि आपको राजनीतिक दुराग्रह सिद्ध करना है।शिवभक्ति ? फिर आप उसके भाई यक्षराज कुबेर की जयजयकार क्यों नहीं करते, जो अपनी शिवभक्ति से भगवान् शिव के स्थायी सखा और पार्षद बन गए ? वैसे भी कुबेर जी का तेज देखकर ही रावण को ईर्ष्या हुई और उसने तपस्या प्रारम्भ की थी। कुबेर जी की जयजयकार क्यों नहीं ? क्योंकि आपको राजनीतिक दुराग्रह सिद्ध करना है। मैंने तो रावणकृत तन्त्रशास्त्र, सुराशास्त्र, शिक्षाशास्त्र एवं वेदभाष्यों का भी अध्ययन किया है किन्तु आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, अतएव आचारभ्रष्ट होने से रावण पूजनीय नहीं हो सकता है। रावण के परिवार में ही इतने गुणी जन थे, उनको छोड़कर भला रावण की जयजयकार ही क्यों ? वैसे भी असली लंकेश तो विभीषण जी ही हैं क्योंकि उन्होंने रावण की मूर्खता के कारण लंका पर आई विपत्ति से पुरजनों की रक्षा की थी, उन्हें साक्षात् भगवान् ने लंकेश बनाया। जयजयकार तो केवल प्रभु श्रीराम या उनके भक्तों की ही हो सकती है, अधर्म के पक्ष की कदापि नहीं।

--*

संसार में रहते हुए अध्यात्म की सिद्धि कैसे हो ?

हमारे यहां धर्म का अर्थ रिलीजन या मनोनिर्धारित धारणा नहीं होता। धर्म कर्तव्य का नाम है जो सबों के लिए निर्देशित है। जो करना चाहिए, वह धर्म है, जो नहीं करना चाहिए, वह अधर्म है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन ही धर्माधर्म है। बृहद्धर्म पुराण के अनुसार शूद्र यदि मदिरा पी ले तो वह अधर्म नहीं है, ब्राह्मण पी ले तो अधर्म है। अधिकृत ब्राह्मण यदि वेदपाठ न करे तो अधर्म है, शूद्र यदि करे तो अधर्म है। हमारी संस्कृति में रजस्वला स्त्री के लिए मासिक धर्म शब्द आया है, उस समय के भी कुछ निर्दिष्ट कर्तव्य हैं और यह सब कुछ सनातन का ही अंग है। धर्म एवं रिलीजन अथवा मजहब में उतना ही अंतर है जितना हीरे एवं कांच के क्रिस्टल में। हमारे यहां व्यापारधर्म है, राजधर्म है, गृहस्थधर्म है, आपद्धर्म है, मानवधर्म है, नारीधर्म है, और तो और, सामान्य स्वभाव को दर्शाने के लिए गुणधर्म शब्द का भी प्रयोग है। धर्म अत्यंत गहन एवं विस्तृत पर्यवेक्षक का तत्व है जिसे मात्र किसी भी कल्पना अथवा धारणा से नहीं तौला जा सकता है।

भारत की सबसे बड़ी भूल यह रही है कि इसने अपने भीतर आने वाले सभी मान्यता और समुदायों की धारणा को धर्म की संज्ञा दी दी और इस प्रकार अधर्म की परिभाषा एवं पहचान को ही नष्ट कर दिया। यदि प्रत्येक धारणा धर्म है तो जो कहते हैं कि काफिरों की स्त्रियों और बच्चियों से बलात्कार करो, वह भी तो धर्म ही हुआ न। हमें हत्यारों एवं लुटेरों की वासना और लोलुपता को धर्म के रूप में स्थान देने की भूल बहुत अधिक क्षतिग्रस्त कर रही है। हमने शस्त्रधारण को अधर्म कह दिया किन्तु हमें मारने के लिए आये हुए शत्रु के शस्त्रधारण पर मौन रह गए। हमारे यहां केवल उद्देश्य ही धर्म या अधर्म है, कर्म नहीं। कर्म तो मात्र घटनाक्रम का बीज है, उद्देश्य ही उसका मूल आधार है। शल्यक्रिया में चिकित्सक को न पाप लगता है, और न ही वह दोषी माना जाता है, जबकि एक लुटेरा जब चीर फाड़ करता है तो वह दोषी और पापी है। सब कुछ उद्देश्य पर ही आश्रित है इसीलिए हमारे यहां जटायु तक का सम्मान होता है किंतु दुर्योधन का नहीं।

शास्त्रबल समुचित रूप से सबों के लिए उनके उनके कार्य, अधिकार, उद्देश्य और कर्त्तव्य का निर्धारण करता है जिसे हम मर्यादा कहते हैं। हमारे यहां पुत्र अपनी माता से रमण नहीं कर सकता, पिता अपनी पुत्री से रमण नहीं कर सकता। अब कोई पुत्र या पिता यह कहने लगे कि यह हमारे अधिकार का हनन है, यह हमारा शोषण है, यह हमारी स्वतंत्रता के विरुद्ध है तो यह निःसन्देह ही पाशविक मूर्खता होगी। शास्त्र शोषण अथवा अधिकार का हनन नहीं करते, वे कल्याणकारी व्यवस्था के अंतर्गत एक सर्वहितकारिणी व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

विश्व में केवल सनातन ही ऐसा है, जहां मानवधर्म की बात आई है। समस्त मानवों के लिए क्या कर्तव्य हैं, क्या अधिकार हैं, इसकी बात आई है। विश्व परिवार की धारणा को स्थापित करने की बात केवल सनातन में ही दृष्टिगोचर

होती है। हमारे यहां युद्ध के भी नियम निश्चित थे। हमारे यहां युद्ध का उद्देश्य केवल शांति को सुनिश्चित करना था, हम निहत्थों पर, गर्भवती पर, बालक, वृद्ध अथवा रोगी पर प्रहार नहीं करते थे। शत्रु की स्त्रियों और बालिकाओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं करते थे, इसीलिए हम बलिष्ठ भी थे एवं सम्माननीय भी। धर्म उस नैसर्गिक भावना का नाम है जो आप स्वयं के साथ होना चाहते हैं। आप यदि प्रसन्न रहने की इच्छा रखते हैं तो दूसरों को प्रसन्न रखना आपका धर्म हैं। इसीलिए महाभारत ने पुण्य एवं पाप, धर्म एवं अधर्म के लिए दो ही सूत्र बताये हैं। पुण्य हेतु परोपकार करो, पाप हेतु दूसरों को कष्ट दो। पद्मपुराण में कहा गया कि अपने हित के विरुद्ध लगने वाला आचरण दूसरों से भी मत करो। उदारता और सहृदयता का, त्याग एवं सहिष्णुता का यह स्तर कहीं और देखने को मिलता है भला ?

कल्याण में सबका अधिकार है, ज्ञान में सबका अधिकार है, भोजन में भी सबका अधिकार है। किंतु किसके लिए क्या है, और किसके लिए कब है, यह मर्यादा निश्चित की गई है। विवाह करना सबका (गृहस्थाश्रमी) अधिकार है, किन्तु माता से, बहन से नहीं कर सकते। भोजन सबका अधिकार है किंतु मांसाहार, पर्युषित आदि नहीं कर सकते, अनुचित रीति से किसी के अधिकार को क्षीण करके अन्न ग्रहण नहीं कर सकते। ऐसे ही योग में भी सबका अधिकार है, किन्तु उसके लिए तटस्थ दृष्टि होनी आवश्यक है, गुणातीत दृष्टि का होना आवश्यक है। इड़ा और पिंगला वाम एवं दक्षिण प्रधान हैं। किंतु सुषुम्ना निरपेक्ष है।

सुषुम्नाज्ञो नरः स्त्री वा युवा बालो जरन्नपि।
योगाभ्यासेऽधिकारी स्यादभ्यासात्सिद्धिभागपि। सर्वेऽप्याश्रमिणो वर्णा योगाभ्यासेऽधिकारिणः॥
(दत्तात्रेय पुराण, द्वितीय अष्टक, द्वितीय अध्याय)

इसकी वासुदेवी टीका में भाष्यकार लिखते हैं,
क्रममुक्त्यादिकं सर्वं जगज्जन्मादिकं तथा। योगे वयोजात्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह द्वाभ्याम्॥

सुषुम्ना की वृत्ति को जानने वाला, अर्थात् गुणातीत व्यक्ति योगाभ्यास का अधिकारी है, चाहे वह किसी भी आश्रम, आयु या वर्ण का हो .... गुणातीत कौन है ?

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यमित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, चौदहवां अध्याय)

जो मान और अपमान में समान अर्थात् निर्विकार रहता है, तथा मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्यभाव रखता है। यद्यपि कोई-कोई पुरुष अपने विचार से, अपने दृष्टिकोण से तो उदासीन होते हैं, परंतु दूसरों की समझ से वे मित्र या शत्रुपक्षवाले जैसे ही होते हैं इसलिये कहते हैं कि जो मित्र और शत्रुपक्षके लिये तुल्य है, अर्थात् स्वयं तो किसी को भी मित्र या शत्रु न माने, साथ ही ऐसा व्यवहार करे कि समाज के अन्य जन भी उसको अपना मित्र या शत्रु कुछ भी न मानें। जो सारे आरम्भों का त्याग करनेवाला है। आरम्भ का अर्थ ? हम खाएंगे तो भूख मिटेगी, यह दृष्ट फल है, सर्वदा

घटित होगा। हम हेलमेट लगाएंगे तो दुर्घटना में अधिक हानि नहीं होगी, यह अदृष्ट फल है, परिस्थितियों के आधार पर घटित होगा। दृष्ट और अदृष्ट फलके लिये जाने वाले कर्मों का नाम आरम्भ है। ऐसे समस्त आरम्भों का (वस्तुतः तत्सम्बन्धी दृष्टादृष्ट फलों की कामना का) त्याग करने का जिसका स्वभाव है, वह सर्वारम्भपरित्यागी है। अर्थात्, जो केवल शरीरधारण के लिये आवश्यक कर्मों के सिवा सारे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला है, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है।

तो, ऐसा ही गुणातीत व्यक्ति सुषुम्ना की वृत्ति को जानने वाला, निरपेक्ष-अनारम्भ स्वभाव वाला है, ऐसा समझना चाहिए। ऐसा व्यक्ति पुरुष हो, अथवा स्त्री, युवा हो, बालक हो अथवा वृद्ध, योग में उसका अधिकार है, तथा योग के अभ्यास से उसे परमसिद्धि (जीवन्मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। चारों आश्रम एवं चारों वर्ण के लोग योगमार्ग के अधिकारी हैं, यदि वे सुषुम्ना की वृत्ति को जानने वाले हैं। इसीलिए हमारे यहां पितामह भीष्म जैसे ब्रह्मचारी भी योगी कहाये तो सुदामा जी जैसे गृहस्थ भी। तृणबिन्दु जैसे वानप्रस्थी भी योगी कहाये तो शंकराचार्य जी जैसे संन्यासी भी। इतना ही नहीं, श्रुतदेव जैसे ब्राह्मण भी योगी कहाये तो राजा कार्तवीय जैसे क्षत्रिय भी। तुलाधार जैसे वैश्य भी योगी कहाये तो धर्मव्याध जैसे शूद्र भी। शबरी, मीरा, कर्मावती, द्रौपदी, आदि स्त्रियां भी योग की उच्चस्तरीय अवस्था को प्राप्त कर सकीं। परमगुरु दत्तात्रेय जी परशुराम भगवान् को कल्याण का मार्ग बताते हुए कहते हैं,

तस्माच्छ्रेयोनिदानं तु सत्संगः प्रथमं भवेत्। तस्माच्छ्रेयोवाञ्छने तु सत्संश्रयपरो भवेत्॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड)

कल्याण का प्रमुख कारण है, भले लोगों की संगति। जिन्हें आत्मकल्याण की कामना हो, उन्हें सन्तजनों की संगति में ही रहना चाहिए। क्यों भला ? संत की ही संगति क्यों करें ? तुलसीदास जी ने भी कहा, संत समागम हरि कथा, तुलसी दुर्लभ दोय। सन्तजनों की दृष्टि सदैव गुणातीत होती है। गुणातीत का अर्थ है, तीनों गुणों के विक्षेप से इस संसार की उत्पत्ति तथा उनकी साम्यावस्था से होने वाले संहार की घटनाओं से बिना प्रभावित हुए तटस्थ भाव की दृष्टि से युक्त होना। संतजन तो इस दृष्टि से देखते हैं किंतु संसारी जन नहीं देख पाते। क्यों नहीं देख पाते ?

चेतनत्वं जन्मवत्सु परमं दुर्लभं भवेत्। सुदुर्लभं तेष्वपि च मानुषं जन्म सर्वथा॥
तत्रापि सूक्ष्म बुद्धित्वमत्यन्तं हि सुदुर्लभम्। पश्य ब्रह्मन् स्थावराणां शतांशेनापि सम्मितम्॥
न दृश्यते जंगमं वै तेषामपि शतांशतः। समं नास्ति मनुष्यत्वं तत्रापि परिभावय॥
पशुतुल्याः प्रदर्श्यन्ते मनुष्याणां हि कोटयः। ये न जानन्ति सदसत् पुण्यं वा पापमेव वा॥
अन्येऽपि कोटिशो मर्त्याः प्रवृत्ताः कामनापराः। गतागतं रोचयन्ते पांडित्याभासगर्विताः॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड)

इस संसार में उत्पन्न होने वाले प्राणियों में चेतन प्राणी होना बहुत कठिन है। (वैसे तो समस्त जीवित जन्तुओं में चेतन है, किन्तु यहां चेतन प्राणी का अर्थ ज्ञानेंद्रियों से युक्त पूर्ण अभिव्यक्ति वाले जीवों से है) उनमें भी मनुष्य योनि पाना प्रत्येक प्रकार से कठिन है तथा मनुष्यों में भी तात्विक दृष्टि से किसी विषय पर विचार करने की क्षमता से युक्त होना तो अत्यंत ही कठिन है। हे ब्रह्मन् ! स्थावर, अर्थात् अचल (वृक्षादि) जीवों की जितनी संख्या है, उसका एक प्रतिशत भी जंगम (चलने फिरने वाले) प्राणी नहीं हैं। जंगम जीवों का एक प्रतिशत भी मनुष्य नहीं हैं। उनमें भी करोड़ों मनुष्य तो पशु के समान ही हैं, जिन्हें सत्य-असत्य, पाप-पुण्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसके अलावा भी करोड़ों लोग ऐसे हैं, जिनमें कुछ बहुत विवेक तो है किंतु उनकी कामनाएं इतनी बड़ी बड़ी हैं, कि उनके पीछे की प्रवृत्ति मार्ग में जुटे रहकर वे भौतिक भोग अथवा स्वर्गादि लोकों की ओर ही आकर्षित रहते हैं। ऊपर से उनमें अपनी क्षुद्र बुद्धिमत्ता और पांडित्य का अप्रतिम अभिमान भी होता है।

ऐसे में भला जो स्वयं का कल्याण नहीं कर सकता, स्वयं भी पाशमुक्त नहीं हो सकता, वह संसार का मार्गदर्शन कैसे करेगा ? कुछ भाग्यहीन तो ऐसे भी हैं, जिनके पास गुरु का मार्गदर्शन एवं ग्रंथ का आदेश प्राप्त है, किन्तु व्यर्थ के भ्रम, कुतर्क, कल्पना और विषाद के कारण वे भटकते ही रहते हैं। आजकल ऐसे ही कथावाचक, धर्मगुरु, और कथित आध्यात्मिक नेता भरे पड़े हैं। इसीलिए शास्त्रों में गुणातीत दृष्टि वाले सन्तजनों की ही शरण ग्रहण करने, उनकी संगति को ही प्राथमिकता देने की बात कही गयी है। श्रीरामचरितमानस में राम जी ने माता शबरी को भक्ति का मार्गदर्शन करते हुए, प्रथम भक्ति को संतों का संग करना ही बताया है। प्रथम भगति सन्तन कर सङ्गा । क्योंकि,

येषां समाराधनेन तुष्टा सा स्वात्मदेवता। ते मायया विनिर्मुक्ताः सुतर्काः श्रद्धया युताः ॥

जिन भले लोगों की आराधना से आत्मदेव (परब्रह्म) प्रसन्न हो जाते हैं, उन्हें माया से मुक्ति मिल जाती है, वे शास्त्रसम्मत तर्कों से, ब्रह्मश्रद्धा से भर जाते हैं, एवं मुक्ति-साधन में लीन होकर उसे पा लेते हैं। संसार की दृष्टि रखने वाले जन एक ही बात जानते हैं, मिठास। वे गुड़ को भी मीठा कहते हैं, गन्ने को भी, दूध को भी, मधु को भी एवं फलों के रस को भी। आनंदलहरी के द्वितीय श्लोक में आद्यशंकराचार्य जी कहते हैं,

घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमाकैरपिपदैर्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्र विषयः ॥

घी, दूध, अंगूर, मधु आदि सभी मीठे हैं, किंतु कौन किस प्रकार का मीठा है, इसकी भिन्नता तो केवल जीभ ही जानती है। इसी प्रकार भौतिक सुख और आत्मानुभूति का सुख किस प्रकार भिन्न है, यह तो अनुभव करने वाला ही जानता है, जिसका वर्णन शब्दों के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः आत्मज्ञानियों को यत्नपूर्वक खोजकर उनके मार्गदर्शन के आधार पर आत्मानुभूति करके स्वयं ही उस ब्रह्मानंद का अनुभव करना ही बुद्धिमान् का कर्तव्य है।

विद्वत्ता हि स्वसंवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा। यथा संस्वादितरसरसज्ञत्वं हि भार्गव ॥

तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः। वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्मपिपीलकैः॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड)

हे परशुराम ! शर्बत के मिठास की अनुभूति जैसे पीने वाले को ही होती है, अन्य को नहीं, वैसे ही तत्वज्ञता कि अनुभूति आत्मा को ही होती है, अन्य बाह्यान्तःकरणों को नहीं। फिर भी, जैसे नन्हीं चीटियाँ अपनी राह खोज लेती हैं, वैसे ही चतुर विद्वान् पुरुष, ज्ञानियों की बात सुनकर उन्हें पहचान ही लेते हैं। आजकल तो सभी लोग ज्ञानी ही बने हुए हैं। जिज्ञासु कम दिखते हैं, सीधे ज्ञानी ही बनते हैं लोग। ऋषिपरम्परागत पीठ, आश्रम, आचार्यमुख की बातों के प्रति अश्रद्धालु होकर स्वयं ही किसी कल्पित संस्था, समाज, परिवार, समिति, पीठ एवं भाष्य का प्रवर्तन करके, शिष्यों के माध्यम से धन बटोर कर आत्मतत्व का उपदेश करने लगते हैं। शास्त्रों में लिखी बातें सत्य हैं, निःसन्देह हैं। किंतु जब तक सिद्ध गुरु के मार्गदर्शन में उतनी तपस्या न की जाए, वे उचित फलदायी नहीं होते। जिस प्रकार पुस्तक में तैरने की विधि को पढ़कर कोई यदि समुद्र के मध्य नाव से कूद पड़े तो विधि को जानकर भी वह स्वयं का उद्धार नहीं कर सकता, वैसे ही वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त मार्गों के विषय में भी जानना चाहिए।

पुस्तके लिखितं दृष्ट्वा स्वयं ज्ञात्वा करोति यः।
ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिपातकैः। लिप्यते नात्र संदेहो नरके निवसत्यसौ॥
(दक्षिणामूर्ति संहिता)

पुस्तक में लिखित या स्वयं ही अर्थ लगाकर जो शास्त्रोक्त अनुष्ठान को करता है, वह ब्रह्महत्या, मदिरापान, स्वर्णचोरी आदि महापापों से लिप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है। साथ ही, उसे नरकगामी भी होना पड़ता है।
हालांकि, इसमें एक विकल्प यह अवश्य है कि पूर्वकाल से जो विधिवत् साधना करता आया है, उचित मार्गदर्शन को प्राप्त करता आया है, जिसने साधनाओं में एक श्रेष्ठ स्तर, विवेक, अनुभव एवं तपोबल को प्राप्त कर लिया, उसे यदि किसी कारणवश, किसी कालविशेष में प्रत्यक्ष गुरु न मिलें और वह मान्य शास्त्रों की विधि को अच्छे से जानता हो तो, देवीरहस्य में शिव जी का वचन है कि यदि योग्य गुरु खोजने ओर भी न मिलें और स्वाध्याय से व्यक्ति को किसी साधना या मन्त्र की उचित विधि का बोध हो और वह उस साधना को करने की भक्ति और शक्ति से युक्त हो तो पुस्तक को ही गुरु मानकर साधना कर सकता है, किन्तु शिव अथवा विष्णु के मंत्रों का ज्ञाता, कुलीन, आचारवान् गुरु प्राप्त होने पर उसका परित्याग करके पुस्तक से मन्त्र लेने वाला शिवहत्या का पापभागी होता है।

अदीक्षितः उपाध्यायविहीनः शक्तिभक्तिमान्। गुरोरभावे देवेशि पुस्तकं गुरुमाचरेत्॥
यदि कश्चिद्भवेद्देवि गुरु स्तन्त्रविचक्षणः। दीक्षितः शिवमंत्रेण वैष्णवः शुभलक्षणः॥
तं परित्यज्य यो देवि पराभक्त्योऽपि भक्तिमान्। पुस्तकं तु गुरुं कृत्वा स भवेत् शिवघातकः॥
(रुद्रयामल तंत्र, देवीरहस्य)

ब्रह्म ने पंचभूतों के द्वारा देह को स्पष्ट करने के बाद, पञ्चतन्मात्राओं से इंद्रियों को स्पष्ट किया। इंद्रियों में यदि तन्मात्रा न रहे तो आंख होने पर भी दिखाई न दे, कान होने पर भी सुनाई न दे। और ये सब किसके अवयव हैं ? प्रकृति के। वह प्रकृति भी स्वयं तीन रूपों में जगत को व्याप्त करती है। एक तो विद्या है, दूसरी और तीसरी अविद्या हैं। विद्या क्या है ? सा विद्या या विमुक्तये। जो जीव को ब्रह्मरूप में पुनः जोड़ दे, वही विद्या है, तथा इस युक्ति का मार्ग ही योगमार्ग कहलाता है। प्रकृति के अवयव एक दूसरे के ऊपर आश्रित हैं। जीव किसी के ऊपर आश्रित नहीं है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित है। वैसे ही जीव स्वयं ही स्थित है, उसकी स्थिति अन्याश्रित नहीं है।

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पञ्च रचित यह अधम सरीरा॥ (रामचरितमानस)
पृथिवीजलतेजांसि वाय्वाकाशौ तथैव च। सृष्ट्वा मात्राणि तेष्वेव साश्रयाण्यभवन् क्रमात्॥
क्षितौ गन्धो रसो वायु: रूपं तेजसि चाश्रितम्। वायौस्पर्शस्तथा शब्द आकाशे द्विजसत्तम॥
(बृहद्धर्मोपपुराण, मध्यखण्ड, देवसृष्टि-प्रकरण)

शुकदेवजी ने अपने शिष्यवत् गुरुभाई मीमांसाकार जैमिनी को बताया कि ब्रह्मा जी ने पृथ्वी को गन्धाश्रित बनाया है, जल को रसाश्रित बनाया है, तेज (अग्नि) को रूपाश्रित, वायु को स्पर्शाश्रित एवं आकाश को शब्दाश्रित बनाया है। उपर्युक्त पञ्च तत्वों की अभिव्यक्ति अपने अपने आश्रय से ही होती है। किन्तु जीव की अभिव्यक्ति किसी पर आश्रित नहीं है, अपितु जीव की अभिव्यक्ति शेष तत्वों की अभिव्यक्ति से ऊपर उठने पर स्वयं हो जाती है। विद्यानगर की परम विदुषी रानी हेमलेखा ने भोगों में आसक्त अपने पति हेमचूड़ को आत्मपद का उपदेश करते हुए कहा था :-

धावन् स्वमूर्द्धच्छायेव न प्राप्यं क्रियया क्वचित्। यथा हि निर्मलादर्शे प्रतिबिम्बसहस्रकम्॥
पश्यन् बालोऽपि नाऽऽदर्शं पश्यत्येवं जनः खलु। पश्यन् स्वात्ममहादर्शे प्रतिबिम्बं हि जागतम्॥
स्वात्मानं न विजानाति तद्व्युत्पत्तिविवर्जनात्। यथाऽपरिचिताकाशः पश्यन्नाकाशसंश्रितम्॥

जैसे अपने शिर की छाया दौड़कर पकड़ी नहीं जा सकती, वैसे ही कर्मपाश में फंसे रहकर आत्मपद का ग्रहण सम्भव नहीं है। अबोध शिशु दर्पण में हज़ारों प्रतिबिम्ब देख लेता है, पर दर्पण को नहीं देख पाता, वैसे ही सामान्यजन आत्मारूपी दर्पण में संसार रूपी बिम्ब को देखते हुए भी अपने आत्मरूप को नहीं देख पाते। आकाश की स्थिति से अनभिज्ञ व्यक्ति आकाश में व्याप्त सम्पूर्ण जगत् को देखता हुआ भी आकाश को नहीं जान पाता, वैसे ही जीव भी अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है।

जगन्नावैति चाकाशं तथा स्वात्मस्वरूपकम्। नाथ सूक्ष्मदृशा पश्य ज्ञानज्ञेयात्मकं जगत्॥
तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं तदभावे न किञ्चन। प्रमाणानां प्रमाणं तदप्रमाणं स्वतो भवेत्॥
यतः प्रमाणानपेक्षामादिसिद्धिमतस्तु तत्। सिद्धसाधकभावेन न तत्सिद्धि: कदाचन॥

हे स्वामिन् ! आप थोड़ा इस ज्ञान एवं ज्ञेय रूपी संसार को सूक्ष्म दृष्टि से देखें। इसमें जो ज्ञान है, वह तो स्वतः सिद्ध है। (इसीलिए हमारे यहां वेदमन्त्रों की रचना नहीं, दर्शन मात्र हुआ) अगर वह न हो, तो कुछ भी नहीं रह सकता। वह समस्त प्रमाणों का प्रमाण है, किन्तु स्वयं किसी प्रमाण पर आश्रित नहीं, क्योंकि स्वसिद्धि हेतु उसे अन्य की अपेक्षा नहीं (इसीलिए आत्मपद को स्वसंवेद्य भी कहा गया है)। इसीलिए जो स्वतः सिद्ध है, उसकी अलग से, मैं सिद्ध करूँगा, इस भाव से सिद्धि हो ही नहीं सकती। जैसे, कोई कहे कि अब मैं सूर्य को प्रकाशित करूँगा, अथवा अब मैं दूध को सफेद बनाऊंगा, अथवा अब मैं हिमखंड को शीतल करूँगा, आदि आदि। अब वह कौन सी शक्ति अथवा आवरण है जो जीव को ऐसा करने से रोकता है ? वह है अविद्यात्मिका प्रकृति। प्रकृति के तीन रूपों में प्रथम मोक्षदा विद्या है और शेष दो बंधनकारिणी अविद्या हैं। प्रकृतिस्त्रिविधा प्रोक्ता विद्याविद्या द्वयं तथा।

अविद्या में भी पहली को मायाशक्ति और दूसरी को परमाशक्ति कहते हैं। मायाशक्ति से तो समस्त जगत् का निर्माण होता है, और परमा शक्ति से जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न देखने लगता है। जैसे घटाकाश एवं मठाकाश में दृष्टिभेद होने पर भी तत्वभेद नहीं है, वैसे ही अविद्यात्मिका प्रकृति की मायाशक्ति घट एवं मठ का निर्माण करती है, अर्थात् संसार को बनाती है।

अविद्याद्वयमुक्तं यन्माया च परमा तथा। माया ह्यावरिका शक्तिः परमा जीवयोर्मता॥
(बृहद्धर्मोपपुराण, मध्यखण्ड, देवसृष्टि-प्रकरण)

उसी अविद्यात्मिका प्रकृति की परमा शक्ति घटाकाश और मठाकाश के मध्य दृष्टिभेद उत्पन्न करती है अर्थात् ब्रह्म और जीव में भेदबुद्धि उत्पन्न करती है तथा विद्यात्मिका प्रकृति उस दृष्टिभेद को हटाकर मठाकाश एवं घटाकाश की एकता का भास कराती है अर्थात् ब्रह्म एवं जीव की एकता का अवलोकन कराती है। जब भगवती महामाया का सगुणावतार होता है तो विद्याशक्ति की प्रधानता होने से वे मोक्षदा होती हैं। माया के सन्दर्भ में मान्य शंकराचार्य आदि गुरुजन बताते हैं, मा या इति माया। जो नहीं है, उसकी भी प्रतीति जिससे होने लगे, वह माया है। श्रीमद्देवीभागवत का वचन है कि ऐसी रचना, ऐसी कृति जो कभी पुरानी न हो, प्र अर्थात् नयी बनी रहे, वह कृति ही प्रकृति है। श्री परमगुरु दत्तात्रेय जी ने भगवान् परशुरामजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हुए कहा है कि संसार क्या है ? संसार वस्तुतः दृष्टिकोण का नाम है। यह एक दर्शन है, चिंतन है, विचार है। तात्पर्य क्या है ?

एतद्दृश्यं कार्यभूतमुत्पत्तेरुपलम्भतः।
उत्पत्तिर्नूतनाभासः प्रतिक्षणमिदं जगत्। नूतनत्वेनैव भाति तत्क्षणोत्पत्तिमज्जगत्॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड)

(यह सारा दृश्य जगत् मात्र एक दृष्टिकोण ही है, और कुछ नहीं) यह किसी (ब्राह्मी शक्ति) का काम है, क्योंकि इसकी

उत्पत्ति देखी जाती है। नवीन रूप में किसी वस्तु का प्रतीत होना ही उसकी उत्पत्ति है, तथा उसका परिवर्तित हो जाना ही अनित्यता एवं संहार है। अतः यह नश्वर संसार स्वयं अनित्य होकर नित्य आत्मपद का बोध कराने में सर्वथा असमर्थ है। यदि आप कृषक हैं, अध्यापक हैं, अथवा चिकित्सक हैं, तो संसार को देखने की दृष्टि, आपके सामाजिक जीवन, मित्रमंडली, व्यवहार, आदि की शैली भिन्न होगी। उसी प्रकार एक धर्मगुरु की दृष्टि, एक ज्यौतिषी की दृष्टि, एक वैज्ञानिक या आतंकवादी की दृष्टि, एक शासक अथवा सेवक की दृष्टि, सामाजिक जीवन, विचार और इच्छा आदि सब कुछ एक दूसरे से भिन्न होंगे। इन सबके लिए संसार की परिभाषा, अपेक्षा एवं संरचना भिन्न भिन्न है। अतएव संसार की समस्या तथा उसके समाधान, दोनों ही मात्र दृष्टिकोणों से ही उत्पन्न होते हैं, तथा दृष्टिकोणों से ही निरस्त कर दिए जाते हैं। यह दुर्लभ मानवीय चेतना उत्तम दृष्टिकोणों से युक्त रहे, इसके लिए कल्याणकारिणी सत्संगति का अवलम्बन करना प्रत्येक जीव का परम् कर्तव्य है।

--*

क्या वेदव्यास एवं वाल्मीकि शूद्र थे ?

वेदव्यास एवं वाल्मीकि शूद्र थे या नहीं, इस विषय पर समाज में पर्याप्त विवाद होते रहते हैं। इसमें हास्यास्पद बात यह होती है कि दोनों ही पक्षों के अधिकांश लोगों ने या तो मौलिक ग्रंथों को बिना पढ़े ही सुनी सुनाई बातों के आधार पर अपनी धारणा बनाई होती है, अथवा किसी एक ही ग्रंथ के एक ही प्रकरण के ऊपर, जिससे पूर्वापर प्रसङ्गों का पूरा बोध सम्भव नहीं होता है, पर आश्रित होते हैं। वाल्मीकि एवं वेदव्यास दोनों ही सनातन धर्म में देवतातुल्य पूज्य हैं। सर्वदेवावाहनप्रकरण के अनुसार पुराणों में याजक के लिए जो मन्त्र हैं, उसमें निम्न वर्णन देखें –

अहमावाहयिष्यामि वाल्मीकिं तपसां निधिम् ॥ वाल्मीके त्वमिहाभ्येहि वेदोद्धरणतत्पर ॥
व्यासमावाहयिष्यामि वेदव्यासं जगद्गुरुम् ॥ वेदव्यास त्वमभ्येहि सर्वधर्मप्रदर्शक ॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, अध्याय – १०६, श्लोक – ९९ एवं १०७)

आवाहन मन्त्र का अर्थ – मैं तपस्या के भण्डार वाल्मीकि का आवाहन करता हूँ। हे वेदों के उद्धार (संरक्षण) में तत्पर वाल्मीकि ! आप यहां आएं। मैं वेदों का विस्तार करने वाले जगद्गुरु व्यास का आवाहन करता हूँ। हे सभी धर्मों को प्रकाशित करने वाले वेदव्यास ! आप यहां आएं। मैं आगे इस विषय पर शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत करूं, इससे पूर्व वाल्मीकिकृत योगवाशिष्ठ महारामायण में एक प्रसङ्ग का अवलोकन करें।

अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता । मुने पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥
मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम्। स्मरामि द्वादशं चेदममृताम्भोधिमन्थनम् ॥
सर्वौषधिरसोपेतां बलिग्राहस्तदा दिवः। वारत्रयहिरण्याक्षो नीतवान्वसुधामधः ॥
रेणुकात्मजतां गत्वा षष्ठवारमिमं हरिः। बहुसर्गान्तरेणापि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥
शतं कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम्। शौकराजतयैवाप्तं स्मरामि मुनिनायक ॥

काकभुशुण्डि जी कहते हैं – हे वशिष्ठ ! मैंने पांच बार इस पृथ्वी को अंतर्धान होते देखा है और पांच बार की सृष्टि में इसे उद्धृत होते देखा है। पांच बार की सृष्टि में मैंने कूर्मावतार के माध्यम से ऐसा होते देखा है। मुझे स्मरण आता है कि मैंने मन्दराचल के घर्षण से देवताओं एवं असुरों को सभी औषधि एवं रसों से परिपूर्ण समुद्र का मंथन, बारह बार होते देखा है, और साथ ही दैत्यराज बलि के द्वारा स्वर्ग का अधिग्रहण करते देखा है। मैंने तीन बार हिरण्याक्ष को पृथ्वी को नीचे ले जाते देखा है, मैंने छह बार भगवान् विष्णु का परशुरामावतार और अधर्मी क्षत्रियों का संहार करते देखा है। मैंने सैकड़ों बार कलियुग और हज़ारों बार भगवान् विष्णु का बुद्धावतार देखा है, शूकरावतार भी अनेकों बार देखा है।

त्रिंशत्त्रिपुरविक्षोभान्द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ। दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥

बाणार्थमष्टौ संग्रामाञ्ज्वरप्रमथमन्त्रकान् । विक्षोभितसुरानीकान्स्मरामि हरिशर्वयोः ॥
युगम्प्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने । क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान्वेदान्त्यराम्यहम् ॥
एकार्थानि समग्राणि बहुपाठानि मेऽनघ। पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रसृतानि युगम्प्रति ॥
पुनस्तानेव तानेवमन्यानपि युगे युगे। वेदादिवत्प्रचितानितिहासान्स्मराम्यहम् ॥

मैंने तीस बार शिव जी के द्वारा त्रिपुरासुर का नाश, दो बार दक्ष के यज्ञ का नाश देखा है। शिव जी द्वारा दस बार इन्द्रों का विनाश देखा है। (शिवजी ने पांच इन्द्रों का विनाश किया था, जो अगले जन्म में पाण्डव बने। इस घटना को दो बार देखने से दस इन्द्रों का विनाश हो गया)। देवताओं को भी क्षुब्ध करने वाले, बाणासुर के निमित्त भगवान् शिव एवं श्रीकृष्ण का ज्वर और प्रमथ गणों से सम्बन्धित मान्त्रिक युद्ध मैंने आठ बार देखा है। अलग अलग युगों में लोगों की बुद्धि अलग अलग स्तर की होती है, अतएव हे मुने ! क्रिया, पाठ आदि की विचित्रता से वेदों को प्रकाशित किया गया है। एक ही अर्थ, किन्तु अलग अलग पाठों से भरे हुए युगों युगों में कई पुराणों का प्रवर्तन हुआ है। फिर अलग अलग युगों में उन्हीं पुराण एवं वेदों के ही समान इतिहासग्रंथों की भी रचना होती है।

इतिहासं महाश्चर्यमन्यं रामायणामिधम्। ग्रन्थलक्षप्रमाणं च ज्ञानशास्त्रं स्मराम्यहम् ॥
रामवद्व्यवहर्तव्यं न रावणविलासवत्। इति यत्र धियां ज्ञानं हस्ते फलमिवार्पितम् ॥
कृतं वाल्मीकिना चैतदधुना यत्करिष्यति। अन्यच्च प्रकटं लोके स्थितं ज्ञास्यसि कालतः ॥
वाल्मीकिनाम्ना जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम् । एतच्च द्वादशं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥
द्वितीयमेतस्य समं भारतं नाम नामतः। स्मरामि प्राक्तनव्यासकृतं जगति विस्मृतम् ॥
व्यासाभिधेन जीवेन तेनैवान्येन वा कृतम्। एतत्तु सप्तमं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥
आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगम्प्रति । विचित्रसंनिवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ॥
भूयस्तान्येव तान्येव तथान्यानि युगे युगे। साधो पदार्थजालानि प्रपश्यामि स्मरामि वै ॥

एक दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहासग्रंथ है, जिसे रामायण कहते हैं, उस एक लाख की (श्लोक अथवा प्रकार) सीमा वाले ज्ञानशास्त्र को मैं स्मरण करता हूँ। राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान मनमौजी नहीं, इस प्रकार से हाथ में रखे फल के समान जिस ग्रंथ में ज्ञान भरा हुआ है, उसे पूर्वकल्प वाल्मीकि लिख चुके थे एवं पुनः अभी लिखेंगे। वाल्मीकि नामक जीव के द्वारा, साथ ही अन्य (अगस्त्य, व्यास आदि) के द्वारा भी लिखे जाने वाले इस रामायण को मैं बारह बार (बारह सृष्टियों में) लिखा गया है, इतना मुझे स्मरण है, जिस बात को संसार भूल गया है। दूसरे महान् इतिहासग्रंथ का नाम महाभारत है। इसे पहले व्यास ने लिखा था। व्यास के साथ ही अन्य (जैमिनी आदि) के द्वारा भी इसे सात बार लिखा गया है, ऐसा मुझे स्मरण है किंतु शेष जन इसे भूल चुके हैं। हे मुनीश्वर ! अलग अलग युगों में शास्त्रों के बहुत से विचित्र आख्यानक लिखे गए और समाप्त हो गए, जिनका मुझे स्मरण हैं। हे साधो ! मैं माया से निर्मित इस संसार में इस प्रकार अनेकों युगों के अनेकों घटनाओं को बारम्बार देखता और स्मरण करता हूँ।

राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः । अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥
नारसिंहेन वपुषा हिरण्यकशिपुं हरिः। जघान वारत्रितयं मृगेन्द्र इव वारणम् ॥
वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये। अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥
जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते। विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवस्थिता ॥
(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण, पूर्वार्ध, सर्ग – २२, श्लोक – १२-३३)

राक्षसों के संहार के लिए विष्णु का धरती पर जो अवतार लेते हैं, उसमें राम नाम का यह उनका ग्यारहवां जन्म होगा। जैसे सिंह हाथी को विदीर्ण कर देता है, वैसे ही नृसिंह अवतार में हिरण्यकशिपु को भगवान् विष्णु ने जब मारा था, उस घटना को।मैंने तीन बार देखा है। पृथ्वी के भार को हरण करने के लिए वसुदेव के घर में भगवान् (श्रीकृष्ण) का जो जन्म होता है, वह अब सोलहवीं बार होगा। संसार भ्रम के समान है, और कुछ नहीं। जैसे पानी में बुलबुला होता है, वैसे ही संसार को समझना चाहिए। उपर्युक्त प्रमाण में यह ध्यान दें कि काकभुशुण्डि जी को जितना याद था, उन्होंने उतना ही बताया है, किन्तु यह बात इतनी ही नहीं है। लोमश, बकदाल्भ्य जैसे योगीश्वर इससे भी आगे की दृष्टि रखते हैं। हम यह भी समझते हैं कि प्रत्येक कल्प, मन्वन्तर अथवा युग में इस प्रकार से घटनाओं की पुनरावृत्ति कुछ समानता एवं भिन्नता के साथ होती है। वेदव्यास एवं वाल्मीकि के सन्दर्भ में भी इस रहस्य को समझकर ही विचार करना चाहिए।

वेदव्यास के विषय में यह ध्यातव्य है कि यह एक पद है। प्रत्येक द्वापर के अंत में विष्णु के आवेशांश से एक योग्य व्यक्ति को वेदव्यास के पद पर बैठाया जाता है। वर्तमान वैवस्वत मन्वतर में अभी तक अट्ठाईस द्वापरों में अट्ठाईस वेदव्यास हो चुके हैं। उनके नाम अनेकों पुराणों में वर्णित हैं किन्तु मैं यहां उदाहरण के लिए विष्णुपुराण के श्लोक प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो पराशर ऋषि ने मैत्रेय से कहे हैं। यही प्रसङ्ग उदाहरण में देने का कारण है कि इन्हीं पराशर जी के माध्यम से वर्तमान वेदव्यास श्रीकृष्णद्वैपायन जी का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनके शूद्र होने का भ्रम फैलाया जाता है।

वेदव्यासा व्यतीता ये ह्यष्टाविंशति सत्तम। चतुर्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनःपुनः ॥
द्वापरे प्रथमे व्यस्तस्स्वयं वेदः स्वयंभुवा। द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः ॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः। सविता पञ्चमे व्यासः षष्ठे मृत्युस्स्मृतः प्रभुः ॥
सप्तमे च तथैवेन्द्रो वसिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः। सारस्वतश्च नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः ॥
एकादशो तु त्रिशिखो भरद्वाजस्ततः परः। त्रयोदशो चान्तरिक्षो वर्णी चापि चतुर्दशो ॥
त्रय्यारुणः पञ्चदशो षोडशस्तु धनञ्जयः। क्रतुञ्जयः सप्तदशस्तदूर्ध्वं च जयस्स्मृतः ॥
ततो व्यासो भरद्वाजो भरद्वाजाच्च गौतमः। गौतमादुत्तरो व्यासो हर्य्यात्मा योऽभिधीयते ॥
अथ हर्य्यात्मनस्ते च स्मृतो वाजश्रवा मुनिः।

सोमशुष्कायणस्तस्मात्तृणबिंदुरिति स्मृतः। ऋक्षोभूद्भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्योभिधीयते॥
तस्मादस्मत्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने। जातुकर्णोभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः॥
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः। एको वेदश्चतुर्द्धा तु तैः कृतो द्वापरादिषु॥
भविष्ये द्वापरे चापि द्रौणिर्व्यासो भविष्यति। व्यतीते मम पुत्रेऽस्मिन् कृष्णद्वैपायने मुने॥
(विष्णुपुराण, तृतीय अंश, अध्याय – ०३, श्लोक – १०-२१)

पराशर जी कहते हैं – हे मैत्रेय ! अभी तक अट्ठाईस वेदव्यास हो चुके हैं जिन्होंने द्वापर में बारम्बार वेदों के चार विभाग किये हैं। प्रथम द्वापर में स्वयं ब्रह्मा ही वेदव्यास थे। दूसरे द्वापर में प्रजापति वेदव्यास बने। तीसरे में दैत्यगुरु शुक्राचार्य, चौथे में देवगुरु बृहस्पति, पांचवें में सविता, छठे में मृत्युदेव वेदव्यास बने। सप्तम में इन्द्र, आठवें में वशिष्ठ, नवें में सारस्वत, दसवें में त्रिधामा ऋषि वेदव्यास बने। ग्यारहवें में त्रिशिख, और बारहवें में भरद्वाज बने। भरद्वाज के बाद गौतम, गौतम के बाद वे वेदव्यास बने जिनका नाम हर्यात्मा है। उनके नाद वाजश्रवा, फिर कलाओं की क्षीणता वाले चन्द्रमा, शुष्कायण, फिर राजर्षि तृणबिन्दु (रावण के पिता विश्रवा के नाना) वेदव्यास बने। उनके बाद ऋक्ष, फिर भार्गव, फिर वाल्मीकि वेदव्यास बने। वाल्मीकि के बाद मेरे पिता शक्ति और उनके बाद मैं (पराशर) वेदव्यास बने। मेरे बाद जातुकर्ण और उसके बाद मेरे पुत्र (श्रीकृष्णद्वैपायन) वेदव्यास बने। वर्तमान में वेदव्यास यही हैं, इन्होंने ही एक वेद के चार विभाग किये। जब मेरे पुत्र कृष्णद्वैपायन का कार्यकाल समाप्त हो जाएगा, फिर भविष्य में जो द्वापरयुग आएगा उसमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामा वेदव्यास का पद सम्भालेंगे।

जिन्हें शूद्र कहकर प्रचारित किया जा रहा है, वे वर्तमान के श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास ही हैं। ऐसा दुष्प्रचार करने वाले लोगों ने शायद ही इन पूर्वोक्त वेदव्यासपरम्परा के आचार्यों का नाम सुना होगा। सर्वप्रथम हम इन्हीं वर्तमान वेदव्यास के शूद्र होने की समीक्षा करेंगे। व्यासमाता देवी सत्यवती को दाशकन्या, केवट की कन्या बताया जाता है, और इस प्रकार फिर वेदव्यास जी को शूद्र सिद्ध करने का कुप्रयास भी किया जाता है। हम सबसे पहले उस प्रसङ्ग को देखते हैं, जहां सत्यवती ने स्वयं भीष्म पितामह को अपने जन्म का रहस्य बताया है।

यस्तु राजा वसुर्नाम श्रुतस्ते भरतर्षभ॥
तस्य शुक्लादहं (शुक्रादहं) मत्स्या धृता कुक्षौ पुरा किल। मातरं मे जलाद्धृत्वा दाशः परमधर्मवित्॥
मां तु स्वगृहमानीय दुहितृत्वेऽभ्यकल्पयत्। धर्मयुक्तः स धर्मेण पिता चासीत्ततो मम॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – ११४, श्लोक – २०-२२)

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ भीष्म ! राजा वसु (उपरिचर उपाधि वाले) जो अत्यंत प्रसिद्ध हैं, उनके वीर्य को एक मछली ने अपने गर्भ में धारण कर लिया था। मेरी उस माता को परम धर्मात्मा दाशराज (केवटों के राजा) ने पानी से बाहर निकाला। उसके गर्भ से मुझे निकाल कर वे अपने घर ले आये और मुझमें पुत्री की भावना की। इस प्रकार धर्मपरायण केवटों के राजा मेरे धर्मपिता हुए। जब पराशर ने कामातुर हो सत्यवती से रमण की इच्छा की, तब सत्यवती ने कहा –

कुलेन शीलेन तथा श्रुतेन द्विजोत्तमस्त्वं किल धर्मविच्च ।
अनार्यभावं कथमागतोऽसि विप्रेन्द्र मां वीक्ष्य च मीनगन्धाम् ॥
मदीये शरीरे द्विजामोघबुद्धे शुभं किं समालोक्य पाणिं ग्रहीतुम् ।
समीपं समायासि कामातुरस्त्वं कथं नाभिजानासि धर्मं स्वकीयम् ॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध – ०२, अध्याय – ०२, श्लोक – ११-१२)

सत्यवती ने कहा – हे विप्रेन्द्र ! कुल, शील एवं प्रसिद्धि के आधार पर आप ब्राह्मणों में अत्यंत श्रेष्ठ हैं, धर्म के रहस्य को जानने वाले भी हैं। फिर अनार्य (निन्दित) भाव का आश्रय लेकर मुझे, मछली की दुर्गन्ध से युक्त देख कर भी कैसे आ गए हैं ? हे स्पष्ट एवं सार्थक बुद्धि वाले ब्राह्मण ! मेरे इस शरीर में आपको क्या शुभता दिख गयी कि आप मुझसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, कामातुर होकर मेरे समीप आ रहे हैं, क्या आप अपने धर्म को नहीं जानते ?

दुर्गन्धाहं मुनिश्रेष्ठ कथं त्वं नोपशङ्कसे । समानरूपयोः कामसंयोगस्तु सुखावहः ॥
इत्युक्तेन तु सा कन्या क्षणमात्रेण भामिनी । कृता योजनगन्धा तु सुरूपा च वरानना ॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध – ०२, अध्याय – ०२, श्लोक – १७-१८)

हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं दुर्गन्ध से भरी हुई हूँ, फिर आपको क्या मुझसे घृणा नहीं होती ? समान स्तर की सुंदरता वालों में ही कामोपभोग सुखदायी होता है। कन्या के इस प्रकार कहने पर क्षणमात्र में ही ही ऋषि पराशर ने उसे (अपने योगबल से) योजन भर तक कमल के समान सुगन्ध वाली, सुन्दर एवं श्रेष्ठ मुख वाली स्त्री के रूप में परिणत कर दिया। साथ ही गर्भाधान करने के बाद यह वरदान भी दिया –

शृणु सुन्दरि पुत्रस्ते विष्ण्वंशसम्भवः शुचिः ॥
भविष्यति च विख्यातस्त्रैलोक्ये वरवर्णिनि। केनचित्कारणेनाहं जातः कामातुरस्त्वयि ॥
कदापि च न सम्मोहो भूतपूर्वो वरानने। दृष्ट्वा चाप्सरसां रूपं सदाहं धैर्यमावहम् ॥
दैवयोगेन वीक्ष्य त्वां कामस्य वशगोऽभवम्। तत्किञ्चित्कारणं विद्धि दैवं हि दुरतिक्रमम् ॥
दृष्ट्वाहं चातिदुर्गन्धां त्वां कथं मोहमाप्नुयाम्। पुराणकर्ता पुत्रस्ते भविष्यति वरानने ॥
वेदविद्भागकर्ता च ख्यातश्च भुवनत्रये ।
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध – ०२, अध्याय – ०२, श्लोक – ३०-३५)

पराशर ने कहा – हे सुन्दरी, सुनो ! तुम्हारा पुत्र अत्यंत पवित्र, विष्णु के अंश से उत्पन्न होगा। हे श्रेष्ठ रूप वाली ! वह तीनों लोकों में विख्यात होगा। पता नहीं, किस कारण से मैं तुम्हारे प्रति कामातुर हो गया। इस प्रकार से मुझे कभी भी मोह नहीं हुआ है। मैंने तो अप्सराओं के दिव्य रूप को देखकर भी सदैव धैर्य ही धारण किया है। फिर विधाता के खेल

से मैं तुम्हारे प्रति कामभाव के वश में हो गया, इसमें अवश्य ही कोई कारण होगा ऐसा तुम जाओ, क्योंकि भाग्य का अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है, दुर्गन्ध से युक्त तुम्हें देखकर भी मेरे जैसा संयमी व्यक्ति मोहित गया। तुम्हारा पुत्र पुराणों का रचयिता एवं वेदों का यथायोग्य विभाजनकर्ता, तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगा।

ऋषि पराशर ने उसके कौमार्य को पुनः स्थापित होने का वरदान भी दिया था एवं वेदव्यास जी भी यमुना के किनारे एक लघुद्वीप में जन्म लेकर तत्काल ही बड़े हो गए और विद्वान् हो गए तथा स्मरण करने पर आने का वचन देकर माता को विदा करके स्वयं भी तपस्या हेतु प्रस्थान कर गए। पराशर ऋषि सत्यवती के प्रति अपने इस मोह और व्यवहार से स्वयं भी अचम्भित थे और उन्होंने इसे ईश्वर का कोई विशेष कारणगत खेल समझा। जो ऋषि अप्सराओं को देखकर भी विचलित नहीं हुए, वे सत्यवती पर कैसे मोहित हो गए, इसका कारण हमें निम्न प्रसङ्ग से प्राप्त होता है। ऋषि पराशर योग्य पुत्र की कामना से नर्मदा के दक्षिण तट पर (पारेश्वर तीर्थ में) तपस्या कर रहे थे। तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें वरदान मांगने को कहा –

परितुष्टासि मे देवि यदि देयो वरो मम । देहि पुत्रं भगवति सत्यशौचगुणान्वितम् ॥
वेदाभ्यसनशीलं हि सर्वशास्त्रविशारदम् । तीर्थे चात्र भवेद्देवि सन्निधानवरेण तु ॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड-रेवाखण्ड, अध्याय – ७६, श्लोक – ०५-०६)

ऋषि पराशर ने कहा – हे देवी ! यदि आप मुझसे सन्तुष्ट हैं और मुझे वर देना चाहती हैं तो सत्य एवं पवित्रता आदि गुणों से युक्त पुत्र का वरदान दीजिये। सभी शास्त्रों में दक्ष, वेदाभ्यास में तत्पर पुत्र मुझे चाहिए। साथ ही इस तीर्थ में आपका सदैव वास हो। इस प्रकार वैष्णवावतार वेदव्यास जी को पुत्र रूप में प्राप्त करने का वरदान तो पराशर जी के पास था ही, साथ ही सत्यवती के ही माध्यम से पुत्र होगा यह भी निश्चित ही था। निम्न प्रसङ्ग को संक्षेप में बता रहा हूँ जो अनेकों पुराणों में वर्णित है, उसमें से कुछ उदाहरण दे रहा हूँ।

अग्निष्वात्ता इति ख्याता यज्वानो यत्र संस्थिताः। अच्छोदा नाम तेषां तु कन्याभूद्वरवर्णिनी ॥
अच्छोदं च सरस्तत्र पितृभिर्निर्मितं पुरा। अच्छोदाथ तपश्चक्रे दिव्यं वर्षसहस्रकम् ॥
आजग्मुः पितरस्तुष्टा दास्यन्तः किल ते वरम्। दिव्यरूपधराः सर्वे दिव्यमाल्यानुलेपनाः ॥
सर्वे प्रधाना बलिनः कुसुमायुधसन्निभाः। तन्मध्येमावसुं नाम पितरं वीक्ष्य सांगना ॥
वव्रे वरार्थिनी संगं कुसुमायुधपीडिता। योगाद्भ्रष्टा तु सा तेन व्यभिचारेण भामिनी ॥
धरान्न स्पृशते पूर्वं प्रयाताथ भुवस्तले। तथैवामावसुर्योयमिच्छां चक्रे न तां प्रति ॥
धैर्येण तस्य सा लोके अमावास्येति विश्रुता। पितृणां वल्लभा यस्माद्दत्तस्याक्षयकारिका ॥
अच्छोदाधोमुखी दीना लज्जिता तपसः क्षयात्। सा पितृन्प्रार्थयामास पुनरात्मसमृद्धये ॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय – ०९, श्लोक – १२-१९)

अग्निष्वात् संज्ञक जो पितृगण हैं, उनकी श्रेष्ठ रूप वाली अच्छोदा नाम की एक कन्या हुई। उस कन्या ने पितरों के द्वारा निर्मित अच्छोद नामक सरोवर के पास एक हज़ार दिव्य वर्ष (मनुष्यों के अनुसार तीन लाख, साठ हज़ार वर्ष) तक तपस्या की। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर पितृगण उसे वरदान देने की इच्छा से आये। वे सभी दिव्यरूप को धारण किये हुए थे, दिव्य माला एवं चन्दन आदि से शोभित थे, सभी अत्यंत पराक्रमी एवं कामदेव के समान सुन्दर थे। उन पितृगणों के मध्य अमावसु नामक एक पितर को देखकर अच्छोदा कामभाव से पीड़ित हो गयी और उसने अमावसु से वरदान में रमण की इच्छा व्यक्त की। अपने पितरों के प्रति इस मानसिक व्यभिचार के कारण उस कन्या की योगशक्ति समाप्त हो गयी और वह पृथ्वी पर गिर पड़ी, उससे पूर्व तपोबल के कारण वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करती थी। इधर अमावसु ने उसके साथ रमण की इच्छा व्यक्त नहीं की, अतः उनके धैर्य के कारण उनकी शक्ति की अमावस्या संज्ञा हुई जो पितरों को अत्यंत प्रिय एवं अक्षय तृप्ति देने वाली है। इधर अपने व्यवहार से अच्छोदा अत्यन्त लज्जित हो गयी और उसने पितरों से अपने उद्धार और उन्नति की प्रार्थना की।

अष्टाविंशे भवित्री त्वं द्वापरे मत्स्ययोनिजा ॥
अस्यैव राज्ञो दुहिता ह्यद्रिकायाममावसोः । पराशरस्य दायादमृषिं त्वं जनयिष्यसि ॥
स वेदमेकं ब्रह्मर्षि श्चतुर्द्धा विभजिष्यति । महाभिषस्य पुत्रौ द्वौ शन्तनोः कीर्त्तिवर्द्धनौ ॥
विचित्रवीर्यं धर्मज्ञं त्वमेवोत्पादयिष्यसि। चित्राङ्गदं च राजानं सर्वसत्त्वबलान्वितम् ॥
एतानुत्पादयित्वाथ पुनर्लोकानवाप्स्यसि । व्यभिचारात्पितृणां त्वं प्राप्स्यसे जन्म कुत्सितम् ॥
(ब्रह्माण्ड पुराण, मध्यभाग, अध्याय – १०, श्लोक – ६७-७०)

पितरों ने कहा – अमावसु की पुत्री जो अद्रिका नाम वाली है (वह मछली बनेगी) अट्ठाईसवें द्वापर में तुम मछली के गर्भ से जन्म लोगी। ऋषि पराशर के पुत्र एक दूसरे ऋषि को तुम जन्म दोगी। वह ब्रह्मर्षि एक ही वेद (यजुर्वेद) को चार भागों में बाटेंगे। फिर तुम महाभिष, जिनका लौकिक नाम शान्तनु है, उनके दो कीर्तिवर्द्धक पुत्र, धर्म को जानने वाले विचित्रवीर्य एवं बलवान् राजा चित्रांगद को जन्म दोगी। इतनी सन्तानों को उत्पन्न करने के बाद तुम अपने दिव्य लोक को पुनः प्राप्त कर सकती है, पितरों के प्रति व्यभिचार की बुद्धि रखने के कारण तुम्हें इस घृणित जन्म को भोगना पड़ेगा।

ऋषियों को खेल खेल में भयभीत करने से अमावसु की पुत्री अद्रिका नाम की अप्सरा को श्रापवश मछली की योनि में जाना पड़ा था। दो मानव सन्तानों को जन्म देने के बाद वह श्रापमुक्त होगी, ऐसा निर्धारित था। उसकी दो सन्तानों में एक सत्यवती नाम वाली पुत्री और दूसरा मत्स्य नामक पुत्र हुआ। इसी मत्स्य ने मत्स्य नामक नगर बसाया जहां बाद में राजा विराट का शासन हुआ और पाण्डवों ने अज्ञातवास बिताया था। यह सब वर्णन महाभारत में विस्तार से वर्णित है। जब पराशर ऋषि ने सत्यवती से रमण की इच्छा की तो सत्यवती ने कहा –

कथयामास चात्मानं दृष्ट्वा तं काममोहितम् । कैवर्तानां गृहे दासी कन्याहं द्विजसत्तम ॥
नावासंरक्षणार्थाय आदिष्टा स्वामिना विभो । मया विज्ञापितं वृत्तमशेषं ज्ञातुमर्हसि ॥
एवमुक्तस्तया सोऽथ क्षणं ध्यात्वाब्रवीदिदम् ॥
पराशर उवाच –
अहं ज्ञानबलाद्भद्रे तव जानामि सम्भवम् । कैवर्तपुत्रिका न त्वं राजकन्यासि सुन्दरि ॥
कन्योवाच –
कः पिता कथ्यतां ब्रह्मन्कस्या वा ह्युदरोद्भवा । कस्मिन्वंशे प्रसूताहं कैवर्ततनया कथम् ॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड-रेवा खण्ड, अध्याय – ९७, श्लोक – १५-१९)

अपने प्रति काममुग्ध उन्हें (पराशर को) देखकर कन्या (सत्यवती) ने कहा – हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैं केवटों के घर की दासी हूँ। केवटों के स्वामी की आज्ञा से मैं नाव की रक्षा करती हूँ। मैंने जो कहा है, उसे आप स्वयं भी जान सकते हैं। इस प्रकार कहे जाने पर पराशर ने ध्यान लगा कर सारी बात जान ली और कहा – हे पवित्र आचरण वाली ! मैंने ध्यानबल से सारी बात जान ली है कि तुम्हारा जन्म कैसे हुआ है, तुम किसी केवट की पुत्री नहीं हो, अपितु राजकन्या हो। कन्या ने पूछा – यदि ऐसा है तो बताएं कि मेरे पिता कौन हैं ? किसके गर्भ से मेरा जन्म हुआ और किसके वंश में मैं आयी हूँ, फिर मैं केवट की बेटी कैसे बनी ? पराशर जी ने उसे सारा वृत्तान्त बताया जिसे मैं संक्षेप में बता रहा हूँ, अत्यन्त विस्तृत अध्ययन के लिए गुरु एवं ग्रंथ की प्रत्यक्ष शरण ग्रहण करें। उपरिचर वसु नाम के अत्यंत पराक्रमी राजा हुए हैं। एक बार वे वन में गए हुए थे उसी समय उनकी गिरिका नाम की रानी ऋतुस्नाता हुई। वन की सुंदरता को देखकर और रानी का चिंतन करके राजा वसु का वीर्य स्खलित हो गया और उन्होंने (कृत्रिम गर्भाधान के निमित्त) उसे एक दोने में स्थापित करके प्रशिक्षित बाज के द्वारा अपने महल में भिजवाया। उस बाज को मार्ग में एक अन्य पक्षी ने देखा और यह मांस ले जा रहा है, ऐसा समझकर उसने आक्रमण कर दिया। छीना झपटी में वह दोना यमुना में गिर गया जहां श्रापवश मछली के रूप से निवास कर रही अद्रिका नाम की अप्सरा उसे ग्रहण करके गर्भवती हुई एवं बाद में उसके गर्भ से सत्यवती तथा राजा मत्स्य का जन्म हुआ। बाद में उस कन्या का पालन पोषण केवटों के राजा ने अपनी पुत्री बनाकर किया। इस कथा का वर्णन अनेकों ग्रंथों में है, किन्तु मैं संकेतमात्र हेतु निम्न श्लोक प्रस्तुत कर रहा हूँ।

तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद्वराप्सरा॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी। श्येनपादपरिभ्रष्टं तद्वीर्यमथ वासवम्॥
जग्राह तरसोपेत्य साऽद्रिका मत्स्यरूपिणी। कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम। उज्जह्रुरुदरात्तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषौ॥
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय – ६४, श्लोक – ७३-७६)

इन सब कथाओं में किसी को सन्देह या अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि,

तथा सत्यवती नारी शफरीगर्भसंभवा। तथैव महिषीगर्भो जातश्च महिषासुरः॥
तथा सन्ति पुरा नार्यः कारुण्याद्गर्भसंभवाः। तथा हि वसुदेवेन रोहिण्यास्तनयोऽभवत्॥
देवतानां महर्षीणां शापेन च वरेण च। अयुक्तमपि यत्कर्म युज्यते नात्र संशयः॥
साम्बस्य जठराज्जातं मुसलं मुनिशापतः। युवनाश्वस्य गर्भोऽभून्मुनीनां मंत्रगौरवात्॥
(स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड-ब्रह्मोत्तरखण्ड, अध्याय – १९, श्लोक – ६७-७०)

सत्यवती का जन्म मछली के पेट से और महिषासुर का जन्म भैंस के गर्भ से हुआ। पहले भी वसुदेव के पुत्र बलराम, जो देवकी के गर्भ स्थानांतरित हो गए थे, रोहिणी के गर्भ से उनके पुत्र बने। देवताओं के महर्षियों के श्राप तथा वरदान से अप्राकृतिक कर्म भी सम्भव हो जाते हैं, जैसे मुनियों के श्राप के कारण साम्ब के गर्भ से मूसल निकला तो मुनियों के मन्त्रबल के प्रभाव से राजा युवनाश्व ने (पुरुष होने पर भी) गर्भधारण कर लिया था। इस प्रकार से शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर पराशर मुनि का चरित्र भी निर्मल सिद्ध होता है एवं वेदव्यास जी भी वैष्णवावतार ऋषि ब्राह्मण ही सिद्ध होते हैं।

अब हम ऋषि वाल्मीकि पर चर्चा करते हैं। इनके विषय में पर्याप्त विवाद है। निम्न दो प्रधान मत संसार के विभिन्न विद्वान् रखते हैं –
१) वाल्मीकि पहले डाकू थे, बाद में मरा मरा जपकर ऋषि बने।
२) डाकू वाल्मीकि अलग थे एवं रामायणकार वाल्मीकि अलग थे।
मैंने इस विषय में शास्त्रों के अध्ययन से जो जो बातें समझी हैं, उन्हें यथावत् प्रस्तुत करूँगा। कुछ विद्वान् कहते हैं कि नाभादास जी ने भक्तमाल में वाल्मीकि को रत्नाकर नामक डाकू बताया है, उससे पूर्व कहीं उनके डाकू होने का वर्णन नहीं मिलता है। इस सन्दर्भ में वे निम्न श्लोक का प्रमाण बहुतायत से देते हैं –

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन। न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ॥
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता। नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ॥
(वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग – ९६, श्लोक – १९-२०)

सीताशपथग्रहण के प्रसङ्ग में ऋषि वाल्मीकि ने कहा – हे रामजी ! मैं प्रचेता (मित्रावरुण) का दसवां पुत्र हूँ। मैंने इससे पूर्व कभी झूठ कहा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता है। ये दोनों (कुश एवं लव) आपके ही पुत्र हैं। मैंने हज़ारों वर्षों तक तपस्या की है, यदि सीताजी का चरित्र अशुद्ध है, तो उस तपस्या का फल मुझे न मिले। देवमण्डल में मित्रावरुण (प्रचेता) के अन्य पुत्र, जैसे अगस्त्य, वशिष्ठ आदि की ब्राह्मण संज्ञा है। अगस्त्य ने अपना दूसरा तथा वशिष्ठ ने तीसरा जन्म मित्रावरुण के अंश से ही लिया था। सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य में प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानाः लिखा है, अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त होने से प्रचेता (प्रचेतस्) कहते हैं।

नाभादास जी ब्रह्मा के अवतार थे। जब ब्रह्माजी ने अघासुर वध के बाद भगवान् के प्रभाव पर सन्देह करके ग्वाल बालों एवं गौसमूह का अपहरण कर लिया था उसके बाद भगवान् के दिव्य सर्वव्यापी प्रताप को देखकर उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने सभी अपहृत जनों को मुक्त करते हुए भगवान् से क्षमा मांगी, ये सब कथा श्रीमद्भागवत आदि में वर्णित है। सन्तजनों का मत है कि भक्तों के प्रति अपराध करने के कारण ब्रह्माजी ने ही एक अंश से नाभादास का अवतार लिया और भक्तमाल की रचना करते हुए उसमें भगवद्भक्तों का चरित्र लिखा, जिसका सभी मान्य आचार्यगण सम्मान करते हैं। श्री करपात्री स्वामी आदि भी भक्तमाल की कथा बड़े आदर से सुनते थे। जैसा कि मैंने परम चिरंजीवी काकभुशुण्डि जी के वचनों से सिद्ध किया था कि अनेकों कल्पों के अनेकों रामायणों के लेखन के लिए अनेकों बार वाल्मीकि आये हैं, तो उनमें से ही कुछ प्रधान उदाहरण मैं प्रस्तुत करता हूँ। मैं संक्षेप में ही सारभूत शब्दों में कथानकों का वर्णन करूँगा।

त्रेतायुगे चतुर्विंशे भृगुवंशोद्भवेन तु ॥
वाल्मीकिना तु रचितं स्वमेव चरितं शुभम् ॥ रामाख्यानं महापुण्यं श्रोतृणां विष्णुलोकदम् ॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०१, अध्याय – ७४, श्लोक – ३८-३९)

चौबीसवें त्रेतायुग में भृगुवंश में उत्पन्न वाल्मीकि के द्वारा रामजी का शुभ चरित्र जो अत्यंत पुण्यदायी है, लिखा गया, जिससे सुनकर श्रोतागण विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं। सर्वप्रथम हम उस कथा का वर्णन करेंगे जब भृगुवंश में वाल्मीकि ऋषि का जन्म हुआ था।

सनत्कुमार उवाच
आसीद्व्यास पुरा विप्रः सुमतिर्भृगुवंशजः। रूपयौवनसंपन्ना तस्य भार्याथ कौशिकी॥
तस्य पुत्रः समुत्पन्नो ह्यग्निशर्मेति नामतः। स पित्रा प्रोच्यमानोऽपि वेदाभ्यासं न मन्यते॥
ततो बहुतिथे काले अनावृष्टिरजायत। तस्यां विपद्गतः सोऽथ दक्षिणामाश्रितो दिशम्॥
ततोऽसौ सुमतिर्विप्रः सभार्यः स सुतस्तथा। विदेशं काननं प्राप्तः कृत्वा चाश्रममाश्रितः॥

सनत्कुमार कहते हैं – हे वेदव्यास जी ! पूर्वकाल में भृगुवंश में उत्पन्न सुमति नाम के एक ब्राह्मण थे। उनकी अत्यन्त सुन्दर एवं यौवनसम्पन्ना कौशिकी नाम की पत्नी थी। उनका पुत्र जब उत्पन्न हुआ तो उसका नाम अग्निशर्मा रखा गया। अपने पिता के कहने पर भी अग्निशर्मा की रुचि शिक्षा दीक्षा, वेदाभ्यास आदि में नहीं थी। बहुत समय बीतने पर उस क्षेत्र में घोर अकाल पड़ा जिस विपत्ति से बचने के लिए सुमति नाम वाले वे ब्राह्मण, अपनी पत्नी एवं पुत्र के साथ दक्षिण दिशा में स्थित, अपने देश से दूर एक जंगल में चले गए।

आभीरैर्दस्युभिः सार्धं संगोऽभूदग्निशर्मणः। आगच्छति पथा तेन यस्तं हन्ति स पापकृत्॥
स्मृतिर्नष्टा गता वेदा गतं गोत्रं गता श्रुतिः। कस्मिंश्चिदथ काले तु तीर्थयात्राप्रसंगतः॥

सप्तर्षयः पथा तेन सुव्रताः समुपस्थिताः। अग्निशर्माथ तान्दृष्ट्वा हन्तुकामोऽब्रवीदिदम्॥
वस्त्राणीमानि मुच्यध्वं छत्रिकोपानहौ तथा। हन्तव्या हि मया यूयं गन्तारो यमसादने॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा अत्रिर्वचनमब्रवीत्। अस्मत्पीडनजं पापं कथं ते हृदि वर्तते॥
वयं तपस्विनो भूत्वा तीर्थयात्राकृतोद्यमाः॥

उस जंगल में आभीर जाति के कुछ लुटेरे रहते थे। उन्हीं के साथ अग्निशर्मा की संगति हो गयी। उसके बाद वन के मार्ग में आने वाले लोकों को वह पापी मारने लगा। अपने ब्राह्मण होने का, उसके कर्तव्य का उसे विस्मरण हो गया। उसने थोड़ा बहुत जो वेद आदि पढ़ा था, वह भी भूल गया, उसे अपने गोत्र आदि का भी स्मरण न रहा। कुछ काल के बाद वहां से तीर्थयात्रा हेतु उत्तम व्रत का पालन करने वाले सप्तर्षियों का आगमन हुआ। उन्हें देखकर मारने की इच्छा से अग्निशर्मा ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी वस्त्र, छाता, खड़ाऊं आदि है वह सब उतार कर मुझे दे दो, क्योंकि मैं तुम्हें मारकर यमलोक पहुंचाने वाला हूँ। उसके वचन को सुनकर अत्रिमुनि ने कहा कि हमें कष्ट पहुंचाने का पाप करने का विचार तुम्हारे मन में क्यों आया है, हम तो तपस्वी हैं, तीर्थयात्रा पर निकले हैं।

अग्निशर्मोवाच

ममास्ति माताथ पिता सुतो भार्या गरीयसी। पोषयामि सदा तान्स्तु एतन्मे हृदि संस्थितम्॥

अत्रिरुवाच

पित्रादीनाशु पृच्छस्व स्वकर्मोपार्जितं प्रति। यद्युष्मदर्थं क्रियते पापं तत्कस्य कथ्यताम्॥
यदि ते कथयन्ति स्म मा मृषा प्राणिनो वधीः॥

अग्निशर्मोवाच

न कदाचिन्मया ते तु संपृष्टा ईदृशं वचः। युष्माकं वचसा मेऽद्य प्रतिबोधः प्रवर्तते॥
गत्वा पृच्छामि तान्सर्वान्कस्य भावश्च कीदृशः। यूयमत्रैव तिष्ठध्वं यावदागमनं मम॥
इत्युक्त्वा ताञ्जगामाशु पितरं स्वमुवाच ह। धर्मस्य प्रतिघातेन प्राणिनां पीडनेन च॥
सुमहद्दृश्यते पापं कस्य तत्कथ्यतां मम॥

अग्निशर्मा ने कहा – मेरे घर में मेरी माता, पिता, पुत्र एवं सबसे बढ़कर मेरी पत्नी है। उनके पोषण के लिए ही मैं सब कुछ करता हूँ, यही विचार मेरे मन में आता है। अत्रि ने कहा – तुम जाकर अपने पिता आदि से शीघ्र यह पूछो कि अपने इस कर्म के द्वारा तुम जो कमाते हो, जिस परिवार के लिए तुम यह पाप करते हो, वह पाप किसका होगा ? कौन उसका फल भोगेगा ? यदि पहले तुम प्राणियों का वध करने वाले विषय में पिता से पूछ चुके हो, तो मुझे उनका उत्तर बताओ, झूठ न कहना, व्यर्थ में प्राणियों को मत मारो। अग्निशर्मा ने कहा – मैंने आजतक अपने पिता से इस विषय में कुछ नहीं पूछा है। आज आपके वचन से मुझे कुछ बोध हुआ है, मैं जाकर तुरन्त पूछता हूँ, तबतक आप यहीं रहें। ऐसा कहकर वह अग्निशर्मा तुरन्त अपने पिता के पास गया और कहा कि धर्म के इस हनन से, प्राणियों को पीड़ा देने से जो बहुत बड़ा पाप दिखाई पड़ रहा है, वह किसका होगा, यह मुझे कहें।

पिता प्राह तथा माता नापुण्यमावयोरिह ॥
त्वं जानासि यत्कुरुषे कृतं भाव्यं पुनस्त्वया। तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा भार्या वचनमब्रवीत् ॥
तयाप्युक्तं न मे पापं पापमेतत्तवैव हि। तद्वाक्यमब्रवीत्पुत्रं बालोऽहमितिसोऽब्रवीत् ॥
तज्ज्ञात्वा हृदयं तेषां चेष्टितं चैव तत्त्वतः। नष्टोऽहमिति मन्वानः शरणं मे तपस्विनः ॥
क्षिप्त्वाथ लगुडं कृष्णं येन वै जन्तवो हताः। प्रकीर्य केशांस्त्वरितमृषीणामग्रतः स्थितः ॥
प्रणम्य दण्डपातेन ततो वचनमब्रवीत्। न मे माता न च पिता न भार्या न च मे सुतः ॥
सर्वैस्तैः परिमुक्तोऽहं भवतां शरणं गतः। सुष्टूपदेशदानान्मां नरकात्त्रातुमर्हथ ॥

पिता और माता ने कहा – इस अधर्म में हमारी कोई भागीदारी नहीं होगी। तुम क्या करते हो, उसका क्या फल होगा, यह सब तो तुम्हीं जानो। फिर पत्नी ने भी कहा कि आपके पाप में मेरा कोई हिस्सा नहीं है। पुत्र ने भी कह दिया कि मैं तो बच्चा हूँ, मैं कुछ नहीं जानता। परिवार वालों की इस बात को सुनकर अग्निशर्मा ने सोचा कि मेरा यह जीवन तो नष्ट ही हो गया, अब वे तपस्वी ही मेरी रक्षा कर सकते हैं। ऐसा सोचकर जिस लाठी से वह लोगों को मारता था, उसे जमीन पर फेंक कर अपने केशों को बिखेर कर दीनभाव से ऋषियों के आगे गिर पड़ा और प्रणाम करके कहा – मेरे माता, पिता, पत्नी या पुत्र कोई भी मेरा साथ देने के लिये तैयार नहीं है। इसलिए उनकी ओर से मुक्त होकर मैं आपसबों की शरण में आया हूँ। आप उचित मार्गदर्शन करके मुझे नरक में जाने से बचाईए।

एवं तं वादिनं दृष्ट्वा ऋषयोऽत्रिमथाब्रुवन्। भवतो वचनादस्य प्रतिबोधः समागतः ॥
भवताऽयमनुग्राह्यः शिष्यो भवतु ते मुने। तथेत्युक्त्वाथ तान्प्राह चाग्निं ध्यानं समाचर ॥
अनेन ध्यानयोगेन महामंत्रजपेन च। अनेकदुस्तरात्युग्रपापकृज्जनघातकः ॥
संस्थितो वृक्षमूले त्वं परा सिद्धिं गमिष्यसि ॥ इत्युक्त्वा ते ययुः सर्वे सकामं सोऽपि तत्र वै।
तद्ध्यानस्थोऽभवद्योगी वत्सराणि त्रयोदश ॥

उसे ऐसा कहते देखकर अन्य ऋषियों ने अत्रि ने कहा कि आपके ही वचनों से इसके मन में विवेक का जन्म हुआ है अतः यह आपका ही शिष्य है, आप इसपर कृपा करें। फिर ऋषियों ने अग्नि का (ब्राह्मणों के इष्ट अग्नि ही हैं) ध्यान कराया और कहा कि इस ध्यान के माध्यम से और (राम आदि) महामंत्र के जप से तुमने अत्यंत जघन्य जो जो पाप किये हैं उसके अशुभ नष्ट हो जाएँगे। इसी वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करो, तुम्हें परम सिद्धि मिल जाएगी। ऐसा कहकर ऋषिगण वहां से चले गए और वह (अग्निशर्मा) प्रायश्चित्त की इच्छा से ध्यानयोग में लीन होकर वहीं पर तेरह वर्षों तक तपस्या करता रहा।

तस्योपर्यभवत्तत्र वल्मीकोऽविचलस्य च। निवृत्तास्तु पथा तेन मुनयस्तत्र शुश्रुवुः ॥
उदीरितं ध्वनिं तेन वल्मीके विस्मयान्विताः। ततः खनित्वा वल्मीकं काष्ठीभूतोरुशंकुभिः ॥

तं दृष्ट्वोत्थापयामासुर्मुनयो नयसंयुतम्। नमश्चक्रेऽथ तान्सर्वान्स विप्रो मुनिपुंगवान्॥
तान्प्राह प्रणतो भूत्वा तपसा दीप्ततेजसः। प्रसादाद्भवतामद्य ज्ञानं लब्धं मया शुभम्॥
दीनोऽहमुद्धृतः सर्वैर्मग्नोऽहं पापकर्दमे। तस्येति ते वाक्यमूचुः परमधार्मिकाः॥
वल्मीकेऽस्मिन्स्थितः पुत्र यतस्त्वमेकचित्ततः। वाल्मीकिरिति ते नाम भुवि ख्यातं भविष्यति॥

उसके बाद अविचल भाव से बैठे उसके चारों ओर वल्मीक (दीमक) का आवरण हो गया। उधर से पुनः ऋषिगण गुजरे, जिन्होंने उस स्थान पर मंत्रजप सुना। दीमक के अंदर से यह कैसी ध्वनि है ऐसा सोचकर ऋषियों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस स्थान और बाम्बी को खोदकर अग्निशर्मा को बाहर निकाला। उसने बाहर निकल कर ऋषियों को प्रणाम किया, तपस्या से उसका शरीर सूर्य के समान तेजस्वी हो गया था। उसने कहा – आप सभी ऋषियों की कृपा से मुझे शुभ ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं पाप के कीचड़ में फंसा हुआ था, फिर आपसबों ने मुझे यहां से उबारा। इसके वाक्य को सुनकर परमधार्मिक ऋषियों ने कहा कि पुत्र, तुमने एकाग्रचित्त से यहां तपस्या की है, और वल्मीक (दीमक) से ढक गए थे, इसीलिए आज से तुम्हारा नाम वाल्मीकि, प्रसिद्ध होगा।

इत्युक्त्वा मुनयो जग्मुः स्वां दिशां तपसान्विताः। गतेषु मुनिमुख्येषु वाल्मीकिस्तपतां वरः॥
कुशस्थल्यामथागम्य समाराध्य महेश्वरम् । तस्मात्कवित्वमासाद्य चक्रे काव्यं मनोरमम्॥
रामायणं च यत्प्राहुः कथां सुप्रथमस्थिताम्। ततः प्रभृति देवेशो वाल्मीकेश्वरसंज्ञक॥
ख्यातोऽवन्त्यां ततो व्यास नृणां कवित्वदायकः। इति ते कथितं लिंगं वाल्मीकेश्वरमुत्तमम्॥
यस्य दर्शनमात्रेण कवित्वमुपपद्यते ॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड – अवन्तीक्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय – २४, श्लोक – ०३-३८)

ऐसा कहकर ऋषिगण तपस्या के लिए अलग अलग दिशाओं में चले गए। फिर तपस्वियों में श्रेष्ठ वाल्मीकि ने कुशस्थली में जाकर महादेव जी की आराधना की और उनकी कृपा से कवित्वशक्ति प्राप्त करके मनोरम काव्य, जिसे रामायण कहते हैं, उसकी रचना की। जिस स्थान पर उन्होंने शिवलिंग की पूजा की, उसे वाल्मीकेश्वर शिवलिंग कहा जाता है, जिसके दर्शनमात्र से कवित्वशक्ति की प्राप्ति होती है। भृगुवंशी उपाख्यान के बाद कल्पान्तर भेद से एक और कथा का वर्णन करते हैं, जिसमें वाल्मीकि जी के द्वारा राम राम के स्थान पर मरा मरा जपने की बात है।

पुरा पूर्वभवे चासीन्मृगव्याधो द्विजाधमः। धनुर्बाणधरो नित्यं मार्गे विप्रविहिंसकः॥
हत्वा द्विजान्महामूढस्तेषां यज्ञोपवीतकम्। गृहीत्वा हेलया दुष्टो महाक्रोशस्तु तत्कृतः॥
ब्राह्मणस्य च यद्द्रव्यं सुधोपममनुत्तमम्। मधुरं क्षत्रियस्यैव वैश्यस्यान्नसमं स्मृतम्॥
शूद्रस्य वस्तु रुधिरमिति ज्ञात्वा द्विजाधमः। स जघान त्रिवर्णांश्च ब्राह्मणान्बहुलान्खलः॥

पूर्वकल्प में मृगव्याध नामक एक अधम ब्राह्मण रहता था। वह अपने हाथों में धनुष बाण को धारण करके ब्राह्मणों को मारता रहता था। ब्राह्मणों को मारकर वह उनका यज्ञोपवीत उतार कर अपमान करता हुआ रख लेता था और इस प्रकार उसने भीषण आतंक मचाया। ब्राह्मण का धन अमृत के समान, क्षत्रिय का मीठे भोजन के समान, वैश्य का अन्न के समान और शूद्र का रुधिर के समान है, ऐसा समझता हुआ वह अधम ब्राह्मण शूद्र को छोड़कर शेष तीनों वर्णों को, उसमें भी विशेषकर ब्राह्मणों को बहुतायत से मारने लगा।

द्विजनाशात्सुरास्सर्वे भयभीतास्समन्नततः। परमेष्ठिनमागम्य कथांश्चक्रुश्च कारणम् ॥
श्रुत्वा च दुःखितो ब्रह्मा सप्तर्षीन्प्राह लोकगान्। उद्देशं कुरु तत्रैव गत्वा तस्य द्विजोत्तम ॥
इति श्रुत्वा मरीचिस्तु वशिष्ठादिभिरन्वितः। तत्र गत्वा स्थितास्सर्वे मृगव्याधस्य वै वने ॥
मृगव्याधस्तु तान्दृष्ट्वा धनुर्बाणधरो बली। उवाच वचनं घोरं हनिष्येहं च वोद्य वै ॥
मरीचाद्या विहस्याहुः किमर्थं हन्तुमुद्यतः। कुलार्थं वात्मनोऽर्थं वा शीघ्रं वद महाबल ॥

ब्राह्मणों के इस नरसंहार से देवताओं को बड़ा भय हुआ और वे सब मिलकर ब्रह्माजी के पास गए एवं पूरी बात बताई। ब्रह्मा ने सब सुनकर दुःखी भाव से सर्वत्र विचरण करने वाले सप्तर्षियों को कहा कि आप उस व्यक्ति के पास जाएं। यह सुनकर मरीचि ने वसिष्ठ आदि सप्तर्षियों के साथ उस वन के लिए प्रस्थान किया जहां मृगव्याध रहता था। उन्हें वहां देखकर धनुष बाण धारण करने वाला मृगव्याध हंसता हुआ सा घोर वचन कहने लगा कि आज ही तुम सबों को मार डालूंगा। उसकी बात सुनकर मरीचि आदि ने भी हंसते हुए कहा कि हमें भला तुम क्यों मारना चाहते हों? हे महाबली ! तुम्हारा कुल और उद्देश्य क्या है, सो कहो।

इत्युक्तस्तान्द्विजः प्राह कुलार्थं चात्मनो हिते। हन्मि युष्मान्धनैर्युक्तान्ब्राह्मणांश्च विशेषतः ॥
श्रुत्वा तमाहुस्ते विप्रा गच्छ शीघ्रं धनुर्धर। विप्रहत्याकृतं पापं भुञ्जीयात्को विचारय ॥
इति श्रुत्वा तु घोरात्मा तेषां दृष्ट्या सुनिर्मलः। गत्वा वंशजनानाह भूरि पापं मयार्जितम् ॥
तत्पापकं भवद्भिश्च ग्रहणीयं धनं यथा। ते तु श्रुत्वा द्विजं प्राहुर्न वयं पापभोगिनः ॥
साक्षीयं भूमिरचला साक्षी सूर्योऽयमुत्तमः। इति श्रुत्वा मृगव्याधो मुनीनाह कृताञ्जलिः ॥

ब्राह्मणों के ऐसा पूछने पर उसने अपना कुल आदि बता दिया और कहा कि मैं तुम जैसे ब्राह्मणों को धन की इच्छा से मारता हूँ। ऐसा सुनकर ब्राह्मणों में कहा कि हे धनुर्धर ! तुम शीघ्र जाकर अपने परिवार वालों से पूछो कि ब्राह्मणों को मारने से उत्पन्न पाप को कौन कौन भोगेगा। ऋषियों की पवित्र दृष्टि से उसमें कुछ पवित्रता का गयी थी, सो ऐसा सुनकर वह क्रूरकर्मा ने अपने कुटुम्ब वालों से जाकर पूछा कि मैं पाप से जो धन लाता हूँ, उसे जिस प्रकार तुम सब आपस में बांट लेते हो, उसी प्रकार से पाप को बांट लो। उसके वचनों को सुनकर लोगों ने कहा कि हम तुम्हारे पाप को नहीं भोगने वाले हैं, यह पृथ्वी, सूर्य आदि इस बात के साक्षी हैं। ऐसा सुनकर मृगव्याध ने ऋषियों के पास जाकर

हाथ जोड़कर कहा –

यथा पापं क्षयं याति तथा माज्ञातुमर्हथ । इत्युक्तास्तेन ते प्राहुः शृणु त्वं मंत्रमुत्तमम् ॥
राम नाम हि तज्ज्ञेयं सर्वाघौघविनाशनम् । यावत्त्वत्पार्श्वमायामस्तावत्त्वं जप चोत्तमम् ॥
इत्युक्त्वा ते गता विप्रास्तीर्थात्तीर्थान्तरं प्रति । मरामरामरेत्येवं सहस्राब्दं जजाप ह ॥
जपप्रभावादभवद्वनमुत्पलसंकुलम् । तत्स्थानमुत्पलारण्यं प्रसिद्धमभवद्भुवि ॥

जिस प्रकार से मेरा पाप नष्ट हो, आप उसे बताएं। तब ऋषियों ने कहा कि हम तुम्हें उत्तम मन्त्र बताते हैं, उसे सुनो। "राम" नाम को सभी पापों को नाश करने वाला जानो। जब तक हमलोग लौट कर तुम्हारे पास वापस नहीं आ जाते हैं, तब तक तुम उसका ही उत्तम जप करो। ऐसा कहकर सप्तर्षि जन तीर्थयात्रा पर चले गए और उस मृगव्याध ने मरा मरा, ऐसा जप एक हज़ार वर्षों तक किया। जप के प्रभाव से उस वन में चारों ओर सुंदर नीलकमल खिल गए जिससे उस स्थल का नाम संसार में उत्पलारण्य, ऐसा प्रसिद्ध हुआ।

ततः सप्तर्षयः प्राप्ता वल्मीकात्तं निराकृतम् । दृष्ट्वा शुद्धं तदा विप्रमूचुस्ते विस्मयान्विताः ॥
वल्मीकान्निस्सृतो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरुत्तमम् । तव नाम भवेद्विप्र त्रिकालज्ञ महामते ॥
एवमुक्त्वा ययुर्लोकं स तु रामायणं मुनिः । कल्पाष्टादशयुक्तं हि शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, खण्ड – ४, अध्याय – १०, श्लोक – ३७-५७)

इसके बाद सप्तर्षियों ने लौटकर उसे दीमक की बाम्बी के अन्दर से निकाल कर देखा कि इसके पाप समाप्त हो गए हैं, यह शुद्ध हो गया है, उसकी तपस्या से सबों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा कि तुम्हें वल्मीक (दीमक) से बाहर निकाला गया है इसीलिए आज से तुम्हारा उत्तम नाम वाल्मीकि होगा। हे महामते ! तुम तीनों समय की बात जानने वाले त्रिकालदर्शी बनो। ऐसा कहकर सप्तर्षिगण अपने लोक को चले गए और वाल्मीकि मुनि ने अठारह कल्पों की कथाओं का आश्रय लेकर सौ करोड़ की परिमिता वाले रामायण की रचना की। ऐसा ही एक कथाभाग और द्रष्टव्य है जहां शमीमुख ब्राह्मण के पुत्र अत्यंत रौद्रकर्मा वैशाख का वृतान्त है। यह प्रसङ्ग बहुत बड़ा है, अतएव मैं संक्षेप में ही बता रहा हूँ। जैसा कि वर्णन है –

आसीत्पूर्वं द्विजो देवि नाम्ना ख्यातः शमीमुखः ।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य तस्य पुत्रो व्यजायत । वैशाख इति नाम्नाऽसौ रौद्रकर्मा व्यजायत ॥

इसमें भी कुछ कुछ वैसी ही घटना घटित हुई है। यहां सप्तर्षिगण के समूह से अङ्गिरा ऋषि ने वैशाख नामक ब्राह्मण को, जो कुसंगति से डाकू बन गया था ,उसे कहा कि तुम्हारे परिवार में कौन तुम्हारे पाप को ग्रहण करेगा, यह पूछकर आओ। परिवार वालों के साफ शब्दों में मना करने पर वैशाख को अपने कर्म का खेद हुआ और उसने अङ्गिरा के बताए

मार्ग पर पूरी श्रद्धा से चलते हुए भगवन्नाम का एक हज़ार वर्षों तक जप किया। गुरुकृपा एवं भक्ति से उसे भूख प्यास आदि नहीं लगती थी। उसके बाद ऋषियों ने वापस आकर उसे दीमक के अंदर से निकाला। वैशाख ने अपने परिवार वालों के बारे में पूछा। ऋषियों ने कहा –

बहुवर्षाण्यतीतानि तवात्र वसतो मुने। सर्वे ते निधनं प्राप्ता ये चान्ये ते कुटुंबिनः॥
वयं चिरात्समायाताः स्थानेऽस्मिन्मुनिसत्तमाः। स त्वं सिद्धिमनुप्राप्तो मंत्रादस्मादसंशयम्॥
यस्मात्त्वं मंत्रमेकाग्रो ध्यायन्वल्मीकमाश्रितः। तस्माद्वाल्मीकिनामा त्वं भविष्यसि महीतले॥
स्वच्छंदा भारती देवी जिह्वाग्रे ते भविष्यति। कृत्वा रामायणं काव्यं ततो मोक्षं गमिष्यसि॥
(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड-प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय – २७८, श्लोक – ५५-५८)

हे मुने ! यहां तपस्या हेतु रहते हुए तुम्हें अनेकों वर्ष बीत गए हैं। अब तक तो तुम्हारे परिवार के सभी लोग मर गए। हमलोग स्वयं ही इस स्थान पर बहुत लम्बे समय के बाद आए हैं। तुमने भी गुरुमंत्र के प्रभाव से तपस्या में सिद्धि प्राप्त कर ली है, इसमें संशय नहीं है। तुमने वल्मीक (दीमक) की बाम्बी में रहते हुए एकाग्रचित्त से मन्त्र का ध्यान किया है, इसीलिए तुम वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करोगे। तुम्हारी जिह्वा पर इच्छानुसार सरस्वती का वास होगा, उसके बाद तुम रामायण की रचना करके मोक्ष को प्राप्त कर जाओगे।

इस प्रकार हम अलग अलग कल्पों की घटनाओं एवं ग्रंथों के प्रमाणों के आधार पर यह देखते हैं कि वाल्मीकि शूद्र नहीं थे। वे वास्तव में ब्राह्मण ही थे, किन्तु कुसंगति से डाकू बन गए थे। बाद में ऋषियों की कृपा एवं अपने परिश्रम से वे शुद्ध हुए और पुनः मित्रावरुण प्रचेता के माध्यम से नया शरीर भी धारण किया। अभी जो शूद्रवर्णगत वाल्मीकि जाति है, वह वाल्मीकि के वनवासी पूर्वस्वरूप के चिन्तन के आधार पर ही सामाजिकता को प्राप्त हुई है। इस प्रकार से वेदव्यास एवं वाल्मीकि का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है।

--*

जीव और आत्मा में क्या भेद है ?

प्रश्नकर्ता श्रीनीलभद्र शर्मा - सावयव निरवयव आनंद की अनुभूति की विधा पर विज्ञजन अपना अभिमत रखें। यह दर्शन का चिन्तनीय विषय है।
प्रश्नकर्ता श्रीविजय पाण्डेय -जीव और आत्मा में क्या भेद है ?

श्रीभागवतानंद गुरु -

अभिन्नयोर्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनः। तच्छान्तिपरमं श्रेयो ब्रह्मोद्गीतमुदाहृतम्॥
(अग्निपुराण (यमगीता प्रकरण), अध्याय - ३८२, श्लोक - ०७)

यहां जीवात्मा और परमात्मा की एकता का बोध होता है। महाभागवत एवं देवीभागवत आदि के अनुसार चेतनात्मा के दो ही भेद हैं पहला जीवात्मा, दूसरा परमात्मा।

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः।
(पञ्चदशी, चतुर्दश प्रकरण)

और परमात्मा ही तत्वतः जीवात्मा है, इसका वर्णन निम्न श्लोक में मिलेगा,

एवं ब्रह्मैव जीवात्मा निर्विभागो निरन्तरः । सर्वशक्तिरनाद्यन्तो महाचित्साररूपवान्॥
(योगवाशिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण)
जीवो ब्रह्म सदैवाहं नात्र कार्या विचारणा। भेदबुद्धिस्तु संसारे वर्तमाना प्रवर्तते॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध ०१, अध्याय - १८, श्लोक - ४२)
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति।
(छान्दोग्योपनिषत्, श्वेतकेतु प्रसङ्ग)

वह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है। नारद पुराण का वचन है कि देह को मारने होने से जीव का साक्षात्कार नहीं हो जाता है -

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये। भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते॥

श्रीमज्जगद्गुरु वल्लभाचार्य जी ने अपने श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में देही, आत्मा, जीव आदि को एक ही माना है - यतो देही आत्मा जीवो नित्यमवध्यः सर्वस्यानेकविधस्य देहे तस्मात्सर्वाणि भूतानि न शोचितुमर्हसि। आप स्वयं श्रीमद्भागवत में

प्रसङ्ग देखें -

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा । एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥
मनः सृजति वै देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः। तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध - १२, अध्याय - ०५, श्लोक - ०५-०६)

ब्रह्मवैवर्त पुराण का प्रकृतिखण्ड कहता है कि -

जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च। आत्मनः प्रतिबिम्बश्च देही जीवः स एव च॥

इससे भी मेरी बात की पुष्टि होती है। अविद्या की उपाधि से युक्त आत्मा की जीव संज्ञा है, ऐसा तत्वबोध का वचन है - अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव इत्युच्यते। पुष्कर ने परशुराम को स्पष्ट कहा है सुख दुःख का उपभोग करने वाला आत्मा ही जीव है -

आत्मा जीवः स्मृतो राम यो भोक्ता सुखदुःखयोः। अव्यक्तो मिश्रितानीह रजःसत्त्वतमांसि च॥
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण, खण्ड - ०२, अध्याय - ११५, श्लोक – ४२)

सूर्य का प्रकाश उसका परिचय देता है, वायु का वेग, जल की शीतलता, पुष्प की सुगंध, सिंह का पुरुषार्थ, अग्नि की ऊष्मा उसका परिचय देते हैं। ठीक उसी प्रकार आप अपने बारे में कुछ न बोलें, कर्म ही आपका परिचय देंगे !! जीवन एवं मृत्यु दोनों ही देहजन्य विकार हैं जिसका सम्बन्ध आत्मा से नहीं। कर्म ही देहहीन व्यक्ति को जीवित रखते हैं एवं कर्म ही देहयुक्त व्यक्ति को मृत बनाते हैं।

सप्तपद गमन ही सत्पुरुषों के मध्य मित्रता हेतु पर्याप्त होता है मान्यवर !! और सत्पुरुषों की मित्रता शिलालेख की भांति दीर्घकालिक होती है। प्रकाश का विशिष्ट रूप से परावर्तित होना ही आकृति बनाता है। आकृति को ध्वनि ही बदलना ही शब्द का निर्माण करता है। शब्द जब भाव में बदलते हैं तब तात्पर्य एवं अर्थ का सृजन होता है। अर्थ का समूह ही भाषा है और साधना, मन्त्रों एवं पद्धतियों के ज्ञान हेतु उनकी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। संस्कृत के सामान्य ज्ञान से भी लोगों को वंचित किया जा रहा है फिर मन्त्र, विधि एवं उद्देश्य कैसे गम्य होंगे ? ऐसी परिस्थिति कितनी विकट समस्या को जन्म देगी यह कल्पना ही दुर्धर्ष है। दुर्वासा का क्रुद्ध भाव हो या वशिष्ठ की सहिष्णुता, च्यवन का षड्यंत्र हो या भृगु की परीक्षा, वेदव्यास का ज्ञान हो या सत्यकाल जाबाल का वैराग्य, नचिकेता का समर्पण हो या याज का लोभ, व्यक्ति में देहजन्य समस्त भाव एवं उनका क्रियान्वयन मात्र गुणत्रयी के संघात प्रतिघात से ही होता है। हमारे अंदर स्थित काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि दुर्गुण, वृत्ति, इच्छा, भोग, आशा आदि गुण एवं दया, उदारता, विनम्रता, विवेक आदि सद्गुण, समस्त विकार देहयुक्त संस्कारजन्य ही तो हैं। श्रीमज्जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने बड़े जी स्पष्ट शब्दों में समस्त रहस्यों को सूत्रबद्ध किया है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

भावार्थ : हे महाबाहु अर्जुन! सात्विक गुण, राजसिक गुण और तामसिक गुण यह तीनों गुण भौतिक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों के कारण ही अविनाशी जीवात्मा शरीर में बँध जाती हैं। हे निष्पाप अर्जुन! सतोगुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक शुद्ध होने के कारण पाप-कर्मों से जीव को मुक्त करके आत्मा को प्रकाशित करने वाला होता है, जिससे जीव सुख और ज्ञान के अहंकार में बँध जाता है। हे कुन्तीपुत्र! रजोगुण को कामनाओं और लोभ के कारण उत्पन्न हुआ समझ, जिसके कारण शरीरधारी जीव सकाम-कर्मों (फल की आसक्ति) में बँध जाता है।हे भरतवंशी! तमोगुण को शरीर के प्रति मोह के कारण अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझ, जिसके कारण जीव प्रमाद (पागलपन में व्यर्थ के कार्य करने की प्रवृत्ति), आलस्य (आज के कार्य को कल पर टालने की प्रवृत्ति) और निद्रा (अचेत अवस्था में न करने योग्य कार्य करने की प्रवृत्ति) द्वारा बँध जाता है। हे अर्जुन! सतोगुण मनुष्य को सुख में बाँधता है, रजोगुण मनुष्य को सकाम कर्म में बाँधता है और तमोगुण मनुष्य के ज्ञान को ढँक कर प्रमाद में बाँधता है।

हे भरतवंशी अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण के घटने पर सतोगुण बढ़ता है, सतोगुण और रजोगुण के घटने पर तमोगुण बढ़ता है, इसी प्रकार तमोगुण और सतोगुण के घटने पर तमोगुण बढ़ता है। जिस समय इस के शरीर सभी नौ द्वारों (दो आँखे, दो कान, दो नथुने, मुख, गुदा और उपस्थ) में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है, उस समय सतोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! जब रजोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है तब लोभ के उत्पन्न होने कारण फल की इच्छा से कार्यों को करने की प्रवृत्ति और मन की चंचलता के कारण विषय-भोगों को भोगने की अनियन्त्रित इच्छा बढ़ने लगती है। हे कुरुवंशी अर्जुन! जब तमोगुण विशेष बृद्धि को प्राप्त होता है तब अज्ञान रूपी अन्धकार, कर्तव्य-कर्मों को न करने की प्रवृत्ति, पागलपन की अवस्था और मोह के कारण न करने योग्य कार्य करने की प्रवृत्ति बढने लगती हैं।

गुणों के आवरण में बंधा चेतन आत्मरूप को जब कर्म के फलोपभोग की अनुभूति करने लगता है, तब उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। इसके विपरीत गुणसमूहों के प्रभाव से रहित अकर्ताभाव से विद्यमान् चेतन आत्मा कहलाता है। मानवादि की क्या बात !! स्वयं त्रिदेव भी सगुण रूप में इस त्रिगुणप्रपञ्च से रहित नहीं। अन्यथा ब्रह्मा का सरस्वती के प्रति, शिव का मोहिनी के प्रति एवं विष्णु का वृंदा के प्रति अनुचित आसक्ति का भाव उत्पन्न नहीं होता। लक्ष्मी का विष्णु को श्राप देना, सरस्वती का गंगा के प्रति ईर्ष्या भाव रखना, सती का मोहित होना नहीं होता। साकार विग्रह गुणातीत नहीं। अपनी माया का आश्रय लेकर ब्रह्म जब साकार विग्रह धारण करता है तो वह आकार हेतु एक गुण विशेष का भी आश्रय लेता है तथा सगुण संज्ञा से युक्त होकर नानाविध कर्मों में स्वयं को संयोजित करता है। अपने निर्गुण स्वरूप का चिंतन करते समय ही त्रिदेव ब्राह्मी भाव से युक्त होकर गुणाक्षेप का निवारण कर पाते हैं अतएव इनका अधिकांश समय योगनिद्रा में ही व्यतीत होता है।

स एव जीवः प्रकृत्या स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति । अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव इत्युच्यते ॥
(तत्त्वबोध)

ब्रह्मांडपुराण के उत्तरभाग में अंतःकरण, आत्मा, जीव और प्राण, इनको पर्यायवाची बताया गया है। अर्थात् व्यवहार में आत्मा निकल गयी, प्राण चले गए, जीव प्रस्थान कर गया, आदि का अर्थ एक ही माना जाता है। इस सन्दर्भ में निम्न श्लोक प्रमाण है,

जीवः प्राणस्तथा लिङ्गं करणं च चतुष्टयम्। पर्यायवाचकैः शब्दैरेकार्थैः सोऽभिलष्यते ॥

आयुर्वेदसूत्र के तृतीय प्रश्न में "आत्मा जीवः" एक अलग विषय ही है जिसमें आत्मा ही जीव है, यह बताया है।

जीवात्मनाऽन्वितं वीर्यं रजोयुक्तं भवत्यथ। रजोवीर्यात्मभिः सर्वा सृष्टिर्भवति चेतना॥

जब तक शरीर में है, तब तक देहाभिमान से युक्त होकर चेतन जीव कहाता है, बाहर निकलने पर वह आत्मा कहाता है, अथवा जीवात्मा भी कहाता है।

देही, देहाभिमानी जीवः
(मोक्षोपायटीका)
देहरूपकोशात् जीवः आत्मा इव निष्क्रमेत्
(रसरत्नसमुच्चय)
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति।
(योगचूड़ामण्यूपनिषत् एवं गोरक्षशतक)

प्राणादि से युक्त आत्मा की ही जीव संज्ञा है, ऐसा तन्त्र एवं वेदों का वचन है।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में जीव को बार बार मरने और जन्म लेने वाला बताया गया है,

नानायोनिसहस्रेषु जायमानो मुहुर्मुहुः । म्रियमाणो भ्रमत्येष जीवः संसारमण्डले ॥

किन्तु यहाँ देहाभिमान से युक्त, कर्मावरण में मग्न चेतन का, जो स्वयं के ब्रह्मरूप से पृथकतावाद को धारण करता है, उसके बार बार देह परिवर्तन का ही संकेत है। वस्तुतः जब आत्मा स्वयं को देहाभिमान से ग्रस्त जानकर सुखदुःखादि का उपभोग करती है, तब उसे जीव कहते हैं, ऐसा विष्णुधर्मोत्तर पुराण का वचन है।

आत्मा जीवः स्मृतो राम यो भोक्ता सुखदुःखयोः ।

आत्मा और जीव, ये दोनों चेतन की कर्मावरण से मुक्त और युक्त स्थितियों के नाम हैं, सामान्यतः जीवात्मा भी कहते हैं और इन्हें ही वेद में क्षेत्रज्ञ कहा गया है।

जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ॥
(शारीरिकोपनिषत्)
मूलतः और तत्वतः जीव, आत्मा और ब्रह्म में अविभाज्य एकात्मकता है।
एवं ब्रह्मैव जीवात्मा निर्विभागो निरन्तरः।
(योगवाशिष्ठ)
किन्तु जब मैं भिन्न हूँ, यह अहंकार होता है तो वही भिन्न प्रतीत होने लगता है।
अहंकारो हि जीवात्मा
(भविष्यपुराण)

किन्तु इनसे ऊपर उठकर देखें तो परमात्मा हो, जीवात्मा हो अथवा अंतरात्मा हो, बाह्यात्मा हो, ये सब एक ही चेतन की भिन्न स्थितियां हैं, चेतन शाश्वत अविनाशी है, स्थितियां नहीं।

जीवात्मा परमात्मा च ह्यन्तरात्मा ध्रुवोऽव्ययः ॥
(गर्ग संहिता)
योऽहं जीवात्मा तद्ब्रह्म । योऽसौ परमात्मा सोऽहम्॥
(वैखानसगृह्यसूत्र)

अतएव आत्मा, जीव, जीवात्मा और परमात्मा तत्वतः एक ही हैं। ये केवल चेतन की भिन्न स्थितियों के नाम हैं। चेतन जब निर्विकार, निर्गुण, निर्लिप्त, स्वयं के अतिरिक्त अन्य को न देखने वाला, प्रेरकभाव से रहता है तो ब्रह्म अथवा

परमात्मा कहाता है। वही चेतन जब निर्विकार, निर्गुण, निर्लिप्त, स्वयं के अतिरिक्त परमात्मा की स्थिति को देखने और भी उससे स्वयं को अलग न मानने वाला होता है, फलतः कर्मावरण से मुक्त रहता है तो आत्मा कहाता है। वही चेतन जब विकार, गुण, लिप्तता और कर्म के आवरण के कारण स्वयं को परमात्मा की स्थिति से भिन्न मानने वाला होता है, फलतः कर्मावरण से युक्त होता है तो जीव कहाता है। उसी चेतन की जीव और आत्मा, दोनों स्थितियों का सामूहिक बोध कराने के लिए जीवात्मा शब्द का प्रयोग होता है, अतएव उपर्युक्त चारों स्थितिचिन्तन में तत्वतः एक ही चेतन का बोध होता है।

आत्मा च परमेशानि त्रिधारूपं सनातनम्। परमात्मा च बाह्यात्मा जीवात्मेति प्रकीर्तितम्॥
(गणेश तन्त्र)

निर्लेप, निष्कल स्थिति में रहता हुआ जब चेतन मायाशक्ति से बाहर रहते हुए उसका नियंत्रण करता है, तो ब्रह्म कहाता है, उसी स्थिति में रहते हुए भी जब मायाशक्ति के अंदर आ जाता है किन्तु उससे जन्य विकारों के बाहर रहता है, तब बाह्यात्मा अथवा आत्मा कहलाता है और जब मायाशक्ति के साथ साथ उससे जन्य विकारों के भी अंदर आ जाता है तब उसे जीव, जीवात्मा अथवा अंतरात्मा कहते हैं। चेतन की स्थितियों का यह आरोह और अवरोह तपोबल से संतुलित किया जाता है।

इस संसार में किसी भी कर्म को करने का मुख्य उद्देश्य आनंद की प्राप्ति करना है। आनंद की प्राप्ति न हो तो कोई भी उस कर्म को करना नहीं चाहता। यदि परिस्थितियों के कारण करना पड़े तो उस कर्म में उसकी तल्लीनता एवं श्रद्धा नहीं होती। आनंद ही कर्म के प्रति कर्ता को समर्पित बनाता है तथा उसके फल के प्रति आशान्वित। आनंद का अर्थ केवल मनोरंजन, सुख अथवा प्रसन्नता नहीं है। किसी भी प्रकार के बाह्य हस्तक्षेप अथवा तनाव या बल के प्रयोग के बिना जो सहजावस्था है, उसे नंद कहते हैं। नंद की स्थिति जब व्यापक एवं शाश्वत हो जाये तो वह आनंद है।

हमारा मूल स्वरूप आनंद का ही है। क्या तात्पर्य हुआ ? हम किसी अन्य तत्व के द्वारा कलुषित या प्रभावित हुए बिना, अपनी सहजावस्था में कालातीत होकर, समय की सीमा से परे होकर स्थित रहें तो ही हम आनंदित हैं, ऐसा समझना चाहिए। यदि यह अवस्था स्वसंवेद्य है, निरंतर एवं कूटस्थ है, तब तो निरवयव आनंद है किन्तु यदि किसी बाह्य तत्व का इसमें समावेश हो रहा है, कोई परिवर्तन हो रहा है, अथवा इसकी अनुभूति में न्यूनाधिक्य दोष है तो यह सावयव आनंद है। सावयव आनंद शाश्वत नहीं होता। वैसे तो पंचदशी आदि वेदान्तग्रंथों में आनंद के ब्रह्मानंद, योगानंद, चिदानंद आदि अनेक प्रकार बताये गए हैं, अपौरुषेय माहेश्वर तन्त्र में मानवानंद, गन्धर्वानंद, देवानंद आदि भी वर्णित हैं, किन्तु प्रसङ्गविस्तार के भय से यहां हम केवल सावयव आनंद यानी सुख तथा निरवयव आनंद के विषय में चर्चा करेंगे।

आनन्देन च विश्वात्मा परधर्मं समाश्रितः। अनुक्तैरपि भूतैश्च संवृतो लोककृत्स्वयम्॥
(नारद पुराण)

परब्रह्म, जो कि सम्पूर्ण विश्व की आत्मा हैं, वह परधर्म का आश्रय लेकर भूत जगत के द्वारा अनुक्त रहकर स्वयं लोकों की रचना करके उसमें व्याप्त रहते हैं। इसमें उद्देश्य क्या है ? आनंद ही उद्देश्य है। ब्रह्म के लिए परधर्म क्या है ? जिसे धारण किया जाए वह धर्म है। परधर्म का अर्थ, दूसरे का धर्म। ब्रह्म की अभिव्यक्ति दूसरे किस रूप में हो सकती है ?

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
(श्रीमद्भगवद्गीता)
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(श्रीमद्भगवद्गीता)
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।
(श्रीमद्भगवद्गीता)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

जीव, प्रकृति और पुरुष, तीनों ही अनादि हैं। इसके अतिरिक्त औपनिषदिक श्रुति से, भोक्ता-भोग्यं-प्रेरितारं च मत्वा आदि उक्तियों से भी हम कह सकते हैं कि प्रेरितार ब्रह्म की अभिव्यक्ति अन्य प्रारूपों में प्रकृति अथवा आत्मा के माध्यम से भी हो सकती है। प्रकृति का धर्म क्या है ? प्रकृति का धर्म है, गुणों के विक्षेप से उत्पन्न विकार को धारण करना। यही विकार संसार कहलाता है। प्रकृति के धर्म को धारण करना, स्वयं को ब्रह्म के अतिरिक्त आत्मा के रूप में भी प्रकाशित करना, यही ब्रह्म के लिए परधर्म है। इसका अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ है कि संसार की रचना हेतु दो बातें आवश्यक हैं। पहला कि, ब्रह्म निजात्मशक्ति प्रकृति के रूप से विकार अर्थात् संसार की रचना करे और फिर उसके उपभोग के लिए आत्मतत्व को जीवरूप में प्रकाशित करे। आद्यशंकराचार्य जी ने भी शिवः शक्त्या युक्तो... में यही बात कही है।आनंद की प्राप्ति में बाधक क्या है ? इच्छा करना बाधक है। इच्छा की पूर्णता से सुख अवश्य होता है किंतु वह सुख, आनंद का एक बहुत ही छोटा अंश है। इच्छा की पूर्ति न होने पर क्रोध होता है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
(श्रीमद्भगवद्गीता)
आनन्दस्य विरुद्धत्वात्कामक्रोधादयो गुणाः।
(गरुड़ पुराण)

इसका अर्थ है कि कामना का अंत सुख और क्रोध दोनों के रूप में हो सकता है, इसीलिए वह आनंद का निश्चित माध्यम नहीं हो सकती। काम-क्रोधादि लक्षण आनंद के विरुद्ध ही ले जाते हैं। यह केवल सावयव आनंद के लिए ही है। क्योंकि सावयव आनंद न्यूनाधिक्य दोष से युक्त होता है। कामना की आशा के अनुरूप पूर्ति होने पर आधिक्य एवं

विपरीत होने पर न्यून्यता परिलक्षित होती है अतएव काम तथा क्रोध सावयव आनंद पर ही अपना प्रभाव दिखा सकते हैं, आशातीत निरवयव आनंद पर नहीं।

जीवनं सर्वभूतानां यत्र लोकः प्रलीयते । आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत्पश्यंति मुमुक्षवः।

तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम्॥
(पद्मपुराण)

सभी जीवों का प्रादुर्भाव ब्रह्मपद से ही हुआ है और कार्य का संवरण कारण में हो जाने से सभी लोकों का, जीवों का विलय भी ब्रह्मपद में ही हो जाता है। उसी स्थिति को आनंद कहते हैं। यह निरवयव आनंद है। इसे किसी बाह्य कारक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इसमें शेष सभी कारकों का भी लय हो जाता है।

आनन्दस्य ततोन्यस्य न परात्मतया खलु। ब्रह्मवित्परमाप्नोति ...
(शिवरहस्य, ऋभु गीता)

उसी सूक्ष्म पद का मोक्ष की कामना वाले साधकगण अवलोकन करते हैं, जिस स्थिति में ज्ञानबल से ज्ञेय ब्रह्म निहित होता है। आनन्दरूपी ब्रह्म से ही समस्त जीवजगत् का सृजन होता है, उसी में जीवजगत् की स्थिति भी है, अर्थात् उसी की प्राप्ति हेतु सभी जन शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं तथा उसी की अभिलाषा में संहृत भी हो जाते हैं।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।
(तैत्तिरीयोपनिषत्)

आनंद के ही कारण प्राणियों का उद्भव होता है, उसी के कारण स्थिति भी होती है तथा उसी के कारण मृत्यु भी हो जाती है। किन्तु क्या इसकी प्राप्ति हो पाती है ? आनंद के ही कारण तो लोग सन्तानोत्पत्ति करते हैं, आनंद के ही कारण पोषण भी करते हैं, मर भी जाते हैं। किंतु आनंद की प्राप्ति नहीं हो पाती है। इस चक्र से जो रक्षा करता है, वह परम् पति, रक्षक, स्वामी स्वयं आनन्दरूपी ब्रह्म ही है। उस आनन्दरूपी ब्रह्म की स्थिति में ही योगीजन रहते हैं तथा उस सर्वोच्च स्वामी की आराधना ही पातिव्रत्य है।

आनंद और सुख में अंतर क्या है ? जब हम शास्त्रीय दृष्टि से केवल आनंद कहते हैं तो निरवयव आनंद का संकेत होना चाहिए। जब है केवल सुख कहते हैं तो सावयव आनंद समझना चाहिए। आनंद समष्टि है और सुख व्यष्टि है। आनंद यदि समुद्र है तो सुख एक लोटा है। लोटे के आकार प्रकार के आधार पर जल का गुणावगुण बदलता रहता है, किन्तु

समुद्र लोटे के सापेक्ष कूटस्थ है। आनंद सूर्य है तथा सुख दीपक है। सुख के लिए कारण चाहिए, निमित्त चाहिए। इसे हम सावयव आनंद भी कह सकते हैं किंतु निरवयव आनंद अनपेक्ष होता है। दीपक को प्रकाशित होने के लिए अन्य तत्वों की अपेक्षा करनी पड़ती है, सूर्य अनपेक्ष है।

आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम् ।
(कठरुद्रोपनिषत्)

वेदों का वचन है कि सुख, जब (निरवयव) आनंद से युक्त हो जाता है तो वह ज्ञानयुक्त हो जाता है एवं पूर्ण हो जाता है। सुख तो सावयव आनंद है, आशान्वित है, अपेक्षित है। इसीलिए अपूर्ण है, परिवर्तनशील है। अवयव कैसे बनेंगे ? विकार से। विकार कैसे बनेंगे ? प्रकृति से। प्रकृति अपनी किस शक्ति से विकारों को बनाती है ? त्रिगुणात्मिका शक्ति से। इसीलिए सुख में, अथवा सावयव आनंद में तीनों गुणों का प्रभुत्व रहता है। इसे श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान् ने त्रिभेद सुख के नाम से बताया है। किन्तु तीनों गुणों का स्वभाव परिवर्तनीय है, और ज्ञान तो शाश्वत है। इसीलिए सावयव आनंद अथवा सुख अज्ञानता से आवृत्त होता है, फलतः काम क्रोधादि बाधकों के प्रभाव में भी आ जाता है। वह जब निरवयव आनंद से जुड़ता है, तब सभी आशाओं का शमन हो जाता है, इसी के साथ अपेक्षाओं का भी शमन हो जाता है, फलतः अपेक्षाओं की पूर्ति की कामना, एवं उनके विपरीत फल से उत्पन्न होने वाले क्रोध का भी नाश हो जाता है। देह को सावयव आनंद सुख देने वाला काम भी विष्णु भगवान् का ही अंश जानना चाहिए क्योंकि उसी के कारण इस संसार में निरंतरता बनी रहती है।

कामो मूर्तिर्हरेर्बोध्या देह्यानन्दसुखप्रदा। आनन्दो ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मदृष्ट्या न बन्धकृत् ॥

किन्तु इसका सेवन मात्र लोकधर्म के निर्वाह हेतु करना चाहिए। आनंद को ब्रह्मरूप जानकर कर्म करने वाले को बंधन में नहीं फंसना पड़ता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा, धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। आकाश को व्योम भी कहते हैं, क्योंकि यह अनंत है, सबकुछ समाहित कर सकता है। ब्रह्म भी अनंत है, सबकुछ समाहित कर सकता है, साथ ही आकाश को भी धारण करता है, इसीलिए उसे परमव्योम कहते हैं। अक्षर जीवात्मा से भी जो श्रेष्ठ स्थिति पर है, अत्यंत गुप्त भाव से स्थित रहता है, किन्तु सदैव उदित रहता है। अब दोनों एक साथ कैसे सम्भव है ? जैसे आपके अंदर जो प्राण शक्ति है, वह गुप्त ही तो है, इसीलिए अन्य जन उस शक्ति को देख या सुन नहीं सकते किंतु वह गुप्त होने पर भी उदित रहती है इसीलिए आपको जीवित कहा जाता है, तदनुसार व्यवहार भी किया जाता है। उसी अनंत, गुप्त, सर्वदा उदित ब्रह्म की स्थिति आनंद की है।

यमक्षरात्परतरात्परं प्राहुर्गुहाश्रयम्।
आनन्दं परमं व्योम स वै नारायण स्मृतः। नित्योदितो निर्विकल्पो नित्यानन्दो निरञ्जनः॥
(कूर्मपुराण)

आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्।
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

यह आनन्दरूपी ब्रह्म आत्मा के रूप में सबों के अंदर निवास करता है। निरवयव आनंद की प्राप्ति होने पर अन्तःस्थित आत्मरूप परमात्मा की भी प्राप्ति हो जाती है। जीव सदैव सावयव आनंद के पीछे भागता है जबकि आत्मा निरवयव आनंद का पक्षधर है। जीव और आत्मा को अलग अलग समझना, आत्मा परिणामी द्रव्यमस्ति, जीवः अस्तिकायस्वरुपो भवति, ये सब नास्तिकमत वाले जैन दर्शन का सिद्धांत है। आस्तिक मत वाले जीव को ही आत्मा कहते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः
(श्रीमद्भगवद्गीता)
स जीवः सोऽन्तरात्मेति गीयते तत्त्वचिन्तकैः।
(कूर्मपुराण)

मेरा (ब्रह्म का) अविनाशी अंश ही जीव है, ऐसी भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति है। तत्वचिंतन करने वाले जन जीव को ही अंतरात्मा कहते हैं। हां, एक बात कह सकते हैं कि अविद्या, क्लेश, कर्मावरण युक्त होने पर चेतन जीव कहाता है और मुक्त होने पर आत्मा। किन्तु है दोनों एक ही चेतन। स्थिति भेद है, तत्वभेद नहीं। यह बात ऐसे सिद्ध होती है।

क्लेशकर्मविपाकाशयो जीवः । क्लिश्यन्त इति क्लेशाः अविद्यादयः ।
(आयुर्वेदसूत्र)
अविद्याकार्यभूतबुद्ध्युपहितं बुद्वितादात्म्यापत्रं चैतन्यं जीवः ।
(काठकोपनिषत्)
जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च । आत्मनः प्रतिबिम्बं च देही जीवः स एव च ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

जीव को अपने कर्मफल का उपभोग करना पड़ता है, आत्मा को नहीं। देह में स्थित जीव, आत्मा का प्रतिबिंब ही है। तात्पर्य क्या है ? जब चेतन शरीर के अंदर है, अविद्या के, गुणों के आवरण के अंदर है, तब वह जीव है। बाहर निकलने पर आत्मा है।

जीवस्तु गुणसंयुक्तः भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ।
(उद्धवगीता)

लेकिन यह तत्वचिंतन नहीं है, यह स्थितिचिन्तन है। तत्वचिंतक कहता है, जीव और आत्मा एक है, स्थितिचिंतक कहता है कि एक तो है किंतु स्थितिभेद से अलग अलग स्वभाव वाले दिखते हैं।

स जीव एवेश्वरचित्स आत्मा
(योगवाशिष्ठ)
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥
(गौड़पादकारिका)
प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः
(सिद्धांतलेशसङ्ग्रह)
अयमात्मा जीवः प्रत्यङ्-आत्मा जीवः इत्यर्थः
(अलङ्कारमणिहार)

सभी तत्वों में बढ़कर जो आत्मा है, वही जीव है जो आकाश की भांति सबके ऊपर प्रकाशित है। आत्मा ईश्वर का बिम्ब है, वैसे ही जीव भी है, इसीलिए जीव और आत्मा एक ही है। अब कौन जीव है और कौन आत्मा ? जब चेतन स्वयं को ईश्वर से भिन्न देखने लगता है तक जीव है और कर्मफल भोगता है, जिस समय अविद्यात्मिका मायाप्रकृति की प्रधानता होती है। इसी समय वह भौतिक भोगोपभोग की स्थिति में भी होता है। जब ब्रह्म के साथ एक देखने लगता है तो आत्मा है और निर्लिप्त रहता है, इस समय अविद्यात्मिका परमाप्रकृति की प्रधानता होती है , इस समय सात्विकादि गुणों वे सावयव आनंद की स्थिति में होता है। और, जब द्रष्टा एवं दृश्य दोनों में एकरूपता हो जाती है तो आत्मा और परमात्मा का भेद ही नहीं रहता, फिर वहां विद्यात्मिका प्रकृति की प्रधानता हो जाती है एवं निरवयव आनंद की स्थिति आ जाती है। यह तत्त्वबोध धीरे धीरे तपोमय जीवन के माध्यम से हो जाता है।

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा॥
(रामचरितमानस)

तप के बल से ही ब्रह्मा संसार को रचते हैं और तप के बल से ही विष्णु सारे जगत का पालन करते हैं। तप के बल से ही शम्भु (रुद्र रूप से) जगत का संहार करते हैं और तप के बल से ही शेषजी पृथ्वी का भार धारण करते हैं। तपस्या क्या है ? अपने स्वार्थ का, सावयव आनंद का परित्याग करके अन्य के सुखों की सिद्धि हेतु प्रयत्न तपस्या है। यदि अन्याश्रित कर्तव्य की स्थिति न हो, तो स्वयं को अंतरात्मा से बाह्यात्मा और बाह्यात्मा से परमात्मा की स्थिति में ले जाने का उपक्रम तपस्या है।

तपस्येव स्थितो ब्रह्मा नित्यं विष्णुरहं तथा। त्वं तथा देवि येनाहं प्राप्तो भर्ता सुदुर्लभः॥
(सिद्धशंकर तन्त्र, चतुर्थ पटल, ईशान कल्प)

शिव जी कहते हैं, तपस्या में ही ब्रह्मा की स्थिति है। विष्णु तथा मैं भी तपस्या में ही निवास करते हैं। और हे देवि !

तुमने भी तो मुझ जैसे अत्यंत दुर्लभ पति को तपोबल से ही प्राप्त किया है।

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्। हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया॥
(शिव संहिता)

अपने अंदर विराजमान शिव तत्व की उपेक्षा करके जो बाहर बाहर ही पूजन करता है, वह हाथों में धरा हुआ भोजन छोड़कर मानो इधर उधर जीवित रहने के लिए भोजन खोजता है। तपस्या में केवल भूखे रहना, जप करना, ध्यान करना आदि ही नहीं है। आपका प्रत्येक आचरण, आपका प्रत्येक विचार आपको तपस्या करने का अवसर देता है।

यः पुत्रोगुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा। सर्वं सोऽर्हति कल्याणं कनीयानपि स प्रभुः॥
(मत्स्यपुराण)

जो पुत्र सद्गुणों से युक्त होकर अपने माता पिता को प्रिय लगने वाला कार्य करता है, वह वंश में छोटा होने पर भी कल्याण को प्राप्त कर लेता है। कल्याण ही तो तपस्या का सर्वोच्च फल है, इसीलिए कर्तव्यपरायणता को भी शास्त्रों में तपस्या के नाम से बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में, सिद्धशंकर तन्त्र में, श्रीमद्भागवत आदि में भी गुणभेदतः तथा सम्पदाभेदतः तपस्या के भी अनेक भेद बताये गए हैं।

तपसा मोक्षमाप्नोति तपसा विन्दते महत् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पत्तिः सौभाग्यं रूपमेव च । नानाविधानि वस्तूनि तपसा लभते नरः॥
(शिवपुराण)

मनुष्य यदि विधिपूर्वक तपस्या का आश्रय ले तो वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, (अथवा यदि मोक्षकाम न हो तो) महानता को भी प्राप्त करता है, ज्ञान-विज्ञान, सम्पत्ति, सौभाग्य एवं सुंदरता को भी तपस्या से प्राप्त कर लेता है। और भी जो कुछ मनोकामना हो, उसे मनुष्य तपस्या से प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक वस्तु, कर्म एवं उद्देश्य की सार्थकता उसके देश, काल एवं स्थिति के अनुसार ही होती है। इसीलिए रावण एवं अंधकासुर के द्वारा की गई हज़ारों लाखों वर्षों की तपस्या लोककल्याण में सिद्ध न हुई, किन्तु ध्रुव की छः महीने की तपस्या एवं पाणिनि की अट्ठाईस दिनों की ही तपस्या समस्त लोकों के लिए हितकारिणी हुई।

--*

कन्यादान क्या है तथा उसके घर का पानी क्यों नहीं पीते ?

भौतिक रूप से तो स्त्री और पुरुष मानव के भेदद्वय हैं। रजोदर्शन पूर्व की कन्या संज्ञा अवश्य है, परंतु पूजन में किसी के मत से 10 वर्ष तक ही कन्या कहाती है। और कोई कोई षोडश वर्ष पर्यन्त कन्या मानते हैं। अन्य कहते हैं कि विवाह में कन्यादान होता है अतः अविवाहिता की कन्या संज्ञा है। विवाह के बाद भामा, स्त्री आदि कह सकते हैं। संतति के बाद स्त्री नहीं, माता संज्ञा है। जहां जो कार्य कर रहे हों उसके अनुसार अर्थ एवं भाव ग्रहण करें।

प्रथम कन्यादान प्रजापति ने किया। इसलिये मम व्रते ते हृदयं दधामि ... श्लोक, जो नारी और पुरुष के दो भिन्न व्यक्तित्वों के एकीकरण का निमित्त है, वहां योजक के रूप में प्रजापति को ही श्रेय दिया गया है। पुरुष क्षेत्रपति है, और नारी क्षेत्र। बिना किसान के भी भूमि में स्वतंत्र उत्पादन की क्षमता है। कई घास, फूल, वृक्ष, वनस्पति आदि बिना कृषक के ही उद्भूत होते हैं। परन्तु क्षेत्रपति बिना क्षेत्र के अपने ऊपर उत्पादन नहीं कर सकता। श्रीमद्बृहद्धर्मोपपुराण के अनुसार नव निर्माण की क्षमता होने से नारी को बहुत से मामलों में पुरुष से श्रेष्ठ बताया गया है।

दान हमेशा याचक को दिया जाता है। दान श्रेष्ठ तत्व का किया जाता है। याचक हमेशा तत्व से छोटा होता है। अज्ञानी जब ज्ञान की याचना करता है तो वह ज्ञान से छोटा होता है। भूखे और प्यासे व्यक्ति का स्थान अन्न एवं जल से निम्न है। अतः दान कन्या का होता है और याचक वर या उसका प्रतिनिधि उस समय छोटा होता है। हालांकि कालांतर में कन्या पक्ष को छोटा कहने की कुप्रथा चल गई, लेकिन नीति ने सदैव दाता को याचक से श्रेष्ठ बताया है। इस भाव को वही समझ सकता है जिसने कभी राजा दशरथ और राजा जनक के सम्बंध, विचार एवं व्यवहार पर चिंतन किया हो।

जो गुप्त रखे, वह गुह्य है। जो गुप्त रखने के साथ साथ वृद्धि करे, वह उदर या गर्भ है। उदर का अर्थ यह नहीं कि केवल अंतड़ियों एवं गर्भाशय की ही उपस्थिति हो। वह संग्रहण, जो गोप्य एवं वर्धक हो, उदर या गर्भ कहलाता है। इसीलिए कहते हैं, पृथ्वी रत्नगर्भा है। गीता जी में कहा श्रीभगवान् ने , तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं... पोषणकारी संग्रहण भी उदर ही है। काल को महागर्भ कहा गया है। एक ही पिता से पोषित सभी सन्तानें इस नियम से सहोदर हैं। एक ही माता के भौतिक गर्भ से उद्भूत सन्तानें सहोदर हैं। इतना ही नहीं, एक ही स्वामी या गुरु से पोषित एवं शिक्षित भृत्य शिष्यादि भी सहोदर ही हैं। यहाँ तक कि विश्वजननी वसुंधरा से पोषित होने वाले सभी जीव सहोदर हैं। भिन्न सन्दर्भों में भिन्न परिभाषा से भिन्न भाव निःसृत होते हैं।

आचार्यश्री कौशलेन्द्रकृष्णः :- कन्यादानकर्ता कन्या के घर भोजन कर सकता है वा नहीं? प्रभु ! शास्त्रीय प्रमाण प्राप्त हो तो कृपया प्रकाशित करें।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

श्रीभागवतानंद गुरु :- कन्यादानकर्ता अथवा उसके परिजन भी (कहीं कहीं तो पूरे गांव वाले भी, सहृदयता से) कन्या के ससुराल में भोजन नहीं करते। दान में दी हुई कन्या और उसके अधिकार की वस्तुओं का उपभोग दानकर्ता नहीं कर सकता। किन्तु कन्या के संतानवती होने के बाद भोजन आदि करते हैं।

दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्त्रवदिति मनुः ॥

दौहित्र अर्थात् पुत्री का पुत्र भी व्यक्तियों का उद्धार करता है, उसी प्रकार पौत्र अर्थात् पुत्र का पुत्र भी करता है, ऐसा मनु का वचन है।

कन्यायां ब्रह्मदेयायामभुञ्जन् सुखमश्नुते । अथ भुञ्जति यो मोहात् भुक्त्वा स नरकं व्रजेत् ॥
अप्रजायाञ्च कन्यायां न भुञ्जीयात् कदाचन । दौहित्रस्य मुखं दृष्ट्वा किमर्थमनुशोचसि ॥
महासत्त्वसमाकीर्णात् नास्ति ते नरकाद्भयम् । तीर्णस्त्वं सर्व्वदुःखेभ्यः परं स्वर्गमवाप्स्यसि ॥
दौहित्रस्य तु दानेन नन्दन्ति पितरः सदा । यत्किञ्चित् कुरुते दानं तदानन्त्याय कल्प्यते ॥
मातुः पितुश्च विज्ञेयं तच्छुभस्याभिगामिनः । मातुः पितुर्हिरण्यस्य दौहित्रोऽर्द्धमवाप्नुते ॥
(आद्यवह्निपुराण, कन्यादाननामाध्यायः)

दौहित्र के उत्पन्न हुए बिना जो अपनी कन्या के ससुराल में भोजन करता है, वह मूर्ख घोर नरक में पड़ता है। दौहित्र के उत्पन्न होने पर पितर सुखी होते हैं, कोई दुःख नहीं रहता और फिर कन्या के पिता आदि उसके ससुराल में भोजन भी कर सकते हैं। दौहित्र (पुत्री के पुत्र) का अपने नाना की सम्पत्ति आदि में आधा अधिकार भी निश्चित होता है।

प्रश्नकर्ता :- संत किसे कहते हैं ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- ब्राह्मणाः श्रुतिशब्दाश्च देवानां व्यक्तमूर्तयः। सम्पूज्या ब्रह्मणा ह्येतास्तेन सन्तः प्रचक्षते॥

ब्राह्मण ग्रंथ और वेदों के शब्द, ये देवताओं की निर्देशिका मूर्तियां हैं। जिनके अंतःकरण में इनके और ब्रह्म का संयोग बना रहता है, वह सन्त कहलाते हैं। मत्स्यपुराण, वायुपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार यह परिभाषा सिद्ध होती है।

--*

पूर्वजों के वैज्ञानिक आविष्कार

हमारे महाभारत में वर्णन है कि दानवराज मय ने अपने वास्तु कौशल से महाराज युधिष्ठिर के लिए एक ऐसा महल बनाया, जिसमें जल के स्थान पर स्थल तथा स्थल के स्थान पर जल का भ्रम हो जाता था। इस बात पर पश्चिम ने हमारा उपहास किया और आज जाकर वे थ्रीडी फ्लोरिंग के नाम पर पूरी दुनिया को वही बेच रहे हैं, जो हमारे पास पांच हज़ार वर्ष पहले से था। हमारे महाभारत में वर्णन है कि कौरवों का जन्म एक मांसखण्ड के रूप में हुआ था जिसके बाद उन्हें विभाजित कर विशेष औषधि से युक्त घड़ों में रख दिया गया, फलतः उनके देह का अग्रिम निर्माण हुआ। इस बात पर पश्चिम ने हमारा उपहास किया और आज जाकर वे टेस्ट ट्यूब बेबी के नाम पर पूरी दुनिया को वही बेच रहे हैं, जो हमारे पास पांच हज़ार वर्ष पहले से था। हमारे महाभारत में वर्णन है कि मन्त्रिवर संजय एक ही स्थान पर बैठे हुए पूरे युद्ध के घटनाक्रम को देख कर यथावत् वर्णन कर रहे थे। इस बात पर पश्चिम ने हमारा उपहास किया और आज जाकर वे इंस्टेंट वीडियो कॉलिंग के नाम पर पूरी दुनिया को वही बेच रहे हैं, जो हमारे पास पांच हज़ार वर्ष पहले से था। हमारे महाभारत में वर्णन है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने जयद्रथ वध में अर्जुन की सहायता हेतु सूर्यास्त का भ्रामक दृश्य प्रस्तुत कर दिया था। इस बात पर पश्चिम ने हमारा उपहास किया और आज जाकर वे थ्री डी होलोग्राम इफेक्ट्स के नाम पर पूरी दुनिया को वही बेच रहे हैं, जो हमारे पास पांच हज़ार वर्ष पहले से था।

हमारे महाभारत में वर्णन है कि लाक्षागृह से सुरंग के माध्यम से बाहर निकलने के बाद नदी पार करने के लिए महामना विदुर जी की ओर से पांडवों के लिए चालक रहित, स्वचालित जलयान की व्यवस्था की गई थी। इस बात पर पश्चिम ने हमारा उपहास किया और आज जाकर वे ऑटोमेटिक ड्राइवरलेस मोटरबोट के नाम पर पूरी दुनिया को वही बेच रहे हैं, जो हमारे पास पांच हज़ार वर्ष पहले से था। सार यही है कि हमारे सभी धर्मग्रंथों में वास्तविक इतिहास, कल्याणप्रद विज्ञान और अद्भुत सामाजिक व्यवस्था आदि भौतिक विषयों के साथ साथ अपने उद्धार हेतु पारमार्थिक तपोमय मोक्षमार्ग का भी प्रदर्शन किया गया है। हमारे यहां धर्म किसी काल्पनिक धारणा या अंधविश्वास का नहीं, एक सम्पूर्ण अस्तित्व का नाम है, जिससे हमारी संस्कृति, अर्थव्यवस्था, विज्ञान, युद्ध, शिक्षा, तकनीक, चिकित्सा, सत्ता, कला, परिवहन, स्वच्छता, उदारता, मानवाधिकार, नारी उत्थान, सब कुछ संलग्न है। आपका वर्तमान भी उतना वर्तमान नहीं है। आप 80 मिलिसेकंड अतीत में ही जीते हैं। घटी घटनाओं को देखने में नेत्रों और मस्तिष्क के बीच घटित क्रिया में आप 80 मिलिसेकंड बाद घटनाओं को देखते हैं। आपके इतिहास की महानता, ग्रंथों के पालन से थी, आपके भविष्य की महानता भी ग्रंथों के पालन से ही सम्भव है क्योंकि आपका इतिहास भी किसी काल में किसी का भविष्य था। हमारे ग्रंथ कालातीत हैं, धर्म तथा धर्मग्रंथों की कूटस्थता उनके प्रभाव को सार्वकालिक बनाती है।

--*

स्मार्त क्या हैं ?

कुछ दिनों से एक विवाद बहुत ही प्रसिद्ध हो रहा है, स्मार्त और सम्प्रदायगत आराधना। कुछ लोग अपने नाम के आगे स्मार्त संज्ञा भी लगा रहे हैं और कुछ उनका विरोध करते रहे हैं। यह केवल शाब्दिक मायाजाल है। उदाहरण के लिए :- एक ही देवता है, हिरण्यगर्भ तेज। जब वह निकट होता है तो अग्नि कहाता है और जब दूर होता है तो सूर्य। एक प्रकार से निकटवर्ती सूर्य ही अग्नि हैं और दूरस्थ अग्नि ही सूर्य है। यही सम्बन्ध स्मृति और सम्प्रदाय प्रवर्तित आगम में है। शाब्दिक मायाजाल का एक और उदाहरण देखिए, भगवान् परशुराम जी अक्षुण्ण ब्रह्मचारी हैं, ये सभी जानते हैं। किंतु,

यदा तु भार्गवो रामस्तदाभूद्धरणी त्वियम्॥
(विष्णुपुराण, प्रथम अंश, नवम अध्याय, १४१)

विष्णु पुराण के अनुसार धरणी उनकी पत्नी का नाम है। लेकिन धरणी यहां पृथ्वी देवी का नाम है। विवाह जैसी कोई बात नहीं है, क्षत्रियों के हाथ से भूमि का नियंत्रण छीन लेने के बाद वे अखंड पृथ्वीमण्डल के स्वामी हो गए थे इसीलिए उन्हें धरणी का पति कहा जाता है, वैसे वे ब्रह्मचारी ही हैं। एक और संबंधित उदाहरण देखें। श्रीसूक्त ऋग्वैदिक है। लेकिन तन्त्र में उसके बड़े प्रयोग हैं। कर्मकांड के सभी सूक्त ऐसे ही हैं। दार्शनिक सूक्तों का व्यापक प्रयोग और अर्थ कर्मकांड सम्बन्धी है। मेरे ब्रह्मलीन गुरु ने, कुछ शिष्यों को श्रीसूक्त के प्रथम ढाई ऋचाओं को व्याख्यायुक्त करके पारद विज्ञान और स्वर्ण निर्माण की विधि बताई थी। ऐसे ही तंत्रमार्ग के कई मंत्रों की विधि और निर्देश अथर्ववेद में और उपनिषदों में मिलते हैं।

आत्मा जब माया से आवरण से अलग हो जाता है, तभी अकर्ता रहता है। आवरण युक्त होने पर तो वही कर्ता है। जैसे आप जब ऑफिस में रहते हैं तो काम करते हैं, और जब नहीं रहते तो नहीं करते हैं। कर्ता तो चेतन ही हो सकता है किंतु कार्य हेतु माया रूपी उसकी आत्मशक्ति चाहिए। इसीलिए वह आत्मशक्ति से युक्त होकर देहादि अधिष्ठान से कार्य करता है और जब माया के आवरण से रहित होकर ब्रह्मरूप में रहता है तो अकर्ता रहता है। आत्मा हर समय अकर्ता अभोक्ता है क्योंकि ये उसका मूल स्वभाव है। जैसे कपड़े पहनना आपके देह के लिए मूलतः आवश्यक नहीं है। वो आपके अस्तित्व का मूल अंग नहीं, इसीलिए नंगे पैदा होते हैं।

अंतःकरण और महत्तत्व के कारण माया का जो आवरण बनता है, उसके आवरण ये युक्त होकर आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है। जैसे आप नानाविध रंग रूप के वस्त्र पहनते हैं, और उसी के अनुरूप कार्य भी करते हैं। काम आपको ही करना है, क्योंकि आप ही चेतन हैं। जड़ तत्व कार्य करने में समर्थ है ही नहीं, वह चेतन की शक्ति से क्रियाशील होता है। पुनः आप तो मूल रूप में अकर्ता हैं, किन्तु अलग अलग कामों को अलग अलग कपड़े हैं, मान लें कि यूनिफॉर्म।

पुलिस का काम करना हो तो पुलिस का, डॉक्टर के समय डॉक्टर का, वकालत के समय वकील का आदि आदि। यदि आप हर समय कर्ता होते तो हर समय तद्वत् काम करते। किन्तु आपका कार्य यूनिफॉर्म के साथ जुड़ा हुआ है। यूनिफॉर्म रूपी आवरण से जुड़े, ऑफिस गए तो कर्म किये, न जुड़े, ऑफिस न गए, तो मूल रूप में स्थित रहे, अकर्ता रहे।

इसीलिए भले ही चेतन की शक्ति से ही काम होना है, इसीलिए एक दृग्सिद्धान्त से वह कर्ता हुआ। किन्तु वह स्वाभाविक रूप से कर्ताभाव से रहित है, वह तो अपने आवरण के अनुसार कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, इसीलिए अन्तःकरण वाला आवरण ही मुख्य कारक हुआ, क्योंकि उससे युक्त आत्मा में ही कर्ताभाव आता है, इसीलिए एक दृग्सिद्धान्त से आत्मा अकर्ता भी हुआ। किन्तु ये युति शाश्वत नहीं, इसीलिए यह आत्मा के मूलरूप में परिवर्तन नहीं करती, अपितु नानाविध आवरण, यूनिफॉर्म से नानाविध कर्मों को अनुसार उसकी प्रतीति कराती है। जहां आत्मा को कर्ता और भोक्ता कहा गया है, वहां उसके कर्ताभाव और भोक्ताभाव से युक्त होने की बात है, जो अंतःकरण के आवरण से युक्त होने और प्रतीत होती है। मूल रूप में आत्मा अकर्ता और अभोक्ता ही है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

जो व्यक्ति मूर्ख है, अश्रद्धालु है, या संशयात्मा है, अथवा इन तीनों में कुछ भी है, उसका विनाश शीघ्र होता है। इस लोक या परलोक में भी सन्देहात्मक चिंतन वाले व्यक्ति के लिए सुख नहीं है। जीवत्व की स्थिति में चेतन कार्याभिमान से युक्त हो जाता है इसीलिए कर्ता भाव का रोपण उसमें हो जाता है। ब्रह्मत्व की स्थिति में उस कार्यभेदजनक अभिमान का नाश हो जाता है इसीलिए वह अकर्ता है। ब्रह्म और उनकी अभिन्नतद्रूपता की शक्ति माया, अथवा शिव-शक्ति, प्रकृति-पुरुष, अथवा उन्हें चेतन एवं चितिशक्ति कहें, इसके मध्य दो प्रकार के सम्बंध हैं। जब यहां शक्तितत्त्व शिवतत्व को बाहरी भाव से आवृत्त करके रहती है जो चेतन की जीव संज्ञा हो जाता है, और जब उसी की वह शक्ति अंदर में समाहित रहती हैं, तो उस चेतन की ब्रह्म संज्ञा होती हैं। ब्रह्म और जीव हैं एक ही चेतन, किन्तु उनकी ही शक्ति माया के स्थानबद्ध स्थिति से उस चेतन की ब्रह्म और जीव संज्ञा होती रहती है।

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार से भगवान् की आराधना होती है वैदिक और तांत्रिक यानी निगम और आगम। मिश्र पद्धति है। ऐसे ही देवी पुराण, शिव पुराण, साम्ब पुराण, गणेश पुराण आदि के अनुसार दुर्गा, शिव, सूर्य, गणपति आदि की भी वैदिक और तांत्रिक पूजा का वर्णन है। इसमें भी केवल श्रुतिसम्मत तंत्रमार्ग के ही अनुसरण की बात है। श्रुतिविरुद्ध असदागम शिव एवं शिवा के वचन से त्याज्य हैं। श्रुतिसम्मत मार्ग का ही प्रदर्शन स्मृति करते हैं तथा श्रुति और तन्त्रमार्ग का सम्मिलित प्रदर्शन पुराण आदि करते हैं। सभी उत्तम हैं अपने मूल रूप में, किन्तु वैदिक सबसे उत्तम है क्योंकि वेदविरुद्ध और वेदबाह्य कर्म के लिए स्वयं शिव और देवी ने मना किया है। इसीलिए सन्ध्या भी

दो प्रकार की है, तांत्रिक भी है और वैदिक भी है। ब्रह्मा, अग्नि और वरुण, इन तीन देवताओं ने और वशिष्ठ, विश्वामित्र एवं शुक्राचार्य, इन तीन ऋषियों ने श्राप दिया है। इसी का शाप विमोचन होता है। कहीं कहीं अगस्त्य, गौतम, शुक्र, अग्नि एवं वरुण के श्राप का भी वर्णन है।

शापयुक्ता तु गायत्री सफला न कदाचन। शापादुत्तारिता सा तु भुक्तिमुक्तिफलप्रदा॥

शापयुक्ता गायत्री कभी सफलता नहीं देती है। शाप से निकाली हुई गायत्री ही भुक्ति और मुक्ति का फल देती है, ऐसा विश्वामित्र का वचन है। वैदिक संध्या ही पुराणों में भी वर्णित है, इसका अधिकार केवल यज्ञोपवीत वाले द्विजाति को ही है, जबकि तांत्रिक सन्ध्या चारों वर्णों के लिए है। जो भी साधक ब्राह्मण हो, ब्रह्मवृत्ति को धारण करने वाला हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य का वेत्ता हो, जिसने वास्तव में दिव्य शक्तियों का दर्शन किया हो और जो प्रस्थानत्रयी पर श्रुतिसम्मत भाष्य लिखने में दक्ष हो, वह अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तन करके जगद्गुरु बन सकता है। पूर्व के सभी आचार्यों का मत इसी मत से प्रशस्त हुआ है और सबों ने तन्त्र और वेद, दोनों मार्गों को प्रकाशित किया है। अद्वैत को ही सबने माना है, बस समझाया अलग अलग तरीके से है। शंकराचार्य जी तो अद्वैती हैं ही, रामानुजाचार्य जी ने विशिष्ट अद्वैत माना, वल्लभाचार्य जी ने शुद्ध अद्वैत माना, निम्बार्काचार्य जी ने द्वैत और अद्वैत दोनों को पारिस्थितिकीय स्तर पर माना। शेष रहे मध्वाचार्य जी, वो पहले द्वैत अनुसार चले किन्तु गीता के त्रयोदश अध्याय के भाष्य में अद्वैत में ही घुसना पड़ा।

तीन प्रकार के जगद्गुरु हैं :- दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ।
उदाहरण - दिव्यौघ में श्रीकृष्ण, दक्षिणामूर्ति आदि आएंगे।
सिद्धौघ में दत्तात्रेय जी, याज्ञवल्क्य जी आदि आएंगे।
मानवौघ में शंकराचार्य जी, रामानुजाचार्य जी आदि आएंगे।

लिंगपुराण में शंकराचार्य जी की तो भार्गव पुराण में रामानुजाचार्य जी की महत्ता बताई गयी है। एक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार - कृते ह्यनन्तदेवश्च त्रेतायां लक्ष्मणः स्मृतः। द्वापरे बलरामश्च कलौ रामानुजो मुनिः॥

जो लोग तंत्रमार्ग से आराधना करते हैं, उनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि सबों के अनुयायी आते हैं। वेद और तन्त्र, दोनों मार्ग को सभी आचार्यों ने समान महत्व देते हुए प्रकाशित किया है। वेदोक्त मार्ग का दिग्दर्शन स्मृतियों में मिलता है इसीलिए वेदोक्त मार्ग का पालन करने वाले स्मार्त जन भी सर्वथा वरेण्य हैं। स्मृतियां आचार संहिता हैं और आचारहीन का वेद एवं तन्त्र, दोनों ही जगह कोई महत्व नहीं। स्मृति का अनुयायी पञ्चब्रह्म (पुराण एवं उपनिषदों के मतांतर से स्वामिकार्तिकेय को मिलाकर छः तथा तंत्रमार्ग के मतांतर से सदाशिव, ईश्वर, ब्रह्म, विष्णु, रुद्र आदि पंचब्रह्म) को मानता है। इसमें एक को केन्द्रक्षेत्र बनाकर शेष सबों की पूजा का विधान है। यह मार्ग विकेंद्रीकरण का है। जैसे नारायण के स्मार्त उपासक नारायण को केन्द्रक्षेत्र बनाएंगे और शेष रुद्रादि ब्रह्मरूपों को चतुर्दिक् स्थापित करके

उनके विकेंद्रीकृत रूप की आराधना करेंगे, इसी धारणा के साथ अथर्वशीर्षसमूह का प्रकाशन हुआ है।

तन्त्रोक्त मार्ग का पालन करने वाले जन वैष्णवागम (वैखानस, पांचरात्र आदि), शैवागम (वीरागम, पारमेश्वरागम आदि) शाक्तागम (त्रिपुरा रहस्य, महाकाल संहिता आदि) प्रभृति का आश्रय लेकर अपने अपने विष्णु, शिव, दुर्गादि इष्टरूपों के केंद्रीकृत रूप का चिंतन करेंगे। यहां विष्णु के तन्त्रोक्त उपासक अन्य स्मार्त उपासकों की भांति रुद्रादि की पूजा विष्णुपंचायतन के बाह्य मण्डल में न करके आभ्यंतर मण्डल में करेंगे। दोनों ही मार्ग प्रशस्त हैं, और इष्टलोक की ही असन्दिग्ध प्राप्ति कराने वाले हैं। इसीलिए प्रत्येक अथर्वशीर्ष में सबों की एकता का भी दिग्दर्शन है। तन्त्रोक्त साधक अपने इष्ट के अंदर ही शेष सबों का दर्शन अभेदबुद्धि से करता है।

इसीलिए भी, वेद और तन्त्र, दोनों मार्गों को आचार्यों ने माना है एवं स्वयं भी न श्रुति, न स्मृति और न ही तन्त्र का उल्लंघन किया है। स्मार्त और तन्त्रोक्त, दोनों ही मात्र विधाएं हैं, एक ही उद्देश्य से एक ही इष्ट की आराधना हेतु। श्रुतिविरुद्ध तंत्रमार्ग अकल्याणकारी है। तन्त्ररहित वेद निष्फल है क्योंकि इससे बहुत से वैदिक भाग ही संदिग्ध हो जाएंगे। स्मृतिरहित वेद और तन्त्र, दोनों ही दुरूह हैं, अगम्य हैं। अतएव इन तीनों का सामंजस्य ही कल्याण करेगा। वेद साधक की आत्मा हैं, स्मृति ज्ञानेंद्रियों का समूह है तथा तन्त्र कर्मेन्द्रियाँ हैं। तीनों एक दूसरे के बिना प्रशस्त नहीं हैं। अतएव स्मार्त एवं सम्प्रदायगत पद्धति, दोनों ही श्रेष्ठ, मान्य एवं कल्याणकारी हैं।

--*

तन्त्र का महत्त्व

आगमो निगमश्चैव द्वौ बाहू मम शंकर - देवी जी कहती हैं कि हे शंकर ! आगम (तन्त्र) एवं निगम (वेद) ये मेरी दोनों भुजाएं हैं। वेद और तन्त्र दोनों ही समान रूप से अपौरुषेय हैं , समान रूप से प्रामाणिक हैं और ग्राह्य हैं ऐसा पुराणादि में भी है। वेद मूल हैं, स्वाद मूल में नहीं, फल में होता हैं। जिनका मूल ही फल है, जैसे आलू आदि वहां तो मिल जाएगा, लेकिन यदि आम आदि का रस मूल में खोजेंगे तो खोजते रहिए। वेद दिमाग हैं, व्याकरण मुख है, ज्यौतिष नेत्र है। सब दिमाग से ही संचालित हैं, लेकिन दिमाग में उंगलियां नहीं होतीं। खोजने वाले खोजते रहें। शरीर के सभी अंग दिमाग से ही संचालित हैं लेकिन सभी अंग दिमाग में खोजने से अक्षर और कोशिका के रूप में नहीं मिलेंगे। व्याकरण शास्त्र के अनुसार तन्त्र शब्द 'तन्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'विस्तार'। शैव सिद्धान्त के 'कायिकागम' में इसका अर्थ किया गया है, 'वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है- -तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन, इति तन्त्रम्।'' तन्त्र की निरुक्ति 'तन्' (विस्तार करना) और 'त्रै या त्रा' (रक्षा करना), इन दोनों धातुओं के योग से सिद्ध होती है। इसका तात्पर्य यह है कि तन्त्र अपने समग्र अर्थ में ज्ञान का विस्तार करने के साथ उस पर आचरण करने वालों का त्राण भी करता है। तन्त्र का सामान्य अर्थ है 'विधि या उपाय'। विधि या उपाय कोई सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्तों को लेकर मतभेद हो सकते हैं। विग्रह और विशद भी हो सकते हैं, लेकिन विधि के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

डूबने से बचने के लिए तैरकर ही आना पड़ेगा। बिजली चाहिए तो कोयले, पानी का अणु का रूपान्तरण करना ही पड़ेगा। दौड़ने के लिए पाँव आगे बढ़ाने ही होंगे। पर्वत पर चढ़ना है तो ऊँचाई की तरफ कदम बढ़ाये बिना कोई चारा नहीं है। यह क्रियाएँ 'विधि' कहलाती हैं। तन्त्र अथवा आगम में व्यवहार पक्ष ही मुख्य है। तन्त्र की दृष्टि में शरीर प्रधान निमित्त है। उसके बिना चेतना के उच्च शिखरों तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण के मित्र सुदामा को कुछ लोग श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीदाम ही समझ लेते हैं। श्रीदाम अलग थे। एक तो वे ब्राह्मण नहीं थे। दूसरे वे गुरुकुलीय मित्र भी नहीं थे। श्रीदाम जी गोलोक में नित्यपार्षद हैं। सुदामा नाम के ब्राह्मण, जो अपनी मित्रता के कारण प्रसिद्ध हैं, वे भिन्न हैं जो श्रीकृष्ण भगवान् के गुरुकुलीय मित्र थे और वे सुधामय नामक ब्राह्मण के पुत्र थे।

सुधामयसुत: श्रीमान्सुदामा नाम वै द्विजः। तेन गोपीपतिः कृष्णो विद्यामभ्यसितुं गत: ॥
सांदीपिनान्तिकेऽवन्त्यां गतौ तौ पठनार्थिनौ।चतुःषष्टि: कला: सर्वा: कृता विद्याश्चतुर्दश॥
एकदा प्राह कृष्णं स सुदामा द्विजनन्दनः....
(प्रकृष्टनंदोक्तागम तन्त्र)

आपका यह देह तो मात्र रज और वीर्य का ही संयोग है, फिर शेष अंगों की आवश्यकता ही क्या है ? रज और वीर्य देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते, बोल नहीं सकते, किन्तु उनके ही विस्तार से निर्मित देह से ये सब किया जाता है। तन्त्र भी शिवमुख से निर्गत हुए, जैसे वेद नारायण के मुख से निर्गत हुए। वेदों को भी ब्रह्मा जी ने नारायण के मुख से सुना,

वैसे ही पार्वती जी ने तन्त्र को शिवमुख से सुना। रुद्रहृदयोपनिषत्, स्कन्दोपनिषत्, कालिका पुराण आदि के अनुसार हरिहरब्रह्म के मुख से निर्गत होने से वेद तन्त्र हरिहर के ही समान अभेद हैं। बल्कि रुद्रहृदय श्रुति ने तो यहां तक कहा कि जब शिव और शक्ति एक होते हैं, तो उन्हें विष्णु कहा जाता है।

उमाशंकरयोगो यो स योगो विष्णुरुच्यते।
(रुद्रहृदयश्रुति)
इसी प्रकार कुलार्णव तंत्र ने कहा :-
कुलं कुंडलिनी शक्तिरकुलं तु महेश्वरः। कुलाकुलस्यतत्वज्ञः कौल इत्यभिधीयते॥

कुंडलिनी शक्ति ही कुल है और अकुल, अनादि महेश्वर हैं। यही कुलाकुल, प्रकृति पुरुष, ब्रह्म माया, शिव शक्ति को जानने वाला ही कौल कहाता है। ऊपर हमने उमा महेश्वर के योग को विष्णु, इस नाम से बताया। इसीलिए मूलतः वेद, तन्त्र, कौल, वैष्णव, सब में अभेद है। मूलतः अभेद है, स्वरूपतः भिन्नता है। इसी प्रकार आगमशास्त्र का वचन है :-

न कुलं कुलमित्याहुः कुलं ब्रह्म सनातनम्। तत्कुले निरतो योगी कौल इत्यभिधीयते॥

जिसमें हमने शरीर धारण किया, वही कुल हमारा कुल है, ऐसी बात नहीं है। अपितु ब्रह्म ही हमारा वास्तविक कुल है। और उस कुल को, ब्रह्म को, ब्रह्मज्ञान को जो जानता है, वही कौल है। यही समान बात आद्यशंकराचार्य जी के अद्वैत वेदान्त से लेकर महामाहेश्वराचार्य जी की प्रत्यभिज्ञा तक दिखती है। किन्तु आज कोई भी नशेड़ी, शराबी मुर्दाखोर स्वयं को कौलाचार्य घोषित करके तन्त्र का नाम बेच रहे हैं।

संध्यात्रयं सदा कुर्यात् ब्राह्मणो विधिपूर्वकम्। तंत्रोक्तविधिपूर्वान्तु शूद्रः संध्यां समाचरेत्॥
(विशुद्धेश्वर तंत्र)
चतुर्दशस्वरो देवि पुण्यसिद्धि प्रदायकः। नादबिंदुसमोपेतो दीर्घप्रणव उच्यते॥
तंत्रोक्तः प्रणवः सोऽपि स्त्री शूद्राणां प्रशस्यते। तस्मात्स्त्रीणाञ्च शूद्राणां स एव परिकीर्तितः॥
(यामल तंत्र)
श्रीविष्णुकोटिमन्त्रेषु कोटिमन्त्रे शिवस्य च। शूद्राणामधिकारोऽस्ति स्वाहाप्रणववर्जिते॥
(मुण्डमाला तन्त्र)

ब्राह्मण को सर्वदा विधिपूर्वक तीनों संध्याएं करनी चाहिये। शूद्र को भी अवैदिक तांत्रिक सन्ध्या करनी चाहिए। शिव और विष्णु जी के ऐसे मन्त्र, जिसमें ॐ तथा स्वाहा न हों, वे शूद्रों के द्वारा ग्राह्य हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को वेदोक्त मूल प्रणव (ॐ), जिसमें साढ़े तीन मात्रा होती है उसका उच्चारण करना चाहिए किंतु स्त्री और शूद्रों को बिंदु एवं चौदहवें स्वर से युक्त दीर्घ प्रणव (औं) जिसमें ढाई मात्रा होती है, उसका उच्चारण करना चाहिए।

स्वाहाप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददद् द्विजः। शूद्रोनिरयगामी स्याद्ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्॥
(देवीयामल तंत्र)
तंत्रोक्तं प्रणवं देवि वह्निजायां च सुन्दरि । प्रजपेत् सततं शूद्रो नात्र कार्या विचारणा॥
(भूतशुद्धि तंत्र)
वह्निजायास्थले मायां दत्वा शूद्रो जपेद्यदि।
(शाक्तानंदतरंगिणी)

जो ब्राह्मण शूद्र को स्वाहा एवं (वैदिक) प्रणव से युक्त मंत्र देता है, वह मंत्रग्राही शूद्र नरक जाता है और ब्राह्मण भी अधोगति को प्राप्त होता है। वेदोक्त वह्निजाया (स्वाहा) और वेदोक्त प्रणव (ॐ) के स्थान पर तंत्रोक्त वह्निजाया (ह्रीं) तथा तथा तंत्रोक्त प्रणव (औं) का प्रयोग करके शूद्रों को मंत्र देना चाहिए। पंचदेवों के बाकी रूपों को यदि हम समान न मानें तो यहाँ तब तक आपत्ति नहीं है, जब तक हम अवहेलना न करें। जैसे मार्कण्डेय जी ने भगवान् विष्णु की तपस्या की, किंतु दर्शन शिव जी ने दिए, तो उन्होंने कोई वैमन्य न किया उनमें। पांचों देवों में से किसी एक को मुख्य रूप से अपनाकर शेष को प्रमण्डल बताना अनुचित नहीं है।

चिन्मयस्याऽद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(कुलार्णव तंत्र)

उपासकों के उपासना कार्य के लिए चिन्मय (ज्ञानमय), अद्वितीय, मायातीत, अशरीरी ब्रह्म के द्वारा सगुण रूप की कल्पना की गई है। (यही बात रामतापनीयोपनिषद् एवं गोपालतापनीयोपनिषद् से भी सिद्ध होती है।)

साधुनामप्रमत्तानां भक्तानां भक्तवत्सलः। उपकर्ता निराकारस्तदाकारेण जायते॥
(अग्निपुराण)
भक्तानां मोक्षदानाय भवतो मूर्तिकल्पना।
(बृहन्नारदीय उपपुराण)
मन्यन्ते ये तु चात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात्। न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः॥
(कूर्मपुराण)

भक्तों के, साधुओं के तथा मोहमुक्तों की उपासना में सहयोग हेतु वह निराकार साकार बनता है। जो स्वयं को परमेश्वर से भिन्न मानते हैं, वे उस ब्रह्म का बोध नहीं कर पाते और उनका ब्रह्मविषयक उपक्रम व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार से जब सबों में ब्रह्मभाव का दर्शन होने लगता है किसी एक देवता की निंदा या प्रशंसा की बात ही उत्पन्न नहीं होती है।

स्त्रीरूपां वा स्मरेद्देवीं पुंरूपां वा स्मरेत् प्रिये। स्मरेद्वा निष्कलं ब्रह्मसच्चिदानन्दरूपिणम्॥
(विष्णुयामल तंत्र)

सकलो निष्कलो ज्ञेयः सर्वज्ञः परमो हरिः। देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः॥
(अग्नि पुराण)
निष्कलं परमं ब्रह्म कुतः प्रीतिः कुतः सुखम्।
निराकारं निरीहञ्च रहितं त्विन्द्रियेण वै। जन्मकर्माणि सर्वाणि ब्रह्मणो नास्ति भामिनि॥
(भूतशुद्धि तंत्र)

उस ब्रह्म का चिंतन स्त्रीरूप (दुर्गादि) अथवा पुरुष रूप (शिवादि) से करे। अथवा निष्कल केवल ज्ञानमूर्ति आनन्दघन ब्रह्मभाव से ही चिंतन करे। वे सर्वज्ञ परमात्मा हरि दो प्रकार से (सकल और निष्कल) कहे गए हैं। सगुण देहाश्रित होकर सकल और निर्गुण रूप में निष्कल बताए गए हैं। निष्कल (देहातीत), परब्रह्म में सामान्यतः प्रेम और सुख की अनुभूति नहीं होती क्योंकि वह इन्द्रियातीत निराकार है जिसमें जन्मकर्म आदि विकार नहीं होते हैं।

अमूर्तश्चेत्स्थिरो न स्यात्ततो मूर्तिं विचिन्तयेत्॥
(गरुड़ पुराण)
ध्यानगम्यं प्रपश्यन्ति रुचिभेदात्पृथग्विधम्॥
(यामल तंत्र)

ब्रह्मज्ञान के उदय के बिना निर्गुण में भाव दृढ़ नहीं होता, इसीलिए प्रारंभिक स्तर के साधकों की निष्ठा भगवान् में दृढ़ हो सके, इस उद्देश्य से उनमें सगुणत्व की भावना की जाती है। इसीलिए जब एक ही ब्रह्म अपने अपने उपासकों की भावना के अनुरूप सगुणत्व धारण करके अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है तो उसी के अनेक रूपों के मध्य कैसा द्वेष या कैसी तुलना ? अपने अपने भावानुसार मात्र उस उस रूप का ध्यान करके शेष अन्य रूपों का चिंतन भी न करे और जो शेष रूपों के प्रति ध्यान जाए भी तो उन रूपों में मेरे ही इष्ट है, ऐसा समझ कर समादर करे।

कुछ शांकर मतानुयायी विद्वान् पाशुपत पांचरात्र आदि को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि आगमशास्त्र प्रमाण नहीं है। पहली बात कि माहेश्वर तंत्र, (जैसा कि यह ग्रंथ अप्रचलित हो चला है) यह शैव नहीं, वैष्णव ग्रंथ हैं जहां शिव पार्वती संवाद के रूप में रहस्यमय श्रीकृष्ण कथा है। इसकी गणना पांचरात्र ग्रंथों में होती है। दूसरी बात, पांचरात्र एवं पाशुपत मत श्रुतिविरुद्ध नहीं हैं। पांचरात्र सिद्धि हेतु मैं पांचरात्र के बाहर से ही प्रमाण देता हूँ। श्रीमद्भागवत में वैष्णव अर्चाविधान तथा स्कन्दपुराण आदि का शैव अर्चाविधान पांचरात्र एवं पाशुपत के सर्वथा अनुकूल है तथा श्रीमद्भागवत एवं स्कन्दपुराण की श्रुतिसम्मतता भी प्रमाणित हैं। महाभारत के शांतिपर्व में चित्रशिखण्डी के द्वारा कल्प के आरम्भ में ही ऋक्, यजुष्, साम एवं अथर्ववेद के मन्त्रों से अनुमोदित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए तद्वत् स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में प्रचलित विविध मर्यादारूप पंचविध ज्ञान से समन्वित शतसाहस्त्री पांचरात्र संहिता की रचना की।

तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षा: पश्चाश्च कीर्तितः। मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थिता:॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

(चित्रशिखण्डी एक समूह का नाम है, जिसमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वशिष्ठ हैं। इसमें मनु को मिलाकर ये लोकों को धारण करने वाले अष्टधा प्रकृति कहाते हैं।)

सांख्यं योग: पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥
पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप। एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

वेद, सांख्य, योग, पाशुपत तथा पांचरात्र में सन्निहित ज्ञानों में विरोधाभास नहीं, अपितु सैद्धांतिक सामंजस्य है। जो सप्तर्षियों के द्वारा प्रणीत पांचरात्र के ज्ञाता हैं तथा तदनुसार अनन्य शरणागत सेवापरायण भगवद्भक्त हैं, वे उन श्रीहरि में ही लीन हो जाते हैं। पांचरात्र संहिताओं में जो चतुर्व्यूह का वर्णन है, वह भी इतिहास, श्रुति एवं पुराणसम्मत ही हैं।

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः। ज्ञेयः स एव राजेन्द्र: जीवः संकर्षण: प्रभु:॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूत: स उच्यते। प्रद्युम्नाद्योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकार: स ईश्वर:॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

रोहिणीतनयो विश्व अक्षराक्षरसम्भवः। तैजसात्मक प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः॥
प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकराक्षरसम्भवः।अर्द्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्॥
(गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्)

वासुदेवः संकर्षण: प्रद्युम्नः पुरुष: स्वयम्। अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

यह सब प्रमाण श्रीरामतापनीयोपनिषत् से भी समर्थित हैं। मैंने श्रीपुरी पीठाधीश्वर स्वामिश्री निश्चलानन्द सरस्वती जी के द्वारा लिखित ग्रंथों में यह पढ़ा है कि श्रीमज्जगदगुरु आद्यशंकराचार्य जी पांचरात्र एवं पाशुपत मत के विरोधी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त प्रमाण इन मतों की सार्थकता और श्रुतिसम्मतता सिद्ध करते हैं। उन्होंने इन मतों की प्रचलित व्याख्या का विरोध किया था। इन मतों के सिद्धांतों का जो श्रुतिविरुद्ध द्वैतवादी अर्थ प्रचलित मतानुयायियों ने लगाया था, उस अर्थ को प्रमाणों से खण्डित करके पांचरात्र एवं पाशुपत मत का श्रुतिसम्मत अद्वैत अर्थ करके उनका परिष्कार, परिमार्जन, एवं परिशीलन किया था। आगमशास्त्र में अष्टपाशों का वर्णन है और वेदान्ती पञ्च अथवा षड्भ्रम की चर्चा करते हैं। (इन पर अभी चर्चा नहीं करूंगा) इनसे मुक्त हुए बिना मोक्षादि की प्राप्ति नहीं होती। पाशुपत मत के अनुयायी तक पाशुपत क्रम से दीक्षा लेते हैं तो अष्टपाश से मुक्त होते हैं तथा वेदान्ती जब क्लिष्ट संन्यास के क्रम से दीक्षा या अवधूतवृत्ति ग्रहण करते हैं तो षड्भ्रमों से भी मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मतुल्य साधकों के लिए शुचि और अशुचि

का कोई भेद नहीं होता। किंतु शेष जनों के लिए (यहाँ तक कि सौम्य संन्यास वालों के लिए भी) शुद्धि अशुद्धि का भेद लौकिक न्याय के अनुसार ही होता है। ऐसे तंत्रशास्त्र आगमशास्त्र भी वेदादि की भांति पूर्ण प्रमाण है, इसमें संदेह नहीं करना चाहिए। हां, लोकधारणया इसकी श्रुतिसम्मतता अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए क्योंकि स्वयं शिव जी ने ही सत् (श्रुतिसम्मत) एवं असत् (श्रुतिविरुद्ध) आगमों की बात तन्त्रों में ही की है जिसमें असदागम के त्याग और सदागम के अनुशीलन का निर्देश है। तन्त्रनिन्दा सम्बन्धी बात बोलने से पहले स्मरण रहे कि आद्यशंकराचार्य जी ने स्वयं प्रपञ्चसार और शारदातिलक नामक के दो तन्त्रों की रचना की है। तन्त्र को प्रमाण नहीं मानने वाले को मूर्खों की अग्रिम पंक्ति में रखना चाहिए क्योंकि तन्त्र की महिमा और प्रामाणिकता श्रीमद्भागवत जैसे पुराणों में भी है।

--*

क्या शंकराचार्य जी मायावादी थे ?

द्वैतवादी आक्षेपक :- यदि जगत मिथ्या है तो ब्रह्म कैसे और यदि ब्रह्म ही है तो मिथ्या कैसे ?

श्रीभागवतानंद गुरु -

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् । तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेष भावना दोषम् ॥
(विवेक चूड़ामणि 229)

यह सम्पूर्ण विश्व जो अज्ञान से नाना प्रकार का प्रतीत हो रहा है, समस्त भावनाओं के दोष से रहित (अर्थात्) निर्विकल्प ब्रह्म ही है। द्वैत में यह समस्या है कि भगवान् बड़ी परीक्षा लेते हैं। भक्त को संसार-परिवार और अपने मध्य कई भ्रामक स्थितियां देते हैं, जिससे वह उलझ जाता है। लेकिन अद्वैती तो संसार में भी ब्रह्म देख रहा है और स्वयं में भी और ब्रह्म में भी। वस्तुतः उसके लिए तो संसार, ब्रह्म और स्वयं में कोई भेद है ही नहीं। सर्वमिदं ब्रह्म। इसीलिए वह स्वयं से प्रेम करता है, और इस प्रकार से उसका प्रेम सबों के लिए होता है। उन सबों के लिए जिन्हें वह स्वयं से पृथक मानता ही नहीं। अद्वैत वाले उपासक नहीं होते। उपासक के लिए उपास्य की आवश्यकता है। और उपासक एवं उपास्य का भेद ही द्वैत है। अद्वैती तो निजोपास्योपासक होते हैं। जैसे हमारे स्वप्न में दृश्य और दर्शक एक ही होता है। दर्शक आत्मशक्ति से स्वयं को ही दृश्य के रूप में बना लेता है और फिर भी उसके दर्शक भाव में कोई परिवर्तन नहीं आता।

आत्मैवेदं जगत्तसर्वं आत्मनोऽन्यत् न विद्यते । मृदो यत्वत् घटाटीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥
(आत्मबोध)

यह सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्म है । आत्मा के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं । यह आत्मज्ञानी विवेकी पुरुष को ही दिखता है । आत्मज्ञान के अतिरिक्त भौतिक दृष्टि वालों के लिए देहाश्रित वर्णाश्रम मर्यादा की स्थापना की गई है। किंतु आत्मज्ञानी के लिए वर्ण और देह की संज्ञाएँ महत्वहीन हो जाती हैं। वर्णसम्मत व्यवस्था के अनुसार शूद्रों का वेदों में अनाधिकार है। किंतु मोक्षमूलक कर्मों में भी उनकी प्रवृत्ति योगमार्ग से सम्भव है। जो स्त्री शूद्रादि वेदादि में अनधिकृत हैं, उनके प्रति भी अद्वैती की समदर्शिता बनी रहती है।

वेदव्रतविहीनानां व्रात्यादीनां कृतागसाम्। तथैवानुपवीतानां स्त्रीशूद्राणां भवेच्छिव॥
(गन्धर्वतन्त्र, सप्तम पटल, ३८)
प्रणवं वैदिकं चैव शूद्रे नोपदिशेच्छिवे।
(परमानन्द तन्त्र, त्रयोदश उल्लास)

शूद्राणां वेदमन्त्रेषु नाधिकार: कदाचन। स्थाने वैदिकमन्त्रस्य मूलमन्त्रं विनिर्दिशेत्॥
(योगिनी तन्त्र)

(स्त्री-शूद्र और पतित व्रात्यों का उपनयन एवं वेद में अनधिकार) अद्वैती शब्दब्रह्म से ही इस जगत को ओतप्रोत मानते हैं और मूल समाज के पीछे भी इसी ऊर्जा को स्वीकार करते हैं।

शब्दब्रह्मेति शब्दावगम्यमर्थं विदुर्बुधा:। स्वतोऽर्थानवबोधत्वात्प्रोक्तो नैतादृशो रवा:॥
(प्रपञ्चसारतन्त्र, प्रथम पटल, ६२)

शब्दब्रह्म का तात्पर्य शब्द से प्रतीत होने वाला 'अर्थ' है, न कि केवल ध्वनि मात्र। बिन्द्वात्मक प्रकाशकत्व के बिना केवल ध्वनि, शब्द, या रव में अर्थ प्रकाशन की शक्ति नहीं होती।

परेण धाम्ना समनुप्रबुद्धा मनस्तदा सा तु महाप्रभावा,
यदा तु सङ्कल्पविकल्पकृत्या यदा पुनर्निश्चिनुते तदा सा।
स्याद्बुद्धिसंज्ञा च यदा प्रवेत्ति ज्ञातारमात्मानमहंकृतिः स्यात्,
तदा यदा सा त्वभिलीयतेऽन्तश्चित्तं च निर्धारितमर्थमेषा॥
(प्रपञ्चसारतन्त्र, प्रथम पटल, १०२-१०३)

साक्षी, कारण तथा अन्तर्यामी के रूप में परंधाम चिद्रूप पुरुष के साथ सम्बद्ध महाप्रभावशालिनी यह प्रकृति जब संकल्प-विकल्प करती है तब इसे मन कहा जाता है। निश्चयात्मिका होने पर बुद्धि और कर्ताभिमान से युक्त होकर पुरुष के स्थान पर स्वयं को कर्ता मानने पर अहंकार कहलाती है। साक्षीभूत आत्मा में लीन होने पर इसी प्रकृति की चित्त संज्ञा हो जाती है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः साक्षात् स्वयं ज्योतिरजः परेशः।
त्वन्मायया मोहितचेतसो ये पश्यन्ति नानात्वमहो त्वयीशे॥
(माहेश्वरतन्त्र, तृतीय पटल, २७)

हे ब्रह्म !! तुम पुराण पुरुष हो, साक्षात् रूप से स्वयं ज्योतिर्मय, अजन्मा और ईश्वर हो। तुम्हारी माया से मोहित चित्त होकर तुम्हारे में ही नानात्व का दर्शन होता है।

बिंदु: शून्यात्मको ज्ञेयस्तस्माद्विश्वं निरर्थकम्। व्याप्तोऽहंकार एवायं ब्रह्माभासे दृश्यते॥
(माहेश्वरतन्त्र, एकविंश पटल, ३२)

(ब्रह्म के बहुत होने के चिंतन से उत्पन्न अहंकार नाम का तत्व, जो बिंदु बन गया) उस बिंदु को शून्यात्मक जानना चाहिए। इसीलिए विश्व निरर्थक (मिथ्या) है। इस विश्व में व्याप्त यह अहंकार ही ब्रह्म के आभास (चिद्विलास) के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

आप अपने सपने में स्वयं को देखते हैं... क्या आप वहां स्वयं से अलग हैं ?? यदि नहीं, तो क्या वहां उड़ने पर आप यहाँ भी उड़ने लगते हैं ?? क्या वहां खाने पर आपका पेट यहाँ भी भर जाता है ?? नहीं न...वही आपका चिद्विलास है, जिसके साथ चाहे जो हो जाये आपपर प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसीलिए वह मिथ्या है। जगत भी ब्रह्म का चिद्विलास है, और इसीलिए जगत भी मिथ्या है।

अब मैं दूसरी बात कहता हूँ :- क्या आपके चिद्विलास का आपसे अलग होगा, सम्भव है ?? क्या आपके स्वप्न का, उसमें की गई सृष्टि, स्थिति और विनाश का एक एक कण, एक एक घटना, आपसे ओतप्रोत नहीं है ? बिल्कुल है। क्या उसके एक भी अंश का अस्तित्व आपसे नहीं, या क्या उसके रूप में आप स्वयं ही नहीं ?? ओ, हां, बेशक आप ही तो हैं वहां। लेकिन क्या आप वास्तव में वहां हैं.. नहीं। लेकिन क्या आपके बिना उसका एक अंश भी सम्भव है.. नहीं। एक दृष्टिकोण से आप वहां हैं, स्वप्न के रूप में। स्वप्न के घर, स्वप्न की नदी, पर्वत, मित्र, शत्रु, जड़, चेतन के रूप में। लेकिन वास्तव में वहां होकर भी नहीं हैं। ऐसे ही जगत मिथ्या भी है, और ब्रह्म भी है। इसीलिए मैंने धुरन्धर संहिता में कहा - निषेधेन विधानेन द्विधा तद्ब्रह्म दृश्यते। इसीलिए इस जगत को उसी प्रकार ब्रह्म माने जितना आप स्वयं अपना चिद्विलास हैं। और उस चिद्विलास को उतना ही मिथ्या मानें जितना कि आप अपने स्वप्न को। आपका स्वप्न जितना मिथ्या है, आप जैसे उसके कण कण में व्याप्त हैं, और आप जितने सत्य और स्वप्न के सापेक्ष कूटस्थ हैं, वैसा ही सम्बन्ध ब्रह्म और जगत के मध्य भी जानना चाहिए।

आक्षेपक :- फिर द्वैतवाद की आवश्यकता क्यों है ओर द्वैत का अद्वैत से विरोध क्यों रहता है ??

श्रीभागवतानंद गुरु : द्वैत और अद्वैत दोनों मात्र दृष्टिकोण हैं, जो सत्य को स्वीकार करने के लिए दो माध्यम मात्र हैं। एक ही नदी के दो तटों पर खड़े दो भिन्न लोग, दो भिन्न दृष्टिकोण से दृश्य का वर्णन करते हैं। जैसे नदी के दो किनारे कभी नहीं मिलते, वैसे ही द्वैत और अद्वैत भी आपस में कभी नहीं मिलते। लेकिन दोनों का अस्तित्व नदी रूपी ब्रह्म से है। दोनों में से कौन वाला आधिकारिक तट है, अथवा यथार्थ तट है, ऐसी कोई बात मन में आती ही नहीं क्योंकि दोनों का सत्य समान है। ऐसे ही ब्रह्म रूपी नदी के द्वैत में अद्वैत में यथार्थ या सटीक सिद्धांत जैसा कुछ नहीं।

यदि आप पूर्व की ओर मुख किये रहेंगे तो सुबह सूर्य दिखेगा। यदि उसी समय पश्चिम की ओर देखेंगे तो नहीं दिखेगा। लेकिन यही बात शाम को उल्टी हो जाएगी। पश्चिम की ओर सूर्य दिखेगा लेकिन पूर्व की ओर नहीं दिखेगा। शास्त्रों में

द्वैत और अद्वैत का आपलोगों की तरह विवाद नहीं है। वहां केवल सत्य है, और सत्य केवल ब्रह्म है, सत्य केवल सूर्य है। भेद तो उसकी प्रतीति में होती है, सूर्य पर दृष्टि का भेद नहीं पड़ता। पूर्वाभिमुख और पश्चिमाभिमुख व्यक्ति की दृष्टि से सूर्य प्रभावित नहीं होता। अद्वैतवाद और द्वैतवाद से ब्रह्म को कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य की प्रतीति दोनों को होती है, पूर्व वाले को सुबह और पश्चिम वाले को शाम में। दोनों सत्य हैं, दोनों एक का ही अवलोकन कर रहे हैं।

द्वैत वाला ब्रह्म को जानकर अद्वैती भी हो जाता है तथा अद्वैत वाला भी ब्रह्म को जानकर द्वैती हो जाता है। क्योंकि एक स्थिति में उन दोनों को यह ज्ञान हो जाता है कि वास्तव में द्वैत और अद्वैत लक्ष्य नहीं, मार्ग है। और मार्ग चलने के लिए होता है, ठहराव हेतु नहीं। ठहराव हेतु तो लक्ष्य ही है। द्वैत का मार्ग अद्वैत की अपेक्षा अधिक सरल है, और इसे इंद्रियों के साथ जोड़कर समझना अधिक व्यावहारिक लगता है। जल न हो तो तैरेंगे कहाँ ? अंतरिक्ष न हो तो उड़ेंगे कहाँ ? द्वैत न हो तो अद्वैत की भावना करेंगे कहाँ ??

पश्चादुत्पद्यते ज्ञानं कुमारीसुरतं यथा। किमप्युत्पद्यते तत्र मूकस्य स्वप्नं यथा॥
(हेवज्रतन्त्र, द्वितीय कल्पराज, पञ्चमाभ्युदय पटल, ७०)

वह ज्ञान बाद में स्वतः उत्पन्न होता है। जैसे कुमारी को कोई सखी रतिसुख के बारे में बताए तो सुनकर भी वह नहीं जान सकती, वैसा ही यहाँ भी जानना चाहिये। जैसे मूक व्यक्ति अच्छे से देखे हुए स्वप्न को भी नहीं बता सकता है, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिए। बड़े बड़े गुरु भी सहजानन्द के विषय में नहीं बता सकते।
(यहाँ अपरिपक्व शिष्य को कुमारी कन्या और ब्रह्मज्ञानी गुरु को गूंगे की संज्ञा दी गयी है।)

आत्मानं मन्यते शेषं शेषिणं परमेश्वरम्। अनुकम्पास्य भूतेषु तैरप्येषोऽनुकम्प्यते॥
(भार्गवतन्त्र, २४/११)

जो स्वयं को शेष (अंश) और परमात्मा को शेषी (अंशी) मानते हैं, वे सभी भूतों पर दया करते हैं और बदले में दया पाते हैं। (यह द्वैत भाव स्वयं परशुराम जी ने अगस्त्य जी को बताया है) साथ ही,

न निन्देद्दक्षिणं वामं न निन्देद्दर्शनानि च। निन्दाद्रोहादिकर्तृणां गणनां नैव कारयेत्॥
(गन्धर्वतन्त्र, सप्तविंश पटल, ३९)

दक्षिणमार्ग अथवा वाममार्ग की निंदा नहीं करनी चाहिए। चार्वाक-बौद्ध आदि दर्शनों की भी निंदा नहीं करनी चाहिए। निंदा-द्रोह आदि करने वालों की संगति भी नहीं करनी चाहिए। (यह निरपेक्ष भाव स्वयं शिव जी ने पार्वती जी को बताया है) गन्धर्वतन्त् में ही आगे कहा है, ऐक्यं जीवात्मनोश्चाहुर्योगं योग विशारदा:। जीवात्मा की परमात्मा से एकात्मकता ही योग है। इस स्थिति को स्वीकार करके या जानकर ही योगी बनते हैं। (यह अद्वैत भाव भी स्वयं शिव

जी ने ही पार्वती जी से कहा है) इसीलिए द्वैत और अद्वैत मात्र मार्ग हैं, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो ब्रह्मत्व है, उसकी प्राप्ति का माध्यम चाहे जो भी हो। इसीलिए माध्यम और मार्ग के पीछे लड़ने से अच्छा है, कि ऊर्जा को लक्ष्य में लगाया जाए।

रामानुजाचार्य जी ने भी अद्वैत का खंडन नहीं किया। बस उसे चमका दिया। उसे सरस बना दिया। अद्वैत के पालन में जो नीरसता और सैद्धांतिक कठिनाई थी, उसे उन्होंने भक्ति का रंग चढ़ा कर अद्भुत रसयुक्त बना दिया। उन्होंने भी जीव और ब्रह्म की एक स्थिति में एकता मानी है। निम्बार्काचार्य जी समदृष्टि अपनाते हैं। उन्हें दृष्टिकोण से नहीं मात्र दृश्य ब्रह्म से मतलब है। वल्लभाचार्य जी भी अद्वैत से विरोध करते ही नहीं और मध्वाचार्य जी स्वयं बड़ी बड़ी विडंबनाओं से घिरे हैं। कलियुग के साथ उनके गुप्त समझौते और उनके गुरु के समक्ष उनका विवाद आप सौर उपपुराण में देख लें। कुछ बहुत भविष्यपुराण में भी मिलेगा। तो बचे केवल आद्यशंकर महाभाग, जो विशुद्ध वैदिक और श्रुतिसम्मत स्मृतिपुराणागम के संरक्षक थे।

आक्षेपक :- मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नंबौद्ध उच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २३६/७)

हे देवि !! मेरे (शिव जी के) द्वारा कलियुग में ब्राह्मण का अवतार लेकर मायावादी, वेदविरोधी वाक्य, जो अंदर से बौद्ध और बाहर से सनातनी था, ऐसे व्यक्ति के रूप में आकर कहा गया।
इस प्रकार आद्यशंकराचार्य पाखण्डी सिद्ध हुए।

श्रीभागवतानंद गुरु - सार में इतना ही समझ लें :- विवादित श्लोक में वर्णित व्यक्ति के शिवावतार ब्राह्मण होने के अतिरिक्त उसके मत की तीन विशेषताएं हैं :-

१:- वह मायावादी है।
२:- वह असत शास्त्र का प्रवर्तक है।
३:- वह प्रच्छन्नबौद्ध है।

आद्यशंकराचार्य जी पर इनमें से केवल एक बात लागू होती है, शिवावतार ब्राह्मण।

मायावाद केवल उनके विरोधियों की दृष्टि में है। जिनका पूरा जीवन ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या कहते बीता, वे ब्रह्मवादी न होकर मायावादी हो गए ? असत् शास्त्र तो उनका मत है नहीं। सर्वथा वैदिक मत ही उनका आधार रहा है। बल्कि उन्होंने तो असत् शास्त्र का खंडन करने के उद्देश्य से ही दिग्विजय किया था। अब आते हैं प्रच्छन्नबौद्ध पर। जैसे कीचड़

से कीचड़ नहीं साफ किया जाता, वैसे ही बौद्ध से बौद्ध नहीं मिटते। आद्यशंकर गुरुदेव का पूरा जीवन ही बौद्धखण्डन पर केंद्रित रहा।

अब आपको मैं वह बात बताता हूँ, जो सामने होकर भी नहीं दिखी। वर्तमान को अतीत के बिना नहीं जाना जा सकता। आप विवादित श्लोक के पिछले अध्याय को देखें। उसमें पार्वती जी के प्रश्न के उत्तर में शिव जी ने कापालिक और अवैदिक चिह्नों से युक्त वेदविरुद्ध आचरण वाले विष्णुनिंदक लोगों को पाखंडी बताया है। और आगे यह भी कहा कि राक्षसों की वृद्धि को रोकने कब लिए कणाद, गौतम, कपिल आदि दस ऋषियों को अपने नास्तिक और भौतिक प्रधान दर्शन शास्त्र को फैलाने भेजा गया, फिर विष्णु जी और शिव जी ने आपसी सहमति से अवतार लिया। दोनों के अवतार का उद्देश्य केवल पाखण्ड प्रवर्धन ही था।

यहाँ बुद्ध के रूप में वैष्णव अवतार का तो स्पष्ट नाम से वर्णन है, लेकिन शंकराचार्य का नाम शैव अवतार के रूप में नहीं है। केवल शिवावतार ब्राह्मण, ऐसा वर्णन है। हां, उसकी तीन विशेषता, मायावादी, असत शास्त्रज्ञ और प्रच्छन्न बौद्ध अवश्य है, जो किसी भी प्रकार से आद्यशंकर महाभाग में आरोपित नहीं की जा सकतीं। तो फिर यहाँ पर यह शिवावतार है कौन ? ये वही लोग हैं जिनके बारे में पिछले अध्याय में कहा गया है। कापालिक मत वाले वाममार्गी। जिन्हें दक्ष प्रजापति की सभा में नंदीश्वर के श्राप के प्रत्युत्तर में भृगु जी ने वेदविमुख और पाखण्डवादी होने का श्राप दिया था। पिछले अध्याय में भी शिव जी ने उनका ही वर्णन किया है, और यहाँ वही कापालिक शिवावतार का संकेत है, न कि आद्यशंकर महाभाग का। कापालिक घोर मायावादी हैं, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। कापालिक वेदविमुख वाममार्गी विष्णुनिंदक असत शास्त्र से युक्त हैं, यह भी स्वतः सिद्ध है। बौद्धों का भोगवादी वज्रयानी मत कापालिक मत से बिल्कुल समानता रखता है, फिर भी कापालिक खुद को सनातनी ही कहते हैं, बौद्ध नहीं, यही इनका प्रच्छन्न बौद्धवाद है।

हरिगर्वापहारार्थं भक्तानुग्रहणाय च। धर्मसंस्थापनार्थं हि शंकरोऽवतरिष्यति॥
(शक्तिसंगम तन्त्र, छिन्नमस्ता खण्ड)

बुद्धरूपी हरि के मतीय गर्व को दूर करने और धर्म की स्थापना के लिए शंकराचार्य का अवतार हुआ है। धर्म की स्थापना मायावाद से नहीं, ब्रह्मवाद से ही सम्भव है।

तान्निवार्य ततो बौद्धानाचार्यः शंकरः स्वयम्। देवतानां स्तवान्दिव्यान्कवचानि करिष्यति॥
(बृहद्धर्म उपपुराण, उत्तरखण्ड)

उन बौद्धों का निवारण करके शंकराचार्य जी अनेक देवताओं के दिव्य स्तोत्र एवं कवचों की रचना करेंगे। पद्मपुराण के पूर्वापर प्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि वहां मायावादी शिवावतार का कपाल अस्थि धारण पूर्वक वेदबाह्यमार्ग का प्रवर्तन करना ही उद्देश्य था, यथा, मायावादी बुद्धावतार का भी था। अतः लक्षण, उद्देश्य और क्रिया से आद्यशंकराचार्य

का मायावादी होना, अथवा अद्वैतनिन्दा पद्मपुराण से सिद्ध नहीं है, अपितु कापालिक मत एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ही बात है वहां। आगे के श्लोकपाठ में परेशजीव में एकता की बात है, यह शब्दावली बहुतायत से प्रत्यभिज्ञा एवं कापालिक दर्शनों में ही मिलती है। भगवान् श्रीमद्रामानुजाचार्य जी ने अपने भाष्यों और शास्त्रार्थों से वेदार्थ को प्रकाशित किया है। कुछ लोग कहते हैं कि मायावाद और असत् शास्त्र की उपाधि अद्वैत शांकर मत को दी गयी है किंतु यह बात ऐसी नहीं है।

पाखण्डैर्बहुभिर्दुष्टैस्त्यक्तवेदैः कुबुद्धिभिः। प्राप्तैरासुरशास्त्राणि कल्पितानि कुयुक्तिभिः॥
सर्वतः सङ्कुलं लोकं विनष्टहरिवैभवम्। उद्धर्तुं लक्ष्मणो योगी कृत्वा श्रीभाष्यमुत्तमम्॥
पाखण्डबौद्धचार्वाकमायावाद्यार्हतादिकान्।
सम्भित्वा कुमतान्सर्वान्पाराशर्यमुनेर्मतम्। लोकेऽस्मिन्प्रकटीचक्रे विष्णोः प्रियतमं महत्॥
(भार्गव उपपुराण, उत्तरखण्ड, ३८/५१-५४)

अर्थात् :- जब बहुत से पाखण्डवादी दुष्टों के द्वारा वेदों का त्याग करके कुबुद्धि के कारण इस लोक में परम पवित्र वैष्णव मत को नष्ट करके आसुरी शास्त्रों को कपोलकल्पित रीति से फैलाया जाने लगा, तब श्रीलक्ष्मण (रामानुज) योगिराज ने श्रीभाष्य लिखकर उन पाखण्डवादी बौद्ध, चार्वाक एवं मायावादी अर्हत (जैनी) आदि के कुमत का नाश करके वेदव्यास जी के द्वारा प्रणीत भगवान् विष्णु के प्रिय मत को इस संसार में प्रकाशित किया। इस प्रमाण के अनुसार पाखण्डी और अर्हत को मायावादी बताया गया है। अब शंका हो सकती है कि पाखण्डी और अर्हत कौन हैं ??

एतेन्ये च त्रयीबाह्याः पाखण्डाः पापचारिणः।
पाशब्देन त्रयीधर्मः पालनाज्जगतः स्मृतः। तं खण्डयन्ति यस्मात्ते पाखण्डास्तेन हेतुना॥
(माहेश्वरतन्त्र, अष्टादशपटल)

जो वेदत्रयी को न माने, वह पापाचारी ही पाखण्डी है। 'पा' शब्द से वेदत्रयी के धर्मानुसार लोकव्यवहार करना बताया गया है। जो उसका खण्डन करे वही पाखण्डी बताया गया है।

तपश्चरसु सर्वेषु असुरेषु जयार्थिषु। विष्णुः सुदुस्तरां मायामास्यास्य सुरनोदितः॥
मोहयामास योगात्मा तपोविघ्नाय तान्प्रभुः। स मूढान् बुद्धरूपेण तानुवाच महामनाः॥
शक्या जेतुं सुराः सर्वे युष्माभिरितिदर्शनैः। बौद्धधर्मं समास्थाय शक्यास्ते बभूविरे॥
तानुवाचार्हतो मम यूयं भवत मद्विधाः। ज्ञानेन सहितं धर्मं ते चार्हन्त इति स्मृताः॥
बौद्धश्रावकनिर्ग्रंथाः सिद्धपुत्रास्तथैव च। ऐते सर्वेपि चार्हंतो विज्ञेया दुष्टचारिणः॥
(माहेश्वरतन्त्र, अष्टादश पटल)

विजय की कामना से तपस्या करने वाले असुरों को विष्णु भगवान् ने मोहित करने वाली माया से वश में करके बुद्ध रूप

धारण करके कहा :- "दर्शनों के पालन से सभी देवता आप लोगों के द्वारा जीते जा सकते हैं अतः आप सब बौद्ध धर्म में आस्थावान् होकर उन्हें जीत सकते हैं।" बुद्ध भगवान् के ऐसा करने पर वे असुर बौद्ध मतावलंबी हो गए। उन्हें धर्मलोप किया देख भगवान् ने कहा, जैसा मैं हूँ, वैसे ही तुम सब हो जाओ और बताए गए ज्ञान के सहित इस बौद्ध धर्म का पालन करो। इसीलिए वे सब पुनः अर्हत कहाये। बौद्ध श्रावक, निर्ग्रंथी, और सिद्धपुत्र (जैनी) ये सब दुष्ट बुद्धि वाले अर्हन्त के नाम से जाने गए। अब पाखण्डी और अर्हत की परिभाषा के बाद मायावादी की परिभाषा पर आते हैं :-

पूर्णे कलियुगे प्राप्ते आर्यावर्ते चलिष्यति। मायावादमसच्छास्त्रं वदिष्यन्ति नराधमा: ॥
अद्वैतनिंदानिरताः प्रच्छन्नग्रंथगौरवा:। अन्यदर्शनसिद्धांतं नैव जानन्ति तत्वतः ॥
संसारतत्वमित्येव परं ते तत्ववादिनः। मायाविलसितंविश्वमिति मायैकवादिनः ॥
अद्वैतं शिवमीशानमज्ञात्वा नैव मुच्यते। घोरे कलियुगे प्राप्ते श्रीशंकरपराङ्मुखा: ॥
तत्त्वं संसार इत्येव न बाध्य: सत्य एव हि। वदत्यतस्तत्ववादी मिथ्यावादी स उच्यते॥
मिथ्याभूतः प्रपञ्चोऽयं मया निर्मित इष्यते। मायावादिन इत्येते वस्तुतस्तत्ववादिनः ॥
(सौर उपपुराण)

अर्थात्, कलियुग के आने पर आर्यावर्त में पापी मनुष्यों के माध्यम से असत् शास्त्र एवं मायावाद का बोलबाला हो जाएगा। वे लोग अद्वैतसिद्धांत की निंदा करने वाले और मनमाने ग्रंथों से स्वयं को गौरवांवित अनुभव करेंगे, उन्हें अन्य दर्शनों का तत्व भी ज्ञात न होगा। वे कहेंगे कि यह संसार एक शाश्वत तत्व है और इसीलिए हम तत्ववादी हैं। यह सम्पूर्ण विश्व माया की सत्ता से स्थित है, ऐसा कहने वाले मायावादी ही होंगे।

ईशान शिव के अद्वैत मत को न जानने से उनका मोक्ष नहीं होगा और घोर कलियुग आने पर वे शांकर सिद्धान्तों से विमुख हो जाएंगे। वे मायावादी कहेंगे कि यह संसार सत्य है इसीलिए इसका कोई पराभव या मिथ्यावादिता नहीं है, और इस प्रकार स्वयं को तत्ववादी बताने वाले वे लोग वस्तुतः मिथ्यावादी ही होंगे। यह संसार मिथ्या से निर्मित है (इसीलिए ब्रह्म भी मिथ्या ही है) और यह संसार मुझसे (स्त्री पुरुष के मैथुन से) ही प्रवर्तित है, ऐसे कहने वाले स्वघोषित तत्ववादी ही मायावादी होते हैं। इस प्रकार से श्रीआद्यशंकराचार्य जी का सिद्धांत मायावाद नहीं है, पाखण्डवाद नहीं है और न ही श्रुतिविरुद्ध है। अपितु सर्वत्र ही जिस मायावाद, असत शास्त्र, प्रच्छन्न बौद्ध का वर्णन है वह तो कापालिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि अद्वैतनिंदक मायावादी लोगों के विषय में कहा गया है। ब्रह्मनाद का उद्घोष करने वाले श्री शंकराचार्य जी तो ब्रह्मवादी ही हो सकते हैं, मायावादी कदापि नहीं। इसीलिए बुद्ध के समर्थक मत वाले कापालिक आचार्य ही शिवावतार पाखण्डवादी ब्राह्मण हैं, न कि पाखण्डवाद का विरोध करने वाले शिवावतार श्रीशंकराचार्य जी। हममें आद्यशंकर गुरुदेव के प्रति थोड़ी भी कृतज्ञता होगी तो हम उनपर अनर्गल कलंक नहीं लगाएंगे। हम देवी सरस्वती, व्यास जी और हनुमान जी के उस कृत्य का सम्मान करंगे जहां उन्होंने आद्यशंकर महाभाग की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया है।

श्लोक में वर्णित शिवावतार ब्राह्मण आचार्यश्री नकुलेश हैं। उन्हें ही नकुलीश, लकुलीश या लकुटीश भी कहते हैं। मेरु तंत्र, मालिनीविजयोत्तर तंत्र आदि में इनके नाम आये हैं। उन्होंने ही कापालिक मत की स्थापना की, जो बौद्धों के सहजयान और वज्रयान से लगभग मिलता जुलता है, हालांकि फिर भी कापालिक खुद को बौद्ध नहीं मानते इसीलिए वे प्रच्छन्नबौद्ध हैं। बौद्धों के सहजयानी सम्प्रदाय का चर्यापद पढ़ें या वज्रयानी सम्प्रदाय का गुह्यसमाज या हेवज्र तन्त्र, कापालिकों से समानता दिख जाएगी। प्रत्यक्ष बौद्धों के साथ इन प्रच्छन्न बौद्धों का भी खण्डन श्री आद्यशंकर गुरुदेव ने किया था। नकुलीश और बुद्ध के मत में समानता है। नकुलीश मायावादी असत शास्त्र वाले प्रच्छन्न बौद्ध भी हैं और शिवावतार भी। दुर्भाग्य से इनके विषय में अधिक ऐतिहासिक जानकारी है नहीं इसीलिए बहुतों ने तो इनका नाम भी नहीं सुना है। आद्यशंकर वो पाखंडी अवतार नहीं जिसका संकेत शिव जी कर रहे हैं। शिवावतार वाममार्गी नकुलीश ने ही कापालिक सम्प्रदाय चलाया जिनको आद्यशंकराचार्य जी ने बौद्धों के साथ ही पराजित किया। अब देखिए, पूर्वाध्याय के तीसरे श्लोक में शिव जी ने स्पष्ट रूप से कापालिक, भस्म धारी अवैदिक चिह्नों से युक्त वेदविमुख विष्णुनिंदक सम्प्रदाय को पाखण्डवादी कहा है, ये सारे लक्षण नकुलीश के सम्प्रदाय में हैं, लेकिन आद्यशंकर के सम्प्रदाय में नहीं हैं। साथ ही आज भी नकुलीश का सम्प्रदाय जीवित है। उनके कापालिक सम्प्रदाय से ही कालमुख साधक निकले जिन्होंने लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आज भी सनातन के मूल सिद्धांतों के लिए एक बड़ी समस्या है।

हिमालय के कुछ साधकों ने बताया कि कुछ कापालिक और वज्रयानी तो इतने दुष्ट होते हैं कि यदि उनके आश्रम क्षेत्र में कोई भी लड़की 12 से अधिक वर्ष की आयु वाली घुस गई तो वे तब तक बलात्कार करते हैं जब तक वो मर न जाये। और ऐसे ही यदि महिला वज्रयानी के शिविर में पुरुष घुस जाए तो बलपूर्वक उससे महिलाएं इतना बलात्कार करती हैं कि पुरुष का प्राणान्त हो जाये। इनका विरोध विशेष कर ब्राह्मणों से रहता है और ये उन्हें मारकर उनकी हड्डियों की माला पहन लेते हैं। हेवज्र तन्त्र के द्वितीय कल्पराज के दशम जापपटल में वर्णन मिलेगा। मैंने ये ऐसे ही नहीं लिखा। इनके सम्प्रदाय में आठ महिलाओं से सामूहिक सम्भोग करने की भी बात बताई गई है।

जननी भगिनी चैव दुहिता भागिनेयिका।
मातुलस्य तथा भार्या मातृभगिनी च श्वसृका। पितुर्भगिनी तथा चैव अष्टौ विद्याः प्रकीर्तिताः॥
तां च विवस्त्रकां कृत्वा भगं चुम्बयेन्मुहुर्मुहुः। ताभिश्च वृष्यते बोलं गीयते नृत्यते परम्॥

12 से लेकर 24 वर्ष की जो महिला मिल जाये, चाहे जो माता, बहन, बेटी, भांजी, भाभी, चाची, सास, बुआ कोई भी हो, ये उसे नहीं छोड़ते। आगे इनके सम्प्रदाय का नियम है, उस नारी के चयन हो जाने पर :- (अर्थ जानबूझकर नहीं लिख रहा, लगभग सभी विद्वान् लोग सामान्य संस्कृत जानते ही हैं) आपको अभी कटु लग रहा है न। ये जय भीम वाले दुष्टों को ज्ञात हो जाये तो कल हमारे घर भी चढ़ आएंगे धार्मिक स्वतंत्रता का हवाला देकर। विदेशों में मुल्ले धार्मिक स्वतंत्रता के नामपर सामूहिक बलात्कार कर ही रहे हैं। हम तो केवल आप सबों को हरेक मत और सम्प्रदाय के

उन रहस्यों से अवगत करा रहे हैं जो घातक सत्य होने पर भी समाज में नहीं आते। मैं आचार्यश्री नकुलीश का बहुत सम्मान करता हूँ, हमलोग उनके पैरों की धूल के बराबर भी नहीं। लिंग पुराण में उन्हें शिव जी का २८वां अवतार बताया गया है। उन्हें बाद में भैरवत्व की प्राप्ति हुई और कलकत्ता के काली घाट में पीठरक्षक भैरव के रूप में नियुक्ति मिली थी। उन्होंने शिवयोगसूत्रों की भी रचना की थी। इन सूत्रों को पाशुपत सूत्र भी कहा जाता है, जिसपर बाद में आचार्य कौण्डिन्य ने पंचार्थ भाष्य लिखा था। कूर्म पुराण, वायु पुराण, और स्कंद पुराण (अवंती खण्ड) के अनुसार उनका जन्म कायावतार क्षेत्र के (वर्तमान में गुजरात के वडोदरा में) एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने चार शिष्यों (कौरुष्य, गर्ग, मित्र और कुशिक) के साथ पाशुपत मत को स्थापित किया। उनका काल महाभारत के समय का माना जाता है। आचार्यश्री नकुलीश ने हठयोग और सांख्य तन्त्र (द्वैतमत वाला) को प्रचारित किया। उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य (ऊर्ध्वरेता) का भी समर्थन किया था।

हालांकि उन्होंने भी अपने जीवनकाल में तात्कालिक जैन तथा बौद्धों के साथ बहुत शास्त्रार्थ किये और उनका विरोध किया। लेकिन बाद के कापालिक और बौद्ध आपस में मिल गए और नकुलीश तथा बुद्ध के मूल सिद्धांतों की भीषण दुर्गति कर दी। बाद में द्वैतवादी कापालिक और बौद्धों को एक साथ आद्यशंकराचार्य जी ने हराया। पूर्वकाल में बौद्धों को हराने वाले शिवावतार मायावादी असत शास्त्र वाले ब्राह्मण आचार्यश्री नकुलीश ही थे। उन्होंने शिव जी की स्वामी भाव से उपासना की थी। अर्थात् वे स्वयं को स्वामी और शिव को सेवक मानते थे। इसीलिए शिव जी सदैव आज्ञाकारी बनकर उनकी सेवा किया करते थे। हालांकि यह उनकी तपस्या, ब्रह्मज्ञान और भक्ति का ही प्रभाव था कि शिव जी ने उनपर ऐसी कृपा की। पार्वती जी को शिव जी ने पद्मपुराण वाले प्रसङ्ग में जहाँ पाखण्डवाद के बारे में कहा है, वहां पाशुपत मत वाले विष्णुनिंदक कापालिक, ये शब्द बार बार स्पष्ट रूप से आया है। उसी प्रकरण में आगे शिव जी ने ब्राह्मण परिवार में आकर मायावाद, असत शास्त्र, प्रच्छन्न बौद्ध वाले अवतार के बारे में कहा है। गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रह में वर्णन है कि कापालिक आचार्यों ने (श्रीनाथ आदि गुरुत्रय के दूतों ने) भगवान् विष्णु के चौबीसों अवतारों के शीश काट कर उनके कपाल को धारण कर लिया था जिस कारण उन्हें वेदबाह्य कर दिया गया था। वहीं से कापालिकों का पतन शुरू हुआ जो देवताओं का मुख्य उद्देश्य भी था और जिसका वर्णन पद्मपुराण वाले प्रसङ्ग में भी है। इसके अतिरिक्त प्रमाणों पर ध्यान दें :-

कल्यब्दे द्विसहस्रान्ते लोकानुग्रहकाम्यया। चतुर्भि: सह शिष्यैस्तु शंकरोऽवतरिष्यति॥
(भविष्य पुराण)

अर्थ :- " कलि के दो सहस्र वर्ष व्यतीत होने के पश्चात लोक अनुग्रह की कामना से श्री सर्वेश्वर शिव अपने चार शिष्यों के साथ अवतार धारण कर अवतरित होते हैं।

निन्दन्ति वेदविद्याञ्च द्विजा: कर्माणि वै कलौ। कलौ देवो महादेव: शंकरो नीललोहित:॥
प्रकाशते प्रतिष्ठार्थं धर्मस्य विकृताकृति:। ये तं विप्रा निषेवन्ते येन केनापि शंकरम्॥

कलिदोषान्विनिर्जित्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥
(लिंगपुराण)

अर्थ :- कलि में ब्राह्मण वेदविद्या और वैदिक कर्मों की जब निन्दा करने लगते हैं ; रुद्र संज्ञक विकटरुप नीललोहित महादेव धर्म की प्रतिष्ठा के लिये अवतीर्ण होते हैं। जो ब्राह्मणादि जिस किसी उपाय से उनका आस्था सहित अनुसरण सेवन करते हैं ; वे परमगति को प्राप्त होते हैं।

कलौ रुद्रो महादेवो लोकानामीश्वर: पर:। न देवता भवेन्नृणां देवतानां च दैवतम् ॥
करिष्यत्यवताराणि शंकरो नीललोहित:। श्रौतस्मार्त्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ॥
उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम्। सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदानदर्शितान् ॥
ये तं विप्रा निषेवन्ते येन केनोपचारत:। विजित्य कलिजान्दोषान्यान्ति ते परमं पदम् ॥
(कूर्मपुराण)

अर्थ:- " कलि में देवों के देव महादेव लोकों के परमेश्वर रुद्र शिव मनुष्यों के उद्धार के लिये उन भक्तों की हित की कामना से श्रौत-स्मार्त -प्रतिपादित धर्म की प्रतिष्ठा के लिये विविध अवतारों को ग्रहण करेंगें। वे शिष्यों को वेदप्रतिपादित सर्ववेदान्तसार ब्रह्मज्ञानरुप मोक्ष धर्मों का उपदेश करेंगें। जो ब्राह्मण जिस किसी भी प्रकार उनका सेवन करते हैं ; वे कलिप्रभव दोषों को जीतकर परमपद को प्राप्त करते हैं।

व्याकुर्वन् व्याससूत्रार्थं श्रुतेरर्थं यथोचिवान्। श्रुतेर्न्याय: स एवार्थ: शंकर: सवितानन: ॥
(शिवपुराण-रुद्रखण्ड)

अर्थ:- "सूर्यसदृश प्रतापी श्रीशिवावतार आचार्य शंकर श्री बादरायण - वेदव्यासविरचित ब्रह्मसूत्रों पर श्रुतिसम्मत युक्तियुक्त भाष्य संरचना करते हैं।" इससे स्पष्ट संकेत हो जाता है कि वहां लक्षणों से आचार्य नकुलीश की ही बात है। वही मायावादी असत् शास्त्र वाले प्रच्छन्न बौद्ध हैं। आद्यशंकराचार्य जी का न तो नाम है, न वहां वर्णित बातें उनके जीवन से मिलती हैं। आगे मैं प्रमाण और तर्कों से अपना मत सिद्ध कर चुका हूँ। मेरे दृष्टिकोण से न तो शंकराचार्य जी का अपमान हो रहा है, न पद्मपुराण गलत हो रहा है। अपितु वह ऐतिहासिक सत्य, जिसे हम भूल रहे थे या ध्यान नहीं दे रहे थे, वह सामने आ रहा है जो सर्वथा ग्रंथ और इतिहास के अनुकूल है।

--*

इस्कॉन का छद्म सिद्धान्त

जो इस्कॉन आदि के लोग केवल कथित भक्ति के नाम पर वर्णाश्रम की मर्यादा की दुर्गति कर रहे हैं, म्लेच्छ गुरुओं से वेदान्त प्रवचन करा रहे हैं, केवल गीत भजनादि को ही सर्वोपरि कह के श्रुति मर्यादा को नष्ट कर रहे हैं, साथ ही कृष्णभक्ति के नाम पर वेदोक्त कर्मों को छोड़कर शिवादि की निंदा कर रहे हैं, उनके विषय में कहा गया है,

रुद्रस्य चिन्तनाद्रुद्रो विष्णुः स्याद्विष्णुचिन्तनात्। दुर्गायाश्चिन्तनाद्दुर्गा भवत्येव न संशयः॥
यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा शिव एव सा। तत्र यः कुरुते भेदं स एव मूढधीर्नरः॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्। भेदकृन्नरकं याति रौरवं पापपूरुषः ॥
(मुण्डमाला तन्त्र)

(निराकार ब्रह्म में) रुद्र की भावना करने से वह रुद्र बन जाता है, विष्णु की भावना से विष्णु तथा दुर्गा की भावना से दुर्गा बन जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जैसे शिव हैं, वैसे ही दुर्गा है। जो दुर्गा हैं, वही शिव हैं। जो मनुष्य इनमें भेद की कल्पना करता है, वही मूर्ख है। देवी, विष्णु एवं शिव आदि में एकत्व की भावना करें। जो पापी इनमें भेद करता है, वह रौरव नरक जाता है।

भविता फलरूपश्च येषां धर्मः सनातनः। ते न निन्दन्ति देवांश्च धर्मान्वेदान्मतानि च॥
(माहेश्वरतन्त्र, षोडश पटल)

जिनका धर्म सनातन है, वे देवों की, धर्मों की, वेदों और अन्य (पाशुपत, पांचरात्र आदि) मतों की निंदा नहीं करते, इसीलिए उनकी तपस्या फलरूप में परिणत हो जाती है।

तस्माद्वर्णाश्रमाचारभ्रष्टे नरचतुष्पदे। नैव ज्ञानं तथा भक्तिर्यथार्थोदेति निश्चयः॥
(माहेश्वरतन्त्र, षोडश पटल)

वर्णाश्रम के आचार से भ्रष्ट व्यक्ति चौपाये जानवर के समान हैं। यह निश्चित है कि उस आचारभ्रष्ट में न तो ज्ञान ही होता है, और ही भक्ति यथार्थ रूप से उदित होती है।

कलौ च भारते देवि !! निन्दका बहवो जनाः। शिवनिन्दापराः केचिद्विष्णुनिन्दापराः परे॥
सर्वेषां देवतानां च देवीनां च तथैव च। सततं कुर्वते निन्दां नात्र कुर्यु विचारणाम्॥
(महिषमर्दिनीतन्त्र)

हे देवि! कलिकाल में भारत के अधिकतर लोग निंदापरायण होते हैं। कोई शिव निंदा में तत्पर है तो कोई विष्णु निंदा

में। कोई कोई तो समस्त देवता एवं देवियों की ही सर्वदा निंदा में तत्पर हैं, इस विषय में कोई विचार नहीं करता।

देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्। भेदकृन्नरकं याति यावदाहूतसम्प्लवम्॥
(शाक्तानंदतरंगिणी)
एकं प्रशंसति यस्तु सर्वानेव प्रशंसति। एकं निन्दन्ति यस्तेषां सर्वानेव विनिन्दति॥
(शिवपुराण)

देवी, विष्णु और शिव में एकत्वबुद्धि रखनी चाहिए, उनमें भेद करने वाला प्रलयकाल तक नरक में रहता है।(ब्रह्म के सभी सगुण रूपों में) जो एक की भी प्रशंसा करता है, वह सबों की प्रशंसा करता है तथा एक की भी निंदा करने वाला सबों की निंदा करता है।

आत्मानं वैष्णवं मत्वा अधमा भारते कलौ। कर्णे कण्ठे तथा हस्ते हृदये नगनन्दिनि॥
विधृत्य तुलसीमालां तिलकं हरिमंदिरम्।
गृह्णीयुर्हरिनामानि सुस्वराणि गृहे गृहे। अन्नस्य सञ्चयं कुर्युः पाखण्डा मानवाधमाः॥
तेषां पापं महेशानि वर्णितुं नैव शक्यते। विहाय संध्यां गायत्रीं हरेर्नाम स्मरेद्यदि॥
यान्यक्षराणि नाम्न्येव वसन्ति च शुचिष्मिते। तावत् संख्यान्यनेकानि पापानि च पदे पदे॥
(महिषमर्दिनीतन्त्र)

कलियुग में भारत के अधम व्यक्ति स्वयं को वैष्णव मानकर कान, कण्ठ, हाथ तथा हृदय में तुलसीमाला, श्रीतिलक आदि चिह्न धारण करके घर घर मात्र उदरपूर्ति के लिए भगवान् का नाम गाते हुए घूमेंगे। हे महेशानि ! मैं उन लोगों के पापों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ। सन्ध्या तथा गायत्री का (अवहेलना पूर्वक) परित्याग करके जो कोई हरिनाम का स्मरण करता है, उस नाम में जितने अक्षर होते हैं उतने जन्मों तक उसे उतनी संख्या तक बहुत पाप भोगना पड़ता है।

--*

वैकुण्ठ, गोलोक आदि नित्य हैं या अनित्य हैं ?

शंकराचार्य जी के अनुयायी अनित्य मानते हैं, रामानुजाचार्य जी के अनुयायी नित्य मानते हैं। अपने अपने पक्ष में दोनों शास्त्रवाक्य भी देते हैं जो सर्वथा प्रामाणिक ही हैं। दोनों के विवादों से त्रस्त समाज फिर हमारी ओर देखने लगता है। विषय संवेदनशील है, अशास्त्रीय वाणी ब्रह्महत्या देती है किन्तु संक्षेप में बता रहा हूँ।

केवलाद्वैतवादी भगवान् शंकराचार्य जी व्यतिरेक विधि से ब्रह्मबोध कराते हैं। व्यतिरेक मतलब सब हटाते जाओ, सब मिटाते जाओ, जो बच जाए वह ब्रह्म है। भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः … विशिष्टाद्वैतवादी भगवान् रामानुजाचार्य जी अन्वय विधि से ब्रह्मबोध कराते हैं। सब को जोड़ते जाओ, सबको बनाते जाओ, जो सर्वत्र दिखे, वह ब्रह्म है। वासुदेवः सर्वमिति … इसीलिए मैंने धुरन्धर संहिता में लिखा - निषेधेन विधानेन द्विधा तद्ब्रह्म दृश्यते। सबका निषेध अथवा सबका समर्थन, दो प्रकार से ब्रह्मदर्शन होता है। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् …

व्यतिरेकविधि के साथ पराप्रकृतिजन्य भी कुछ नहीं बचता तो वहां व्यतिरेकोपासक चेतन के लिये ब्रह्म वैकुण्ठ आदि को अन्तर्हित करके आत्मविष्ट करा देते हैं और ऐसे चेतन को आत्मबोध होने पर वैकुण्ठ की बाह्य स्थिति का बोध नहीं होता इसीलिए उसके लिए वह अनित्य है। अन्वयविधि के साथ पराप्रकृतिजन्य दिव्य धाम की आवश्यकता है तो वहां अन्वयोपासक चेतन के लिये ब्रह्म वैकुण्ठ आदि को बाह्याचार करके प्रत्यक्ष करा देते हैं और ऐसे चेतन को आत्मबोध होने पर वैकुण्ठ की बाह्य स्थिति का बोध होता इसीलिए उसके लिए वह नित्य है। नित्यौ वैकुण्ठगोलोकौ …

अतएव वैकुण्ठ आदि नित्य और अनित्य दोनों हैं। जब नित्य कहें तो अर्थ है कि चेतन अन्वयविधि से आत्मबोध कर चुका है अतः निजेच्छा से वैकुण्ठ का प्रारूप पराप्रकृति के बाह्यविलास हेतु है। जब अनित्य कहें तो अर्थ है कि चेतन व्यतिरेकविधि से आत्मबोध कर चुका है अतः निजेच्छा से वैकुण्ठ का प्रारूप पराप्रकृति के अन्तर्विलास हेतु है। यही अव्यक्ताद्वैतवादी मुझ निग्रहाचार्य का सिद्धान्त है। व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते …

--*

जिज्ञासुओं एवं कुतर्कियों के साथ प्रश्नोत्तर

खण्ड – ०१ (जिज्ञासु)

(१) प्रश्नकर्ता :- मेरा प्रश्न है कि जीव पूर्वजन्म के कर्मों का फल क्यों भोगे जब कि उसे याद नहीं और पता भी नहीं ?

श्रीभागवतानंद गुर :- कर्मफलों का अस्तित्व स्मृति पर आश्रित नहीं है। जिस प्रकार हमारा देह श्वास लेता रहता है, परन्तु हम सर्वदा उसकी गणना नहीं कर सकते, परन्तु फिर भी उसके कारण प्रभावित होते हैं, वैसे ही स्मृतिहीन श्वास की भांति स्मृतिहीन कर्म भी फलित होते हैं। जिस प्रकार हम किसी वृक्ष का रोपण करके भूल जाएं फिर भी वह वृक्ष हमारी स्मृतिहीनता के होने पर भी अस्तित्वहीन नहीं हो जाता है, अपितु अपने नियत काल में फलित होता है, वैसे ही हमारे स्मृतिनाश के बाद भी कृत कर्म नियत काल में फलित होते हैं।

(२) प्रश्नकर्ता :- उसे अपना पूर्व जन्म याद क्यों नहीं ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- और मृत्यु का कष्ट जीव के स्मृति संग्रहण (मन रूपी अस्थाई संग्रहण तथा चित्त रूपी स्थाई संग्रहण) की क्षमता को भगवान् की इच्छा से निष्क्रिय कर देता है।

वेदनाभिः परीतात्मा तद्विद्धि द्विजसत्तम। जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः॥
दृश्यन्तेसन्त्यजंतश्च शरीराणि द्विजर्षभ। गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे॥
(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व)

जन्म और मृत्यु के समय हुए अपार मर्मभेदी कष्ट के कारण जीव का विशेष स्मृतिनाश होता है, अतएव उसे सामान्यतः अपना पूर्व जन्म स्मरण नहीं रहता।

विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः।
×××
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिः गतः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

पूर्वजन्म की विस्मृति उन घटनाओं को नष्ट नहीं करती जो पूर्व में घटित हुई थे, न ही उनके परिणामों को प्रभावित करती है इसीलिए कर्मफल स्मृति पर आश्रित नहीं।

(३)प्रश्नकर्ता :- माया और अविद्या ब्रह्म की प्रपञ्च उत्पादिनी शक्ति है, यानी ब्रह्म की ही शक्ति है तो वो अनादि काल से जीव को क्यों फँसाये हुए हैं ?

श्रीभागवतानंद गुरु :-

सर्वं ब्रह्ममयं ह्येतत् संसारस्थूलसूक्ष्मकम्। प्रकृत्या तु विना नैव संसाराद्युपपद्यते॥
(कुमारी तन्त्र)
या सा प्रकृतिरुद्दिष्टा मोहिनी सर्वदेहिनाम्। पुरुषः प्रकृतिस्थोऽपि भुङ्क्ते यः प्राकृतान्गुणान्॥
(अद्भुत रामायण)
मनुष्यचर्मणा बद्धः स रुद्रो नात्र संशयः।
(शिवधर्म उपपुराण)

स्थूल तथा सूक्ष्म, दोनों ही संसार ब्रह्ममय ही है, जिसका निर्माण मायाशक्ति के बिना सम्भव नहीं। अतएव संसार का उपभोग करने हेतु जीव के साथ प्रकृति का होना आवश्यक है। हमने जिसे प्रकृति के नाम से बताया, वह सभी देहधारियों को मोहित करने वाली है। इसी प्रकृति (के संसार) में स्थित होकर इसके (त्रि)गुणों का उपभोग पुरुष करता है। हमने जिसे पुरुष के नाम से बताया, वह मनुष्य की चमड़ी से आवृत्त हुआ दुःखनाशक ब्रह्म ही है इसमें संशय नहीं।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥
(ईश्वरगीता)

(उस पुरुष का स्वभाव) अविनाशी, सर्वव्यापी, निश्चल और निर्दोष है। वह केवल शक्ति (आसक्तिरहित यौगिक प्रयत्न) से ही माया के बंधन को तोड़ सकता है, ऐसे ही प्रयत्नरहित स्वभाव से नहीं।

जीवेन च जगत्सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः। स जीवः पुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः॥
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा आत्मानं कायरूपिणम्। आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातं स योगिराट्॥
स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत्परः। सुविशुद्धः सदा देवि पंकस्थमिव पंकजम्॥
मानुष्यं पिण्डमाश्रित्य स शिवः क्रीडते भुवि। इत्थम्भूत परात्मानं येन ज्ञातं सुभामिनि॥
(महायोगिनीकौलज्ञाननिर्णय, सप्तदश पटल)

इस जीव के कारण ही संसार की रचना हुई है और यह जीव ही समस्त तत्वों का स्वामी है। वही निर्विकार हंसरूप है, कल्याणकारी है, सर्वव्यापी है और अगम्य है। आत्मा से ही आत्मा को जाना जा सकता हूं, इसी देह में स्थित आत्मा को जिसने जान लिया, वही योगिराज है। वह साक्षात् शिव कहाता है, स्वयं भी मुक्त होकर अन्य को भी मुक्त कर सकता

है। जिस प्रकार कीचड़ में स्थित होकर भी कमल पंकयुक्त नहीं होता, वैसे ही वह मनुष्य देह में रहकर भी उससे बिना लिप्त हुए विहार करता है।

ज्ञातव्या देहमध्ये तु तत्वरूपा स्थिता प्रिये। सर्वज्ञा यत्र संलीनं लयं च शक्तिगोचरे॥
शिवमध्ये गता शक्तिः क्रियामध्य स्थित: शिवः। ज्ञानमध्ये क्रिया लीना क्रिया लीयति इच्छया।
इच्छाशक्तिर्लयं याति यत्र तेजः परः शिवः॥
(कौलज्ञाननिर्णय)

इस स्थिति को कैसे प्राप्त करते हैं, इस विषय में आगे कहते हैं :- देह के मध्य में (चौबीस) तत्व हैं जिनके मध्य जीव है। इसी जीव को आत्मशक्ति का बोध होने पर वह अपनी शक्ति को शिवतत्व में लीन करता है। वह शिव क्रिया में लीन होता है, क्रिया ज्ञान में इच्छाशक्ति की सहायता से लीन होती है तथा जहां इच्छाशक्ति का भी लय हो जाता है, वहां तेजोमय परम शिवत्व की स्थिति आती है। (पहले वह जीव होकर परमशिव में लीन करता है और अंत में स्वयं शिव हो जाता है)

देहस्थस्तिष्ठते यावत्तावज्जीवोऽपि गीयते। स देहत्यक्तमात्रेण परं शिवो निगद्यते॥
(कौलज्ञाननिर्णय)

उपर्युक्त वर्णन सर्वसाधारण के लिए अगम्य होने से सरल भाव में वर्णन करते हुए कहते हैं कि वही तत्व जब तक देहाश्रित है तब तक जीव है, देहाश्रित स्थिति से मुक्त होने पर वही शिव है।

मनो बुद्धिस्तथा चित्तं क्षिप्त्वा तन्मयतां गता। यथा तिष्ठति तत्वस्थ: शिवनिष्कलमव्यये॥
(अकुलवीर तन्त्र)

इस (लय प्रक्रिया) के लिये मन, बुद्धि और चित्त का नियंत्रण करके आत्मतत्व का चिंतन करते हुए जब समत्व को प्राप्त कर लेता है, तो वह निर्मल और अविनाशी शिवतत्व में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए। मन, बुद्धि आदि के नियंत्रण की अनिवार्यता क्यों है, इस संदर्भ में निम्न उक्ति है:-

मनो बुद्धिरहंकारो जीवस्य सहकारिणः। स्वकर्मवशतस्तात फलभोक्तार एव ते॥
सर्वं वैषयिकं तात सुखं वा दुःखमेव वा। त एव भुंजते नात्मा निर्लेप: प्रभुरव्ययः॥
(महाभागवत उपपुराण)

मन, बुद्धि और अहंकार आदि जीव के सहयोगी बनकर उसे कर्म में प्रेरित करते हैं। प्रेरक होने से कर्मफल का उपभोग भी वही करते हैं लेकिन अज्ञानावृत्त जीव उनसे संलग्न होने से विषयजन्य सुख अथवा दुःख का भोक्ता स्वयं को मान

लेता है, जबकि वस्तुतः निर्लेप, अविनाशी स्वामीरूप आत्मा फलभोगी नहीं है। ऐसा इसीलिए है, क्योंकि :-

कुरुते कर्म तंत्राणि देहभोगार्थमेव हि। स देहः पुरुषाद्भिन्नः पुरुषः किं समश्नुते ?

(महाभागवत उपपुराण)

देह के उपभोग हेतु ही कर्मजाल का विस्तार होता है। जब वह देह ही पुरुष से भिन्न है तो वस्तुतः पुरुष क्या उपभोग करेगा ? तत्वतः तो उसे मात्र उपभोग की प्रतीति होती है।

अहमेव परो हंसः परमात्मा परात्परः।

(स्वच्छन्द तन्त्र)

फलं त्यक्त्वा कर्मकरणम्।

(परशुरामकल्पसूत्रम्)

आत्मतत्व के चिंतन से ही इस अज्ञानावृत्त स्थिति का नाश सम्भव है। मैं परमहंस हूँ, अगम्य से भी अगम्य ब्रह्म हूँ, यही आत्मतत्व का चिंतन है। इसकी प्राप्ति कैसे हो, इसके लिए कहते हैं :- फलासक्ति का परित्याग करके कर्म में प्रवृत्त होने से ही आत्मतत्व के चिंतन की प्राप्ति सम्भव है।

(४)प्रश्नकर्ता :- मेरा सबसे गुरुत्व पूर्ण प्रश्न, यह जीव अनादि काल से अविद्या और माया में फँसा हुआ है, फिर जो कोई भी आत्मज्ञान की ओर अग्रसर है, वो अबतक क्यों अविद्या में फंसे हुए थे, और अब क्यों ये ज्ञान हो रहा है ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- ब्रह्म की शक्ति ही माया है। कुछ लोग ईश्वर की इस शक्ति को माया और विद्यारूपी दो भेद वाली जानते हैं। अग्नि और उष्मा, जल और तरलता, की भांति इस माया का सम्बंध भी ब्रह्म से तद्वत ही जानना चाहिए।

माया विद्या च शक्ति द्वे परमा च सनातनी।

(बृहद्धर्म उपपुराण)

व्यवहारदृशा सेयं विद्या मायेति विश्रुता।

(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण)

अन्य जनों के मत में माया और विद्या भिन्न नहीं है, अपितु विद्या ही माया है। कुछ आगमतत्वज्ञानी माया को रक्षा करने वाली, विद्या को मुक्त करने वाली और अविद्या को बद्ध करने वाली कहते हैं। जिस प्रकार से जल स्वतः निम्नगामी होता है, उसकी प्रवृत्ति ही वैसी है, उसी प्रकार जीव भी स्वभावतः मुमुक्षु होता है। परन्तु जैसे मार्ग में बांध, पर्वत आदि के अवरोधों से नदियों की गति बाधित हो जाती है, वैसे ही कुसंगति और अविद्या के प्रभाव से जीव का मोक्षमूलक साधन

भी बाधित होता है। पुनः जैसे जल के जमा हो जाने से वेगबाहुल्य मार्ग में अवरोधक को हटा कर आगे बढ़ जाता है, वैसे ही अनेक जन्मों के पुण्यप्रयत्नों से संस्कृत होकर प्रारब्धजन्य संस्कारबाहुल्य से अविद्या का अवरोध भी क्षीणता को प्राप्त हो जाता है जिससे जीव की प्रवृत्ति पुनः आत्मज्ञान की ओर हो जाती है।

कण्ठचामीकरसममज्ञानात्तु तिरोहितम्। ब्रह्मैव सन्स्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण)

जैसे भ्रमवश गले में पहना हुआ स्वर्ण आभूषण भी खोया हुआ सा प्रतीत होता है, वैसे ही जीव की भी अविद्याजन्य भ्रम के कारण ब्रह्मबोध से विस्मृति हो जाती है। पुनः किसी नैमित्तिक कारण से जैसे आभूषण की पुनः स्मृति हो जाती है, और जिससे स्मृतिमात्र से ही चिंता का स्वभावतः शमन हो जाता है, वैसे ही सद्गुरु के उपदेश आदि नैमित्तिक कारणों से ब्रह्मज्ञान की पुनः स्मृति हो जाती है और तत्काल संसारजन्य क्लेशों का स्वभावतः शमन हो जाता है।

सर्वाऽमृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात्। प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यं चित्तसत्वेनाऽनुवर्तनात्।तम्प्रतिष्ठा गृहपीठवत्।
मिथोऽपेक्षणादुभयम्। चेत्याचितोर्न तृतीयकम्। युक्तौ च सम्परायात्।
(शांडिल्यभक्तिसूत्रम्)

सभी जीवबिंबों को एकसाथ ही ब्रह्मबोध नहीं होता, एक ही गुरु से सभी शिष्यों को भी एकसाथ आत्मज्ञान नहीं होता है, क्योंकि बुद्धि का साम्राज्य अनंत है। प्रकृति के अंतराल से (अनेक जन्म तथा साधनों से) चित्त में सत्वभावों का स्फुरण होने लगता है। जैसे कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा हो, लेकिन यदि कुर्सी घर में हो तो हम उसे घर में बैठा हुआ भी कहते हैं, वैसे ही देहस्थित जीव भी यदि ब्रह्मभाव में स्थित हो तो हम उसे ब्रह्मलीन तथा जीवन्मुक्त ही मानते हैं।

वे (ब्रह्म और माया) देखने से भिन्न और जानने से एक हैं। अर्थात् भौतिक दृष्टि से उनकी भिन्नता है तथा आत्मदृष्टि से ब्रह्म और माया में एकाकारता है। वे ही चेत और चित्य (चेतना और उसके क्रियान्वयन का आधार) हैं, तीसरे की बात हम नहीं जानते क्योंकि मूलतः ब्रह्म ही माया का उपभोग करके के लिए जीवभाव को ग्रहण करता है। उन दोनों (ब्रह्म और माया) के संयुक्त रूप से कार्य करने से ही जीवजगत की संभावना होती है।

तथापि सृष्टिर्न भवेदिति ज्ञात्वा महेश्वरी। पुरुषांश्च द्विधा चक्रे जीवं च परमन्तथा॥
जीवस्तु परमोपाधिं पुरुषं तं मयाक्षितम्। सदा पश्यन्याति तत्वं नैव सृष्टिस्तदाभवत्॥
मायाभूद्वशगा पुंसः परमस्य ययावृतम्। परमं नेक्षते जीवः पुरुषं पुरुषो यतः॥
(बृहद्धर्म उपपुराण, मध्यखण्ड)

पूर्वकाल में सृष्टि की इच्छा से युक्त होकर ब्रह्म ने अपनी माया शक्ति का प्रयोग करना चाहा, परन्तु कूटस्थ होने से सृष्टि

सम्भव नहीं हुई। इसीलिए माया ने पुरुषतत्व को जीव और परमात्मा के रूपों में विभक्त कर दिया। उस समय जीवांश को अपने ब्रह्मरूप का बोध बना रहा इसीलिए सृष्टि विस्तार पुनः रुक गया। अतएव पुनः माया ने उन दोनों के मध्य (अ) विद्या का रूप धारण करके आवरण बना दिया जिससे उस जीव का ब्रह्मज्ञान विस्मृत हो गया।

शुद्धसत्वप्रकृत्यां यो बिम्बित: स महेश्वर:। जीवो मलिनसत्वायां तामस्यां भूतपञ्चकम्॥
सर्वज्ञ ईश: समष्टिर्जीवोऽज्ञो व्यष्टि संज्ञितः। एवं विक्षेपकार्याख्या सृष्टिर्जातिश्वराज्ञया॥
(दत्तात्रेय उपपुराण, द्वितीय अष्टक, द्वितीय अध्याय)

उस समय शुद्ध भाव से जो सत्वयुक्त रहा, वह महेश्वर कहाये और अविद्या के आवरण से मलिन हुए तमोयुक्त पञ्चभूतात्मक जगतवासी को जीव कहा गया। ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि के उद्भव के समय इसी मायाजन्य विक्षेप से सर्वज्ञ ईश्वर को समष्टि और जीवको व्यक्ति की संज्ञा प्राप्त हुई।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं न विदुः काममोहिता:। नाहं प्रकाशतां यामि अज्ञानां पापकर्मणाम्॥
(गणेश उपपुराण, क्रीड़ाखण्ड)

परन्तु अविद्या की मलिनता से ग्रस्त कामनापरक व्यक्तियों को ब्रह्मपद का ज्ञान नहीं होता तथा पापकर्मों से युक्त अज्ञानियों के मन में आत्मज्ञान तथा मुमुक्षत्व का प्रकाश नहीं होता इसीलिए प्रयत्नपूर्वक सत्कर्मों का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि उनसे ही पुण्यबल एवं संस्कारबाहुल्य का निर्माण होता है जो मोक्षमूलक साधनों के मध्य स्थित अवरोधों का नाश करता है।

(५)प्रश्नकर्ता :- अगर पूर्वजन्म के पुण्य के फल हैं तो क्या अनादि काल से अबतक कभी पुण्य नहीं किये थे ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- जिस प्रकार से एक चम्मच जल से स्नान सम्भव नहीं है, दीपक की अग्नि से भोजन बनाना सम्भव नहीं है तथा सूत्रमात्र से वस्त्र निर्माण सम्भव नहीं, भले ही स्नान का जल, दीपक की अग्नि और वस्त्र के तंतुओं में उनकी ही अल्प मात्रा के प्रारूपों में तत्वतः कोई भेद नहीं, उसी प्रकार अल्प पुण्यबल से भी मुमुक्षत्व की प्रेरणा नहीं होती।

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुर:। स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्॥
(अष्टावक्र गीता)

यह उच्च है, यह निम्न है, यह प्रिय है, यह अप्रिय है, यह सुख है, यह दु:ख है, यही भावना संसार रूपी वृक्ष को अंकुरित करके विस्तृत करती है। यह रागद्वेष रूपी स्पृहा जब तक रहती है तब तक समस्त आपत्तियों का निवारण करने वाले मोक्ष का विचार नहीं आता।

तत्पदं ते प्रपश्यन्ति येषां भक्तिर्मयि स्थिरा। नान्यथा कर्मकांडैश्च तपोभिश्चापि दुष्करैः॥
(सौर उपपुराण)

अनेक कठोर तप अथवा कर्मकांड के बाद भी भक्तिरहित व्यक्ति ब्रह्मपद का अवलोकन नहीं कर पाते क्योंकि भक्तिरहित मन में रागद्वेष का वास सर्वदोषकारक मलिनता को पोषित करता है।

यत्स्थानं च जनाकीर्णं तत्र स्थातुं न युज्यते। उपद्रवो भवेत्तत्र नास्तिकैर्ज्ञानदुर्बलैः।
नास्तिका यत्र तिष्ठन्ति तत्र धर्मो न विद्यते॥
(कपिल उपपुराण)

इसीलिए आत्मचिंतन के द्वारा मुमुक्षत्व की इच्छा रखने वाला व्यक्ति भीड़भाड़ से दूर रहे क्योंकि भीड़ में ज्ञानहीन नास्तिकों के द्वारा उपद्रव किये जाते हैं। इसीलिए जहां नास्तिक जन निवास करते हैं, वहाँ धर्म नहीं ठहरता। धर्महीन स्थान पर रहने से पुण्यहानि और पापवृद्धि होती है।

(६)प्रश्नकर्ता :- जैसे परमात्मा एक है, वैसे जीवात्मा कितने हैं, यानी जीवात्मा की संख्या कितनी है ?

श्रीभागवतानंद गुरु :- जिस प्रकार ब्रह्म एक है, उसी प्रकार जीव भी एक ही है। जैसे व्यक्ति एक ही है और उसका प्रतिबिम्ब भी एक ही है परन्तु जहां जहां दर्पण लगाए जाएंगे, वहां वहां प्रतिबिम्बों की विविधता की प्रतीति होती है, वैसे ही जहां जहां ब्रह्म माया के त्रिगुणात्मक विक्षेप से युक्त होता है, वहां वहां जीवत्व के विविधता की अनुभूति होती है। परन्तु जीवत्व की विविधता मात्र माया के कारण प्रतीत होती है, वास्तव में ऐसा है नहीं।

तथैव कल्पितं भेदो जीवात्मपरमात्मनोः। यथा जीवबहुत्वं च माययैव न च स्वतः॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण)
इदं हि सकलं देवि सर्वं मायामयं पुनः। मिथ्यैव सकलं देवि सत्यं ब्रह्मैव केवलम्॥
(योगिनी तन्त्र)

यह समग्र संसार मायामय होने से त्रिगुणमय विक्षेप से युक्त है अतः प्रतीति का बाहुल्य है परन्तु यह सब नश्वर तथा परिवर्तनीय होने से मिथ्या है। ब्रह्म की एकात्मकता की बात ही सत्य है। यह संसार उसी प्रकार जीव का आवृत्त है जैसे फेन, बुलबुला और तरङ्ग आदि जल से आवृत्त है। जैसे स्थूल दृष्टि से देखने पर इन तीनों की जल से पृथक् सत्ता प्रतीत होने पर भी सूक्ष्म दृष्ट्या इनकी जल से एकाकारता है, वैसे ही यह संसार स्थूल दृष्टि से जीव से पृथक् दिखने पर भी उससे आवृत्त है।

यथा न तोयतो भिन्नास्तरंगा फेन बुद्बुदा: । आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥
(अष्टावक्र गीता)

(७)प्रश्नकर्ता :- आत्मा से स्थूल शरीर और अन्तःकरण अलग हो जाये, केवल आत्मा रहे तो उसका अनुभव क्या होगा ? क्या वो सब जान पायेगा या केवल ये जान पायेगा कि मैं हूँ यानी मेरा अस्तित्व है, इतना ही .. !!

श्रीभागवतानंद गुरु :- मैं हूँ, यही ब्रह्मज्ञान है। मैं क्या हूँ, क्यों हूँ, कैसा हूँ, आदि प्रश्न शरीर और अतःकरण से विलग ब्रह्मलीन को नहीं ग्रसते। वह तेल और जल के समान, शीत और अग्नि के समान, रात्रि और सूर्य के समान, स्वभावतः इससे असंयुक्त रहता है। श्रुतियों में ईश्वर को अनादित्व आनंदमय बताया गया हौ। मायामय संसार से मुक्त होकर वह शुभाशुभ अनुभवों से भी मुक्त हो जाता है।

प्रलये महति प्राप्ते सर्वं गच्छति ब्रह्मणि। तत्काले च महाभीमे को गच्छति शुभाशुभम् ॥
(दक्षिणाम्नाय कंकालमालिनी तन्त्र)

निराकार की अनुभूति से ही जन्ममरण के चक्र से मुक्ति सम्भव है क्योंकि साकार परिवर्तनशील होने से शाश्वत नहीं।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्। एतत्तत्वोपदेशेन न पुनर्भव सम्भवः ॥
(अष्टावक्र गीता)

परन्तु निराकार इन्द्रियातीत होने से प्रथमैव गम्य नहीं होता है अतः मुमुक्षु पूर्वकाल में परिवर्तनशील साकार के माध्यम से यात्रा प्रारम्भ करके कूटस्थ निराकार की सिद्धि करता है।

साकारेण विना देवि निराकारं न पश्यति। साकारमूलकं सर्वं साकारञ्च प्रपश्यति ॥
(कुब्जिका तन्त्र)

इसके बाद निराकारत्व से युक्त होते ही वह सर्वव्यापकता को अनुभव करने से समस्त चराचर से आत्मगत होकर निर्विकार हो जाता है और यह सर्वोच्च आनंद की स्थिति होती है।

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन्। दृढेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ॥
(विज्ञानभैरव तन्त्र)

अज्ञानरूपी ग्रंथि के नष्ट होने से सन्देह का नाश होता है। सन्देह के नाश होने से भ्रांति पर विजय प्राप्त होती है। भ्रांति के नष्ट होते ही पुण्य और पाप का कर्मसंचय क्षीण हो जाता है और कर्मफल के नष्ट होते ही जीव की मुक्ति हो जाती

है।

भिन्नाज्ञानग्रंथिर्गतसन्देहः पराकृतभ्रांतिः। प्रक्षीण्य पुण्यपापौ विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः॥
(परमार्थसारकारिका, ६१)

कर्मफल के क्षीण होने में अनासक्ति ही मुख्य कारण है। अनासक्ति से युक्त चेतन को सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वंद्व की अनुभूति नहीं होती क्योंकि इनका अस्तित्व देह पर आश्रित है और अनासक्त जीव देहाश्रित नहीं होता। वह संसार में रहता हुआ तत्वविवेचन करे अथवा देहातीत होकर निर्गुण ब्रह्म में लीन रहे, उसकी स्थिति और स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता है ... सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्...

प्रश्नकर्ता महोदय - सादर चरण स्पर्श आदरणीय !
संध्योपासन की शास्त्रीय विधियों में जब अर्घ्य देने की बात आती है, उस समय ब्रह्मशस्त्र ,ब्रह्मदंड और ब्रह्मशीर्ष नामक अर्घ्य का वर्णन कुछ विशिष्ट ग्रंथों में प्राप्त होता है। इस पर आप हमें समुचित मार्गदर्शन करें।

श्रीभागवतानंद गुरु : मैं इन तीनों की विधि जानता तो हूँ लेकिन बता नहीं सकता। विद्या उचित अधिकारी को जानकर ही दी जाती है और भौतिक रूप से मैं आपसे परिचित नहीं। निकटतम परिचित जनों को भी मैंने आजतक यह विधि नहीं बताई। क्षमा करें, मेरी बात कटु होती है, अशास्त्रीय नहीं। उपर्युक्त तीनों में से प्रत्येक अर्घ्य के मन्त्र भिन्न भिन्न हैं, और प्रत्येक मन्त्र के अधिकार प्राप्ति हेतु समुचित विधि का पालन करना पड़ता है। तृतीय अर्घ्य का अधिकार 2 मास की विधिविशेष के बाद मिलता है। द्वितीय अर्घ्य का अधिकार भी लगभग इतना ही है किंतु प्रथम अर्घ्य का अधिकार सम्भवतः कलियुग में असम्भव सा है क्योंकि इसकी विधि की सिद्धि के लिये सामान्य रीति से प्रतिदिन पंद्रह घण्टे साधना करें तो तीस हजार वर्ष लग जाएंगे। अतः सिद्धि के बिना ही प्रतीकात्मक अर्घ्य देते हैं। यहाँ प्रथम, द्वितीय और तृतीय, ये तीनों अर्घ्य एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। प्रथम के बाद ही द्वितीय का अधिकार मिलेगा, ऐसी बात भी नहीं है। मैंने प्रथम, द्वितीय और तृतीय शब्दों का प्रयोग आपके प्रश्न में उल्लिखित क्रम के अनुरूप किया है। वैसे ये तीनों वास्तव में ब्रह्मास्त्र, ब्रह्मदण्ड और ब्रह्मशिर कहाते हैं। इनका सीधा सम्बन्ध समान नाम वाले दिव्यास्त्रों से भी है। इसके अतिरिक्त अग्नि, शक्ति, पाशुपत, नृसिंह आदि भी होते हैं।

प्रश्नकर्ता महोदय :- आदरणीय ! आपके दर्शन का अभिलाषी हूँ, शायद दर्शन के पश्चात् कहीं सौभाग्य प्राप्त हो सके इस दास को।

श्रीभागवतानंद गुरु: कोई लाभ नहीं... उचित गुरु के मार्गदर्शन में ईश्वर के दर्शन की अभिलाषा रखें... एकमात्र दर्शनीय वही हैं। उस दिशा में ही निःश्रेयस है...मनुष्य का दर्शन केवल दुःख, असंतोष और असफलता ही देता है..

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

प्रश्नकर्ता महोदय :- जी, आदरणीय ! ये तो यथार्थ है लेकिन अगर कहीं से कुछ और अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त हो तो आदरणीय ! उसे ग्रहण करने का सतत प्रयास करना चाहिए ! उपरोक्त समय और मुहूर्त कितने समय पश्चात आता है और साध्य को क्या पात्रता अपने जीवन में रखनी चाहिये ?

श्रीभागवतानंद गुरु : समय और मुहूर्त्त तो प्रति मास एक दो आ ही जाते हैं, लेकिन उससे साथ उचित स्थान, ऋतु, परिवेश आदि की व्यवस्था भी आवश्यक है। साध्य का अर्थ है इष्ट, जिसकी साधना की जा रही है, वह साध्य होता है। इस तपस्या का साध्य स्वयं ब्रह्मविद्या हैं। इसीलिए उन्हें स्वयं किसी पात्रता की आवश्यकता नहीं है। साधना करने वाले को साधक कहा जाता है। जब भी मुझे कोई व्यक्ति किसी कार्य में पात्रता के विषय में पूछता है तो मैं एक ही बात कहता हूँ, जो समस्त पात्रता का मूल है :- जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता ही पात्रता का मार्ग भी है और लक्ष्य भी।

प्रश्नकर्ता महोदय :- जी आदरणीय, महत्वपूर्ण मार्गदर्शन के लिये दास का श्रीचरणों में साष्टांग दंडवत। अपने आपको उपरोक्त ज्ञान का अधिकारी बनाने के लिये आपके द्वारा बताये गये नियम को उतारेंगे।

श्रीभागवतानंद गुरु : स्वागतमस्तु। परमपिता मंगल करें। नारायण ...

प्रश्नकर्ता महोदय :- आदरणीय तो क्या उपरोक्त विधि जो संध्या प्रकरण के अंतर्गत कहा गया है, अगर किया जाये तो संबंधित व्यक्ति इन दिव्यास्त्र के समान हो जाता है ?

श्रीभागवतानंद गुरु : यदि विधि उचित हो, गुरु ब्रह्मनिष्ठ हों और शिष्य अटल भक्ति वाला हो तो इसमें कोई संदेह नहीं कि वह व्यक्ति मूर्तिमान दिव्यास्त्र बन जायेगा।

प्रश्नकर्ता महोदय :- आदरणीय !! शिष्य को किसी भी निर्णय देने की स्थिति में गुरु सदैव शिष्य की योग्यता, उपरोक्त विषय के प्रति समर्पण इत्यादि को देखकर अपना निर्णय देते हैं। दास की श्री चरणों में ये विनती है कि आप भी एक बार अपने इस दास को प्रत्यक्ष रूप से देखकर अपना निर्णय करे। अपितु आपके (गुरु के) निर्णय सदैव शिष्य के जीवन को अंधकार से प्रकाश की ओर ही ले जाते हैं। पश्चात्, आप जो इस दास को कहेंगे, आपकी आज्ञा को अपने इष्ट की आज्ञातुल्य मानकर उसे शिरोधार्य करूंगा।

श्रीभागवतानंद गुरु : आप अपने दीक्षागुरु, सम्प्रदाय परम्परा और दर्शन पद्धति के ऊपर पूर्ण विश्वास रखते हुए अपने गुरुचरणों के मार्गदर्शन के अनुसार ही धर्म का पालन करते हुए कल्याण की सिद्धि करें। इस विषय में, हे महाभाग !! शास्त्र का जो मत मैं जानता हूँ, उसे बता रहा हूँ। ध्यानपूर्वक ग्रहण करें...

जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के दीक्षा गुरु के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर गुरुवत् विश्वास करता है अथवा अपने गुरु के उपदेश का किसी अन्य व्यक्ति से प्रमाणीकरण कराता है, उसे कल्प पर्यंत नरक की प्राप्ति होती है, ऐसा नंदीश्वर उपपुराण का मत है। किंतु कालिका उपपुराण के अनुसार गुरु ही मंत्र के मूल हैं। मूल के शुद्ध होने पर मंत्र भी शुभ एवं सफल होता है। इसीलिए यत्नपूर्वक गुरु बनाने से पहले उसके गुण दोषादि का विचार कर लेना चाहिये। यदि भ्रम, मोह अथवा अज्ञानावृत्त होकर अयोग्य गुरु का चयन कर लिया हो उस स्थिति में क्या करे, इस हेतु महाभारत, रामायण आदि का वचन है कि कार्य तथा अकार्य में ज्ञानरहित तथा उत्पथगामी गर्वित अभिमानी गुरु का त्याग उचित है। कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित मनमानी करने वाले गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए।

वहीं मुण्डमाला तंत्र आदि के अनुयायी यह कहते हैं कि गुरु चाहे उचित हों या अनुचित हों, अथवा पातकी ही क्यों न हों, एक बार उनमें आस्था बन जाने पर अविश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि गुरु में दोषदर्शन की प्रवृत्ति वाला व्यक्ति अन्य योग्य गुरुओं में भी दोषदर्शन करेगा। अतएव गुरु के ऊपर विश्वास की हानि न होने दे। इस मत का विस्तृत परिमार्जन स्कन्दपुराण एवं यामल तन्त्र में इस प्रकार किया गया है :- यदि गुरु दोष से युक्त है अथवा महापातकयुक्त है अथवा अपने गुरु तथा देवताओं की निंदा करने वाला हो, तो उस स्थिति में प्रयत्न करके उसका त्याग करके पुनः यथाविधि नए गुरु का चयन करना चाहिए। क्योंकि जो स्वयं ब्रह्मज्ञान से रहित हो वह शिष्य को ब्रह्मबोध कैसे करा सकता है ? भला कहीं तैरने में असमर्थ पाषाण भी किसी के पारगमन का निमित्त बनेगा ??

स्मृतिकार तथा तन्त्रप्रणेताओं ने यह भी कहा है कि लिखित ग्रंथ, उनका श्रुतिसम्मत अर्थ करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, अकिंचन अवधूत-परमहंस-दण्डी आदि तथा धर्माचरण से पूतात्मा जन सदैव अपने भीतर गुरुतत्व को धारण किये होते हैं। जैसे वायु, जल और सूर्य का प्रकाश सर्वत्र होता है वैसे ही गुरुतत्व भी सर्वत्र व्याप्त होता है। किंतु जैसे व्यक्ति अपने देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार निकटवर्ती जल, वायु एवं प्रकाश का सेवन करता है वैसे ही दीक्षापूर्वक वर्णित गुरु के निकटवर्ती न होने पर निकटवर्ती शाश्वत गुरुओं का अवलम्बन भी शास्त्रसम्मत एवं कल्याणकारी होता है। अतएव मेरा यह मत है कि आप अपने सम्प्रदाय, गुरु, तथा दर्शन शैली के अनुरूप ही विश्वास करते हुए गुरु के मार्गदर्शन के आकांक्षी हों तथा कल्याण की सिद्धि करें। यदि मेरे अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत किसी समाधान अथवा मार्गदर्शन की आवश्यकता होगी तो वह मेरी ओर से सदैव उपलब्ध है।

प्रश्नकर्ता महोदय :- धन्य हुआ आज दास पूज्यगुरुदेव। "यदि मेरे अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत किसी समाधान अथवा मार्गदर्शन की आवश्यकता होगी तो वह मेरी ओर से सदैव उपलब्ध है।" आदरणीय !! आपकी केवल इतनी सी बात हमारे लिये बहुत कुछ कह गयी। हम अपने गुरु, अपने सम्प्रदाय, अपने इष्ट में विश्वास रखते हैं। आदरणीय !! लेकिन हमारे पूज्यगुरुदेव कहते हैं अगर कुछ ऐसा ज्ञान जो आपके लिये नवीन हो, जीवन के लिये शुभदायक हो, उसे संबंधित

व्यक्ति में गुरु की भांति ही निष्ठावान होकर ग्रहण करना चाहिए।

श्रीभागवतानंद गुरु : आपके गुरुजी सर्वथा सत्य कहते हैं और मैंने इसी मत को ऊपर उल्लिखित भी किया है। गुरु कोई व्यक्ति या आकृति नहीं। स्कन्दपुराण के अनुसार :-

गूढाविद्या जगन्माया देहश्चाज्ञानसम्भवः। विज्ञानं यत्प्रसादेन गुरुशब्देन कथ्यते॥

जगत् गूढ़ अविद्यात्मक मायारूप है और शरीर अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। इनका विश्लेषणात्मक ज्ञान जिनकी कृपा से होता है उस ज्ञान को गुरु कहते हैं।

प्रश्नकर्ता महोदय:- जी बिल्कुल पूज्यवर, प्रस्थान की आज्ञा पूज्यवर ! आदरणीय !! सदैव इसी प्रकार मार्गदर्शन करते रहें। इष्ट की कृपा हुई तो शायद एक दिन अवश्य इस दिव्य विभूति के श्रीचरणों का दर्शन होगा। श्रीचरणों में दास का साष्टांग दंडवत्।
श्रीभागवतानंद गुरु : स्वस्तिर्भवेत्।

खण्ड - ०२ (कुतर्की)

आजकल यह देखने में आ रहा है कि सनातन के रहस्यों को न जानने वाले, अज्ञानियों के द्वारा मनन चिंतन और निदिध्यासन के घोर अभाव के कारण उत्पन्न अज्ञानान्धकार के फलस्वरूप वे बहुत से कुतर्क करने लगे हैं। आज मैं इस लेख के माध्यम से उन सबका शास्त्रसम्मत समाधान करूँगा। कुतर्कियों का कहना है कि "ईश्वर के तथाकथित गुणों में व्यापक रूप से विरोधाभास है। ईश्वर को सत्य न्यायशील करुणामय क्षमाशील सर्वशक्तिमान अविनाशी सर्वज्ञ चेतन सृष्टिकर्ता माना जाता है । अब मैं वैयक्तिक ईश्वर की धारणा के विरोधाभासों पर प्रकाश डालता हूँ ।"

प्रश्न 1. सर्वशक्तिमान् का तात्पर्य है जो सब कुछ कर सके । क्या ईश्वर आत्महत्या कर सकता है ? यदि नहीं तो ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं। यदि हाँ तो ईश्वर अविनाशी (जिसका नाश न हो सके) नहीं । क्या ईश्वर ऐसा पिंड बना सकता है जो इतना भारी हो की ईश्वर स्वयं न उठा सके । यदि नहीं तो सर्वशक्तिमान् नहीं यदि हाँ तो भी सर्वशक्तिमान् नहीं ।

उत्तर 1 :- ईश्वर हर चर, अचर, जड़ और चेतन में व्यापकता से विद्यमान् है। संसार भी वही है और संसारी भी वही। क्षेत्र भी वही है और क्षेत्रज्ञ भी वही। अतः जब संसार का नाश होता है तो ईश्वर के एक रूप का ही नाश हुआ। और इस प्रकार से हाँ, ईश्वर ने अपने एक रूप के संहार के समय आत्महत्या की। वेदों में ईश्वर को तीन मुख्य स्वभावों वाला बताया गया है। :- भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरक। सामान्य भाषा में इन्हें क्रमशः जीव, माया एवं ब्रह्म कहा जाता है। इसमें जब ईश्वर जीवत्व को ग्रहण करते हैं तो ब्रह्मत्व का परित्याग कर देते हैं। या यूँ कहें कि माया का आवरण ओढ़ लेते हैं।

और माया के आवरण से मुक्त होने पर वे जीवत्व के भाव से रहित होकर ब्रह्मत्व में स्थित हो जाते हैं। जिस प्रकार से जब तरल जल जम कर बर्फ बन जाता है तो जल का नाश हुआ भी, और नहीं भी। वैसे ही ईश्वर अपना नाश करने पर भी बने रहते हैं। यही उनकी विलक्षणता और दिव्यता है। अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं। ईश्वर ऐसे पिंड को निःसन्देह बना सकते हैं जिसे वे उठा भी सकें और नहीं भी उठा सकें। यथा :- ईश्वर ने रावण के रूप में शिव का धनुष उठाने में असमर्थता दिखाई और श्रीराम के रूप में उसे उठाया। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपों में ईश्वर समस्त कार्यों को सम्पादित करके अपनी सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन करते हैं।

प्रश्न 2. क्या ईश्वर किसी के पाप क्षमा कर सकता है, क्या ईश्वर किसी पर दया कर सकता है । यदि हाँ तो यह पक्षपात है क्योंकि किसी एक को पाप का दंड न देना दूसरे को देना ये पक्षपात है अत: अन्याय है । अत: या तो ईश्वर न्यायशील नहीं या करुणाशील नहीं ।

उत्तर 2 :- ईश्वर न दयालु है न क्रूर। उसका कहना है कि "समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः"... मैं सभी प्राणियों के लिए समान भाव रखता हूँ, मेरा कोई शत्रु भी नहीं और कोई मित्र भी नहीं। अतः ईश्वर को दयालु या क्रूर नहीं कहा गया, अपितु कल्याणकारी कहा गया। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् में इसका संकेत है। ईश्वर ने यह बिलकुल नहीं कहा कि वे पाप का दण्ड नहीं देंगे। प्रश्नकर्ता पहले ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन करें। श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें तथा नवें अध्याय में स्पष्ट कहा कि मैं अधर्मियों को घोर कष्टमय नर्क में भेजता हूँ जबकि मेरे भक्त और सज्जन पुरुष परम शांतिमय दिव्य धाम को प्राप्त करते हैं। ईश्वर किसी के चेहरे को देखकर दया भी नहीं करते और दण्ड भी नहीं देते। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ईश्वर के अलग अलग व्यवहारों को स्वयं भी भोगता है। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने ऐसे प्रश्नकर्ताओं के लिए ही कहा :- "सो परत्र दुःख पावई,सिर धुनि धुनि पछिताई। कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाई।"

प्रश्न 3. क्या ईश्वर ऐसे विश्व को नहीं बना सकता था जहाँ हर व्यक्ति पुण्यमय होता जहाँ सभी सुखी होते । सभी अच्छे होते । यदि नहीं बना सकता था तो इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है । यदि बना सकता था परंतु उसने नहीं बनाया तो इसका अर्थ है ईश्वर करुणामय एवं दयानिधान नहीं क्योंकि उसने जानबूझकर ऐसा विश्व बनाया जहाँ पाप अनैतिकता दुःख और कष्ट है ।

उत्तर 3 :- ईश्वर ने अच्छा या बुरा, सुखी और दुःखी संसार नहीं बनाया। उन्होंने मात्र संसार बनाया। वे निरपेक्ष हैं। अतः उन्होंने इसे सुख या दुःख की स्वतंत्रता दी। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसे ही कर्मों के अनुसार सुखी या दुःखी होता है। ईश्वर की इसमें कोई प्रत्यक्ष संलिप्तता नहीं होती। ईश्वर ऐसा संसार बिलकुल बना सकते हैं जहाँ केवल सुख या दुःख हो। लेकिन यह ध्यातव्य है कि संसार केवल पृथ्वी ही नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में अनेकों लोक हैं। जिन्हें सुख,

दुःख और मिश्रित फलों के भोग हेतु बनाया गया हैं। अतः कुछ नारकीय संसार केवल दुखमय हैं। कुछ दिव्य संसार केवल सुखमय हैं। और कुछ मानवीय संसार मिश्रित गुणों वाले हैं। अतः ईश्वर सबों की रचना और सञ्चालन में दक्ष होने से सर्वशक्तिमान् भी हैं।

प्रश्न 4. क्या ईश्वर सर्वज्ञ है, क्या ईश्वर भूत भविष्य वर्त्तमान सभी कालों को जानता है । यदि हाँ तो इसका अर्थ है हमारा कर्म स्वातंत्र्य भ्रम मात्र है एवं क्योकि ईश्वर जानता है कि मैं एक घंटे बाद क्या करूँगा । यदि मैं वह उसके ज्ञान के विपरीत करने के लिए स्वतन्त्र हूँ तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं रह पायेगा । यदि मैं उसके ज्ञानानुकूल करने के लिए बाध्य हूँ तो इच्छा स्वातंत्र्य भ्रम हुआ । फिर मनुष्य के सभी कर्म ईश्वरेच्छा के परिणाम हुए । और उन कर्मो के लिए जो मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रेच्छा से नहीं अपितु ईश्वरीय इच्छा से प्रेरित होकर किये है उसे दण्डित करना अन्याय है ।यह ईश्वर की न्यायशीलता पर आक्षेप करेगा ।

उत्तर 4 :- यदि आप यह मानते हैं कि ईश्वर की मर्ज़ी से सब होता है तो आप गलत हैं। यदि आप यह मानते हैं कि आप कर्म करने को पूर्णतः स्वतंत्र हैं तो भी आप गलत सोचते हैं। वस्तुतः गीता जी के अनुसार कर्म का नियंत्रण पांच पक्षों के हाथ में हैं :- अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, और दैव।

इसमें अधिष्ठान सीधे ब्रह्म हैं, ईश्वर हैं। उनकी इच्छा हो तो विशेष प्रयोजन से आपके स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप करें या न करें। जैसे भगवान् ने नारद मुनि को शिक्षा देने के लिए उन्हें विश्वमोहिनी के जाल में फंसा कर विविध कर्मों में लगाया। इसमें जीव को कोई कर्मफल से सुख या दुःख नहीं भोगना पड़ता।

कर्ता आप स्वयं हैं। ईश्वरीय अंश होने से आपकी भी कर्म में स्वतंत्रता है। इसी आधार पर आपके कर्मफल का विवेचन होता है। जैसे आप प्रतिदिन असंख्य कर्म करते हैं। इसका सम्पूर्ण फल आपको भोगना पड़ता है।

करण :- इस में आप किसी अन्य व्यक्ति (ईश्वर के अलावा अन्य आपके जैसा जीव) के द्वारा प्रेरित होकर अपनी इच्छा न होने पर भी कर्म करते हैं। जैसे बालि के द्वारा अपमानित होने पर सुग्रीव को प्राणभय से प्रवास करना पड़ा। यह इसीलिए होता है क्योंकि आपके पूर्वकृत किसी पाप या पुण्य के कारण आपको अन्य निमित्त से दुःख या सूख मिलता है। अंगों की भी करण संज्ञा है। हाथ-पैर, नेत्र-जिह्वा आदि बाह्य कारण हैं तथा मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार को अन्तःकरण कहते हैं।

चेष्टा :- परकृत एवं आत्मकृत, दो चेष्टाओं का वर्णन मिलता है। किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये गये ऐसे कर्म, जिसका आपसे व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आप न ईश्वर की प्रेरणा से, न अपनी स्वाभाविक इच्छा से, बस चेष्टा के

कारण उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे दुर्योधन के द्वारा भीम को ज़हर देने पर नागों ने उनकी चिकित्सा की। सीताहरण के प्रसंग में जटायु जी ने रावण से युद्ध किया, यह परकृत है। आत्मकृत चेष्टा में करण आदि के माध्यम से आप स्वयं क्रियाशील होते हैं।

दैव :- किसी पूर्वकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न भाग्य से आप उसे भोगने के लिए नया कर्म कर देते हैं। जैसे पूर्वजन्म में बालक के द्वारा जलाये जाने पर चींटियों ने अगले जन्म में रानियों के रूप में चित्रकेतु के इकलौते पुत्र को विष दे दिया।

इन पांचों का कर्म की प्रेरणा में समान अधिकार है। बस ईश्वर का सञ्चालन इतना व्यवस्थित है कि कोई गड़बड़ नहीं होती और सबको अपना अपना अधिकार अच्छे से मिलता रहता है।

प्रश्न 5. यदि ईश्वर चेतन है तो उसमें विचारों का प्रवाह विद्यमान रहेगा । यह वैचारिक प्रवाह उसे अनित्य बना देगा । हमारे मन में नए नए विचार आते रहते है और पुराने नष्ट होते रहते है । अतः हम एक होकर भी प्रतिक्षण नदी की धारा की तरह परिवर्तित होते रहते है बदलते रहते है । इस तरह ईश्वर भी परिवर्तनशील सिद्ध होगा । अत: या तो ईश्वर नित्य नहीं या चेतन नहीं ।

उत्तर 5 :- विचारों का प्रवाह मन से होता है और मन का स्वभाव है अस्थिरता। चंचलता और अनित्यता। लेकिन "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्" आदि श्रुति वचनों के अनुसार ईश्वर मनोहीन है, मनोऽतीत है। फिर भी सोचता है। अतः उस पर सामान्य मन की विशेषतायें लागू नहीं होती। वह विचारों की रचना करता है, उन्हें नियंत्रित करता है, उनके वश में नहीं होता। विचारों की अनित्यता इसीलिए होती है क्योंकि वे समय के साथ बदलते हैं। पर ईश्वर कालानुसार नहीं चलता। काल ईश्वरानुसार चलता है। अतः उसके विचार नित्य हैं, शाश्वत हैं और अपरिवर्तनीय हैं।

6. ईश्वर को ब्रह्माण्ड (universe) का सृष्टा (creator)माना जाता है ।

Universe का अर्थ है everything that exists . यदि universe का अर्थ है "everything that exists," और universe का सृजन (create) किया जा सकता है , तो, जिस भी सत्ता (entity)ने ब्रह्माण्ड (universe)बनाया , वह इस (universe) के बाहर की है . इसका अर्थ हुआ कि वह सत्ता(entity) सम्पूर्ण अस्तित्व ("everything that exists)के बाहर की है ." इसलिए An entity "outside" existence does not exist!

उत्तर 6 :- निःसन्देह ईश्वर इस संसार और ब्रह्माण्ड से बाहर का है। लेकिन ऐसा नहीं है कि वह इसके अंदर नहीं हैं जैसे वायु घड़े के अंदर और बाहर, हमारे शरीर के अंदर और बाहर व्यापक रूप से विद्यमान है, हम ये नहीं कह सकते

कि बोतल या गुब्बारे के अंदर हवा है तो बाहर नहीं, या बाहर है तो अंदर नहीं। वैसे ही ईश्वर इस संसार के अंदर भी है और बाहर भी।

प्रश्न 7. अंतिम कांटीय तर्क -यदि ईश्वर शाश्वत है इसका अर्थ हुआ कि वह हमेशा से है अर्थात् अनंत समय से है । अतः आज इस क्षण तक अनन्त समय बीत चुका है या अनन्त समय का अन्त हो चुका है । यदि ये समय अनन्त था तो इसका अन्त संभव नहीं । और यदि अन्त हो चुका है तो यह अनन्त समय नहीं था । अत: शाश्वत ईश्वर भी वदतो व्याघातक है।

उत्तर 7 :- ईश्वर कालातीत है और हम कालाधीन । जैसे अंडे के अंदर का जीव समग्र विश्व को नहीं जान सकता वैसे ही हम ईश्वर से अनभिज्ञ रहते हैं। समय क्या है ? परिवर्तन ही समय है। समय का बोध, उसके लक्षण परिवर्तन से ही परिलक्षित होते हैं। लेकिन ईश्वर नित्य होने से, शाश्वत होने से अपरिवर्तनीय है अतः कालातीत है। समय सदा है यदि परिवर्तन हो रहा है तो। जो भी वस्तु परिवर्तनीय है, उसके लिए समय सदा है, अनन्त है। और जो अपरिवर्तनीय है, उसके लिए समय का कभी कोई अस्तित्व था ही नहीं। अतः सापेक्षता से ईश्वर के लिए कोई काल ही नहीं, और हमारे लिए सदा काल ही काल है। लोग समझते हैं कि जो जितने अधिक प्रश्न कर सकते हैं, वो उतने बड़े मर्मज्ञ और विद्वान् हैं। भला जिसके पास स्वयं शंकाएं हों, वो कैसे तत्वद्रष्टा हो सकते हैं ? लेकिन आज लोग दुर्भाग्य से उल्टा समझ लेते हैं। प्रश्न का समाधान सोचने की बजाय, मनन करने में स्थान पर उन्हें हथियार बना कर स्वयंभू वीरता के सहारे ज्यादा वाक्पटुता दिखाते हैं।

--*

श्मशानकाली में जाने पर निकले उद्गार

स्मृतिकार महानुभावों ने कहा है कि...

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
मृतं शरीरं उत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतं एक एव च दुष्कृतम् ॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

परलोक में न माता, पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है । जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उसको मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका संगी होता है । अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का दुःखरूप फल को भोगता है । उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे – धीरे करता जाये क्यों कि धर्म ही के सहाय से बड़े – बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है । श्मशान मानो कहता है -

मैं अंत हूँ व्यक्तित्व का... लेकिन प्रारम्भ हूँ पुनरीक्षण का।
मैं अंत हूँ क्रियमाण कर्म के एक भाग का... लेकिन प्रारम्भ हूँ परिणाम का।
मैं अंत हूँ इस जन्म के सांसों का... लेकिन प्रारम्भ हूँ समाज के दृष्टिकोण का।
मैंने देखा है भीष्म को, दुर्योधन को और कर्ण को भी।
मैंने देखा है रावण को, मेघनाद को और त्रिजटा को भी।
मैंने देखा है धनानंद को, चाणक्य को और अमात्य राक्षस को भी।
मैंने देखा है शत्रु को, मित्र को और विश्वासघातियों को भी।
हां, मैं श्मशान हूँ।
स्वयं अपवित्र हूँ परंतु तुम्हें पवित्र करता हूँ।
स्वयं बद्ध हूँ परंतु तुम्हें मुक्त करता हूँ।
स्वयं हेय हूँ परंतु तुम्हें वरेण्य करता हूँ।

--*

वैदिकी हिंसा पर तात्त्विक विवेचन

धन बढ़ने से लोभ और अहंकार बढ़ता है। यही दोनों पतन कराते हैं। धन तो बढ़ेगा ही। वरना माया अपने खेल कैसे दिखाएगी। और धनवृद्धि को पतन का पहला चरण बताया गया है। गीता का सोलहवें अध्याय को पढ़ें। भगवान् अपने भक्तों को उतना ही देते हैं जितने में काम चल जाये। न अधिक, न कम। सुदामा जी को ही देख लीजिए। उनके भक्ति की तुलना में हमलोग कुछ नहीं। उनकी गरीबी की तुलना में भी हमलोग कुछ नहीं। और उनको बाद में जो फल मिला, हमारा परिणाम भी उसकी तुलना में कुछ नहीं। लेकिन सुदामा सा धैर्य कोई क्यों दिखाए जब चांद मियां तुरन्त दे रहा है तो। हां, जहां धैर्य से मणि मिलती, वहां लोग कांच के रंगीन गोलियों से ही खुश हो जा रहे हैं। सामान्य रूप से समझ लें कि ज्ञान किसी भी तत्व के गुणावगुण से परिचित कराता है तथा विवेक उसके नियोजन का निमित्त बनता है। जैसे :- अग्नि में दाहिका शक्ति है, यह ज्ञान है। अग्नि से सुरक्षित दूरी बनाएं, यह विवेक है। अग्नि की दाहिका शक्ति से परिचित होने पर भी कीटादि उसमें स्वेच्छा से गिर पड़ते हैं, यह विवेकहीनता का उदाहरण है। अनियंत्रित कामवासना हानिकारक है, इसका ज्ञान लोगों को है, फिर भी परस्त्रीगमन करते हैं, यह विवेकहीनता है।मद्यपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, इसका ज्ञान सबों को है, फिर भी मद्यपान करते हैं, यह विवेकहीनता है। ज्ञान किसी भी वस्तु, तत्व या घटना का परिचय देता है तथा विवेक उस ज्ञान को हितकारी बनाता है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(विष्णुपुराण ६/५/७४)
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(विष्णुपुराण ६/५/७८)

भग का अर्थ सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य है। इन ६ से जो संपन्न होता है,उसे भगवान् कहते हैं। समस्त भूतों की उत्पत्ति, प्रलय, आगमन, गमन, विद्या तथा अविद्या को जो जानता है,वह भगवान् है। इस प्रकार समस्त दुर्गुणों से रहित ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज आदि समस्त सद्गुणों से जो संपन्न है,वही भगवान् है। वस्तुतः परमात्मा ही भगवान् है। अन्यत्र भगवान् शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ है।

दुर्धर ऐश्वर्य को धारण करने वाला वह देव जीवों का संयमन करने से तीनों लोकों में बुद्धिमानों के द्वारा यम, ऐसा कहाता है। धारण करने योग्य समस्त कर्तव्यों को जानने से धर्म कहलाता है। शासकों का भी शासक होने से उसे राज, ऐसा कहा जाता है। सदैव दुष्टों को दण्ड देने में तत्पर रहने से उसे दंडपाणि, ऐसा भी कहा जाता है। सज्जनों के लिए वही देव सुंदर रूप वाला धर्मराज है, दुष्टों के लिए वही देव कराल एवं भयंकर रूप वाला यमराज है, काल रूपी रथ पर सवार होकर मृत्युरूपी सारथी से द्वारा वेगवान हुआ वह देव पार्श्वरक्षक के रूप में रोग तथा जरा को अपना सहायक

बनाकर कालदण्ड से निरन्तर इस जगत के नष्टबुद्धि वाले अनेक प्राणियों की आयु का भक्षण करता हुआ घोर अट्टहास पूर्वक विचरता है। हिंसा का अर्थ है कष्ट देना, हनन करना, संहार करना।

भौतिक हिंसा - किसी को कष्ट पहुंचाने (मृत्यु भी) के लिए भौतिक अंग यथा हाथ पैर आदि के द्वारा किया गया उपक्रम।

वाचिक हिंसा :- समान कार्य के लिए किया गया शाब्दिक उपक्रम। यहां ध्यातव्य है कि वाचिक हिंसा का यह अर्थ नहीं है कि हम पहले वाणी से प्रतिपक्ष को कष्ट पहुंचाएं , और फिर भौतिक अंगों के प्रयोग के द्वारा भी मारें.. यदि ऐसा किया तो क्या वह वाचिक हिंसा रह पाएगी ? नहीं। वह तो भौतिक हिंसा बन जाएगी।

अब आगे मानसिक हिंसा - समान उपक्रम के लिए मन से की गई कल्पना विशेष ही मानसिक हिंसा है। मानसिक हिंसा का कोई कानूनी दंड नहीं मिलता। लेकिन यदि हम किसी की मानसिक हिंसा करके फिर भौतिक हिंसा कर दें तो क्या वह मानसिक हिंसा रह पायेगी ?

अब आते हैं वैदिकी हिंसा पर :- वैदिक मंत्रों के प्रयोग से किसी को नष्ट करना ही वैदिक हिंसा है। यदि वैदिक हिंसा करने के बाद हम किसी को भौतिक हिंसा के द्वारा मार दें तो क्या वह वैदिक हिंसा रह पाएगी ?

यदि वैदिक हिंसा का आप यह अर्थ समझते हैं कि वेदमंत्र पढ़कर किसी के प्राण भौतिक खड्ग आदि से हरण कर लें तो मैं समझता हूँ कि वह वैदिक हिंसा है ही नहीं, श्रीमद्भागवत के नारद प्राचीनबर्हि संवाद में देख लें। वह भौतिक हिंसा है और दंडनीय है। यदि इसके बाद भी वह वैदिक हिंसा ही कहलाएगी, तो मानसिक हिंसा का अर्थ हो गया, मन से हिंसा करके फिर प्रत्यक्ष प्राण हनन करना। शास्त्रार्थ में वागयुद्ध होता है। वहां वाचिक हिंसा भी होती है। परंतु फिर ऐसा होने से वाणी के द्वारा हिंसा के बाद भौतिक शरीर को काट देने के बाद भी वह वाचिक हिंसा ही कहलाएगी। यह समीचीन नहीं है। जब मानसिक और वाचिक हिंसा का भाव और परिभाषा स्पष्ट है तो वैदिक पर इतना भ्रम क्यों ?

जैसे वाणी और मन के द्वारा हिंसा करने के बाद भौतिक हिंसा नहीं कि जा सकती, और यदि कर दिया तो वह वाचिक और मानसिक रहा ही नहीं। वैसे ही वेदमंत्रों के द्वारा वैदिक हिंसा के बाद भौतिक हिंसा कर दी जाए तो वह वैदिक हिंसा रही ही नहीं। अब आते हैं वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति पर।

जो वेदमंत्रों के द्वारा किसी के प्राण हरण करने में समर्थ हो, वह अवश्य ही कोई महानतम व्यक्तित्व होगा जो जितेंद्रिय एवं सहिष्णु होगा। अतः उसके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना नगण्य है। अतः उसके द्वारा की गई वैदिकी

हिंसा समाज के कल्याण हेतु ही होगी और इसीलिए हिंसा का पाप नहीं लगेगा। जैसे अगस्त्य मुनि ने वातापि को हुंकार से भष्म करके वैदिकी हिंसा की और उन्हें हिंसा का पाप नहीं लगा।

पशु शब्द अज्ञानावृत्त जीव का बोधक है तथा वेदाभ्यास से अज्ञान का नाश होता है अतः यही अज्ञान की हिंसा वेद के द्वारा की गई हिंसा है एवं क्षम्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस हिंसा के लिए प्रयुक्त होने वाले शस्त्र को गीता में असंग कहा है :- असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा। कर्म और अकर्म ही पशु है और ज्ञान रूपी खड्ग से उसका छेदन होता है। अन्य जो भी भौतिक हिंसा करते हैं वे तो दूसरे ही हैं, ऐसा स्वयं श्रीभैरव के रुद्रयामल तंत्र में बताया है।

कर्माकर्म पशून् हत्वा ज्ञानखड्गेन चैव हि। द्वितीयं विन्दते येन इतरे मांस भक्षकाः॥

वैदिकी हिंसा का यह अर्थ नहीं कि पहले वेदमंत्रों का पाठ हो एवं बाद में भौतिक रूप से जीवों के प्राण ले लिए जाएं। क्योंकि ऐसा होने से वाचिक और मानसिक हिंसा का अर्थ हो जाएगा कि वाणी एवं मन से हिंसा करके फिर भौतिक हिंसा भी कर दे। उपरोक्त विवेचन से वैदिकी हिंसा का भाव एवं संकेत स्पष्ट होता है तथा आद्यशंकर महाभाग ने इसी वैदिकी हिंसा का समर्थन किया है।

--*

मुक्ति श्राद्ध से या पुराण श्रवण से ?

कर्मफल ही बंधन का कारण है। कर्मफल यदि नष्ट हो तो ही जन्म मरण के चक्र से मुक्ति सम्भव है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि -

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वप्रकृतिजैर्गुणैः ॥

अर्थात् किसी भी जीव का कोई भी क्षण बिना कर्म किये नहीं बीतता क्योंकि प्रकृतिजन्य गुणों से सभी जीव आबद्ध होकर बलपूर्वक कर्म में नियोजित किये गए हैं। योगदर्शन में ईश्वर की परिभाषा में कहा गया है :-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः ॥

अर्थात् क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, एवं अभिनिवेश) तथा कर्मविपाक (पाप, पुण्य, पाप-पुण्य मिश्रित, तथा पाप-पुण्य रहित कर्म) के बंधन तथा प्रभाव से शाश्वत रूप से मुक्त चैतन्य विशेष की संज्ञा ईश्वर है। कर्मविपाक के अंतर्गत आने वाले कर्मों को पहले परिणाम के आधार पर पूर्वोक्त चार एवं पुनः काल के आधार संचित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध के रूप में तीन भागों में विभाजित किया गया है। कर्मों में सात्विकता दैवी सम्पदा के संस्कारों को पुष्ट करके उन्नति का कारण बनती है तथा तामसिकता आसुरी सम्पदा के संस्कारों को पुष्ट करके अवनति का कारण बनती है। वहीं राजसी वृत्ति उन्नति तथा अवनति के मध्य उलझाए रखकर व्यक्ति को मानवी सम्पदा के मध्य बांध कर रखती है। श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है :-

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्विक कर्मजन्य पुण्य की अधिकता से देवत्व, तमोजन्य पाप की अधिकता से नारकीय गति तथा राजस कर्मजन्य भ्रामक कर्म की अधिकता से मनुष्यता मिलती है। इन तीनों से ही विलक्षण है मुक्ति। कुछ लोगों का मानना है कि मुक्ति देहत्याग के बाद होती है, जबकि अन्य जन देह में रहते हुए भी मुक्ति की संभावना बताते हैं। इच्छा ही कर्म का कारण है तथा कर्म ही बंधन का कारण है। शरीर नष्ट हो गया और इच्छाएं शेष रह गईं तो वह मृत्यु है, तथा शरीर बचा रहा तथा इच्छाएं समाप्त हो गईं तो वह मुक्ति है। यद्यपि मुक्ति के भी कई प्रकार होते हैं परंतु वर्तमान में सम्बंधित विषय पर ही चर्चा करेंगे।

कुछ कहते हैं कि पुराण श्रवण से मुक्ति होती है और पद्मपुराण से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि :- क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताह श्रवणे तथा। अन्य जन महाभारत एवं वाराहपुराण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के पाठ से मुक्ति की बात कहते हैं। कुछ लोग विष्णुधर्मोत्तर, गृह्यसूत्र तथा स्मृतियों के अनुसार श्राद्ध आदि कर्मों से मुक्ति मानते हैं। अन्य विद्वान्

आद्यशंकर महाभाग के विवेक चूड़ामणि का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि मुक्ति केवल ब्रह्मज्ञान और आत्म साक्षात्कार से ही सम्भव है। यथा :-

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया। ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा॥

कुछ पुराणों में वर्णन मिलता है कि गया श्राद्ध से मुक्ति होती है। जबकि अन्य पुराण ऐसी घटनाओं का वर्णन करते हैं जब गया श्राद्ध के बाद भी मुक्ति नहीं हुई और ब्रह्मकपाली जाना पड़ा। पद्मपुराण में वर्णन मिलता है कि करोड़ों श्राद्ध करने से भी मुक्ति संदिग्ध है और श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि का श्रवण समीचीन है। सम्मोहन तन्त्र आदि गर्ग संहिता, महाभारत आदि का बखान करते हैं। रुद्रयामल तन्त्र आदि कुंडलिनी जागरण एवं सहस्रार भेदन की क्रिया को मुक्ति का निमित्त मानते हैं। ऐसे में सर्व साधारण हिन्दू जनता, जो एक तो स्वयं ही ग्रंथों के अध्ययन से दूर है, दूसरे पाखंडियों के व्यूह में फंसी है, विरोधाभास में फंस कर अनास्था का शिकार हो जाती है जिसका अनुचित लाभ वामपंथी तथा ईसाई आदि धर्मांतरण षड्यंत्री उठाते हैं। श्रुति भगवती का औपनिषदिक उद्घोष है,

भिद्यते हृदयग्रन्थि: छिद्यन्ते सर्वसंशया: । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

जब हृदय की गांठ खुले और सभी संशयों का नाश हो, तब कर्म और कर्मफल का क्षय होता है, उस परमात्मा का आत्मसाक्षात्कार होता है। समान उक्ति श्रीमद्देवीभागवत महापुराण के सप्तम स्कंध में भी है। वेद कहते हैं

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

श्रीमद्देवीभागवत में भगवती अपर्णा कहती हैं कि इस शरीर का संचालक मनोमय प्राण है जो अन्न का आश्रय लेकर हृदय में स्थित है। (इसी को लोकभाषा में कहते हैं, जैसा अन्न वैसा मन) । उसी को विशिष्ट रूप से जानने पर धैर्यवा पुरुष उसे देख पाते हैं जो आनंद स्वरूप है तथा अमृतत्व का कारक है। श्रीभगवती आगे कहती हैं :-

नाहं तीर्थे न कैलासे वैकुण्ठे वा न कर्हिचित् । वसामि किन्तु मज्ज्ञानिहृदयाम्भोजमध्यमे॥

मैं तीर्थ, वैकुंठ या कैलास में या कहीं अन्य स्थान पर भी निवास नहीं करती हूँ। मैं तो मेरे तत्त्वरूप को जानने वाले ज्ञानी के हृदय कमल में निवास करती हूँ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि। अवश्यं एवं भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

बिना भोग के सौ करोड़ कल्प तक भी कर्म का नाश नहीं होता। जो कुछ किया है, उसका फल जरूर भोगना पड़ेगा। इस भोग का कारण कर्त्तृत्वाभिमान है, जीव अभिमान के वशीभूत होकर सोचता है कि मैं ही कर्त्ता हूँ, किन्तु वास्तव में

जीव अकर्त्ता है।क्षुरिकोपनिषद् में ऋषिवाक्य है कि कामनाओं से मुक्त होते ही वह (मुमुक्षु जीव) मोक्ष यानी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। वह सभी इच्छओं से मुक्त होकर उनका छेदन करता है तथा पुनः उनसे नहीं बंधता।

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्वा तं तु न बध्यते॥
(क्षुरिकोपनिषद्)
आत्मनैव कृतं कर्म ह्यात्मनैवोपभुज्यते। इह वा प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्त यथा तथा ॥
(महाभारत)

महाभारत में कहते हैं कि आत्म से अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्म आत्मा से ही अर्थात् स्वयं ही भोगता, चाहे इस जगत में, चाहे परलोक में स्वयं ही भोगता है। साथ ही आश्वमेधिक पर्व में कहते हैं :-

शुभानामशुभानां च नेह नाशोस्ति कर्मणाम्।
प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा। क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम्॥

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता। यथा खेत-खेत को प्राप्त कर पकता जाता है फल लाता जाता है। इसी प्रकार कर्मों के पाक या फल का भी क्रम चलता रहता है। तदनुसार ही शुभ एवं अशुभ शरीर को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है। हरिवंश पुराण के उग्रसेन पर्व में कहते हैं :-

स्वयमात्सकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम्। प्राप्ते काले तु तत्कर्म दृश्यते सर्व देहिनाम्॥

संसार के सम्पूर्ण प्राणियों को अपने कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है। चाहे वह शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म हो। शुभ कर्मों का परिणाम सुखद होता है और अशुभ कर्मों का फल दुःखद होता है।

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम । अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है। आधुनिक विद्वानों में भी आचार्य चाणक्य का मत है :-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयन्तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयन्तस्माद्विमुच्यते॥

जीव आप ही कर्म करता है, उसका फल भी आप ही भोगता है, आप ही संसार में भ्रमण करता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है, इसमें उसका कोई साझी नहीं।

तस्मिन् वर्षे नरः पापं कृत्वा धर्म्मञ्च भो द्विजाः। अवश्य फलमाप्नोति अशुभस्य शुभस्य च॥

ब्रह्म पुराण कहता है कि मनुष्य पाप कर्म करके तथा धर्म का कर्म करके अवश्य ही फल प्राप्त किया करता है चाहे वह कोई शुभ कर्म करे तो उसका अच्छा फल उसे अवश्य मिलता है और चाहे वह अशुभ कर्म करे तो उसका भी वह फल प्राप्त किया करता है।दक्ष स्मृति का वचन द्रष्टव्य है कि :-

सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किंचत् क्रियते परे । ततस्तत्तु पुनः पश्चात् सर्वात्मनि जायते ॥

सुख या दुःख जो भी दूसरों के लिए किये जाते है वे कुछ बाद में पीछे सब अपने ही लिए उत्पन्न होते हैं।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति। एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥
यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्। यथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥

महाभारत के अनुशासन पर्व के प्रारम्भ में कहते हैं जैसे मिट्टी के पिण्ड के कर्ता (कुम्हार) जो-जो चाहता है सो-सो करता है उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। जैसे छाया एवं धूप निरन्तर नित्य साथ हैं वैसे ही कर्म और कर्ता अपने लिए कर्मों से बंधे हैं। सिद्ध होता है कि बिना कर्मफल के क्षीण हुए मुक्ति नहीं, और बिना आत्मसाक्षात्कार के कर्मफल का क्षय सम्भव नहीं है। इस निमित्त शास्त्र ने तीन मुख्य उपाय बताए हैं :- ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा उपासनमार्ग। श्राद्ध आदि कर्म कर्ममार्ग में आते हैं। तीर्थ सेवन, स्नान, पुराण श्रवण आदि उपासनामार्ग से सम्बंधित हैं, श्रीभगवान् के लीला का चिंतन मनन आदि भी इसी में आते हैं। इसके अतिरिक्त अष्टांगयोग, निदिध्यासन, वैराग्य, संन्यास आदि ज्ञानमार्ग के विषय हैं।

ज्ञानमार्ग मुख्यतः व्यक्तिगत, कर्ममार्ग, पराश्रित एवं उपासनामार्ग मिश्रित होता है। व्यक्ति को यदि जीवित शरीर में ही मोक्ष की इच्छा प्राप्त हो जाये तो वह अपने वर्तमान वर्ण के अनुसार ज्ञानमार्ग के विकल्पों का चयन करे। यदि ज्ञानमार्ग अधिक क्लिष्ट प्रतीत हो तो उपासनामार्ग का आश्रय ले। और यदि देहत्याग हो गया तो उसके परिजन मिलकर उपासनामार्ग के पुराण अनुष्ठान या कर्ममार्ग के श्राद्ध आदि का आश्रय लें। इसमें कर्ममार्ग अनिवार्य तथा अन्यद्वय ऐच्छिक हैं। हालांकि अन्यद्वय में कर्ममार्ग की अपेक्षा मोक्ष की संभावना प्रबल रहती है। हमने यहाँ सम्भावना शब्द का प्रयोग इसीलिए किया है कि मोक्ष की गारंटी वस्तुतः किसी से भी नहीं। माया के तीन बंधन हैं :- मल, विक्षेप और आवरण। इसमें प्रथम बंधन का छेदन साधक, द्वितीय का छेदन गुरु तथा तृतीय का छेदन ईश्वर करते हैं। इसी बात को मैंने कालजिह्वाप्रशस्ति - गृहपतिसूत्रम् में लिखा है।

जैसे लोटे में गंदगी लग गयी तो उसे सामान्यतया धो दिया। यही मल है और इसका निवारण साधक स्वयं ही कर सकता है यदि सात्विक जीवन यापन करते हुए सत्संगति करे। विक्षेप का अर्थ है मिलावट। चावल में कंकड़ की तरह, दूध में पानी की तरह। ज्ञान में अज्ञान की मिलावट यानी विक्षेप को गुरु कृपा से ही दूर किया जा सकता है। इतने पर

भी मुक्ति नहीं होती, आवरण ही माया का प्रबल अस्त्र है और उसका निवारण केवल अनन्य शरणागति से ही होता है। वो ईश्वर के हाथ में है। जैसे हमें भूख लगती है और हम भोजन करते हैं, लेकिन मात्रा और गुणवत्ता अलग अलग व्यक्ति के अनुसार अलग अलग होती है। उसी प्रकार किसी किसी को भगवान् श्राद्ध से ही सद्गति देते हैं, किसी किसी को श्रीमद्भागवत आदि से देते हैं।

अलग अलग व्यक्ति की श्रद्धा, कर्मफल, स्थिति और उपक्रम के भेद अनुसार भगवान् भेद करते हैं। परन्तु इतने मतों के बाद भी एक मत सर्वमान्य है कि श्रीमन्नारायण का नाम, श्रीशिवनाम, श्रीदेवीनाम के चिंतन, कीर्तन तथा भावपूर्ण गद्गद समर्पण से दुष्कर कर्मफल भी भस्म होते हैं। किसी भी मार्ग को अपनाकर अपनी या पूर्वजों की सद्गति का प्रयास करने वाले अनुष्ठानकर्ता के लिए उचित है कि वह श्रीभगवान् के पावन नामों का संकीर्तन विशेष रूप से कराए ताकि श्रीनाम के तेज से जीव का उद्धार सुनिश्चित हो जाये। हां, केवल भगवान् नाम से मुक्ति होती है ऐसा सोच कर श्राद्ध आदि वेदविहित अनुष्ठान का प्रमादवश परित्याग न करे, क्योंकि स्वयं परब्रह्म श्रीराम जी ने भी अपने भौतिक पिता दशरथ जी का श्राद्ध करके इसकी अनिवार्यता सिद्ध की है।

--*

संघ का समानतावादी पाखण्ड

रात्रि का प्रभाव सूर्य पर नहीं, सूर्य के उपभोक्ताओं पर पड़ता है। सूर्य के लिए अंधकार का अस्तित्व नहीं। उसने कभी अंधकार को नहीं देखा क्योंकि इसके लिए या तो उसे अंधकार के पास जाना पड़ेगा, अथवा अंधकार को अपने पास बुलाना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में नाश अंधकार का ही होना है और सूर्य सदैव उसके अनुभव से वंचित रह जायेगा। वैसे ही युग का प्रभाव धर्म पर नहीं, धारकों पर पड़ता है। धर्म एको हि निश्चलः। धर्म के लिए कैसा युग ? प्रभाव तो धारकों पर पड़ना है। धर्म में युगप्रभाव से न्यूनाधिक्य नहीं होता। धारकों की संख्या और निष्ठा में युग के कारण कमी और अधिकता होती है। इसका मुख्य कारक है शासन। शासक चाहे तो विक्रमादित्य की तरह कलियुग में सत्ययुग का समावेश करा दे। और शासक चाहे तो हिरण्यकशिपु की भांति सत्ययुग में भी कलियुग का समावेश करा सकता है।

राजा कृतयुग स्रष्टा, त्रेतायाः द्वापरस्य च। युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥
(महाभारत)

राजा ही सत्ययुग का निर्माण करता है, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के कारण भी राजा ही है। हमें युद्ध समाज से नहीं, शासन से लड़ना है। हमें देशद्रोही नहीं, सत्ताद्रोही बनना है। शासन ठीक तो सब ठीक, शासन भ्रष्ट तो सब भ्रष्ट। सर्प किसी को मात्र एक बिंदु भर काटता है, लेकिन वह विष रक्त में समाहित होकर सम्पूर्ण शरीर को निष्प्राण कर देता है। धर्म के धारकों के लिए कलियुग कुछ विशेष बाधाएं खड़ी अवश्य करता है, परंतु शास्त्र और विवेक का नियोजन हमें बलिष्ठ भी बनाता है। रात्रि का स्वभाव है अंधकार। वो अंधकार सूर्य के लिए नहीं, सूर्य के उपभोक्ताओं के लिए है। लेकिन यदि उपभोक्ता विवेकी हो तो दीपादि वैकल्पिक प्रबंधों से स्वयं को आवश्यकता के अनुसार प्रकाशित रख सकता है। यद्यपि वह प्रकाश सूर्य की तुलना नहीं कर सकता, परंतु अंधकार के पर्याप्त विनाश हेतु सक्षम होता है। वैसे ही कलियुग में किया गया धर्म सत्ययुग के समान नहीं होता, परंतु पतन से बचाने के लिए पर्याप्त होता है।

वसुधैवकुटुम्बकम्, यह वेदवाक्य है। सामवेद के वैष्णव उपनिषद महोपनिषद् के अध्याय ४, श्लोक ७१ के चौथे चरण में वर्णित है। ध्यान रहे, यहाँ वसुधा को परिवार कहा है। म्लेच्छ को नहीं कहा। वसुधा मतलब धरती, प्रकृति, वन, जल, अग्नि आदि। यही परिवार है। इसका संरक्षण और संवर्धन परिवार की तरह हो। धर्म प्रकृति नाशक म्लेच्छों को वसुधैव कुटुम्बकम् की आड़ में परिवार मान कर जान और बेटी नहीं दे सकते। काहे कि आचार्य चाणक्य ने ये भी कहा :- न नीचो यवनात् परः। यवनैव कुटुम्बकम् नहीं कहा, वसुधैवकुटुम्बकम् कहा। दोनों में अंतर समझिए। अनर्थ को ही अर्थ किसने बनाया और क्यों बनाया !! ?? विचार कीजिये...

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः। ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ (मनु०७/७५)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

शासक के उस दुर्ग को आयुध,धनधान्य ,वाहन,ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, घास तथा जल से परिपूर्ण होना चाहिए। आयुध = क्षत्रिय । धनधान्य = वैश्य । वाहन, शिल्पी, यंत्र = शूद्र । ब्राह्मण तो है ही।

लेकिन ये वामपंथी नास्तिक लोग कहते हैं हम नहीं मानते ये सब। ब्राह्मणों ने दलितों का शोषण किया। हम केवल मनुस्मृति जलाएंगे। राम निष्ठाव न् थे तो रावण की बहन से सम्बन्ध बनाने से मना कर दिया। श्रीराम की जगह अरब वाला आसमानी दूत होता तो क्या करता ? सुना है उसने पुत्रवधू से सम्भोग करने के लिए आयत उतरवाकर पंजीयन करवाया था ? इसी समुदाय के लिए संघ ने अलग से मंच बनाकर श्रीरामचंद्र जी को इमाम-ए-हिन्द घोषित कर दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विज्ञान अधर्मसम्मत है। कृष्ण, राम, शंकराचार्य के सिद्धांत का विरोधी है। स्वामी करपात्री रचित आरएसएस और हिन्दू धर्म पढ़िए। इनका कपटमृगत्व सामने आ जायेगा। संघ के ब्राह्मण प्रवक्ता मनमोहन वैद्य के आधिकारिक बयान देख लीजिए। पिछले सात सालों से इन लोगों को देख रहा हूँ। स्वामी करपात्री जी उसी समय इसकी वास्तविकता जान गए थे। वो केवल इस्तेमाल करना जानते हैं अपने कार्यकर्ताओं का। इनका मानना है की जिसे ये हिन्दू होने का प्रमाणपत्र देंगे वही हिन्दू है।

मैं संघी नहीं हूँ। मुझे म्लेच्छ प्रमाणित करो। मैं जन्मना वर्णाश्रम को मानता हूँ, संघ नहीं मानती, मुझे म्लेच्छ प्रमाणित करो। वोट किसके नाम पर मांगेंगे ? गाय तो कटेगी, जब तक लोकतंत्र है। योगी जी ने भी वैध अवैध कह ही दिया। लाइसेंस लेकर काटो यो वैध है। आज का संघ वो नहीं, जिसे आपने देखा है। मैं स्वयं संघ के कार्यक्रम में प्रवचन करता रहता हूँ। चिंता न करें। संघ अपने कार्यकर्ताओं को भावनात्मक रूप से इस्तेमाल करता आया है। और उनके कामों का श्रेय नेता बटोरते रहे हैं। आरएसएस इफ्तार आयोजित करें, और वहाँ उसे सांस्कृतिक बता कर जाएं, म्लेच्छों के साथ खाएं, और एक गीत गाये तो इससे शंकराचार्य की भाषा का बोध होता है और उसी कृत्य का हम दर्पण दिखाएं तो हम जाकिर नाइक हो गए। वाह !! हम भी इफ्तार में जाने लगे तब तो बहुत कट्टर हिन्दू कहायेंगे न ????

जिसने हमारी ढाई अरब बहू बेटियां नोच डाली, आज आरएसएस के कार्यकर्ताओं को जो चुन चुन कर मार रहे हैं, आरएसएस के नेता उन्हें सांस्कृतिक बताकर इफ्तार पार्टी आयोजित कराते हैं और ब्राह्मण प्रवक्ता बयान देते हैं कि गोमांस खाना शास्त्रविरुद्ध नहीं है। और तो और आरएसएस इस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं देता है। अजी विचार करोड़ों का करो, लेकिन म्लेच्छों का नहीं। न नीचो यवनात्परः। सगर राजा, विक्रमादित्य, शालिवाहन, हेमचंद्र, कपिलेन्द्र, शिवाजी ने इसी को माना और जाना। म्लेच्छ नागरिक इनके राज्य में भी थे लेकिन इन्हें म्लेच्छों के सत्य का बोध था। बस बस यही तो है सुहाना झुनझुना।

गोमांस का समर्थन करे जाकिर नाइक :- म्लेच्छ है, पापी है।
गोमांस का समर्थन करे संघ प्रवक्ता मनमोहन वैद्य :- कूटनीति

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

वर्णाश्रम का विरोध करे कार्डिनल :- म्लेच्छ है पापी है।
वर्णाश्रम का विरोध करे मोहन भागवत :- कूटनीति।
म्लेच्छ के हाथ से भोजन करे, पानी पिये नीतीश कुमार :- पापी गद्दार तुष्टिकरण है।
म्लेच्छ के हाथ से पानी पिये संघी अधिकारी :- कूटनीति है। बहुत बढ़िया....

कार्यकर्ताओं को मूर्ख बना रही है आरएसएस। यदि वास्तव में उन्हें अपने योद्धाओं की चिंता होती तो एक को हाथ लगाने और पूरा संगठन म्लेच्छों को हिलाकर रख देता। लेकिन नहीं, कार्यकर्ता को हटा दो तो कोई कश्मीर नहीं जाएगा। कोई केरल नहीं जाएगा। केवल इफ्तार में जाएंगे। किसी कूटनीति के विद्वान ने स्वधर्म छोड़कर कूटनीति नहीं की। और ये जो लोग कर रहे हैं, इन्हें आप कूटनीतिज्ञ कह रहे हैं। वास्तव में ये सब पैसे देकर, इधर उधर चाटूकारिता करके अधिकारी बने फिर रहे हैं। न कूटनीति से मतलब और न ही मतलब है शास्त्र से। एक ने भी ठीक से शास्त्रावलोकन नहीं किया। और जो किया भी तो दयानन्द विवेकानंद को ही पढा ।

संघ को एक धेले का शास्त्रज्ञान नहीं है। संघ सनातन धर्म की अंदरूनी सड़न है। स्मरण रहे, कि संघ ने ईसाई और मुस्लिम मंच बना रखा है, वर्णाश्रम नहीं मानते। और यह भी कि गोमांस के पैरोकार हैं। उसके कार्यकर्ता सही हैं, समर्पित हैं। नेता बिक चुके हैं। लोगों को गणमान्य और धर्मगुरु संघियों ने ही बनाया था। आज देश के अधिकांश फ़र्ज़ी शंकराचार्य संघ के ही मानस पुत्र हैं।

किस अखाड़ा और संघ की बात करते हैं आप ? वही जो भगवान् राम को ब्रह्म नहीं, केवल मनुष्य या महापुरुष मानते हैं ? जिनके प्रवक्ताओं के अनुसार कोई भी भारत में रहे, चाहे कुछ खाये, कुछ करे और तो और वर्णाश्रम से भ्रष्ट होकर सबके साथ रोटी बेटी का संसर्ग करे, सब हिन्दू हैं ? वह संघ, जो रामजी को इमामे हिन्द कहकर शास्त्रों को बदलने की बात कहता है ? संघ अपने संस्कार और विचारों को सनातनी या हिन्दू संस्कार क्यों नहीं कहता ? संघ संस्कार क्यों ? संघ की उत्पत्ति से बहुत पहले ही अनेकों दानी और उत्सर्जक हुए हैं वे तो संघ से नहीं थे। संघ ये त्याग की भावना कोई अपने से नया तो लेकर आया नहीं है, फिर क्यों नहीं उन्हें सनातनी संस्कार कहा जाए ?

लोग कहते हैं कि हम सनातनी संघ से चिढ़ते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। संघ हमसे चिढ़ता है। हमने आजतक नकली सरसंघचालक नहीं बनाए और न ही म्लेच्छों से कोई रोटी बेटी का संसर्ग रखा। संघ ने नकली धर्माचार्य भी बनाये और म्लेच्छों से संसर्ग करके उनके मंच भी बनाये। स्पष्ट है कि कौन किससे चिढ़ता है। कौन सा हिंदुत्व है संघ का ? जो कहता है कि शूद्र को ब्राह्मण की बेटी और ब्राह्मण को शूद्र की बेटी से विवाह करना चाहिए ? श्रीराम अवतार नहीं, मात्र महापुरुष हैं ? सामान्य सामाजिक ऐक्य तो लंका और हस्तिनापुर वालों में भी था और वे भी स्वयं को हिन्दू ही कहते थे, कोई खतना करा कर आये नहीं थे।

कौन सा हिन्दुत्व है यह जो कहता है कि शास्त्रों को बदलने की आवश्यकता आ गयी है, शास्त्र अब पुराने हो गए हैं। शास्त्र को बदल डालो। यदि यही हिन्दुत्व है तो राजनैतिक पार्टियों के विलय के समान हिन्दुत्व का विलय ही इस्लाम या ईसाईयत में क्यों नहीं करने की मांग कर देते। शास्त्रों को बदल कर उपनयन शब्द को खतना और गंगाजल को आब-ए-जमजम कर देते हैं ! द्वंद्व ही समाप्त हो जाएगा। भगवान् श्रीराम को इमाम-ए-हिन्द घोषित कर ही चुके हैं ये लोग। संघ हिन्दू धर्म के ईसाई एवं इस्लाम जैसा न होने के कारण पछतावा होने से, वह कमी पूरी करने को अवतरित हुआ है। संघ कुरान और बाइबल को तो यथार्थ मानता है और सनातनी शास्त्रों को समयानुसार परिवर्तनीय। संघ आपदाओं के समय या अन्य भौतिक सेवा-सहयोग के समय केवल सामाजिक संगठन बनकर रहे, उसमें ही कल्याण और सराहना है। सनातनी मन्दिर, मठ, शास्त्र, आचार्य एवं सिद्धान्तों के ऊपर आक्षेप और प्रहार करने की कुचेष्टा संघ को ही आंतरिक क्षति पहुंचाएगी।

संघ के लोग हमें समझा रहे हैं कि संघ अपने राष्ट्रीय मुस्लिम मंच के माध्यम से कम से कम, इमाम ए हिन्द के नाम पर ही सही लेकिन श्रीराम का नाम तो कहवा रहा है क्योंकि ईमाम का अर्थ मुखिया होता है ... अब उन्हें कौन समझाए कि इमाम का अर्थ केवल मुखिया नहीं, अपितु इस्लाम के लोगों का मजहबी मुखिया होता है। होने को तो गिरोह का सरगना भी मुखिया ही होता है तो क्या आपको वह कह सकते हैं, नहीं न ... इस्लाम अल्लाह को एकमात्र एवं सर्वोच्च आदेशक एवं आराध्य मानता है। सनातन में श्रीराम की वेदोक्त ब्रह्म संज्ञा है। आप मुसलमानों से तो श्रीरामो ब्रह्म तारकः कहवा दें, तब जानें। या फिर यह कहवा दें कि जैसे श्रीराम इमाम (अल्लाह के उपासक मुसलमानों के मुखिया) हैं, वैसे ही अल्लाह भी श्रीरामभक्त हैं, तब न जानें। ऐसे बता दें कि इस्लाम तो अब्राहम, मूसा और ईसा को भी अपना पैगम्बर मानता है किन्तु इससे उसके यहूदियों और ईसाइयों के गला काटने पर कोई कमी नहीं आ जाती है।

जब हमनबी और हमकिताबियों के साथ ये हाल है तो फिर तुमलोग तो काफिर और बुतपरस्त हो ही ... श्रीराम को इमाम - ए - हिन्द कहने वाले इन्द्रेश कुमार, शास्त्रों में बदलाव की बात करने वाले मोहन भागवत, गोमांस खाने का धर्म से लेना देना नहीं कहने वाले राम माधव, तथा और भी अन्य बहुत से संघ नेता जिन्होंने म्लेच्छों के साथ रोटी बेटी का संसर्ग कर रखा है, इनके द्वारा समर्थित एवं प्रायोजित धर्मगुरु एवं नेतागण कभी वास्तविकता में सनातन धर्म की रक्षा कर ही नहीं सकते हैं। आपदाओं की स्थिति में सहयोग सहकारिता हेतु संघ की स्थिति मान्य है किन्तु धार्मिक विषयों पर धर्मगत निर्णयों में संघ या उसके द्वारा प्रायोजित धर्मगुरु शास्त्रवाक्य के आलोक में अधिकृत नहीं हैं।

--*

जाति-वर्ण जन्म से अथवा कर्म से ?

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग: (न्यायदर्शन)

मनुष्य के जन्म का मुख्य कारण है उसके पूर्व -संस्कार और शेष संचित कर्म। अज्ञानता के कारण दोष उत्पन्न होते है और दोष के कारण प्रवृत्ति बनती है। यही प्रवृत्ति जिस के कारण जन्म होता है। और सब दु:खों का कारण जन्म ही है। जब तक अज्ञानता दूर नही होगी यह जन्म -मरण का अनादि चक्र चलता ही रहेगा। अज्ञानता (अविद्या अंधकार) के हटने पर ही मुक्ति मिलती है। पूर्वजन्म के कर्म के आधार पर इस जन्म का वर्ण तय होता है । इस जन्म के कर्म के अनुसार आगे के जन्म में वर्ण निर्धारण।

विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम्। विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स:॥
(पा. 51-115)

'विद्या, तप और ब्राह्मण-ब्राह्मणी से जन्म ये तीन बातें जिसमें पाई जाएँ वही पक्का ब्राह्मण है, पर जो विद्या तथा तप से शून्य है वह जातिमात्र के लिए ब्राह्मण है, पूज्य नहीं हो सकता' । इसका आशय कैयट ने इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है :

योनिरिति ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जन्म। ब्राह्मणकारकमिति ब्राह्मणव्यपदेशस्य निमित्तामेतादित्यर्थ:। तप:श्रुताभ्यामिति नासौ परिपूर्णो ब्राह्मण:, जातिलक्षणैकदेशश्रयस्तु तत्र ब्राह्मणशब्दप्रयोग:।

इसका तात्पर्य प्रथम ही कह चुके हैं। अतएव महाभाष्य के प्रारंभ में ही लिखा गया है कि : ब्राह्मणेनाकारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽधययो ज्ञेयश्च।

'यह न विचार कर कि वेदवेदांग के पढ़ने से हमें क्या मिलेगा किंतु अपना धर्म या कर्तव्य समझ कर - यह समझ कर कि ब्राह्मण होने के नाते ही हम उनके पढ़ने को बाध्य हैं -ब्राह्मण लोग छहों अंगों के सहित वेदों को पढ़ें और उनका अर्थ जानें'।

ब्राह्मण के बालक को जन्म से ही ब्राह्मण समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत का कथन है - जन्मना ब्राह्मणो गुरुः। संस्कारों से "द्विज" संज्ञा होती है तथा विद्याध्ययन से "विप्र" नाम धारण करता है। स्मृतिकार अत्रि का कथन है -

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वम् श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥

पुनश्च

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

'ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि आदि देशों में उत्पन्न ब्राह्मणों से ही पृथ्वी के सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें', ऐसा स्मृतिकार मनु का कथन है। महाभारत में पितामह भीष्म ने भी इस संदर्भ में ब्राह्मण को जन्म से ही पूज्य बताया है।

संघ के लोग आमतौर अपनी बौद्धिक विकलांगता और इफ्तार पार्टियों के आयोजन और उनमें सम्मिलित होने, म्लेच्छों के हाथ की रोटी तोड़ने के पीछे अपने समानतावादी विचारों का सहारा लेते हैं। गीता में उल्लेख है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् जो व्यक्ति ब्राह्मण, गौ, हाथी , कुत्ते, चाण्डाल आदि सभी जीवों में समान भाव रखता है, वही पण्डित है । समदर्शी का अर्थ माता और पत्नी में समान दृष्टि रखना नहीं होगा। अपितु आर्जव दृष्टि रखना है। आर्जव का अर्थ है उचित, औचित्यपूर्ण दृष्टि ही समदर्शिता है। वो जो है, उसके समान दृष्टि रखना ही समदर्शिता है। कुत्ता है, तो उसके प्रति कुत्ते के समान ही दृष्टि रखे, कुत्ते के सम देखे कुत्तों को। गौ और हाथी को उनके सम , उनके ही समान दृष्टि से देखे। इसीलिए भगवान् को समदर्शी कहा गया क्योंकि जिसने जिस भाव से उन्हें पूजा , उसी भाव के सम होकर उन्होंने उसके साथ व्यवहार किया। जिसने मित्र माना, उसके साथ मित्रवत, जिसने पुत्र माना, उसके साथ पुत्रवत, जिसने गुरु माना उसके साथ गुरुवत और जिसने शिष्य माना, उसके साथ शिष्यवत। जिसने शत्रु माना उसके साथ शत्रुवत और जिसने आराध्य माना, उसके साथ आराध्यवत। यही ईश्वर की समदर्शिता है। यदि समदर्शिता का अर्थ टके सेर भाजी, टके सेर खाजा बनना होता तो गीताजी के सोलहवें अध्याय में भगवान् जी ये नहीं कहते :-

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्र मशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

भगवान् स्वर्ग नरक, पाप पुण्य, धर्म अधर्म का भेद ही नहीं करते। और वास्तव में उन्होंने भेद बना कर छोड़ दिये, और जीव को विवेक और माया दोनों से युक्त करके संतुलन बना दिया। कुछ विवेक के वश में होकर कल्याण के भागी बनते हैं और कुछ माया के वश में होकर पतन के भागी। पण्डिताः समदर्शिनः... समदर्शी का अर्थ मैंने समझा दिया। अब पंडित पर आते हैं। पण्डा नाम कर्तव्याकर्तव्यस्य विवेकस्य विभाजिका बुद्ध्या: सास्ति यस्मिन् सैव पण्डित:। कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से विभाजित निर्णय लेने वाली बुद्धि का नाम पण्डा है, वो जिसमें है, वही पंडित है। जब पंडित है, तो कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से युक्त होगा और जहाँ ये दोनों पक्ष उपलब्ध हों, वहाँ निश्चय ही प्रतिपक्ष के समानान्तर समभाव भी रखेगा। जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन्ह तैसी। समदर्शिता का अर्थ माता, बेटी और पत्नी को एक समझना नहीं होता । अपितु, पत्नी को उसके समान, माता को उसके समान, पुत्री को उसके समान समझना होता है।

अब प्रश्न है कि अपूज्य कौन है। तो प्रतिप्रश्न यह है कि किसके लिए पूज्य है और किसके लिए पूज्य नहीं है। एक शूद्र, जो एक अन्य शूद्र का पिता है, वह ब्राह्मण के द्वारा अपूज्य है लेकिन अपने पुत्र के द्वारा पूज्य है। महाभारत में सौ वर्षीय क्षत्रिय के द्वारा एक दस वर्षीय ब्राह्मण पूज्य बताया गया है क्योंकि महाभारत के ही मतंग उपाख्यान में देवराज इंद्र के वचन के अनुसार क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में सकाम विधि से 60 जन्म लगते हैं।

तंत्रों के अनुसार एक ब्राह्मण यदि किसी और वर्ण के साधक से तंत्रज्ञान लेता है तो वह निम्नवर्गीय गुरु उसके द्वारा पूज्य है। कौलावली तन्त्र, कुमारी तंत्र आदि के अनुसार शूद्रवर्ण की कन्या कुमारी पूजन के समय अपने ब्राह्मण याजकों के द्वारा पूज्या है। एक वेदपाठी ब्राह्मण के लिए एक कर्महीन ब्राह्मण अपूज्य है। इस प्रकार जन्मना कर्मणा का संतुलन बनाते हुए पूज्यापूज्य पर गहन विचार की आवश्यकता है। श्रुति कहती है -

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते । यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्रः को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

अर्थात् जो मनुष्य सब जीवों में अपनी ही आत्मा देखता है तथा सब जीवों में अपने ही स्वरूप को देखता है, उसके भीतर किसी भी जीव के प्रति जुगुप्सा, निन्दा , द्वेष आदि का भाव नहीं रह पाता । समस्त जीवों में एक ही आत्मा समाया हुआ है, ऐसा जानकर जिस ज्ञानी मनुष्य के लिये समस्त संसार अपना ही स्वरूप आत्मस्वरूप हो जाता है, उस एक आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले को किसका भय, किसका मोह, किसके लिए शोक होगा ? समदर्शिता का दूसरा अर्थ सबों के सुख दुख के विषय में वैसा ही सोचना और व्यवहार करना जैसे हम स्वयं के लिए करते है। क्योंकि कोई भी विवेकी व्यक्ति एक विद्या विनय सम्पन्न व्यक्ति और एक चांडाल के निर्णय को कथित समदर्शिता के आधार पर एक ही जैसा महत्व देकर अपनी मूर्खता नहीं प्रमाणित करेगा। और साथ ही दूसरे अर्थ में कंस और युधिष्ठिर के प्रति उनके भाव के सम होकर शत्रुता और मित्रता का भाव रखना होगा।

पूज्य और अपूज्य के रहस्य थोड़े खोलता हूँ। जैसे दान देना और डकैती करना। दो भिन्न चीजें हैं। दान देने का सरल भाव है कि स्वेच्छा से आवश्यकता के अनुसार किसी को स्वत्व का भागीदार बनाना और डकैती का अर्थ है कि बलपूर्वक किसी के स्वत्व का स्वार्थपूर्ण अपहरण। अधिग्रहण और डकैती में इतना ही अंतर है कि अधिग्रहण अयोग्य और पापी के धन का उचित सदुपयोग के लिए किया जाता है। और डकैती सज्जनों के धन के दुरुपयोग के लिए की जाती है। जो व्यक्ति दान कर रहा है, वह दानी है। लेकिन जो दान नहीं कर रहा है, वह डकैती भी नहीं कर रहा। दान नहीं करने और डकैती करने में भेद है। दान नहीं करने को डकैती नहीं कहते । वैसे ही अपूज्य का अर्थ है पूजित न होना,। जो अपूज्य है, उसकी पूजा न करना और उसका अपमान करना, दो अलग अलग बातें है। अपूज्य का अर्थ पूजारहित होना है, न कि अपमानित होना। पूजा का अर्थ सम्मान से है यहाँ। न कि षोडशोपचार से कर्मकांडीय अर्चना

विशेष। शिवपुराण में श्रीमन्नारायण प्रजापति दक्ष को चेतावनी देते हुए कहते हैं :-

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते, पूजनीयो न पूज्यते। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति, दारिद्र्यं मरणं भयम् ॥

जहाँ पूजनीयों की पूजा नहीं होती, और अपूज्यों की पूजा होती है, वहाँ दरिद्रता, मृत्यु और उद्वेग आदि भय सदैव रहते हैं। पूज्य का अर्थ यहाँ सम्मानित होने से है। श्रीमद्भागवत में पापाचारी ब्राह्मण की अपेक्षा सदाचारी नारायण भक्त चांडाल की अधिक प्रशंसा की गई और कहा गया कि यदि कोई दुराचारी ब्राह्मण सदाचारी चांडाल की अवमानना करता है तो वह दण्डनीय है। चांडाल अपूज्य है, न कि अपमानित। जैसे पिता के लिए उसका पुत्र अपूज्य है, गुरु के लिए उसका शिष्य अपूज्य है, न कि अपमानित। अपूज्य होने और अपमानित होने में बहुत भेद है। विद्याविनय सम्पन्न समदर्शी सबों को पूज्य नहीं मानता अपितु पूज्य के साथ पूज्यता का, और अपूज्य के साथ अपूज्यता के समानांतर भाव रखकर व्यवहार करता है।

वर्ण और जाति अलग अलग नहीं हैं। जैसे आपका शरीर समाज का हिस्सा है, और आपके आंख, कान आदि शरीर के अंग। उसमें भी कोशिका, पुतली, रोम आदि अंगों के भी उपांग हैं। वैसे ही सनातन समाज का हिस्सा वर्ण है और फिर उन वर्णों के अंग तदनुरूप जातियां हैं और जातियों में भी उपजातियां हैं। जैसे घर में अलग अलग कमरे, और कमरों में भी अलग अलग अलमारियों की व्यवस्था है और उनमें भी अलग अलह सांचे बने हैं, वैसे ही समाज रूपी घर में वर्णरूपी कमरे और जातिरूपी अलमारियों की सांचे रूपी उपजातियां हैं। वर्ण समष्टि है और जाति व्यष्टि। कुछ लोग जाति शब्द को संस्कृत का न मानकर यवनों के 'अल-जात' शब्द से उसका सम्बन्ध जोड़ देते हैं, उनके भ्रम का निराकरण भी यहीं हो जाएगा। जन्म से ही ब्राह्मण सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। ब्राह्मण जन्म से ही महान् है और सभी प्राणियों के द्वारा पूजनीय है। ब्राह्मण जन्म से ही सभी मनुष्यों का गुरु है।

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।

(श्रीमद्भागवत महापुराण)

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते । नमस्य: सर्वभूतानामतिथि: प्रसृताग्रभुक्॥

(महाभारत)

बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः।

(श्रीमद्भागवत महापुराण)

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते ॥

(स्कन्दपुराण)

यहाँ जन्म से शूद्र इसीलिए कहा क्योंकि असंस्कृत व्यक्ति की शूद्रवत् संज्ञा है। जैसे शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं, वैसे ही अनुपवीती ब्राह्मण को भी नहीं। इसीलिए उसी स्कन्दपुराण में फिर कहा, ब्राह्मण जन्म से ही महान् है।

ब्राह्मणो हि महद्भूतं जन्मना सह जायते ॥ ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण है, यह बात सत्य है लेकिन उससे पहले ब्राह्मण माता पिता और गुरु की भी आवश्यकता है। तब वह ब्रह्म को जान पाता है। यहां कॉलेज का सिलेबस खत्म कर नहीं पाते, चले हैं ब्रह्मज्ञान भांजने। अपि च,

स्त्रीशूद्रबीजबन्धूनां न वेदश्रवणं स्मृतम्। तेषामेवहितार्थाय पुराणानि कृतानि वै॥
(औशनस उपपुराण)
प्रणवं वैदिकं चैव शूद्रे नोपदिशेच्छिवे।
(परमानन्द तंत्र, त्रयोदश उल्लास)
शूद्राणां वेदमंत्रेषु नाधिकारः कदाचन। स्थाने वैदिकमंत्रस्य मूलमंत्रं विनिर्दिशेत्॥
(योगिनी तंत्र)

स्त्री और शूद्र हेतु वेदश्रवण का निषेध इन प्रमाणों से मिलता है। इसीलिए उनके कल्याण के लिए पुराणों का प्रणयन किया गया। पुनः कहा :-जन्मना लब्धजातिस्तु (श्रीमद्देवीभागवत महापुराण) जाति की प्राप्ति जन्म से ही है।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः
(पराशर उपपुराण, वैखानस कल्पसूत्र)
जन्मना चोत्तमोऽयं च सर्वार्चा ब्राह्मणोऽर्हति॥
(भविष्य पुराण)
जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्॥
(पद्मपुराण)

ब्राह्मण जन्म से ही उत्तम है, और सबों के द्वारा सम्माननीय है। जन्म से ब्राह्मण, संस्कार से द्विज, विद्या से विप्र और तीनों से श्रोत्रिय होता है। क्षत्रिय और वैश्य भी करोड़ों कल्पों तक तपस्या करके भी केवल तपस्या के दम पर ब्राह्मण नहीं बन सकते।

क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा कल्पकोटिशतेन च ॥ तपसा ब्राह्मणत्वं च न प्राप्नोति श्रुतौ श्रुतम्।
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण)

जो लोग विश्वामित्र का उदाहरण देते हैं, वो भी स्मरण रखें कि उन्होंने भी एक जन्म में ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं किया। कई बार उनका शरीर बदला, पूरा शरीर नष्ट हो जाता तब केवल तेजरूप में बचते थे, ब्रह्मा जी नया शरीर देते थे। बीच में पक्षी की योनि भी मिली थी उन्हें, तब जाकर ब्राह्मण बने। उसमें भी उन्हें अनेक जन्मों में भी सफलता इसीलिए मिली क्योंकि उनका जन्म जिस चरु के कारण हुआ था वह ब्रह्मवक्तव्य से प्रेरित था। शुक्लयजुर्वेद की काण्व शाखा के

शतपथब्राह्मण में है बृहदारण्यकोपनिषत्, उसका वचन है :-

ब्रह्म वा इदमग्रआसीदेकमेव सृजत क्षत्रं यान्येतानि स नैव व्यभवत्
स विशमसृजति स नैव व्यभवत्स शौद्रंवर्णमसृजत्।

अर्थात् सबसे पहले ब्राह्मण वर्ण ही था । उसने क्षत्रिय वर्णका सृजन किया । वह ब्राह्मण क्षत्रिय का सृजन करने के बाद भी अपनी वृद्धिमें सक्षम नही हुआ, तब उसने वैश्य वर्ण का सृजन किया । इसके अनन्तर (अर्थात् क्षत्रिय और वैश्यकी रचनाके बाद)भी वह ब्रह्म प्रवृद्ध न हो सका, तब उसने शूद्र वर्णकी रचना की।
ये तो सिद्ध ही है सभी वर्ण भगवान् से उत्पन्न हुए अब इन वर्णों का विभाग सुनिए ! इन वर्णोंमें जन्म कैसे होता है इस विषय में भगवान् गीता में कहते हैं - गुणकर्मविभागशः। अर्थात्, जन्मांतर में किये गए कर्मों और सञ्चित गुणोंके द्वारा विभाग करके ही भगवान् चारों वर्णोंमें जन्म देते हैं !

वर्णाश्रमाश्चस्वकर्मनिष्ठा: प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायु:
श्रुतिवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।
(स्मृतिसन्दर्भ)

अर्थात् अपने कर्मोंमें तत्पर हुए वर्णाश्रमावलम्बी मरकर, परलोकमें कर्मोंका फल भोगकर, बचे हुए कर्मफलके अनुसार श्रेष्ठ देश, काल, जाति, कुल, धर्म, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा आदिसे युक्त, जन्म ग्रहण करते हैं।

कारणं गुणसंगोस्य सदद्योनिजन्मसु ।
(श्रीमद्भगवद्गीता)

गुणोंमें जो आसक्ति है वही इस भोक्ता पुरुष के अच्छी -बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है । कुछ लोग - जन्मना जायते शूद्रः .... ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः के आधार पर कहते हैं - व्यक्ति जन्मतः शूद्र है। संस्कार से वह द्विज बन सकता है। वेदों के पठन-पाठन से विप्र हो सकता है। ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है। इसके आधार पर कहते हैं वर्ण कर्म के द्वारा कोई भी बदल सकता है । किन्तु इस श्लोक का ये अर्थ बिल्कुल भी नहीं है । जन्मना जायते शूद्र: से ये नहीं हो जाता कि जन्म से सभी शूद्र हैं; इसका अर्थ है जन्म से सभी शूद्रवत् हैं ,अर्थात् वेद के अनधिकारी हैं किन्तु संस्कार होने से द्विज वेद का अधिकारी होता है ।

ब्राह्मण: सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रेव हि कारणम् ॥
(मनुस्मृति)

अर्थात्, जन्म से ही ब्राह्मण देवताओंका भी देवता होता है और लोक में उसका प्रमाण माना जाता है इसमें वेद ही

कारण हैं । तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणककारणम् । (महाभाष्य) जो ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न और उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन ,तप, विद्यादिसे युक्त होता है ,वही मुख्य ब्राह्मण होता है !मेरु तन्त्र और पराशर पुराण भी ब्रह्मक्षेत्रं ब्रह्मबीजं आदि श्लोकों से जन्मना महत्व का प्रतिपादन करते हैं।

तप: श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स:
(महाभाष्य)

जो तप और विद्यासे हीन है वह केवल जाति से ब्राह्मण होता है । विदुरजी व्यासजीके पुत्र थे जो ब्राह्मण हैं और सर्वज्ञ वैष्णवावतार हैं, फिर भी शूद्र योनि में जन्म होने से शूद्र ही रहे । महाभारत में विदुर स्वयं को ब्रह्मविद्याका अनधिकारी बताते हैं जिसके कारण उन्होंने सनत्सुजात जी को ब्रह्मविद्या के लिए बुलाया था । विदुर जी कहते हैं -

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे । कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥
(महाभारत)

अर्थात्, मेरा जन्म शूद्रयोनि में हुआ है अतः मैं (ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं होने से) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देने का मैं साहस नहीं कर सकता, किन्तु कुमार सनत्सुजात की बुद्धि सनातन है, मैं उन्हें जानता हूँ । महर्षि आपस्तम्ब ने धर्मसूत्रों में यह बात कही :-

धर्मचर्या जघन्यो वर्णः पूर्वंपूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।
अधर्मचचर्यया पूर्वोवर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥
पुनश्च,
तद्य इह रमणीयचरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरनश्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डालयोनिं वा।
(छान्दोग्योपनिषत्)

अर्थात्, उन में जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तमयोनि को प्राप्त होते हैं । वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा अशुभ आचरण वाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्ते की योनि, सूकर की योनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं। उपरोक्त मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कर्म के द्वारा ही अलग अलग योनियों में अथवा वर्ण में जन्म होता है। यहां कोई अधिकार के हनन की बात नहीं है। जैसे कि अपनी पत्नी को वस्त्रहीन अवस्था में देख सकते हैं, लेकिन माता को नहीं। यहाँ पुत्र यदि कहे कि यह हमारे अधिकार का हनन है, तो मार खायेगा। वह उसका काम ही नहीं है। और यह ब्राह्मण जन्म ऐसे ही आरक्षण में नहीं मिल गया। ब्राह्मण का काम शूद्र करेगा तो उसे दोष लगेगा, वैसे ही शूद्र का काम ब्राह्मण के लिए वर्जित है।

तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति। स जायते पुल्कसो वा चाण्डालो वाऽप्यसंशयः॥
पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते। स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग परिवर्तते॥
ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि। शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते॥
ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि। वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते॥
ततः षष्टिगुणे काले राजन्यो नाम जायते। ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम्॥
ब्रह्मबन्धुश्चिरं कालं ततस्तु परिवर्तते। ततस्तु द्विशते काले लभते काण्डपृष्ठताम्॥
काण्डपृष्ठश्चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते। ततस्तु त्रिशते काले लभते जपतामपि॥
तं च प्राप्य चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते। ततश्चतुःशते काले श्रोत्रियो नाम जायते॥
(महाभारत - मतंग एवं इंद्र का संवाद)

पशुयोनि का जीव जब पहली बार मनुष्य बनता है तो म्लेच्छ या चांडाल बनता है। हे मतङ्ग !! फिर वह उसी म्लेच्छ योनि में बहुत जन्मों तक बना रहता है। फिर हज़ार जन्मों के काल के बराबर समय बिताकर उसे शूद्रयोनि मिलती हैं जहां फिर वह बहुत से जन्म लेता है। वहां तीस जन्म बिताकर (यदि वह अपने वर्णगत धर्म का पालन करता रहा, तो) वैश्य वर्ण में जन्म लेता है और पुनः कई जन्मों तक वैश्य ही रहता है। वहां साठ जन्म बिताकर वह क्षत्रिय कुल में जन्म लेता है और फिर साठ जन्मों तक क्षत्रिय रहकर ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है। यहां केवल वह ब्रह्मबन्धुत्व की स्थिति में रहता है, यानि जन्म मिला है, कर्म ब्राह्मण के नहीं हैं। ब्रह्मबन्धुत्व की स्थिति में जब दो सौ जन्म बीतते हैं तब उसका जन्म वेदज्ञानी ब्राह्मण कुल में होता है। ऐसे कुल में तीन सौ जन्म लेने के बाद वह ब्राह्मण के आचरण और गायत्री आदि के संस्कार से भी युक्त हो जाता है। इस प्रकार से जन्मना ब्राह्मण होकर कर्मणा भी जब वह ब्राह्मण बनता है, तो ऐसे स्तर के चार सौ जन्मों के बाद इसे ब्रह्मबोध होता है। यानि जन्मना ब्राह्मण बनने के नौ जन्मों के बाद वह कर्मणा भी ब्राह्मण बन पाता है। ऐसे घूमते फिरते नहीं, कि जब मन किया इसी शरीर से बन गए। वर्ण देहाश्रित है। देह जन्माश्रित है। वर्ण कर्माश्रित नहीं है क्योंकि कर्म देह की अपेक्षा चिरस्थाई नहीं। वर्ण भौतिक अस्तित्व का परिचायक है और कर्म का आधार। इसीलिए कर्म वर्णाश्रित है, न कि वर्ण कर्माश्रित। कर्म बदलने से यदि वर्ण बदलेगा तो पूजा कराने वाला ब्राह्मण यदि धर्मरक्षा के लिए शस्त्र उठाये तो उसकी क्षत्रिय संज्ञा हो जाती, तो उसे अपनी पत्नी से ही ब्राह्मणीगमन का पाप लग जाता। कर्म वर्ण के ऊपर आश्रित है इसीलिए द्रोणाचार्य और युधिष्ठिर का कर्म उनके वर्ण पर प्रभाव न डाल सका। यदि इच्छानुसार कर्म बदलने से वर्ण बदलने की स्वतंत्रता होती तो भगवान् गीता में क्यों कहते ? स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। अपने अपने कर्म में लगे रहकर ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है। इसीलिए महाभारत में जाबालि, बृहद्धर्म उपपुराण और पद्मपुराण आदि में कौशिक और नरोत्तम ब्राह्मण आदि को धर्मव्याध नामक कसाई, तुलाधार वैश्य और शुभा नामक स्त्री आदि धर्म का बोध कराते हैं। उनका कल्याण भी अपने अपने कर्म में रहकर ही हुआ। पहले वर्ण मिलता है, तब उसके अनुरूप कर्म करने का अधिकार। कोई भी कर्म करके उसके अनुरूप वर्ण चयन करने का अधिकार नहीं है।

उदाहरण :- पहले व्यक्ति आरबीआई का गवर्नर बनेगा फिर नोट छापेगा। पहले पद तब अधिकार। कोई भी व्यक्ति नोट छाप कर ये नहीं कह सकता है कि चूंकि मैं आरबीआई के गवर्नर का काम कर रहा हूँ तो मुझे वही पद दे दो। इसी प्रकार पूर्वजन्म की योग्यता के आधार पर इस जन्म का वर्ण मिलता है, फिर उसके अनुरूप कर्म करने का अधिकार। कर्म चुनने की स्वतंत्रता किसी को भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो भिक्षाटन करने (ब्रह्मवृत्ति) के लिए उत्सुक अर्जुन को भगवान् नहीं रोकते।

इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्। जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥
(श्रीमद्भागवत)

कुछ लोग सूत जी का उदाहरण देते हैं। सूत जी अयोनिज हैं। पृथु जी के यज्ञ में बृहस्पति और इंद्र जी का भाग मिल जाने से यज्ञ कुण्ड से सूत जी की उत्पत्ति हुई। सूत जी ब्राह्मण ही हैं, सूत उनकी संज्ञा है, न कि सूत जाति। पद्मपुराण और वायुपुराण में उनके प्रादुर्भाव की कथा है। अग्निकुण्डसमुद्भूत: सूतो विमलमानसः। लेकिन उनका पालन पोषण सन्तानहीन सूत परिवार ने किया अतः वे भी उसी से पुकारे गए। जैसे राजा उपरिचर तथा अद्रिका अप्सरा की कन्या सत्यवती तथा ब्राह्मण शक्तिपुत्र पराशर के सहयोग से उत्पन्न व्यास जी ब्राह्मण थे। कैवर्त के द्वारा लालन पालन होने से सत्यवती दाशकन्या नहीं बन गयी। ऋषि कण्व के द्वारा पालन पोषण करने मात्र से शकुंतला ब्राह्मणी नहीं बन गयी।

जैसे सूत रथी के रथ का कुशलता से संचालन करके उसके मार्ग को प्रशस्त करता है, जैसे गुरु शिष्य को मार्गदर्शन देकर उसका मार्ग प्रशस्त करता है, वैसे ही सूत जी ने मार्गदर्शन के माध्यम से ऋषियों का कल्याण किया, इसीलिए उन्हें सूत कहा गया। वैसे कर्म देखें तो द्रोणाचार्य ने जीवन भर शस्त्र की ही कमाई खाई। लेकिन उन्हें कभी भी कहीं भी क्षत्रिय नहीं कहा गया। विदुर जी ने जीवन भर शास्त्रोपदेश ही किया लेकिन उन्हें किसी ने कभी भी ब्राह्मण नहीं कहा। कृष्ण जी ने अनेकों बार अर्जुन का रथ संचालन किया लेकिन उन्हें कभी किसी ने सूत नहीं कहा। महर्षि रोमहर्षण जी को ऋषियों ने अपना सूत यानि मार्गदर्शक स्वीकार किया और बाद में इन्हीं को सूत जी महाराज कहा गया, अल्पज्ञानी लोग सूत जी को सूत जाति से सम्बन्धित कर देते हैं, परन्तु सूत जी का जन्म अग्निकुण्ड से ऋषियों द्वारा यज्ञ के दौरान हुआ, जिनके दर्शन से ऋषियों के रोंगटे खड़े हो गये क्योंकि इनके ललाट पर इतना तेज था। इनका प्रथम नाम रोमहर्षण हुआ । महर्षि श्री सूत जी साक्षात् ज्ञान स्वरूप थे तभी तो शौनकादि ऋषियों ने इन्हें अज्ञानान्धकार का नाश करने वाला सूर्य कहा।

अज्ञानध्वान्तविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ। सूताख्याहि कथासारं मम कर्ण रसायनम्॥

कबीर दास ने कहा :- गुरु कुम्हार सिस कुम्भ है ... तो इसका अर्थ यह नहीं कि सभी गुरु कुम्हार हैं, या सभी कुम्हार गुरु हैं। अपितु यह है कि जैसे अपरिपक्व मिट्टी से कुम्हार अपने मार्गदर्शन से, कभी मार कर, कभी सहलाकर परिपक्व घड़ा बनाता है, वैसे ही अपरिपक्व शिष्य को अपने मार्गदर्शन से गुरु परिपक्व बनाता है। इसीलिए गुरु का कुम्हार के

समान होना बताया गया है। जैसे रोमहर्षण जी का सूत के समान वर्णन मिलता है।

कर्म से जाति का निर्धारण होता है, यह निःसंदेह सत्य है। पर क्या आप ६ वर्ष के बालक को देख कर कैसे कह सकते हैं कि वह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र में क्या बनेगा ? क्योंकि अभी तो उसने तदनुरूप कर्म किया ही नहीं !! जहां कर्म से जाति का निर्धारण होने की बात है, तो वहाँ पिछले जन्म के कर्मों का संकेत है। पिछले जन्म के कर्म इस जन्म की जाति निर्धारित करते हैं, और इस जन्म के कर्म अगले जन्म की योनि या जाति का निर्धारण करते हैं । यदि ऐसा न होता, तो ब्राह्मणों के समान जीवन जीने वाली माता शबरी को ब्राहमण क्यों नहीं माना गया, और क्षत्रिय के जैसे कर्म करने वाले परशुराम को ब्राह्मण क्यों कहा गया ? यह बहुत बड़ा भ्रमजाल है। यदि कर्म के आधार पर जाति होती तो फिर संसार में कर्मों का सम्मिश्रण नहीं होता। जैसे पानी पीने के कर्म को करने वाले एक श्रेणी में आते, और खाना खाने वाले दूसरी में। खाने वाले लोग पीते नहीं, और पीने वाले खाते नहीं। ये नियम शाश्वत होता .. लेकिन यह तो विरोधाभास है, क्योंकि यहाँ तो कर्म सम्मिश्रित है... भगवान् श्रीकृष्ण जब गाय चराते थे, तो उन्हें क्षत्रिय क्यों कहा गया, वैश्य क्यों नहीं ? और भला विदुर जैसे महाज्ञानी तपस्वी को और संजय जैसे साधक को ब्राह्मण क्यों नहीं कहा गया ?

इस जन्म की जाति का निर्धारण पिछले कर्मों से होता है.. इस जन्म में यदि शूद्र धर्माचरण की मर्यादा में रहे, तो उसे अगली योनि में वर्ण में उन्नति मिलेगी, वह वैश्य बनेगा, अन्यथा नीचे गिर कर म्लेच्छ बन जायेगा। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय मर्यादानुसार धर्माचरण करे, तो अगले जन्म में इस जन्म के कर्म फल के तौर पर ब्राह्मण बनेगा, और यदि ऐसा नहीं किया, तो अगली योनि में विषय या शूद्र या म्लेच्छ और यहां तक कि पशु भी बन सकता है। विराट पुरुष के अंगों से जहां वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है, वहां भी अजायत शब्द है, यानि जन्म लिया। ये नहीं कहा कि सभी मनुष्यों को उत्पन्न किया और उसमें जिसने अमुक कर्म को अपनाया उसे ये कहा गया। फिर कर्म तो शाश्वत नहीं हैं। मैं यदि साधना कर रहा हूँ, तो मैं अभी ब्राह्मण हूँ। किसी म्लेच्छ का संहार करने समय मैं तो क्षत्रिय बन जाऊँगा, और कृषि करते समय वैश्य और समाज सेवा करते समय शूद्र बन जाऊँगा.. एक ही दिन में मैं कई बार सभी जातियों में घूम जाऊँगा . तो बताईये कि मेरी जाति क्या है ? मैं किस वर्ण की कन्या से विवाह करूंगा ? मैं क्या कहलाऊंगा ? मनुष्य और कुत्ता दोनों रोटी खाएं तो क्या कुत्ते को मनुष्य और मनुष्य को कुत्ता कहा जा सकता है ? यदि मछली और बतख दोनों जल में तैरें, तो मछली को बतख और बतख को मछली कहा जा सकता है ? पिछले जन्म के कर्म इस जीवन की जाति तय करते हैं.... इस जीवन के कर्म जाति तय नहीं करते। वे अगले जन्म की जाति या योनि तय करते हैं। अतएव जन्मना जाति वर्ण ही वास्तविक है।

--*

अंगदान पर शास्त्रचर्चा

प्रश्नकर्ता :-मरणोपरान्त अंगदान समुचित है अथवा नहीं ?
श्रीभागवतानंद गुरु : इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। परिस्थिति और व्यक्ति के आध्यात्मिक स्तर और वैराग्य के अनुसार निर्णय लें।

प्रश्नकर्ता :- परिस्थितिवश मतलब ? मरणोपरान्त अङ्ग व्यक्तिविशेष के नहीं रहते । दान करना है तो जीवित जब हो तब करें । जैसे शिबि आदि ने किया। किसी और के अङ्ग लेकर दान देना कौन सा दान हुआ ? शव जो हैं वह अन्त्येष्टि का द्रव्य हैं । उसे छिन्न करना उतना ठीक नहीं लगता। मेरा आशय यह है कि जीवित व्यक्ति ही यह घोषणा करे कि मेरे मरणोपरांत अंगों का दान हो। ऐसे सन्दर्भ में पूछ रहा हूँ ।

श्रीभागवतानंद गुरु :- दान का निर्णय जीवित में ही किया जाता है। उसके लिए पहले सरकारी संस्थान में पंजीयन कराना होता है। मृत होने के बाद परिजन सूचना दे देते हैं और चिकित्सक निकाल कर ले जाते हैं। मरने के बाद केवल शल्यक्रिया होती है, दान का पत्र तो जीवित में ही बनता है। दान भी अपने ही अंगों का होता है और होना चाहिए। किसी अन्य के अंगों का नहीं। यदि किसी अन्य का अंग देना भी हो तो उसपर अपना पूर्ण अधिकार होना चाहिए, जैसे एकचक्रा नगरी में कुंती ने भीम को ब्राह्मणपुत्र के स्थान पर भेज दिया था।

प्रश्नकर्ता :- जीवित रहते देह पर जो अधिकार है वह मरणोपरान्त नहीं रहता । इसके कारण उसका "अङ्ग दूंगा" ऐसी घोषणा अनुचित होगी ।

श्रीभागवतानंद गुरु : पिता की घोषणा और प्रतिज्ञा पर पुत्र का अधिकार होता है इसीलिए दशरथ जी के मरने पर भी राम जी ने उनकी प्रतिज्ञा की पूर्ति की।

प्रश्नकर्ता :- साध्य की प्रतिज्ञा थी, असाध्य की नहीं ।

श्रीभागवतानंद गुरु :- जिसका कोई नहीं, उसका राजा होता है। इसीलिए शव के अनाथ होने पर उसपर राजा का ही अधिकार होगा। अंगदान असाध्य नहीं है। पहले से पंजीकरण कराना होता है और मरने के बाद परिजन केवल सूचना दे देते हैं। शेष काम सन्स्थान कर लेते हैं। कोई असाध्य नहीं।

प्रश्नकर्ता :- असाध्य = जो मेरा है ही नहीं उसपे अधिकार जताना। क्योंकि मरने के बाद ये शरीर मेरा नहीं रह जायेगा। वैसे सनातन के इतिहास में लोगों ने जीवित रहते ही अङ्गो का दान किया है...पहले से कहकर मरने के बाद देने का

दृष्टान्त तो नहीं गोचर हुआ...कहीं भी....शायद...

श्रीभागवतानंद गुरु : यदि मरने के बाद यह शरीर मेरा नहीं रह जायेगा तो इसकी अस्थि को गंगा में प्रवाहित करने से मेरी सद्गति कैसे होगी ? इसकी अंत्येष्टि विधिपूर्वक ही क्यों होनी चाहिए, जब इससे मेरा सम्बन्ध है ही नहीं तो ...

और यदि इससे हमारा सम्बन्ध है तो हमें इसे छोड़कर क्यों जाना होता है, हमारी ही वस्तु हमसे छिन क्यों जाती है... ? सत्य तो यह है कि यह शरीर कभी हमारा है ही नहीं। हमारे इसके अंदर रहते भी नहीं और इसके बाहर रहते भी नहीं। शरीर कर्म करने और उसे भोगने का माध्यम मात्र है। किंतु उससे हमारा सम्बन्ध तब तक है जब तक हम ब्रह्मनिष्ठ न हो जाएं। दधीचि ने ऐसे किया था। पहले कहा, फिर मरे फिर उनकी हड्डी ली गयी। दधीचि ने जिस समय देवराज को अस्थि दी, उस समय वे गृहस्थ आश्रम में ही थे। इसके अतिरिक्त इस कारण से इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या लगी। इन्द्र को एक ही प्रकरण में तीन बार ब्रह्महत्या लगी। एक विश्वरूप की, दूसरी दधीचि की और तीसरी वृत्रासुर की।

प्रश्नकर्ता :- किन्तु दानार्थ ही मृत्यु स्वीकार किया ये बात तो सही है...पर प्रकृतदान में तो जब मुझे शरीरगतपीड़ा का भान नहीं रहेगा ..दैवप्रेरणा से ये नष्ट होगा तब के लिये दान करता हूँ....पूर्व में भोगादि यथेच्छ भोगूँगा ...फिर जब न भोग पानें लायक देह रहे तो कोई भी ले ले.....

श्रीभागवतानंद गुरु : नेत्रदान में पूरा नेत्र उखाड़ कर नहीं ले जाते। एक महीन सी झिल्ली रहती है इसे ही निकालते हैं जो निकालने के बाद भी नेत्रों को विकृत नहीं दिखाती। जो नेत्र स्वस्थ है उसी को लिया जाता है, जो देखने में स्वयं ही अक्षम है, भोग में असमर्थ है वह नहीं लेते।

प्रश्नकर्ता :- स्वयं देही के लिये तो अभोग्य ही हो जाता है....चैतन्यता हीन होने से...?

श्रीभागवतानंद गुरु : देही का उस अंग से जितना भोगने का था, वो भोग चुका है। इसका अर्थ यह नहीं कि अंग भी अपने भोग की शक्ति खत्म कर चुका है। वो देही का कर्मफल था। देही चाहे तो योगविद्या से दूसरे के देह में भी प्रवेश करके भोग सकता है। जैसे मरने के बाद तो जीव के लिए उसका गृह, आभूषण, वाहन आदि भी अभोग्य हो जाते हैं किंतु शेष जन उपभोग करते ही हैं।

प्रश्नकर्ता :- दाह और अस्थियों का प्रवाहण इसलिए कि शरीर तो उसका नहीं किन्तु शरीर प "मैं" की अभिलाषा है । और दाह के बाद ऐसे अभिलाषा का अधिष्ठान नष्ट हो जाएगा । दाह पुत्र का अधिकार और कर्तव्य है। इसमें गुजरे हुए का कोई कर्तव्य नहीं, न ही उसके देह पे इस कर्म के कारण अधिकार । सात्त्विकाहङ्कार से इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताएं बनती हैं और वो होती हैं इन इन्द्रियों के स्वामिनियां । अगर इस तथाकथित दानी की इतनी उत्कण्ठा हैं तो जीवित रहते

क्यों नहीं देता? इसलिए नहीं, क्यों कि सोचता हैं कि "मेरा हैं और मेरे काम का हैं" । और यह भी कि "मेरे" मरने के बाद मेरे कोई उपयोग की नहीं । मरने के बाद यदि इंद्रियों को अग्नि के (परिस्थितिभेद से भूमि अथवा जल के भी) हवाले करना चाहिए।

श्री रामसुखदासजी महाराज जी ने भी कहा है कि शव के साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शव का कोई अंग काटने से अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता । अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिन्ह रहता है ।अ तः मृत्यु के बाद नेत्रदान करने को मैं सर्वथा अनुचित मानते हैं। अंत्येष्टि संबन्धित मन्त्रों मे तो स्पष्ट बोला है कि अमुक अमुक इन्द्रियां अपने अमुक अमुक अधिष्ठात्री देवताओं को जा पहुंचे । आप इसलिए नहीं देते क्योंकि शव पितृमेध का द्रव्य हैं।

श्रीभागवतानंद गुरु : पितृमेध में भी समूचे शव की अनिवार्यता नहीं है। ऐसे में बहुत से लोग सम्पूर्ण अंगों के साथ नहीं मरते अथवा मरने के बाद उनके सभी अंग नहीं मिलते। यह बताईये कि जिनका दुर्घटना में अंग भंग हो जाये या फिर इसी जन्म में विकलांग हों अथवा बाघ आदि के द्वारा खा गए हों, वे तो आगामी हरेक जन्म के लिए स्थायी विकलांग हो गए फिर ? और जितनों के सभी अंग सही सलामत जलाए गए वे अपने कर्मफल से भी ऊपर होकर साङ्ग जन्म लेंगे ? विकलांगता पूर्वकृत पाप का परिणाम है।

स्वामी श्रीरामसुखदास जी ने सर्वथा सत्य और शास्त्रसम्मत बात कही है। किंतु उन्होंने कहा कि शव के साथ अनावश्यक छेड़छाड़ न करे। पूर्वदत्त अंगों को निकालने के लिए छेड़छाड़ अनुचित नहीं है। ऐसे तो गर्भवती के अंतिम संस्कार में भी उसके पेट को फाड़कर बच्चे को निकाल कर अंत्येष्टि करने का आदेश गरुड़ पुराण में है तो क्या अगले जन्म में उसे पेट या गर्भाशय नहीं मिलेगा ? छेड़छाड़ उसे कहते हैं जहां अनुचित और निरर्थक क्षति हो। सार्थक उद्देश्य से पहले के दिये वचनबद्ध दान हेतु की गई शल्यक्रिया छेड़छाड़ नहीं कहलाती है।

दानी जिजीविषु होगा तो मरने के बाद देगा। जो व्यक्ति अधिक उदार है वह अपने जीवित रहते हुए भी किडनी, लीवर, हृदय, अस्थिमज्जा आदि दान करते ही हैं। जीते जी दान करना सात्विक है और मरने के बाद की व्यवस्था, जो बहुधा जिजीविषा और कीर्ति अथवा पुण्यलाभ के लोभ से की जाती है वह फलमुद्दीश्य वा पुनः, दीयते च परिक्लिष्टं, इस गीता वाक्य के अनुसार राजस दान हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता :- यह भी अनुचित है। भले ही कोई सारे अङ्गों के साथ न मरे किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मैं जो अपना नहीं उस द्रव्य को दान करूं ।

श्रीभागवतानंद गुरु : यह शरीर सर्वथा अपना ही है इसके तीन कारण हैं :-

मेरे ही किये गए कर्मों के फल स्वरूप यह मुझे मिला है।
मेरे द्वारा इसमें स्थित होकर किये गए कर्मों का फल मुझे ही भोगना है।
मेरे जाने के बाद भी इसके साथ होने वाली गतिविधियों का प्रभाव मेरे ऊपर ही पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त आगे भी जो शरीर मिलेगा वह मेरे ही कर्मों के फल स्वरूप मिलेगा। जहां पर कहा जाता है कि यह शरीर अपना नहीं है वहां केवल यही भाव है कि शरीर को व्यक्ति शाश्वत एवं सर्वस्व न समझ ले, इसकी नश्वरता का भास बना रहे। शरीर की अनित्यता, क्षणभंगुरता और ब्रह्मतत्व की महत्ता के प्रतिपादन हेतु ही देहगत मोह के नाश के उद्देश्य से कहते हैं कि देह हमारा नहीं है। यदि देह हमारा नहीं है तो शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् की धारणा निरर्थक हो जाएगी।

प्रश्नकर्ता :- आपके तर्क के अनुसार तो आपने सिद्ध कर दिया (आपका तर्क यह था कि शरीर सब अवस्थाओं में एक ही का होता हैं) अगर इसको मान लिया जाय तो क्यों मृत व्यक्ति शरीर में प्रवेश नहीं कर पाता ? उसका ही तो है ।

जीवित के प्रतिज्ञा पालन से प्रेत को सुख ? तो यह भी बोलना पड़ेगा कि क्या होगा अगर प्रेत अपने जीवित अवस्था के प्रतिज्ञा से मुकरना चाहे? प्रतिज्ञा से तो सामान्य लोग हर क्षण मुकरते हैं । प्रेत कौन सा हरिश्चन्द्र हुआ ? क्या पता प्रेत को जीवित अवस्था के प्रतिज्ञा से मुकरना ही इष्ट हों ।

श्रीभागवतानंद गुरु :- जितना कर्मफल होता है उतना ही देहोपभोग भी होता है। इसीलिए जैसे हम फोन होने पर भी बैट्री के अभाव में उसे संचालित नहीं कर पाते वैसे ही देह के होने पर भी कर्मफल के अभाव में उसका उपभोग नहीं कर पाते। प्रेत मरने के बाद अपनी प्रतिज्ञा से मुकरना नहीं चाहते। मैं दूंगा, ऐसा कहकर जो नहीं देता है, वह घोर नरक में पड़ता है यह शास्त्रों का ही मत है। जीवित में ही अपनी प्रतिज्ञा से मुकरना अनर्थकारी है और मरने के बाद जब वह प्रेत अपने किये शुभाशुभ कर्म को देखने लगता है तो जानबूझकर कर क्यों पुनः ऐसे वचन से मुकरेगा, जिस देह से उसे एक तो लाभ नहीं, दूसरे वचन से मुकरने पर अतिरिक्त हानि हो।

प्रश्नकर्ता :- किसी अधिकारी के काम के फलस्वरूप उसे कार इत्यादि मिलते हैं । और अगर अपना समझ के उस में तोड़ फोड़ करें तो अपराध । "शरीर मेरा हैं तो शरीर को मार डालूंगा" अगर ऐसा सोचेगा तो दुर्गति मिलेगी ।

श्रीभागवतानंद गुरु : प्रायोपवेशन, भृगुपतन, महाप्रस्थान आदि शरीर को मार डालने की भी विधि शास्त्रों में बताई गई है। इस रीति से भी धृतराष्ट्र आदि ने देहत्याग किया है। उसमें तोड़फोड़ करने नहीं कहा गया है। यहाँ कार को तोड़ नहीं रहे, निष्क्रिय गाड़ी के ऐसे कलपुर्जे जो अन्यत्र लगकर दूसरी गाड़ी को सुचारु कर सकते हैं, उन्हें दान करने की बात है। किसी को कल्याणकारी उद्देश्य से ही, आरोग्य हेतु ही देने कहा जा रहा है। अंगदान के पीछे सद्भावना ही है।

प्रश्नकर्ता :- यह अनुचित बात है। शास्त्रानुसार प्रायोपवेशन की बात नहीं कही गयी । आपने कहा शरीर पर हर समय अधिकार होता है जीव का । अगर ऐसे हो तो आत्महत्या पाप क्यों है । जीव संज्ञा जीव की होती है और प्रेत संज्ञा प्रेत की । आपके तर्क के अनुसार भी मरणोत्तर अङ्गदान अनुचित है । इसलिए है, क्योंकि -
१. जीव प्रेतावस्था के अङ्गों का स्वामी नहीं ।
२. मान लें कि ऐसा जीव ने निर्णय किया भी होगा तो ऐसी कौन सी विधा से जानें कि प्रेत ने अपना निर्णय नहीं बदला?

श्रीभागवतानंद गुरु : आत्महत्या पाप इसीलिए है कि इससे न व्यक्ति अपने शरीर का स्वयं ही सदुपयोग कर पाता है न किसी और को ही कोई लाभ होता है। शरीर पर अधिकार आपको धर्मपालन एवं लोककल्याण हेतु दिया गया है। कुकर्म करने के लिए अधिकार नहीं दिया गया है। कुकर्म करने से जीवन का अधिकार छिन जाता है :- आततायी वधार्हण: एवं हन्यादेव न संशय: । योगविद्या से शरीर त्यागना या अन्न जल छोड़कर या दावाग्नि से शरीर त्यागना शास्त्रसम्मत है। जीव प्रेतावस्था के अंगों का स्वामी नहीं इसीलिए वह न दान दे सकता है न मना कर सकता है। दूसरी बात, अंगदान करना भी हो तो जीते जी ही उसका पंजीकरण कराना होता है न कि मरने के बाद। और आत्महत्या से मरे व्यक्ति का अंग भी नहीं लिया जाता उसमें।

प्रश्नकर्ता :- आप का मत है कि दान का पञ्जीकरण कर सकता है। अगर वह उभयथा (देने और रोकने मे) समर्थ नहीं तो पञ्जीकरण अनर्थक हैं । जो इन्द्रियाधिष्ठाता देवों का हैं उसे हठात् अन्यथा करना अनुचित है , भाव कितने भी अच्छे क्यों न हो ।

श्रीभागवतानंद गुरु : आपने कहा कि अंगदान जीते जी करना चाहिए। लोग किडनी आदि जीते जी दे ही रहे हैं। आपने कहा कि अंगदान मरने के बाद न करे। दान तो उसने उसी समय कर दिया जब मन बना लिया। लेकिन देने के ही समय कह दिया कि मरने के बाद देंगे। जीते जी देना सात्विक है और मरने के बाद देना राजस है। बिना जीते जी सङ्कल्प किये मरने के बाद कोई अंगदान नहीं होता है। इस वचन की रक्षा का दायित्व राजा एवं परिजनों का होता है जो सरकारी संस्थाओं और परिवार वालों के द्वारा पूरा किया जाता है।

मरने के बाद यदि प्रेत न देना चाहे तो कोई तर्क नहीं बनता क्योंकि दिया गया वचन पूर्ण न होने से दोष है। मानो कि हमने कहा कि आपको सौ रुपये दूंगा और न दिए और मर गया तो हमें बड़ा दण्ड मिलेगा। ऐसे में परिजन यदि सौ रुपये दे दें तो हमें सुख होगा। तो प्रेत की ओर से नकारने की बात ही नहीं। वचन की पूर्ति से प्रेत को सुख ही मिलता है। अब हम देखते हैं देवताओं के अधिकार की बात, तो यह बात भी खंडित नहीं हो रही है। इन्द्रिय क्या है ? शक्ति ही इन्द्रिय है। बहुत से लोगों के नेत्र भौतिक रूप से सही होते हैं, कान सही होते हैं किंतु श्रवण और दर्शन की शक्ति

नहीं होती और इसीलिए वे विकलांग हैं। शक्ति ही इन्द्रिय है। इसीलिए जब जीव चला गया तो उसके जाते ही इंद्रियों की शक्ति भी तो चली गयी। तभी तो नेत्र और कान के होने पर भी शव देख और सुन नहीं पाता क्योंकि इन्द्रिय चले गए।

इन्द्रिय शक्ति किसके पास होती है ? मन के पास। इसीलिए सोने के बाद भी हम में स्वप्न देखते और सुनते हैं। वहां भी हमारी इंद्रियां काम करती हैं। जागृत अवस्था में भी यदि ध्यान कहीं और हो, मन कहीं और लगा हो तो नेत्र और कर्ण खुले होने पर भी, जगे होने पर ही हम निकटतम दृश्य और शब्द को ग्रहण नहीं कर पाते। इसीलिए शक्ति ही इन्द्रिय है । श्रीमद्भगवद्गीता में कहा :- इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। इन्द्रिय शरीर से परे हैं और उनसे भी परे मन है। मन ही इंद्रियों को धारण करता है और देह के अंग तो बस उस शक्ति को प्रत्यक्ष करने के माध्यम है, वो जीव के जाने के बाद बच गए। यदि ऐसा न हो तो जन्मांध व्यक्ति अगले जन्म में भला नेत्र से युक्त कैसे होगा ? इस जन्म की स्त्री अगले जन्म में पुरूष कैसे बन जाएगी ? इंद्रियां वह नहीं जो अंग हम देखते हैं। इंद्रियां तो उन अंगों की शक्ति हैं जो मन से संचालित होती हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके पास शक्ति तो है किंतु उसे व्यक्त करने का माध्यमरूप अंग विकृत होने से वे शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाते। तो जब जीव शरीर से मन और इंद्रियों को लेकर चला गया और अपने पीछे अभिव्यक्ति करने के माध्यम अंगों को छोड़ गया और उन अंगों को दान करने का संकल्प जीवित अवस्था में कर चुका था तो बस उन अंगों को ऐसे व्यक्तियों को दे देना है जो लोग शक्ति से युक्त हैं किंतु माध्यम से रहित। इंद्रियों से युक्त हैं किंतु उनसे सम्बन्धित अंगों से रहित। यदि उनमें इंद्रियशक्ति होती ही नहीं तो नेत्र लगाने के बाद वे देखने कैसे लगते ? मतलब शक्ति तो थी किंतु अभिव्यक्ति का माध्यम खराब था। और जो कोई यह कहे कि लगाए गए नेत्रों में शक्ति थी तो फिर जब वे नेत्र पूर्व के मृत शरीर में थे तो क्यों नहीं देख रहे थे ?? इसीलिए अंगदान अनुचित नहीं है।

प्रश्नकर्ता :- अगर पशुओं की आंख जरुरतमंद मनुष्यों में लगाया जाय तो सफल होगा या नहीं ? सफल हो सकता है तो प्रयोग किसी ने क्यों नही किया?

श्रीभागवतानंद गुरु : नहीं। सब मेगापिक्सल का खेल है। जैसे हरेक फोन में अलग अलग मेगापिक्सल का कैमरा होता है, वैसे ही। मनुष्य के नेत्र करीब साढ़े पांच सौ मेगापिक्सल के त्रिआयामी दृश्य को देखने वाले होते हैं। वहीं बाज के नेत्र इससे बीस वर्गगुणा अधिक शक्तिशाली होते हैं। जबकि बंदर के नेत्र आठ से दस वर्गगुणा। वर्गगुणा का अर्थ है कि यदि एक वर्ग फीट की वस्तु को मनुष्य बीस फीट की दूरी से देखे तो वह जितना बड़ा दिखेगा, उससे बीस गुणा छोटी वस्तु को बीस गुणा अधिक दूरी यानी चार सौ फीट की ऊंचाई से बाज उतना ही बड़ा देखेगा। इसीलिए बाज ऊंचाई से भूमि में चल रहे छोटे चूहे को सरलता से देख लेता है। गृद्ध की दृष्टि बाज से भी पांच गुणा अधिक होती है। कुत्ते की दृष्टि मनुष्य से पांच वर्गगुणा कम होती है इसीलिए वह कम दूरी तक देखता है और बहुत ही कम रंगों को पहचानता है, किंतु उसकी घ्राणशक्ति बहुत तीव्र है। हाथी की दृष्टि मनुष्य से तीन वर्गगुणा कम होती है किंतु श्रवण शक्ति कई गुणा अधिक। समान क्षमता एवं कार्यप्रणाली वाले वाले अंग ही लगाना संभव है। बंदर की आंत और यकृत मनुष्य में

सफलता पूर्वक प्रत्यारोपण किये जा सकते हैं। पहले तो घोड़े का मस्तक भी लग जाता था। अभी ये विद्या नहीं रही। जिन लोगों को पिक्सल या मेगापिक्सल समझ न आया हो, उनके लिए सार शब्दों में समझा दूं ...चित्रतत्व अथवा दृश्यतत्व को पिक्सल कहते हैं। कोई भी चित्र या दृश्य कैसे बनता है ? बिंदुओं के समायोजन से। जब हम पत्थर को देखते हैं तो वास्तव में वह उस पत्थर के असंख्य सूक्ष्म कणों का एक विशेष सम्मिश्रण होता है। जब हम शरीर को देखते हैं वास्तव में वह उस शरीर की असंख्य सूक्ष्म कोशिकाओं का एक विशेष सम्मिश्रण होता है। जब हम चित्र देखते हैं तो वह अलग अलग रंगों के असंख्य सूक्ष्म बिंदुओं का एक विशेष सम्मिश्रण होता है। जब हम फ़िल्म देखते हैं तो वह अलग अलग रंगों के असंख्य सूक्ष्म प्रकाशरश्मियों का एक विशेष सम्मिश्रण होता है। इसमें सबसे छोटी इकाई परमाणु या कोशिका या बिंदु या रश्मि है। इसे ही पिक्सल कहते हैं। दस लाख पिक्सल का सम्मिश्रण मेगापिक्सल कहाता है। इसे पीपीआई (पिक्सल प्रति इंच) से मापा जाता है। यदि आपके फोन का कैमरा सोलह मेगापिक्सल का है तो इसका अर्थ यह है कि आप यदि उस कैमरे से कोई चित्र खींचें तो उस चित्र के प्रति इंच में सोलह मेगापिक्सल प्रकाशकण समाहित होंगे। स्वस्थ मनुष्य के नेत्र औसत रूप से पांच सौ छिहत्तर मेगापिक्सल की क्षमता के होते हैं। अब इसका अर्थ ऐसे समझें कि जब भी हम कोई दृश्य देखते हैं तो स्मरण रहे कि सबसे दूर की वस्तु को भी स्पष्ट रूप से देखकर उसकी स्पष्टतम छवि बनाने में मनुष्य के आंख और दिमाग को दस से पंद्रह मिलिसेकेंड का समय लगता है। सेकेंड के हजारवें भाग को मिलिसेकेंड कहते हैं।

वहीं एक पिक्सल का मान मनुष्य के नेत्रों के सापेक्ष प्रति चापमिनट 0.3 यूनिट का होता है। किसी भी वृत्त में 360 समान भाग होते हैं जिन्हें डिग्री कहते हैं। इसमें एक डिग्री के भी पुनः साठ हिस्से करें तो प्रत्येक हिस्से का मान एक चापमिनट का होता है। मनुष्य के नेत्र एक चापमिनट के कोण के आधार पर ही दृश्य देखते हैं तथा वह पृथ्वी के तल के सापेक्ष नब्बे डिग्री के कोण में होते हैं। इस हिसाब से 90° डिग्री × 60 चापमिनट/प्रति/डिग्री × 1/0.3 अर्थात् 90 * 60 * 1/0.3 = 324,000,000 पिक्सल यानी कि 324 मेगापिक्सल। यह एक सामान्यतम दृश्य का सामान्यतम गणित है।

किंतु हमारे नेत्र सदैव समान नहीं देखते। जैसे कि भृकुटि के कारण ऊपर की ओर इनकी सीमा 30 डिग्री ही है जबकि नाक के मध्य की ओर 45 डिग्री। गाल की ओर से नीचे की तरफ इनकी सीमा 70 डिग्री है और कानों की ओर सौ डिग्री तक। यदि हम दोनों नेत्रों से एक साथ देखें तो दाएं से बाएं (अथवा बाएं से दाएं) कुल दो सौ डिग्री की सीमा तक एवं ऊपर से नीचे (या फिर नीचे से ऊपर) अधिकतम 135 डिग्री तक देख सकते हैं। इसीलिए औसत के आधार पर नेत्रों को 120 डिग्री के दृश्यक्षेत्र के आधार पर समझा जाता है। इस हिसाब से दोनों नेत्रों की संयुक्त क्षमता के अनुसार 120° × 120° × 60 × 60 / (0.3 × 0.3) = 576 मेगापिक्सल की औसत दर्शनशक्ति मानव नेत्रों में होती है। इसका अर्थ यह है कि मानव नेत्र 0.3 की शक्ति से युक्त 576000000 पिक्सलों को प्रति इंच दृश्यक्षेत्र के हिसाब से देख सकते हैं।

नेत्रदान हेतु आकार ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए रेटिना का रेसोल्युशन, ऑप्टिक नर्व की फोटिक क्षमता देखनी पड़ेगी। अन्यथा वही व्यक्ति बाज की आंखों से देखकर सौ सौ फीट के मनुष्य देखने लगेगा। दूरबीन हमारी ऑप्टिक नर्व की फोटिक क्षमता पर ही असर डालता है इसीलिए हम बड़े आकार देख पाते हैं, अणुओं को भी देखने लगते हैं।

प्रश्नकर्ता :- अंगदान से वर्णसंकरता आ सकती है। किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति का अंग दूसरे वर्ण के व्यक्ति को लग जाये तो यह वर्णसंकरकारक हो जाएगा अतः अंगदान अनुचित है।

श्रीभागवतानंद गुरु :- वर्ण पांच बातों से निर्धारित होता है :- माता, पिता, संस्कार, कर्म एवं स्थिति। जैसे मैं ब्राह्मण हूँ। मेरे ब्राह्मण होने के पीछे पांच बातें देखी जाएंगी जिनमें प्रथम दो जन्मना, एक पराश्रित और शेष दो कर्मणा हैं। इसका प्रमाण वैखानस कल्पसूत्र, पराशर पुराण, मेरु तंत्र, महाभारत आदि में द्रष्टव्य है। मेरे माता पिता ब्राह्मण हैं या नहीं, मेरा उपनयन आदि ब्राह्मण आचार्य से सम्पादित है या नहीं। मैं अपने ब्राह्मणोचित नित्य नैमित्तिक श्रौत स्मार्त कर्म करता हूँ या नहीं एवं इन सभी योग्यताओं को प्राप्त करने के बाद क्या मैं ब्रह्मज्ञान हेतु अद्वैत ब्रह्म का निदिध्यासन करता हूँ या नहीं।

श्रीमद्देवीभागवत महापुराण के अनुसार जाति जन्म से ही होती है :- जन्मना लब्धजातिस्तु। किसी को भी जन्मना पर विचार किये बिना मात्र कर्मणा ब्राह्मण बनाने वाले लोग बड़े मूर्ख हैं। क्यों घर घर घण्टों उपवास करके पूजा पाठ कराने वाला ब्राह्मण बना रहे हैं उसे ? जब ब्राह्मण का कर्म करने से वह ब्राह्मण हो जाएगा तो उससे सीधा नोट छपवाओ। नोट छापने का कर्म करने से वह आरबीआई तो बन ही जायेगा। या फिर राष्ट्रपति का कर्म कराओ जिससे कि हम उसे राष्ट्रपति घोषित कर दें। स्मृतियों के अनुसार राजा के अधिकार वाली वस्तु, विक्रय के लिए खुले बाजार में रखी वस्तु अथवा सामूहिक रूप से दान हेतु रखी "जड़ वस्तु" का कोई वर्ण नहीं होता। वह वस्तु अपने ग्राहक अथवा याचक के वर्ण को ग्रहण कर लेती है। इसीलिए जब अंगदान के बाद वह अंग सामाजिक अथवा राजकीय संस्थान में दान हेतु चली गयी तो उसका वर्ण शून्य हो गया। वह अङ्ग जिसे लगाया जाएगा उसी के वर्ण को ग्रहण कर लेगा इसीलिए यहाँ वर्णसंकरता की कोई बात नहीं है।

--*

लिंगायत हिन्दू हैं या नहीं ?

कुछ लोगों ने पूछा है कि वैष्णव एवं शैव में पूजन पद्धति का जो भेद है, उस आधार पर लिंगायत सम्प्रदाय के कृत्य कहाँ तक शास्त्रसम्मत हैं ? उनके प्रति मेरा उत्तर है :-

लिंगायत सम्प्रदाय आचार्य नकुलीश द्वारा प्रवर्तित है जो तंत्रशास्त्र एवं पुराणों के अनुसार शिव जी के 28 वें अवतार थे। इन्हें कहीं भी शिवलिंग की पूजा करने से नहीं रोका गया था। पूरा का पूरा पाशुपत वीरशैव लिंगायत सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा दर्शन, शैवागम एवं शिवधर्मशास्त्र पर आधारित है जहां कहीं भी चरणोदक चढ़ाने की बात नहीं है। जैसे इस्कोन वालों ने विष्णु भगवान् का नाम बेचा वैसे ही ये शिव जी को बेच रहे हैं। असली पाशुपत वीरव्रती तो अब दिखते ही नहीं। दूसरी बात, वर्णसंकरों का पाशुपत मत में स्थान ही नहीं। वहां शास्त्रों के अनुसार कठोर वर्णशुद्धि चाहिए। हां, चारों वर्णों का स्थान अवश्य मान्य है किंतु सनातन रीति वाली वर्णव्यवस्था से ही। आज के तमाम लिंगायत घोर पाखण्ड एवं प्रपञ्च में फंसे हुए हैं।

लिंगायत सम्प्रदाय का मरने के बाद अग्नि संस्कार न करना, लिंगचिह्न को धारण किये रहना आदि कृत्य मकुटागम तन्त्र, अजितागम तन्त्र, पारमेश्वरागम तन्त्र, दिव्यागम तन्त्र, सूक्ष्मागम तन्त्र, चंद्रज्ञानागम तन्त्र, शङ्कर संहिता, स्कन्दपुराण, लिंगपुराण आदि से प्रमाणित होते हैं, अतः वे सनातन धर्म की शैव शाखा से होने के कारण स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं। शिवधर्मशास्त्र के अनुरूप उनका कृत्य होने से लिंगायत सम्प्रदाय सनातन की पाशुपत शाखा है।

एक श्रेष्ठ लिंगायत शैव बनने के लिए अनन्तरुद्र और बृहस्पति के मध्य हुए संवाद में बताए गए चौंसठ शीलों से युक्त होना अनिवार्य है, अन्यथा उसे रुद्रहत्या का दोष लगता है। चौंसठ शीलों से रहित व्यक्ति शैव सम्प्रदाय का अधिकारी नहीं है। पारमेश्वरागम तन्त्र के अनुसार शिवलिंग को धारण करने का अर्थ केवल लिंगाकार विग्रह को धारण करना नहीं है। अपितु शिवचरित्र एवं लीलाओं का सदैव स्मरण करना ही शिवलिंग को धारण करना है। लिंग शब्द चरित्र एवं अस्तित्व का वाचक है।

स्कन्दपुराण आदि में देवताओं और यहाँ तक कि नारायण को भी शिवलिंग धारण करने वाला बताया गया है तो कालिका पुराण में स्वयं नारायण का शिवलिंग के रूप में कामरूप क्षेत्र में वर्णन बताया गया है। पारमेश्वरागम तन्त्र के अनुसार शिवलिंग को धारण करने का वास्तविक अर्थ है, शिवचरित्र का सदैव स्मरण करना। और साथ ही सूक्ष्मागम तन्त्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भी शिवधर्मशास्त्र के अनुरूप पाशुपत आराधना को अपनाकर लिंगायत बन सकते हैं, जैसे पांचरात्र मत से वैष्णव अथवा त्रैपुर मत से शाक्त बनते हैं, इसमें उनके वर्णगत धर्म का भी नाश नहीं होता है।

सनातन धर्म में विष्णु सम्बन्धी दिव्यागम, देवी सम्बन्धी शाक्तागम एवं शिव सम्बन्धी शैवागमों की प्रसिद्धि है। लिंगायत

पाशुपत मत की एक शाखा है जिसका वर्णन सांकेतिक रूपभेद से स्कन्दपुराण (विशेषतः सूत संहिता), शिवपुराण, लिंगपुराण, शिवधर्म पुराण, एकाम्र पुराण आदि में मिलता है तथा विस्तार से शैवागमों में मिलता है। वहाँ वर्णसंकर को स्थान नहीं है। चातुर्वर्ण्य में स्थापित ६४ शीलों से युक्त व्यक्ति ही उसका अधिकारी है। यहाँ आज के लिंगायत में एक शील भी नहीं मिलता। आज के लिंगायत जहां इसे एक जाति या समुदाय मान बैठे हैं, वहीं शास्त्रों में इसका प्रमाण नहीं है। किसी भी पंथ को परखने के लिए पहले उससे संबंधित बातों को शास्त्रों में खोजें। उन्हें अलग से ध्यान में रखकर प्रचलित पंथ में उन बातों को मिलाएं। यदि मिलें तो ठीक, अन्यथा केवल उसके नाम पर पाखण्ड हो रहा है, ऐसा जानना चाहिए। लिंगायतों के साथ भी यही है। जैसे मत्यपालन का नाम देकर मछली को मारते हैं, वैसे ही लिंगायत का नाम देकर ये लोग शिवद्रोही बन गए हैं। ये लिंगायत फर्जी हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में है वे लिंगायत तो अन्य ही हैं। शिव निंदा और शिवभक्तों की निंदा, दोनों वर्ज्य है।

यह सत्य है कि अधिकतर पाशुपत पाखण्डवाद का ही आश्रय लेते हैं किंतु कुछ पाशुपत रुद्रभाव से युक्त होकर धर्मरक्षा भी करते हैं। समस्त संसार में नाना रूप धारण करके प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न भाव से विचरण करने वाले ऐसे मर्त्य अथवा दिव्य रुद्रगण को मैं प्रणाम करता हूँ। आज के लिंगायत तंत्रोक्त लिंगायत से बिल्कुल भिन्न है। जितना अंतर सूर्य और उसके चित्र में है, उतना ही अंतर वास्तविक लिंगायत एवं आज के लिंगायतों में है। भगवान् विष्णु ही शिव हैं एवं शिव ही विष्णु हैं। यह एक ही मूर्ति दो प्रकार से स्थित है, अतएव सभी प्रकार से प्रयत्नशील होकर निंदा से बचना चाहिए।

विष्णुः शिवः शिवो विष्णुरेकमूर्तिर्द्विधा स्थिताः। तस्मात्सर्वप्रकारेण नैव निंदां प्रकारयेत् ॥
(पद्मपुराण)

लिंगायत कोई अलग धर्म नहीं है, यह सनातन हिन्दू धर्म की ही पाशुपत शाखा का एक अंश है।
आपत्तिकर्ता मित्र - पाशुपत वैदिक है, लिंगायत अवैदिक है।

श्रीभागवतानंद गुरु - मूल लिंगायत अट्ठाईस शैवागमों के आधार पर चलते हैं और वीरशैव मत वेदसम्मत है, ऐसा शैव उपनिषदों और शैवागमों में भी वर्णित है। शैवागम जैसे कि मकुटागम आदि में वैदिक कर्मकांड सम्बंधी बहुत ही विधियों का वर्णन है जिसमें सर्वतोभद्र आदि वेदियों का प्रारूप और देवता भी वर्णित हैं। चंद्रज्ञानागम और रौरवागम में भी शैवागमों की श्रुतिसम्मतता का वर्णन है, जो सर्वथा वर्णाश्रम के अनुसार भी मान्य है। आधुनिक लिंगायत क्या मानते हैं, हम नहीं जानते किन्तु यदि वे अट्ठाईस शैवागमों के आधार पर चलते हैं तो अवैदिक नहीं हैं। अब यदि कलियुग के प्रभाव में आकर कुछ मनमानी करें तब अलग बात है।

आपत्तिकर्ता मित्र - वैदिक होते तो केदारनाथ के पुजारी बन बैठते ?
श्रीभागवतानंद गुरु - केदारनाथ का पुजारी होना अवैदिक है ?

आपत्तिकर्ता मित्र - जो काम अपना वर्णाश्रम धर्म का ही नाश कर दे वह वैदिकता है ?
श्रीभागवतानंद गुरु - वर्णाश्रम का विरोधी लिंगार्चन का अधिकारी नहीं है, यह शैवागमों का भी मत है। और मंदिर के पुजारी होने से वर्णाश्रम समाप्त नहीं हो जाता, अपितु धनलोलुप होकर देवविक्रय से जाता है। देवसेवा का कार्य करने से नहीं।
आपत्तिकर्ता मित्र - व्रात्यवैश्यसमुत्पन्नो वैश्यायां व्यभिचारतः। विभूतिं धारयेद्भाले कण्ठे लिंगं प्रपजयेत् ॥
मारिचहिंगुसामुद्रजीर्णोर्णापटविक्रयः । जीवका तस्य कथिता शूद्रधर्माधिकोऽपि सः ॥
लिंगायत ब्राह्मण हैं जो पुजारी बनें देवालय के ?

श्रीभागवतानंद गुरु - आपलोगों का आजकल ये कौन सा अभियान चल रहा है ? कभी ऊर्ध्वपुण्ड्र और वैष्णवों के विरोध में हो जाते हैं, कभी शैवागमों के विरुद्ध हो जाते हैं। फिर आपको अद्वैतवाद की भी रक्षा करनी है।

१) लिंगायत कोई जाति या वर्ण नहीं, सम्प्रदाय है। जैसे वैष्णवों में चारों वर्ण के लोग आ जाते हैं, शाक्त में भी चारों वर्ण के लोग आ जाते हैं, वैसे ही लिंगायतों में भी चारों वर्णों के लोग आ जाते हैं।

२) आपने जो श्लोक दिया है उसके सन्दर्भ ग्रन्थ का परिचय भी देना चाहिए। दूसरे, उस श्लोक का अर्थ यह नहीं कि लिंग धारण करने वाला या भस्म तिलक लगाने वाला वर्णसंकर है अथवा उसकी शूद्रादि के तुल्य जीविका है। अपितु यह है, कि उपर्युक्त स्थिति से जन्म लेने वाला व्यक्ति (प्रायश्चित्त रूप में) ये-ये करे। यहां लट् लकार नहीं, विधिलिंग् है, धारण करना चाहिए, यह अर्थ प्रायश्चित्त भाव का द्योतक है।

३) अमुक पाप को करके दस हज़ार गायत्री जपना चाहिए। इस वाक्य का अर्थ है कि यदि किसी कारण से अमुक पाप हो जाये तो शुद्धि हेतु दस हज़ार गायत्री जपना चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जब भी दस हज़ार गायत्री जपनी हो तो पहले वो पाप कर ले। अथवा यह भी अर्थ नहीं कि दस हज़ार गायत्री जिसने जपा वो निःसन्देह उस अमुक पाप से युक्त होगा ही। अथवा यह भी अर्थ नहीं कि केवल वह अमुक पापकर्मा ही दस हज़ार गायत्री जप सकता है।

४) वैसे ही उपर्युक्त श्लोक का यह अर्थ नहीं कि भस्म धारक और लिंगाख्य चिह्न का धारक व्यभिचारजन्य वर्णसंकर ही होगा, या फिर ऐसा करने वाला वर्णसंकर हो जाएगा आदि आदि। अपितु यह अर्थ है कि यदि किसी का जन्म ऐसी अशास्त्रीय विधि से हुआ हो, तो धारयेत् ... ऐसे ऐसे नियम से धारण करे।
४) लिंगायत का ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं, जैसे वैष्णव का ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं, हां यदि मन्दिर में पूजा करनी हो तो ब्राह्मण होना अनिवार्य है, ब्राह्मण होने के बाद सम्प्रदाय से लिंगायत हो तो भी चन्द्रज्ञानागम के अनुसार गायत्री सन्ध्या आदि से युक्त होना अनिवार्य है। ध्रुव, भीष्म जी वैष्णव तो हैं, पर ब्राह्मण नहीं। ऐसे ही लिंगायत में भी

चारों वर्ण हैं, और उनके नियमों का जो निर्देश शैवागमों में आता है, वह पुराणसम्मत ही है। आप उनके ग्रंथ जैसे कि सिद्धांतशिखामणि आदि पढ़ेंगे तो पाएंगे कि आज के लिंगायत तो अपने ही सम्प्रदाय का उन्मूलन कर रहे हैं, जैसे आज के तमाम शेष सनातनी भी स्वयं ही धर्मविरोधी आचरण में लगे हुए हैं।

आपत्तिकर्ता मित्र - वर्तमान लिंगायत अवैदिक ही हैं। इनका वर्णाश्रम सम्मत कर्म समुद्री नमक , समुद्री रत्न आदि बेचने का है।

श्रीभागवतानंद गुरु - किन्तु शैवागमों की परिभाषा के अनुसार सभी वर्ण और आश्रम के लोग लिंगायत संप्रदाय में दीक्षित हो सकते हैं, उनके लिए पाशुपत, लिंगायत, वीरशैव आदि एक ही है। इसीलिए जो वर्णाश्रम के नियम हैं, यथा शूद्रादि का प्रणव निषेध या ब्राह्मणों के लिए गायत्री सन्ध्या की अनिवार्यता, ये सब का कठोर निर्देश लिंगायतों के लिए भी है। ये लोग पालन नहीं कर रहे तो शास्त्र क्या करे ? करने को तो मूल परंपरा वाले ब्राह्मण भी नहीं कर रहे अब तो शास्त्र क्या करें ? चन्द्रज्ञानागम, मकुटागम, कामिकागम एवं रौरवागम आदि स्वयं को श्रुतिसम्मत बताते हैं तथा इनमें वर्णित सर्वतोभद्र आदि का मण्डपार्चन वैदिक यज्ञ में भी प्रयोग होता है।

आपत्तिकर्ता मित्र - व्रात्यवैश्यसमुत्पन्नो वैश्यायां व्यभिचारतः । विभूतिं धारयेद्भाले कण्ठे लिंगं प्रपजयेत् ॥

श्रीभागवतानंद गुरु - यह तो उसके प्रायश्चित्त के लिए है। ऐसा करने से उसकी शुद्धि होती है और वह उसके दोष से मुक्त होकर देवकार्यों में विहित होता है।

आपत्तिकर्ता मित्र - श्लोक में लिंगायतों की उत्पति कही गयी है । उसके आगे के श्लोक में इसका जीवनयापन हेतु कौन सा कर्म करें यह भी कहा गया है । प्रायश्चित्त जैसा कोई शब्द है इसमें ?

श्रीभागवतानंद गुरु - उत्पत्ति या स्थिति बताने के लट् या लङ् लकार का प्रयोग होता है, जो यहां नहीं है। इसीलिए यह श्लोक उत्पत्ति नहीं बता रहा। आदेश हेतु लोट् एवं अपेक्षा हेतु विधिलिंङ् का प्रयोग होता है। श्लोक में प्रपूजयेत् है, आपने प्रपजयेत् लिखा है, जो गलत है। विधिलिङ् लकार का प्रयोग धृ और पूज् धातु में है, वही कह रहा है कि प्रायश्चित्त हेतु प्रयुक्त है। पुराणों के ही अनुसार भस्म धारण अथवा त्रिपुंड आदि शास्त्रोक्त है। रुद्रार्चन के बिना कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं होता ऐसा वेदों का ही उद्घोष है। रुद्र और नारायण की एकता का उद्घोष भी वेदों का ही है। वैश्यागर्भ से उत्पन्न व्रात्य स्वतः दोषयुक्त है। इसीलिए उसका दोषशमन हो इसीलिए उसके लिए विहित कर्म का विधिलिङ् लकार से युक्त शब्दों द्वारा किया गया है।

आपत्तिकर्ता मित्र - हींग बेचना और अमुक दूसरी चीजो का व्यापार लिंगायत का कहा गया है।

श्रीभागवतानंद गुरु - महोदय, आप अधूरा समझ रहे हैं। पहली बात, कि जो व्यक्ति व्रात्य है, वह तो ऐसे भी उपनयन से रहित हो गया। जो अनुपवीती है वह सन्ध्या गायत्री से भी अनधिकृत हो गया। ऐसे में वह क्या करे ? ऐसे में वह उपर्युक्त चिह्नों को धारण करे। रही बात व्यापार की, तो वैश्य तो व्यापार ही करेगा कर्मकांड तो कराएगा नहीं। कृषि उत्पादों का व्यापार उसके लिए ऐसे भी प्रशस्त ही है। वैसे भी वहां आप लिंगायत शब्द अलग से जोड़ रहे हैं, उत्पत्ति का भाव तो लकार से ही खंडित हो गया, ऊपर से सम्प्रदाय का भी अर्थ नहीं लग रहा। स्कन्दपुराण आदि में देवताओं और यहाँ तक कि नारायण को भी शिवलिंग धारण करने वाला बताया गया है तो कालिका पुराण में स्वयं नारायण का शिवलिंग के रूप में कामरूप क्षेत्र में वर्णन बताया गया है। पारमेश्वरागम तन्त्र के अनुसार शिवलिंग को धारण करने का वास्तविक अर्थ है, शिवचरित्र का सदैव स्मरण करना। और साथ ही सूक्ष्मागम तन्त्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भी शिवधर्मशास्त्र के अनुरूप पाशुपत आराधना को अपनाकर लिंगायत बन सकते हैं, जैसे पांचरात्र मत से वैष्णव अथवा त्रैपुर मत से शाक्त बनते हैं, इसमें उनके वर्णगत धर्म का भी नाश नहीं होता है।

आपत्तिकर्ता मित्र - लिंगायत कोइ पंथ नहीं है, एक विशेष वर्णसंकर जाति मात्र है ।

श्रीभागवतानंद गुरु - यह आपका पूर्वाग्रह है। आपने लिंगायत का अध्ययन नहीं किया है, मात्र उनके वर्तमान अनुयायी या प्रचारकों को देखकर भ्रम पाल रहे हैं। मैंने पूर्व में भी कहा है कि यह पाशुपत मत है जिसका वर्णन करने वाले प्रामाणिक आर्ष ग्रंथों का भी हमने सन्दर्भ दिया है। सनातन धर्म में विष्णु सम्बन्धी दिव्यागम, देवी सम्बन्धी शाक्तागम एवं शिव सम्बन्धी शैवागमों की प्रसिद्धि है। लिंगायत पाशुपत मत की एक शाखा है जिसका वर्णन सांकेतिक रूपभेद से स्कन्दपुराण (विशेषतः सूत संहिता), शिवपुराण, लिंगपुराण, शिवधर्म पुराण, एकाम्र पुराण आदि में मिलता है तथा विस्तार से शैवागमों में मिलता है। वहाँ वर्णसंकर को स्थान नहीं है। चातुर्वर्ण्य में स्थापित ६४ शीलों से युक्त व्यक्ति ही उसका अधिकारी है। यहाँ आज के लिंगायत में एक शील भी नहीं मिलता। आज के लिंगायत जहां इसे एक जाति या समुदाय मान बैठे हैं, वहीं शास्त्रों में इसका प्रमाण नहीं है।

आपने केवल लिंगधारण लक्षण से ही लिंगायत को वर्णसंकर समझ लिया जैसे कोई केवल सफेदी देखकर ही चूने पानी को दूध समझ ले। आप विश्वास करें, लिंगायत एक मान्य शिवोपासना पंथ है जिसके सन्दर्भ में सैकड़ों आगम और पौराणिक प्रमाण दिए जा सकते हैं क्योंकि मैंने स्वयं उन्हें यथावत मूल रूप में पढ़ा है। मेरे प्रमाणों के खंडन में आपने केवल एक श्लोक ही भेजा है, वो भी किस ग्रंथ का है, यह नहीं बताया और ऊपर से उस श्लोक का भी, लकारों के भावज्ञान के अभाव में अर्थ गलत लगा रहे हैं। किसी भी पंथ को परखने के लिए पहले उससे संबंधित बातों को शास्त्रों में खोजें। उन्हें अलग से ध्यान में रखकर प्रचलित पंथ में उन बातों को मिलाएं। यदि मिलें तो ठीक, अन्यथा केवल उसके नाम पर पाखण्ड हो रहा है, ऐसा जानना चाहिए। लिंगायतों के साथ भी यही है। जैसे मत्यपालन का नाम देकर मछली को मारते हैं, वैसे ही लिंगायत का नाम देकर ये लोग शिवद्रोही बन गए हैं। ये लिंगायत फर्जी हैं, जिनका वर्णन

शास्त्रों में है वे लिंगायत तो अन्य हैं।

आपत्तिकर्ता मित्र - बात बात में आप हमें पूर्वाग्रह से ग्रसित कह रहे हैं। आपने हमारी बात पर ध्यान ही नहीं दिया, वह देखिये आप । अस्तु । हर हर महादेव ।
श्रीभागवतानंद गुरु - हमने आपकी बात पर ध्यान दिया इसीलिए उत्तर भी दिया और उसका मार्जन भी किया। आपने केवल एक श्लोक ही भेजा, हमने उस श्लोक को बिना गलत किये, बिना काटे अपनी बात रखी और उसके समर्थन में ग्रंथों का संकेत भी दिया जहां से आप पुष्टि कर सकें। अस्तु, हर हर महादेव।

आपत्तिकर्ता मित्र - उसमें कहीं प्रायश्चित शब्द लिखा है मेरे भेजे श्लोक में ? आपने अपना भाषांतर भेजा वो देखिये ।
श्रीभागवतानंद गुरु - लिखने को तो वहां लिंगायत शब्द भी नहीं है, उल्टे आप धारयेत् और प्रपूजयेत् का विधिलिङ् भावविरुद्ध अर्थ लगा रहे हैं।

अमुक व्यक्ति को मार डालो...
(यहाँ हिंसा या हत्या शब्द नहीं है, किंतु भाव उसी का है)
चोर को फांसी दो ...
(यहाँ दण्ड शब्द नहीं है, किंतु भाव उसी का है)
कीचड़ लगे व्यक्ति को स्नान करना चाहिए...
(यहाँ शुद्धि शब्द नहीं है किंतु भाव उसी का है)
पिता को प्रणाम करो ...
(यहाँ सम्मान शब्द नहीं है किंतु भाव उसी का है)
बच्चे को आग की ओर न जाने दो ...
(यहाँ सुरक्षा शब्द नहीं है, किंतु भाव उसी का है)
अवकीर्णि ब्राह्मण सावित्री का जप करे...
(यहाँ प्रायश्चित्त शब्द नहीं है किंतु भाव उसी का है)
गोहत्यारे को गंगास्नान करना चाहिए...
(यहाँ भी प्रायश्चित्त शब्द नहीं है किंतु भाव उसी का है)

ऐसे ही जो व्यक्ति व्रात्य हो, व्यभिचार से वैश्या के गर्भ से उत्पन्न हो, वह भस्म करके कंठस्थित शिवलिंग का पूजन करे। यहाँ भी प्रायश्चित्त शब्द नहीं है किंतु भाव उसी का है। विधिलिंग लकार का प्रयोग धृ और पूज् धातु में हुआ है, व्याकरण के विशेषज्ञ समझ जाएंगे कि क्या भाव है।

भस्म धारण को देवी भागवत, शिव पुराण, स्कन्दपुराण आदि में पापमोचक बताया गया है। हमारे शरीर में स्थित सूक्ष्म चक्रों में पद्म तथा शिवलिंग रूपी ऊर्जा का वास है जिसमें जीवतत्व का स्थान कंठ स्थित विशुद्ध चक्र में है। इसीलिए उसी कंठस्थ लिंग की अर्चना करने को कहा। रही बात लिंगधारण की, तो इसका अर्थ शिवचरित्र का स्मरण करना है, ऐसा शैवागमों के अंतर्गत पारमेश्वरागम में वर्णन है, सो मैं बता ही चुका हूँ। उस व्यक्ति के दोष निवारण हेतु ही यह बात कही गयी है, ऐसा आप जानें।

आपत्तिकर्ता मित्र - तो अमुक अमुक जातियों के चिन्हों में लोह के आभूषण धारण किये जाए ऐसा कहा स्मृतिकार ऋषियों ने । लोह के आभूषणों से कौन से प्रायश्चित बनेगा ? इसकी उत्पत्ति एवं आजीविका स्पष्ट रूप से कही गयी स्मृतियों में तो इन्हें पाशुपत घोषित कर देना योग्य नहीं है । पाशुपत धर्म तो भगवान् कृष्ण ने भी पालन किया था ।

श्रीभागवतानंद गुरु - लोहे के आभूषण धारण करने से पापनाश होगा, ऐसा प्रमाण नहीं है। किंतु भस्म धारण, रुद्रचिन्तन से पापनाश होगा, ऐसा प्रमाण उपलब्ध है। इसीलिए लोहे के आभूषण धारण करने को प्रायश्चित्त नहीं कहा जायेगा किंतु रुद्रधारणा को कहा जायेगा। आप दो भिन्न विषयों को एक साथ देख रहे हैं। जैसे गोली शब्द दवाई के लिए और हथियार के लिए भी प्रयुक्त होती है किंतु दोनों को एक मानकर नहीं देख सकते। वीर्य शब्द पराक्रम और शुक्र दोनों के लिए है।, किन्तु दोनों भिन्न हैं।

आप जो प्रमाण दे रहे हैं क्या वहां उनके लिए लिंगायत शब्द आया है ? यदि नहीं तो कोई आधार ही नहीं बनता, उन्हें कोई पाशुपत घोषित कर ही नहीं रहा। यदि आया है तो भी वह चिंतनीय है क्योंकि लिंगायत शब्द पाशुपत धर्म के रूप में असंख्य प्रामाणिक ग्रंथों में मैंने स्वयं पढ़ा है। पाशुपत धर्म का पालन श्रीकृष्ण ने भी किया था। उन्होंने भस्म भी लगाया (हरिवंश के अनुसार), उन्होंने श्मशान साधना भी की, (पांचरात्र संहिता के अनुसार) और लिंगधारण भी किया (स्कन्दपुराण के अनुसार) इससे उन्हें वर्णसंकर नहीं कह दिया गया। वर्णसंकर को मस्तक पर भस्म लगाना चाहिए, इसका अर्थ यह नहीं कि भस्म लगाने वाला या लिंगधारण करने वाला वर्णसंकर हो गया।

जैसे हम कहें कि गधे खैनी नहीं खाते, तो इसका अर्थ यह नहीं कि जितने लोग खैनी नहीं खाते वे गधे हो गए। यदि हम कहें कि माता से रमण नहीं करना चाहिए तो इसका अर्थ यह नहीं कि माता के अतिरिक्त जो बहन आदि हैं उनसे रमण कर लें। ऐसे ही एक श्लोकमात्र से पूरा आंकलन नहीं होता और जहाँ ऐसी स्थिति आएं वहां शेष प्रमाणों को भी देखना चाहिए। जैसे संस्कृत में सुरालय का अर्थ मदिरा गृह, स्वर्ग एवं मन्दिर तीनों होता है वैसे ही लिंगायत का कहाँ क्या अर्थ है, यह देखना होगा अन्यथा घोर अनर्थ हो जायेगा। मरने पर भी लिंगधारण स्वयं नंदीश्वर के द्वारा उक्त है, अतः मरने के बाद लिंगधारण नंदीश्वर के मत से शैवों के लिए मान्य है।

यथोक्ताः शिवधर्मा हि नन्दिना परिकीर्त्तिताः ॥ शैलादेन महाभागा विचित्रा लिंगधारकाः ॥
शवस्योपरि लिंगं च ध्रियते च पुरातनैः ॥
(स्कन्दपुराण)

हमने भस्म और लिंगधारण का प्रायश्चित्त परक अर्थ इसीलिए किया क्योंकि शास्त्रों के अनुसार भस्म और लिंगधारण पाप का नाश करता है और व्रात्य यदि इनसे रहित होगा तो फिर देवपूजा कैसे करेगा, इसीलिए इनका धारण करना प्रायश्चित्त ही है । भस्मधारण के बिना सत्कर्म सफल नहीं होते :-

विना भस्मत्रिपुण्ड्रेन विना रुद्राक्षमालया
(आदित्य पुराण)
विभूतिधारणं त्यक्त्वा यः सत्कर्म समाचरेत् ।
तत्कृतं चाकृतप्रायं भवत्येव न संशयः ।
(देवी भागवत)

भस्म के त्रिपुण्ड्र एवं रुद्राक्षधारण के बिना शैवकार्य सफल नहीं होता। जो मन्त्र से अभिमंत्रित करके भस्म को ललाट में लगाता है, उसी ब्राह्मण को विद्वान् कहा गया है, यदि ऐसा नहीं करता है तो उसके कर्म का लोप हो जाता है।
मन्त्रपूतं सितं भस्म ललाटे परिवर्तते । स एव ब्राह्मणो विद्वान्सत्यं सत्यं मयोच्यते ॥
ये भस्मधारणं त्यक्त्वा भुञ्जन्ते च फलादिकम् । ते सर्वे नरकं घोरं प्राप्नुवन्ति न संशयः ॥

आगे भस्म एवं लिंगधारण को श्रीराम जी ने स्वयं पवित्र और पापनाशक स्वीकार किया है इसीलिए मैंने भी प्रायश्चित्तपरक अर्थ किया क्योंकि लिंगधारण अधमों का भी नरक से उद्धार करता है :-

अधमाधमवृत्तीनां सदा वै लिंगधारणम्। पापिनामपि चाश्चर्यं यमलोके न विद्यते ॥
पापं नाशयते कृत्स्नमपि जन्मशतार्जितम्।
भर्त्सनात्सर्वपापानां स्मरणाच्च महेशितुः। भस्मेति पदमाख्यातं तस्य धारणमुत्तमम् ॥
(पद्मपुराण)

ऐसा शिव जी का श्रीराम जी के प्रति वचन वेदव्यास जी ने लिखा है इसीलिए मैंने भी प्रायश्चित्त अर्थ ही किया है क्योंकि प्रायश्चित्त के बिना वर्णसंकर तो सीधे नरक ही जायेंगे अतः उनके उद्धार के लिए ऐसा कहा और यही आपके द्वारा भेजे गए श्लोक का भाव है, साथ ही लिंगायत श्रुतिसम्मत आगमोक्त साधना के मान्य सदस्य हैं।

--*

जन्माष्टमी के रात्रि जागरण के समय भगवान् को सुला दें या रात भर जगाए रखें ?

बहुत से लोगों ने पूछा है कि जन्माष्टमी के रात्रि जागरण के समय भगवान् को सुला दें या रात भर जगाए रखें। उन लोगों के लिए मेरा उत्तर यह है :- भगवान् वस्तुतः तो निद्रा, जागृति से परे हैं किंतु नाम संकीर्तन के ही मध्य ऐसी भावना करनी चाहिए कि इस मधुर गान से वे लोरी की भांति सुख की अनुभूति करते हुए शयन कर रहे हैं।

अष्टोत्तरशतं हुत्वा वन्हौ घृततिलाहुतीः। रात्रौ जागरणं कुर्याच्छालग्रामसमीपतः ॥

××××××××××××××

रात्रौ जागरणं कुर्यादुपकण्ठं हरेः शुचुः॥

(नारद पुराण)

रात्रौ च लक्ष्मीं संचिन्त्य सम्यगर्घेण पूजयेअत्। श्रीनिशाकररूपस्त्वं वासुदेव जगत्पते ॥

(भविष्य पुराण)

स्नात्वा संपूजयेद्विष्णुं नारायणं निशादिमे । निशारंभे षोडशोपचारैः संपूजयेद्धरिम् ॥

(ग्रन्थान्तरे)

एकादश्यां जनो विष्णुं रात्रौ संपूज्य भक्तितः। कुर्याज्जागरणं विष्णोः पुरतो वैष्णवैः सह॥

(पद्मपुराण)

नीराजनसमायुक्तमनिर्विण्णेन चेतसा। यामेयामे महाभाग कुर्यादारार्तिकं हरेः ॥

(पद्मपुराण)

निशि जागरणं कुर्याद्विष्णुपादसमीपतः।

धूपदीपादिनैवेद्यैः स्रङ्गालागुरुचन्दनैः । अर्चां कुर्वन्ति ये विष्णोः पठेयुः प्राक्तनीं कथाम्॥

(स्कन्दपुराण)

इस प्रकार से रात्रि को जागरण से पूर्व पूजन का विधान सिद्ध होता है। इस प्रकार से उसके बाद जागरण का कार्यक्रम वैष्णव जनों के साथ सिद्ध होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि जागरण के मध्य में बार बार आरती और पूजन करते रहना चाहिए। तो यदि हम पूर्ण रूप से सुला दें तो फिर यह सम्भव नहीं है। इसीलिए उन्हें शांतचित्त से नेत्रबन्द करवा कर आनन्दमुद्रा में कीर्तन का सुखलाभ कराने का भाव मात्र करना चाहिए।

--*

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

तुलसी, बिल्वपत्र आदि उलट कर क्यों चढ़ाए जाते हैं ?

कुछ लोगों ने यह भी पूछा है कि तुलसी, बिल्वपत्र आदि उलट कर क्यों चढ़ाए जाते हैं !! इसका उत्तर ऐसे समझें :-

अधोमुखं तु यत्पद्मं हृदि संस्थं सुशोभनम्।
(लिंगपुराण)
अधोमुखं नाभिपद्मं कदलीपुष्पवत्स्थितम्।
(स्कन्दपुराण)
अधोमुखं हृत्कमले कर्णिकायां द्विजोत्तमाः। ध्यानं सूर्यस्य कुर्वीत तेजोराशेर्विचक्षणः॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)
उदरोरसोर्मध्ये यत्पद्ममधोमुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचकप्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्।
(योगदर्शन, समाधिपाद, तत्वविशारद व्यासभाष्य)

हमारे शरीर में स्थित दिव्यचक्रपद्मों की स्थिति विपरीत ही है। रुद्रयामल में वर्णित पंचामर* के सेवन से इसकी स्थिति उर्ध्वमुखी हो जाती है। अधोमुखी पत्र और ऊर्ध्वमुखी पुष्प का ही विधान है। पंचामरों को देवता पर विपरीत ही चढ़ाया जाता है।

पुष्पों में प्राणशक्ति** होती है तथा पत्र रयिशक्ति से युक्त होते हैं। प्राण एवं रयि मिलकर ऊर्जा को प्रभावी बनाते हैं। प्राणशक्ति के ही कारण पुष्प फल में परिवर्तित हो जाते हैं तथा रयिशक्ति के कारण पत्र सूर्य तथा चन्द्रकिरणों को वनस्पतियों के भोजन के रूप में परिवर्तित कर पाते हैं। रयिशक्ति का वास भूमि में तथा प्राणशक्ति का वास आकाश में होता है। ये दोनों, भूमि और आकाश आपस में कभी नहीं मिल सकते इसीलिए भूमि अपनी रयिशक्ति को जल में तथा आकाश अपनी प्राणशक्ति को वायु में रखता है। इस मिलन को अग्नि सूर्यरूपी तपनीय ऊर्जा के माध्यम से सार्थक करता है। उसके ताप के कारण पृथ्वी की रयिशक्ति से युक्त जल ऊपर उठकर बादल बनता है तथा जब वह आकाश की प्राणशक्ति से युक्त वायु से मिलता है तो विद्युत के रूप में शब्द, प्रकाश और झंकार से युक्त होकर अतीव तेजस्वी एवं बलवान हो जाता है।

प्रजापति ने सर्वप्रथम प्रजा की उत्पत्ति के लिये तपस्या की, जिसके परिणाम स्वरूप रयि और प्राण की उत्पत्ति हुई। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्रजापति के द्वारा सृष्टि की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए एक ही प्राण को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। वही दोनों रयि एवं प्राण कहलाये। इसमें रयि चन्द्रमा है एवं प्राण सूर्य है। मूर्तअमूर्त समस्त तत्व रयि का ही रूप हैं। इस विज्ञान का संकेत अगत्स्य संहिता में विस्तार से मिलता है तथा संकेत के रूप में अष्टावक्र जनक संवाद में भी दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों शक्तियों में रयिशक्ति भोगपरक है तथा प्राणशक्ति योगपरक। अतएव रयिशक्ति वनस्पतियों को उनकी निजी ऊर्जा देती है जबकि प्राणशक्ति इस ऊर्जा को वितरित करने की क्षमता देती है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

इसीलिए प्राणशक्ति (पुष्प एवं फल) के अभाव में भी वनस्पति जीवित रहते हैं किंतु रयिशक्ति के अभाव में वे नष्ट होने लगते हैं। आधुनिक विज्ञान की भाषा में रयिशक्ति को अर्थिंग या ऋणात्मक/नेगेटिव/माइनस ऊर्जा कहते हैं तथा प्राणशक्ति धनात्मक/पॉजिटिव/प्लस ऊर्जा कहाती है। यही आज की विद्युत ऊर्जा का सारतत्व है। यह रयिशक्ति एवं प्राणशक्ति हमारे शरीर में क्रमशः अधोमुखी योनि में रज एवं उर्ध्वमुखी लिंग में वीर्य के रूप में व्याप्त होती है। इन दोनों के मिलन से ही नवीन सृष्टि सम्भव होती है। वनस्पतियों में यह क्रमशः पत्र एवं पुष्प में व्याप्त होती है। इसीलिए पत्रों को अधोमुखी एवं पुष्प को ऊर्ध्वमुखी ही अर्पित करना चाहिए। रयिशक्ति से युक्त तत्वों को रयिशक्ति के आधार तत्व (पृथ्वी) की दिशा में तथा प्राणशक्ति से युक्त तत्वों को प्राणशक्ति के आधार तत्व (आकाश) की दिशा में चढ़ाना चाहिए।

*पंचामर - बिल्वपत्र, तुलसी, विजया, दूर्वा एवं सिन्धुवार।
**प्राणशक्ति - यह प्राणशक्ति प्राण, अपान, व्यान आदि दस चेतनासंचारक प्राणशक्तियों से भिन्न है।

--*

पुं नामक नरक एवं ऐतरेय ब्राह्मण का रहस्य

आचार्य कृपाशंकर शास्त्री :- कृपया पुं नामक नरक के बारे में बताएं जिससे उद्धार के लिए पुत्र की कामना की जाती है । इस नरक के बारे में वर्णन करें इसमें क्या-क्या यातनाएं दी जाती हैं, इसका विस्तार इत्यादि क्या है और कौन इसका मालिक है। क्योंकि इसके नाम के बारे में सुना तो बहुत गया है किंतु विस्तार इत्यादि का उल्लेख नहीं प्राप्त नहीं हुआ है। मुझसे किसी ने प्रश्न किया था यह प्रश्न कुछ दिन पूर्व मेरे समूह में भी आया था। यहां उपस्थित कई विद्वान इस विषय के साक्षीदार रहे हैं किंतु हमारे समूह में हम लोगों ने बहुत प्रयत्न किया किंतु इस नरक के विशद व्याख्या तक पहुंच नहीं सके अंततः ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद आपके कृपा दृष्टि से प्रसाद स्वरूप कुछ प्राप्त हो सके ऐसा विचार कर अपनी जिज्ञासा आपके समक्ष रख दिया।

श्रीभागवतानंद गुरु : न रूपमस्येह तथोपलभ्यते... इसका रूप वैसा प्राप्त नहीं होता, जैसा मानव मस्तिष्क कल्पना करता है। यह आपके वर्तमान अस्तित्व का आधार है। यह आधार है आपके अतीत और भविष्य का। यह पुं नाम का नरक एक स्थिति और घटना मात्र है। और इसका संकेत पुं नामक बीज से किया गया है। प्रपञ्चसार एवं शारदातिलक तन्त्र में कुछ संकेत दिए गए हैं। उस के अनुसार यदि मनन करें तो मैंने कठिन परिश्रम से तन्त्रशास्त्र के ढाई लाख से अधिक बीज मन्त्रों को वर्ण मातृका पद्धति से उनके रंग, रूप, आसन, वाहन, देवता और प्रयोजन के अनुसार वर्गीकृत किया है। इस अनुसार प बीज में वरुण तत्व प्रधान है, इसके रूद्र का नाम लोहित और इसकी शक्ति का नाम कालरात्रि है। उ तत्व में बल की शक्ति है। इसके रूद्र का नाम अमरेश्वर है, तथा इसकी शक्ति वर्तुलाक्षी हैं। अनुस्वार में पशु तत्व है। इसके रूद्र का नाम अक्रूर है तथा इसकी शक्ति श्रीमुखी है।अब कड़ी दर कड़ी समझते जाएँ। परन्तु यह सभी बीज अकेले नहीं , समाहित हैं।

(प् + उ + _ ● _ = पुं) यह वीर्य का रासायनिक या वैदिक सूत्र है।
वरुण + बल + पशु = पुं। वरुण = तरल, बल = ओज।

ओज का तरल स्वरूप ही वीर्य है। यह वीर्य तभी सार्थक होता है जब इसमें पशु (जीव) का पशुपति (ब्रह्म) से अल्पकालिक विच्छेद होकर समावेश होता है। वर्तुलाक्षी देवी इस पशु को वर्तुल की भांति पुनर्जन्म के चक्र में बांधती है और श्रीमुखी उसे भौतिक प्रलोभन देकर मोहग्रस्त करती है। इसी समय अक्रूर रूद्र जीव को यह भ्रम देते हैं कि संसार क्रूर नहीं है, यह सुखद है, तथा उसे मृगतृष्णा की भांति इस संसार के दुःख में सुख का भ्रम कराते हैं। इसी के साथ कालरात्रि उसे पुनः मृत्यु के माध्यम से अगले पुनर्जन्म में धकेलती है और इस कार्य में लोहित नाम के रूद्र माता के रज में प्रविष्ट होकर पुं बीज को पूर्ण करते हुए अगले पुनर्जन्म को सुनिश्चित करते हैं। उ बीज (बल) के स्वामी अमरेश्वर रूद्र हैं, अतः बल संरक्षण को कालजयी होने का कारक बताया गया है। भीष्म, परशुराम और हनुमान् जी की भांति।

प बीज को वरुण तत्व से युक्त होकर बीस हाथों से युक्त होकर श्वेतवर्ण वाले बगुले पर आरूढ़ बताया गया है। बगुले में आरूढ़ होना ही वीर्य की शुभ्रता है। उसकी बीस भुजाएं ही प्रथम बीस तत्व (दस इन्द्रिय और उनकी तन्मात्रा) हैं जो भौतिक देह के ऊपर प्रत्यक्ष रूप से आश्रित हैं, और भौतिक देह का निर्माण इसी पुं बीज यानी वीर्य और जीव के सम्मिलित होने पर आश्रित है। यह संसार ही पुं नाम का नरक है अतः इसका कोई अलग से उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। अपने शुभ कर्मों और निष्काम कर्मयोग से प्रारब्ध को भस्म करके अपने इसी पुं बीज की शक्ति को वशीभूत करके आत्मोद्धार करना तथा उसके माध्यम से पुनः अपने पूर्ववर्ती पुं बीजात्मक व्यक्तियों का भी कल्याण करना ही पुत्र शब्द का गूढ़ार्थ है। मैंने इस पुं नरक को इसी प्रकार देखा है, कई बार, कई स्थानों में, कई रूपों में। पुं नामक नरक का रहस्य यही है।

वर्षा टोंडगाँवकर जी :- मै आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ। ऋग्वेद में ऐतरेय ऋषि के मंत्र है। जो इतरा नाम की जाति की महिला से और ब्राह्मण ऋषि से उत्पन्न हुआ था। फिर वह ब्राह्मण कैसे हो गया और ऋषि भी कैसे बना? यही पूछना था की ऐतरेय ब्राह्मण कैसे हो गया ?

श्रीभागवतानंद गुरु : इतरा का भाव ऐसी स्त्री है जो योगिनी हो। इतर का अर्थ है, जो हट कर हो, असामान्य हो। जैसे लक्ष्मण जी ने वाल्मीकि रामायण के अरण्य कांड में सीता जी को असती कहा है। यहां असती का अर्थ व्यभिचारिणी नहीं है, अपितु नास्ति यस्याः समा सती सैवासती। सर्वोच्चा सती ही असती है। इतरा का अर्थ योगिनी है। योगिनी, जो अलग हो, असामान्यता से युक्त हो। कैसी असामान्यता ? जिस भौतिक सुख को संसार सर्वस्व जानता है, उसे तुच्छ जाने और जिस चिदानंद को संसार तुच्छ जानता है, उसे सर्वस्व जाने। श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

जो संसार से इतर होकर ईश्वर से अपने निष्काम कर्मबल से युक्त हो वही इतर है, वही योगी है। वही इतरा है, वही योगिनी है। ऐसा स्त्री कलेवर ही ऐतरेय का निर्माण करने में सक्षम है। ऐतरेय ब्रह्मवादी तेज और ब्रह्मवादिनी क्षेत्र से जनित कलेवर तथा ब्रह्मवादी आत्मतत्व की सिद्धि से ब्राह्मण हुए।

--*

कोहिनूर पर किसका अधिकार ?

कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह ने पुरी जगन्नाथ मंदिर को अमृतसर के विष्णु मंदिर (हरमंदिर साहिब) की तुलना में बहुत अधिक स्वर्ण दान किया था। कितने लोग यह जानते हैं कि इसके ठीक बाद उन्हीं महाराज रणजीत सिंह ने पुरी शंकराचार्य पीठ के संरक्षण में कोहिनूर हीरा भगवान् जगन्नाथ के मुकुट के मणि के रूप में पूरा अखण्ड टुकड़ा देने का निर्णय लिया था। इसके बाद अंग्रेजों में बड़ी हलचल मची। उनके दो स्वार्थ इससे संकट में पड़ सकते थे। एक तो यह कि सिक्खों को हिंदुओं से विभाजित करने का उनका षड्यंत्र सफल नहीं होता, वे सिक्खों का नियोजन सनातन विरोधी अभियानों के लिए उतनी प्रखरता से नहीं कर पाते, और दूसरा जो पीठ तथा मंदिर उनके लिए तब (और आज भी) एक विकट चुनौती थी, उसे अचानक से अपार धन और जन का समर्थन मिलने लगता। इसीलिए अंग्रेजों ने बलपूर्वक अपनी ही बनाई हुई सन्धियाँ और नियम तोड़कर महाराजा रणजीत सिंह के साथ विश्वासघात किया और कोहिनूर को उनसे चुरा लिया। उन्होंने दर्शनार्थियों से कर वसूलना तो प्रारम्भ कर ही दिया था , उल्टे यह अफवाह उड़ाई कि पुरी की रथयात्रा नरसंहार का एक व्यापक षड्यंत्र है। अंग्रेजों ने यह कहा कि १४वीं सदी की एक प्रसिद्ध किताब The Travels of Sir John Mandeville में कुछ हिन्दुओं को एक धार्मिक बलिदान के रूप में बताया गया है जो कि स्वयं को इस विशाल रथ के पहियों के नीचे अर्पित कर कुचले जाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस दावे के आधार पर ब्रिटिश आक्रांताओं ने यह दावा प्रवर्तित किया कि एक काल्पनिक देवता कृष्ण के हिन्दू भक्त सिरफिरे और हठधर्मी हैं जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वयं को इन रथों के पहियों के नीचे फेंक देते हैं। हालांकि अन्न के अधिग्रहण के कारण, तथा अत्यधिक राजस्व के कारण करोड़ों भारतीयों को नृशंसता से मृत्यु देने वाले अंग्रेजों ने अपने दोषों की उपेक्षा करके मनगढ़ंत तथा अप्रामाणिक बातों के आधार पर श्रीजगन्नाथ रथयात्रा पर ही प्रश्नचिह्न लगवा दिया। हालांकि उसी समय के कुछ अन्य लोगों के यह प्रमाण देने पर कि मृत्यु का कारण भगदड़ तथा बेचैनी से उत्पन्न अस्थायी हलचल आदि थी, इसपर स्थगन रोका गया। प्राचीन रथयात्रा की नकल करते हुए पश्चिम के शासकों ने जगरनॉट नाम की रथयात्रा निकालनी शुरू की। जगरनॉट अंग्रेजी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ अपराजित या सर्वोच्च प्रभुसत्ता से सम्बंधित होता है। यह प्रायः किसी बड़ी सेना, या इकट्ठे कार्य करने वाले लोगों के समूह के लिये या किसी प्रभावशाली शासक या नेता द्वारा चलाये जा रहे उभर रहे राजनीतिक आन्दोलन के लिये प्रयुक्त होता है। इसका उद्भव और इसकी धारणा संस्कृत के जगन्नाथ शब्द से ही हुई है। पश्चिमी देशों में इसका सम्बन्ध प्रायः शोषण, कुचले जाने अथवा भौतिक हानि से जोड़ा जाता है, जबकि भगवान् जगन्नाथ की सौम्य तथा चातुर्वर्ण्य हितकारिणी रथयात्रा हज़ारों लोगों की आस्था के साथ साथ स्वायत्त आजीविका का भी प्रबल माध्यम है। हमने संकेत कर दिया है, आगे के सन्दर्भ आप सब ढूंढिए। खोजी और प्रामाणिक वार्ता में रुचि रखने वाले बौद्धिक महारथी गण अपने व्यापक सूत्रों से आगे के क्रियान्वयन में तत्पर हो सकते हैं। सर्वकालिक सार्वभौमिक सार्वजनिक श्रीजगन्नाथ रथयात्रा जैसा अद्भुत प्रबंधन और व्यवस्थापन सर्वदा सनातन जनमानस के लिए प्रेरणास्रोत बनता रहे यही श्रीमहाप्रभुजी के चरणकमलों में प्रार्थना है।

--*

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

कर्मकाण्ड में संगीत उचित या अनुचित ?

संसार की उत्पत्ति नाद से मानी गयी है। प्रणव ही बीज है तथा प्रणव ही निःशेष है। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म... ॐकार का नाद ही ब्रह्म का नाद है। यह नाद ही कालांतर में संगीत का आधार बना। स्वयं भगवान् ब्रह्मदेव, नटराज एवं देवर्षि नारद आदि ने इसका प्रसारण किया। प्रजापति ब्रह्मा ने छंदों की रचना करके संगीत को मर्यादित एवं फलदायी बनाया। अनेक वैदिक तथा लौकिक छंद अपने अपने स्वरूप से शास्त्रविवेचन प्रस्तुत करते हैं। वेद की ऋचाओं के द्वारा प्रयुक्त, यजुष् एवं साम में होने वाले कर्मकाण्ड में भी गायत्री, त्रिष्टुप्, बृहती, पंक्ति, जगती, अतिजगती, अनुष्टुप्छन्द आदि का बाहुल्य है। यह सभी सङ्गीत के ही आध्यत्मिक अवयव हैं। लौकिक संस्कृत साहित्य से युक्त इतिहासपुराणादि में भी आर्या, उपजाति, वसन्ततिलका, स्रग्धरा, भुजंगप्रयात, मालिनी, पुष्पिताग्रा, शिखरिणी, प्रमाणिका, शिखरिणी प्रभृति अनेकानेक छंद विभिन्न रागानुसार शोभित हैं।

आधुनिक युग में यहाँ कर्मकाण्ड की परम्परा लुप्तप्राय हो चली है, वहीं इसके यथाशेष प्रारूप के अंदर भी विक्षेप का बाहुल्य हो गया है। प्रायः जीवित्पुत्रिका, हरितालिका, सत्यनारायण प्रभृति अल्पपरिश्रमसाध्य सर्वसुगम शास्त्रोक्त व्रतादि में अनुष्ठानात्मक अंश में भक्तिपरक गीतनृत्यादि का आदेश समुल्लिखित मिलता है, तो सत्यभामा प्रवर्तित एवं नारद सम्पोषित गानयोग का माहात्म्य श्रीमद्भागवत प्रभृति बृहद्यज्ञादि के अंतर्गत दृष्टिगम्य है। यथा ... प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी... परन्तु उपर्युक्त विधानों में सर्वत्र ही गानयोग का प्रारूप कर्मकाण्ड सम्मत ही रहा है।

अधुना यह विलक्षणता लोपित हो चली है। यज्ञादि में सङ्गीत एक मनोरंजन का माध्यम हो गया है तथा उसका स्तर भी अत्यंत ही निकृष्ट हो गया है। रात्रि जागरण के नाम पर अश्लीलता से पूर्ण आयोजन किये जाते हैं तथा धर्म का स्वरूप कलंकित करके स्वयं को कृतकृत्य समझा जा रहा है। भ्रष्ट आचार विचार व्यवहार वाले गायक तथा नाटकीय व्यक्तियों से गानयोग की परम्परा दूषित हो रही है। छंदशास्त्र की गरिमा और मर्यादा का रक्षण करके सात्विक रीति से वैदिक संगीत से सामगान एवं शेष ऋचा पाठ के साथ साथ लौकिक सङ्गीत से पुराण पारायण तथा देशज सङ्गीत से लोकभाषा में भक्तिगीतों का गान भारत के अनुष्ठान व्रतादि की विशेषता रही है।

परन्तु आजकल आयोजकों के लिए कर्मकाण्ड कराने वाले पुरोहितों का महत्व गिरता जा रहा है। वे कर्मकांडीय विद्वानों की सेवा दक्षिणादि में कृपणता करते हैं तथा रात्रि जागरण एवं संगीतमय प्रवचन के नाम पर अनर्गल प्रलाप करने वाले अभिनयपरक तत्वज्ञानविहीन वाक्पटु दलों के ऊपर अत्यधिक व्यय करने में अग्रसर हो जाते हैं। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि स्वयं कतिपय धनलोलुप विप्रजन भी ऐसे संगीत दलों से परिचय साधकर अपने अनुष्ठानों में आमंत्रित करते हैं तथा कमीशन के नाम पर आयोजकों से धन लेते हैं।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

इन सभी कृत्यों से धार्मिक अनुष्ठानों की तेजस्विता नष्ट होती है तथा परिणामस्वरूप फलहानि भोगना पड़ता है। यज्ञों में समस्त विभागों का काल, उद्देश्य तथा विधि का नियमितीकरण करके मर्यादित किया गया है। किस छंद में कौन सा वेद किस विधान के अंतर्गत पढ़ा जाय, उस समय यज्ञमण्डप के बाहर स्थित शूद्रवर्ण के सात्विक आचार विचार वाले वादक किस ताल तथा स्वर में मृदङ्ग तथा पणव आदि का वादन करें, यह सब निश्चित किया जाता है। परन्तु आजकल यह सब परम्परा स्वयं सनातन समाज के पुराधाओं द्वारा ही नष्ट की जा रही है। अतएव स्वकल्याण तथा समाजोत्थान हेतु यह आवश्यक है कि शास्त्रोक्त विधि और निर्देश के अनुसार ही कर्मकाण्डपरक अनुष्ठानों में सङ्गीत जागरण आदि का नियोजन हो।

--*

दण्डधारण का महत्व

चारों वर्ण तथा आश्रमों के लिए दण्डधारण की अनिवार्यता है। दण्डधारण के विना आश्रम सिद्धि नहीं होती।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थो यतिस्तथा। चत्वारश्चाश्रमाः तेषां पञ्चमो नोपपद्यते॥
सर्वेषामाश्रमाणां च विहितं दण्डधारणम्। न दण्डेन विना कश्चिदाश्रमीति निगद्यते॥
(आदित्य पुराण / १७ / ६-७)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, ये चार ही आश्रम हैं। पांचवें आश्रम का वर्णन नहीं है। सभी आश्रमों के लिए दण्डधारण विहित है। दण्ड के बिना कोई भी आश्रम नहीं बताया गया है। गृहस्थ हो या यति, दण्ड से पृथक् न रहे। दण्ड नियमन का संकेत करता है। वशिष्ठ आदि गृहस्थ होकर भी अपने आश्रम के अनुसार दण्ड धारण करते थे। दण्ड धारण का अर्थ केवल दण्डी स्वामी बनना नहीं होता। ब्रह्मचारी का दण्ड अलग होता है, गृहस्थ का अलग, वानप्रस्थ का अलग और संन्यासी का अलग। वर्तमान में केवल दण्ड का भाव संन्यासकेंद्रित हो गया है। शूद्रादि के लिए दण्डधारण नहीं है। परन्तु विकल्प से वह द्वारपाल अथवा कृषक आदि की भांति अमन्त्रक बांस का दण्ड रख सकता है। हमने ऊपर आदित्य पुराण का प्रमाण दिया है।

मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते॥
(अहिर्बुध्न्य संहिता)
इति निषेधः स्मृतिवाक्येषु पुराणेष्वपि
(त्रिदण्डविषयत्व-दर्शनाच्च कुत्रचिद् ब्राह्मणपदस्योपलक्षणमाचक्षाणाः केचित्।)

मुख से उत्पन्न (ब्राह्मण) के लिए वैष्णव अथवा पाशुपत मत से दंडयुक्त संन्यास का वर्णन है लेकिन बाहु तथा जानु आदि से उत्पन्न (क्षत्रिय - वैश्यादि) के लिए कहीं भी त्रिदण्ड धारण संन्यास का विधान नहीं है, ऐसा निषेध स्मृतिवाक्य तथा पुराणादि में प्राप्त होता है।

दण्डग्रहणादिरूपे विविदिषाख्यसंन्यासे दशविधब्राह्मणानामेवाधिकारः। कलौ संन्यासनिषेधस्त्रिदण्डीपरः।

संन्यासदण्डधारण के निमित्त पञ्चगौड़द्रविड़ आदि ब्राह्मणों का ही अधिकार है। दृढ़ वैराग्य के अभाव के कारण कलियुग में त्रिदण्ड धारण का बहुधा निषेध ही है। जितेन्द्रियता के अभाव से ग्रस्त लोग भी संन्यास धारण कर के धर्मद्रोहियों का पोषण करेंगे, इसीलिए इसका कीलन किया गया है। दण्डधारण का भाव सर्वत्र त्रिदण्ड धारण नहीं होता। अपने अपने वर्ण के अनुसार विहित आश्रमों को सिद्धि हेतु तादृक् दण्ड धारण करे।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

चत्वारआश्रमाश्चैव ब्राह्मणस्य प्रकीर्त्तिताः । गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च वानप्रस्थं तु भिक्षुकम् ॥
क्षत्रिये चापि कथिता आश्रमास्त्रयएव हि । ब्रह्मचर्यञ्च गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयंविशः ॥
गार्हस्थ्यमुचितं त्वेकं शूद्रस्य क्षणमावहेत् । चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिनोदिताः ॥
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकोवैश्यशूद्रयोः ॥
(वर्णक्रमेण चतुराश्रम्यादयः इति)

ब्राह्मण के लिए चार, क्षत्रिय के लिए तीन, वैश्यवर्ण के लिए दो तथा शूद्र के लिए एक ही आश्रम का विधान है। ऐसा वामन, कूर्म आदि पुराणोक्त वाक्य हैं। सभी आश्रमों में दण्ड की उपयोगिता शरणागत रक्षा, आत्मनियमन और विधर्मियों पर शासन हेतु बताई गई है। ब्रह्मचारी का शत्रु प्रमाद है। गृहस्थ का शत्रु स्तेन है। वानप्रस्थ का शत्रु क्रोध है। संन्यासी का शत्रु आसक्ति है। प्रमाद, स्तेन, क्रोध तथा आसक्ति से रक्षा हेतु चारों आश्रमों में दण्ड धारण का विधान है।

विद्या दिनं प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते। विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते॥

प्रकाशित करने से विद्या दिन के समान है तथा इसके विपरीत अविद्या रात्रि के समान है। विद्याभ्यास के काल में ब्रह्मचारी के लिए प्रमाद करना दिवास्वप्न के समान व्यर्थ होता है।

ततो दण्डं समादध्याद्वटुः स्वशिरसोन्नतम्।
×××××××××××
एवं क्रमेण सर्वत्र तत्तज्जाति विशेषतः ॥
(महाविश्वकर्मपुराण)

यज्ञोपवीत के बाद बटुक को सिर के बराबर ऊंचा दण्ड ग्रहण करवाना चाहिए। सभी जाति वालों को अपने लिए यथोचित (सुवर्ण, रजत, सीस, ताम्र, लौह, काष्ठ अथवा अभाव में पालाशः सर्वजातिषु के अनुसार पलाश का) दण्ड धारण करना चाहिए। इसके बाद समावर्तन प्रकरण से गृहस्थाश्रम प्रवेश के निमित्त कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कालहस्ति मुनि ने राजा सुव्रत को बताया है :-
ततः शिरसि चोष्णीषं धृत्वा दण्डम् च पादुके॥

संस्कृत व्यक्ति को नवीन पगड़ी तथा दण्ड धारण कराएं। गृहस्थ को परद्रव्यहरण से बचने का भी आदेश दिया गया है।
चौर्येण वा बलेनापि परस्वहरणं च यत्। स्तेयमित्युच्यते सद्भिरस्तेयं तस्य वर्जनम्॥
(आदित्य पुराण)

चोरी से अथवा बलपूर्वक दूसरे के स्वत्व का हरण करने की ही स्तेय संज्ञा है। सज्जनों को इस स्तेय नामक दोष से

बचना चाहिए। दिव्यास्त्र सम्बन्धी साधनों में ब्रह्मदण्ड की व्याख्या करते हुए आचार्य वशिष्ठ ने इसके धारण की महत्ता का प्रतिपादन किया है। शत्रु से रक्षा, ब्रह्मतेज के स्थापन एवं धर्म प्रवर्धन हेतु ब्रह्मदण्ड धारण करे। वशिष्ठ स्वयं भी गृहस्थ थे और आश्रमानुसार दण्डी भी।

ग्राह्या: स्वगृह्यविषयग्रामधर्मा विवाहके। छत्रोष्णीषोपानहादियुग्दण्डी गमने द्विजः॥
(दत्तात्रेय पुराणे गालवर्षिसुतेन गृहस्थधर्मवर्णनम्)
यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु। तदा च संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत्॥
(आदित्य पुराण)

संन्यास दण्ड के प्रति भी जब आसक्ति का अभाव हो जाता है, तब वह अवधूत हंसादि वृत्ति धारण कर लेता है। न दंडं न शिखां नाच्छादनं चरति स परमहंस:। संन्यासियों के लिंगसंन्यास, दण्डसंन्यास आदि प्रसिद्ध ही हैं। कलिकाल में अपने अपने जाति, वर्ण तथा सम्प्रदायों की मर्यादाओं का अतिक्रमण करके स्वेच्छाचार से नैमित्तिक चिह्नों का प्रवर्तन हो जाएगा।

प्रमादिनो बहिश्चित्ता: पिशुना: कलहोत्सुका:। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः॥
कलियुग के प्रभाव से बहुतायत संन्यासी आलसी, मोहासक्त, चुगलखोर तथा झगड़ालू हो जाएंगे।

मतान्तर से नक्षत्र चिह्न, राशि चिह्न, सम्प्रदाय चिह्न, इष्ट चिह्न अथवा आजीविका चिह्न के निमित्त वलय, दण्ड, तिलक, मेखला आदि के धारण का भी विधान है। साहसिक एवं कूटकार्यों के लिए नीतिशास्त्र में सांकेतिक दण्ड भी उल्लिखित हैं। चाण्डाल आदि के लौहदण्ड, वंशदण्ड तथा ब्राह्मणों के ब्रह्मदण्ड आदि प्रसिद्ध हैं।

--*

निर्मल विष्णु में मल कैसे आया ?

प्रश्नकर्ता (रोहित कुमार पाराशर जी) :-

तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ। विष्णुकर्ण मलोद्भूतौ हन्तुम्ब्रह्माणमुद्यतौ॥

श्रीदुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय के अंतर्गत इस श्लोक में मधु और कैटभ नाम के राक्षसों की उत्पत्ति भगवान् विष्णु के कान के मैल से बताई गई है। यहाँ शंका यह है कि निर्विकार, निर्मल, परम सत्वरूप भगवान् नारायण में मल की संभावना कैसे हो सकती है ?

उत्तरदाता (श्रीभागवतानंद गुरु) :- प्रथम तो यह देखना पड़ेगा, कि विष्णु क्या हैं !! फिर यह कि उनका कान क्या है.. फिर यह कि उसका मल क्या है और मल से किसकी उत्पत्ति होती है तथा उद्भूत का गुणधर्म क्या है !! एक तो वैसे ही श्रीनारायण अनिर्वाच्य हैं, परन्तु सामान्य बुद्धि से श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त दृष्टि से परमात्मा का सर्वोच्च पालक रूप, जो सत्त्वप्रधान है, उसी की विष्णु, ऐसी संज्ञा है। उस विराट पुरुष के अंगोपांग आख्यान में दशों दिशाओं को उसके कान के रूप में वर्णित किया गया है। दिशाओं का भाव विस्तार से भी है। ब्रह्मांड को प्रणव नाद से उद्भूत माना गया है। दशों दिशाओं में उसके विस्तार का आधार नाद ही है, अतएव उसे अक्षर अर्थात् अविनाशी भी कहा गया है। अक्षरं ब्रह्म परमम् अथवा ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म आदि उक्तियों से श्रीमद्भगवद्गीता आदि में प्रणव नाद की अक्षरता और दिग्व्यापकता परिलक्षित की गई है।

नाद का ग्राहक कर्ण है। श्रोत्रेन्द्रिय के कारण ही नाद अनुभूत होता है। और आदिनाद का शाश्वत प्रारूप अपौरुषेय वेद भगवान् हैं। उन्हें ही भगवान् के श्वास अथवा मतान्तर से श्रुति भी कहा गया है। बाह्य नादों से उन्मुख होकर जब हम अपने कानों को बंद कर लेते हैं, तो हमारे प्राण (भौतिक स्वरूप से श्वास) ही शब्दित होकर श्रुत होते हैं। जाकी स्वास सहज श्रुति चारी.. आदि उक्तियों से गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यह बात उद्धृत की है। भगवान् विष्णु के कर्ण कोई और नहीं, अपितु स्वयं दिशाएं हैं, और उनके विस्तार का आधार वेद हैं।

उस कर्ण का मल है इच्छा। वेदों का मल है इच्छा। वास्तव में मल की परिभाषा क्या है ? जो त्याज्य है, निम्नकोटि का है, जिससे सार निकाल लिया गया हो, वह मल है। गन्ने से रस निकाल लें तो उसका दण्ड मल हो गया। अग्नि से दाह निकाल ले तो वह भस्म के रूप में मल हो गया। देह से आत्मा निकाल लें तो वह मल हो गया। वैसे ही मोक्षमूलक परमात्मवाद के प्रखर माध्यम वेदों का सार है, निष्कामता। उसका प्रयोग त्रिगुणमयभौतिकवादी सकाम कर्मों के लिए करना ही वेदों को मलिन करना है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :- त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। यहाँ उन्होंने वेदपरित्याग करने नहीं, अपितु उनका प्रयोग सकाम कर्मों में करके उनके अपमान से बचने की बात की है।

जैसे गाय की सेवा करके उसके दुग्धादि का प्रयोग देवकार्य, गृहकार्य आदि करने से परम कल्याण की प्राप्ति होती है, परन्तु उसकी हिंसा करके मांसभक्षण करने पर घोर पातक लगता है। वैसे ही वेदों की सार्थकता मोक्षधर्मा नियोजन में है, उसका सकाम भौतिकवादी नियोजन ही उस विराट पुरुष की श्रुतिरूप दिग्विस्तृत वेदकर्ण की मलिनता है। इस मलिनता से जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह मधु और कैटभ है। यह कौन हैं, इस बात को जानने के लिए हमें उनके गुणधर्म को देखना पड़ेगा। किसी भी अज्ञात वस्तु को उनके व्यवहार, स्वरूपादि गुणों से ही जाना जाता है। यह मधु और कैटभ अत्यंत ही भूखे हैं, बलवान हैं, उग्रकर्मा हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के अनुसार यह काम और क्रोध का लक्षण है, जो मनुष्यों को इच्छा न होने पर भी पाप में प्रेरित करता है।

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम्॥

यह काम है, और यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होते हैं, बहुत भूखे हैं, सदैव अतृप्त रहने वाले होने से बहुत पापी हैं, बहुत खाते हैं, इसे ही तुम अपना शत्रु जानो। वेदों की निर्मलता निष्काम सत्वबुद्धि से नियोजित होने से है। यदि उनमें सकाम नियोजन हो जाये तो वह रजोगुण से युक्त हो जाते हैं, तथा आभिचारिक सकाम से युक्त होने पर वे ही तामसी हो जाते हैं। रजोगुण से प्रभावित वेदों की मलिनता ही काम और क्रोध रूप से मधु और कैटभ बनते हैं, जो सदैव अतृप्त रहते हैं, ज्ञान और सृजन रूपी ब्रह्मदेव के शत्रु हैं तथा अत्यंत बलवान होने से जीव के लिए दुर्जय हैं। अतएव इनसे बचने के लिए परमतत्व की प्रपन्नता ग्रहण करनी चाहिए जिससे निःश्रेयस की सिद्धि हो सके।

--*

तीर्थों की दुर्गति

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः । तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥
(पद्मपुराण में श्रीमद्भागवत माहात्म्य)

तीर्थों में नाना प्रकार के अत्यन्त घोरकर्म करने वाले, नास्तिक और नारकीय पुरुष भी रहने लगे हैं, इसलिए तीर्थों का सार भी जाता रहा । गुरु, माता, पिता, मित्र, भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र को भी उनके महत्व के कारण तीर्थ की संज्ञा दी गयी है। परन्तु अब वे भी कर्त्तव्यच्युत होकर भोगपरक प्रवृत्ति को अपनाकर भ्रष्ट हो चुके हैं।
सबों की तीन समस्याएं हैं :-
* वह अशांत और दुःखी है।
* वह सबों का साथ देता है, लेकिन समय पर उसका साथ कोई नहीं देता।
* वह कमाता ठीक ठाक है, लेकिन बचत नहीं होती, परिश्रम ठीक ठाक करता है, पर सफलता नहीं मिलती।

इन सबों का कारण सिर्फ एक है, धर्मविरुद्ध आचरण। बाएं हाथ से पानी पीना, प्रतिदिन स्नान न करना, चाय पीते हुए अखबार पढ़ना या फिर आधुनिक पेस्ट से मुंह धोना, यह सब भी अधर्म है। हमारे ग्रंथों में बडे सूक्ष्मात्मक दृष्टिकोण से जीवन की प्रत्येक क्रिया को मर्यादित और परिभाषित किया गया है। भोजन करने समय जल का पात्र दाएं ही हो, बाएं नहीं, इसका भी नियम बताया गया है , अन्यथा प्रज्ञाहानि होती है। भोजन के समय बाएं और पूजन में दाएं हाथ की ओर जल रखने से जल मदिरा के समान और भोजन गोमांस के समान अग्राह्य हो जाता है।

भोजने तु यदा वामे पूजाकाले च दक्षिणे। तज्जलं मदिरातुल्यमन्नं गोमांसभक्षणम् ॥

निःसन्देह लकड़ी में अग्नि के प्राकट्य की पूर्ण क्षमता होती है परन्तु यदि उसमें जल का मिश्रण करके उसे गीला कर दें तो वह अपनी उस क्षमता को अल्पकाल के लिए खो देती है, पुनः समुचित रूप से तप्त होने पर वह अपनी आर्द्रता छोड़कर अग्नि के प्राकट्य या विस्तारीकरण हेतु अनुकूल हो जाती है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि कभी कभी लकड़ी में बाह्य अग्नि का संयोग कराना होता है तो कभी कभी आपसी घर्षण से ही अग्नि प्रकट हो जाती है।

निश्चित ही उसी प्रकार से समस्त तीर्थ कर्मफल को भस्म करके मोक्ष देने में समर्थ हैं, परन्तु उनमें भी यदि पापी के वज्रलेप पाप की आर्द्रता आ गयी तो वे अल्पकाल के लिए अपनी शक्ति खो देते हैं (तीर्थसारस्ततो गतः).. पुनः किसी के तप से तप्त होकर उस आर्द्रता से मुक्त होकर वे मूल क्षमता से युक्त होकर प्रभावशाली बन जाते हैं। यहाँ पर यज्ञ आदि बाह्य अग्नि और मानसिक शुद्धि, वैराग्य आदि अन्तःस्थित अग्नि है। यह मानसिक शुद्धि और वैराग्य आदि अन्तःस्थित अग्नि जिसके पास है, वह जंगम तीर्थ के समान होकर सम्पूर्ण जगत को पवित्र करता हुआ विचरण करता

है। सुख का मूल ज्ञान नहीं, सन्तोष है। किसी को आगामी रोग मृत्यु का ज्ञान हो जाये तो अधिक दुखी रहेगा। ज्ञानी सर्वदा सन्तुष्ट नहीं होता है। सन्तोष इच्छा के दमन से आता है, ज्ञान इच्छा को परिभाषित करता है, न कि दमन ।

आधुनिकता के दौड़ में, कथित पढ़ा लिखा डिग्रीधारी नौकर बनने के चक्कर में सभी लोग पशुवत जीवन जी रहे हैं, न कोई नियम न मर्यादा, न उसका ज्ञान और न ही उसकी इच्छा। लेकिन सबों को देवराज इंद्र के समान उपभोग और ऐश्वर्य की कामना है। उनके लिए मैं एक ही समाधान बताता हूँ :- "समय निकाल कर चुल्लू भर पानी में डूब मरो" आधुनिक काल में चुल्लू भर पानी के स्थान पर बाथटब का भी प्रयोग कर सकते हैं।

एक शिष्य को मैंने चार वर्ष पूर्व एक बात कही थी :- प्र बनना है तो प्र को अपनाओ। प्र से रहित होकर गधे ही रहोगे... उसने एक सप्ताह पहले कहा कि आज तक इसका अर्थ समझ नहीं आया । आपको समझ में आया ? 'प्र'खर बनना है तो 'प्र'यत्न को अपनाओ। 'प्र'यत्न से हीन व्यक्ति 'प्र'खर तो नहीं, पर मात्र खर (गधा) अवश्य ही बन जाता है। इस 'प्र'यत्न के लिए 'प्र'कल्प आवश्यक है जिसके पांच 'प्र'कार हैं :- 'प्र'चार, 'प्र'शिक्षण, 'प्र'क्षेपण, 'प्र'स्ताव और 'प्र'हार। सबसे पहले अपने मत और उद्देश्य का अपने समान विचारधारा वाले व्यक्तियों में 'प्र'चार करो। फिर उन व्यक्तियों के समूहबद्ध करके 'प्र'शिक्षित करो। इसके बाद शत्रुदल के अवयवों में अपने व्यक्तियों के द्वारा आपसी मतभेद का 'प्र'क्षेपण करो। उसके बाद अपने शत्रुओं के समक्ष आत्मसमर्पण का 'प्र'स्ताव रखो। अस्वीकार करने पर उनपर 'प्र'हार करो। इस प्रकार 'प्र'कल्प पूर्वक 'प्र'यत्न करने से तुम निश्चय ही 'प्र'खरता को प्राप्त करोगे।

--*

जीवात्मा के लक्षण एवं चरणामृत का महत्त्व

स्वभावोऽध्यात्म उच्यते ... स्वभाव ही अध्यात्म है। हम जीजस की तरह जीव को काल्पनिक पाप से युक्त नहीं बताते, नहीं कहते कि तुम्हारा मूल रूप ही पाप से युक्त है। हम मुहम्मद की तरह उससे बचने के लिए अपनी पैरवी नहीं लगवाते, हमने जन्नत का कॉन्ट्रैक्ट नहीं दिया, कोई मुक्तिपत्र नहीं बांटते। हम तो अध्यात्म का अर्थ मूल शुद्धता, मूल नित्यता एवं कूटस्थता, अपना वास्तविक मूल स्वभाव ही मानते हैं। अधि शब्द एक उपसर्ग है, जिसका प्रयोग नियंत्रण के अर्थ में किया जाता है।

अधि उपसर्ग जब आत्म शब्द से जुड़ता है तो यण् सन्धि के कारण अध्यात्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ है अपने ऊपर नियंत्रण। किसका नियंत्रण ? स्वयं का, क्योंकि अन्य कोई यदि नियंत्रित करे तो फिर वह आत्मतत्व नहीं है। गीता के अठारहवें अध्याय में अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (चेतन), करण (शरीर के अंग), चेष्टा (क्रियान्वयन) एवं दैव (पूर्व की वृत्तियों से जन्य प्रारब्ध) से घटनाभेद का नियंत्रण होता है, ऐसा वर्णन है।

यही नियंत्रण जब इन पांचों के स्थान पर मात्र चेतन के ही द्वारा होने लगे, शेष सहयोगियों का लोप हो जाये, यहां तक कि प्रारब्ध के कर्मफल दैव आदि का भी घटनाभेद से नियंत्रण समाप्त हो जाये, कर्ता, आत्मा, चेतन के सिवाय कोई भी नियंत्रित करने वाला न रहे तो उसे अध्यात्म कहते हैं। इसीलिए स्वभाव को अध्यात्म कहा गया। स्वभाव यानि अपना भाव। अपना मतलब मेरा। मैं कौन ? अधिष्ठान, करण, चेष्टा और दैव आदि नहीं।

केवल मैं, केवल कर्ता, केवल चेतन का जो भाव है, उसकी जो अनुभूति है, उसका जो साक्षात्कार है, वही चेतन का भाव है, वही स्वभाव है, वही स्वभाव ही अध्यात्म है। सनातन धर्म में एक एक तत्व पर, एक एक विषय और दृष्टिकोण पर गहन चर्चा और विमर्श की स्वतंत्रता है ताकि मनुष्य अपने सत्य और लक्ष्य को अधिक स्पष्टरूप से जान सके। यहां लकीर के फकीर होने की बात नहीं है। यहां निरंतर अध्यास की बात है। अध्यास के साथ अभ्यास भी हो और अभ्यास के साथ वैराग्य भी, तब व्यक्ति मुमुक्षु हो जाता है।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन। ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यस्सर्वगत: शिव:॥
(आदित्य पुराण)
शिवेन विष्णुनाजेन श्रुत्या परमयापि च। ज्ञानयज्ञसमं नास्ति प्रायश्चित्तं न संशयः॥
(मानव पुराण)
देहात्मबोधेन समस्तजन्तवः कुर्वन्ति कर्माणि फलाभिलाषिणः।
न मे शरीरात्ममति स्वभावतस्ततो न कर्तव्यमिहास्ति किञ्चन॥
(वाशिष्ठलैंग्य पुराण)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

सत्यज्ञानानंदरूपं नामरूपादिवर्जितम्। भासमानं स्वयम्भासा नामरूपादिवस्तुषु॥
(वरुण पुराण)
स्वात्मनोऽन्यतया सर्वं पश्यन्नपि परात्मवित्। निर्भयस्स्वात्मना सर्वं पश्यति स्वानुभूतितः॥
(पराशर पुराण)

ज्ञान आत्मा का गुण या धर्म आदि कुछ भी नहीं है। सर्वव्यापी शिवरूपी आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है। ज्ञान स्वयं आत्मा है। शिव, विष्णु, ब्रह्मा अथवा वेदोक्त निर्गुण ब्रह्म से सम्बंधित ज्ञानचर्चा रूपी यज्ञ से बड़ा कोई भी पापनाशक प्रायश्चित्त नहीं है। मैं यह देह हूँ, इस प्रकार की भावना के कारण ही समस्त प्राणी फलाभिलाषी होकर कर्म करते हैं किंतु जब मैं देह नहीं हूँ, इस बात की अनुभूति स्वाभाविक रूप से हो जाती है, तब यहां उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। सत्य, ज्ञान और आनन्दमय रूप के साक्षात्कार से, जो स्वयं तो नाम, रूप आदि गुणों से रहित है, उससे शेष सभी नाम, रूप आदि गुणों से युक्त वस्तुओं में आत्मरूप का दर्शन होने लगता है।जैसा श्रेष्ठ भाव व्यक्ति अपने प्रति रखता है, वैसे ही भाव का दर्शन अन्य में भी अपनी अनुभूति से सबों को अपने समान देखने वाला व्यक्ति ही निर्भय है।

कभी कभी अध्यास और अभ्यास स्वभावतः होने लगते हैं तो कभी कभी शल्यक्रिया के द्वारा जैसे जबर्दस्ती बच्चे बाहर निकाला जाता है, जन्म कराया जाता है, वैसे ही गुरुजन शिष्य को बलपूर्वक शिक्षा भी देते हैं। किन्तु फिर भी लोक-मर्यादा के पालन हेतु व्यक्ति को समयोचित रीति से भौतिक शुद्धि अशुद्धि, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में वर्णित लोक-मर्यादा का पालन करते हुए ही जीवनशैली का निर्वहन करना चाहिए। एक उदाहरण लेते हैं चरणामृत का। चरणामृत पीने के बाद माथे पर लगाते हैं, कुछ लोग नहीं लगाते, जूठा होने के भय से। किस शास्त्र में लिखा है कि हाथ जूठे हो जाते हैं, इसीलिए माथे पर न लगाएं अथवा हाथ धोने के बाद माथे पर रखें। हाथ धो ही लिए तो माथे पर फिर लगाना ही क्यों ?? मस्तक पर तो सीधे चरणोदक ही लगेगा।

नित्यं पादोदकं मूर्ध्ना मया धार्यं सुभक्तितः।
(स्कन्दपुराण)
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम्॥
(भविष्योत्तर पुराण)

और ऐसे नहीं लगेगा, पीकर ही लगेगा। श्रीविष्णु के चरणामृत को पीकर सीधे मस्तक पर लगाना चाहिए। केवल विष्णु ही नहीं उनके अनन्य भक्तों का भी चरणामृत लेना चाहिए।

विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयेद्यदि। यदि सर्वमनुष्याणां बाह्यान्तर्मलशोधनम् ॥
हरेः पादोदकं पीत्वा मुच्यते नात्र संशयः।

शिरसा तिष्ठते येषां नित्यं पादोदकं हरेः। किं करिष्यन्ति ते लोके तीर्थकोटिमनोरथैः ॥
(शब्दकल्पद्रुम प्रमाणसंग्रहे)
विष्णोः पादोदकं देवि शिरसा धारयन्पिबन् । यो नरो वसुधे! नित्यं स याति परमां गतिम्॥
(वैखानस गृह्यसूत्र भाष्य)
कृष्णमन्त्रोपासकानां शुद्धं पादोदकं सुत । पुनाति सर्वतीर्थानि वसुधां अपि पार्वति ॥
(नारद पांचरात्रे)

मुख में लेने के बाद आंख, कान, मस्तिष्क की शुद्धि हेतु वहां वहां भी लगाए।

श्रोत्रयोर्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते ।
पादोदकं च निर्माल्यं मालानामपि धारणम् । उच्यते शिरसः शुद्धिः प्रणतस्य हरेः पुरः ॥
(पद्मपुराण)

जिसके मन में भगवान् का रूप हो, मुख में नाम, उदर में प्रसाद हो तथा मस्तिष्क में पुष्पादि से युक्त चरणोदक हो, अथवा वैष्णवागम के अनुसार मुद्रा दीक्षित हो, उसे नारायण का ही रूप जानना चाहिए।

वैष्णवा मुनयः सर्वे सुदर्शनेन मुद्रिताः। तेषां पादोदकं पीत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(ग्रन्थान्तरे)
हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः । पादोदकं सनिर्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः॥
(स्कन्दपुराण)
पेयं धार्यं मस्तके च धूल्यामालुण्ठनं तथा । हरेः पादोदकं पेयं स्त्रिया पुंसा व्रते सदा॥
(ग्रन्थान्तरे)

यह नियम व्रत में दीक्षित, अथवा सामान्य जीवन में भी स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिए है। चरणोदक या चरणामृत का अर्थ दूध दही वाला पंचामृत नहीं है। पंचामृत और चरणामृत में भेद को समझें। पादोदकं तु पाद्यमव्याप्तेः। (शांडिल्य भक्तिसूत्र) शालिग्राम अथवा अर्चा विग्रह के चरण को धोया हुआ जल (मतांतर से चंदनादि से सुवासित भी हो सकता है) में तुलसी पत्र मिलाकर रखा गया जल ही चरणामृत है। चरणामृत को गंगाजल कहा गया है, वह स्वयं अपवित्र न होता है और न जूठन का दोष लगता है। आधिदैविक शक्तियों में आधिभौतिकता का आरोपण सम्मत नहीं है। चरणामृत का पान करके फिर मस्तक पर लगाना ही विहित है। चरणामृत पीने के लिए गोकर्णिका मुद्रा (अंगूठे और कनिष्ठिका को अलग करें, शेष तीन उंगलियों को अंदर की ओर हल्का मोड़ने पर गाय के कान के समान आकृति बनती है) का प्रयोग करना चाहिए। पीते समय मणिबंध भाग (कलाई के पास वाला भाग) से चरणोदक लेना चाहिए जबकि मस्तक पर लगाते समय उंगलियों के पोर का प्रयोग करना चाहिए। आप चाह भी ब्रह्म और जीव में, अथवा ब्रह्म के शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, विष्णु आदि में फिर भेद नहीं कर पाएंगे। सर्वत्र उसी एकाकार शक्ति का बोध होने लगेगा।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य, भिन्ना चतुर्धा विनियोगकाले (व्यवहारकाले)।
भोगे भवानी पुरुषेषु विष्णुः, कोपेषु काली समरेषु दुर्गा ॥
एका शक्तिश्च शम्भोर्विनिमयनविधौ सा चतुर्धा विभिन्ना।
क्रोधे काली विजाता च समरसमये सा च चण्डी च दुर्गा॥
भोगे सृष्टौ नियोगे च सकलजगतां सा भवानी च जाता।
सर्वेषां रक्षणानुग्रहकरणविधौ तस्य विष्णुर्भवेत्सा॥
(भृंगीरिटी संहिता)

आद्यशंकराचार्य जी ने कहा है कि जैसे मार्ग में चलता हुआ यात्री अपने पास भोजन होते हुए भी केवल इस बात की जानकारी से भूख नहीं मिटा सकता, उसे भोजन करना ही पड़ेगा, तभी भूख मिटेगी। किन्तु यदि भोजन होने पर भी भोजन की जानकारी ही न हो तो भी भूख नहीं मिटा सकता क्योंकि ज्ञान के अभाव में वह उसका प्रयोग ही नहीं कर पायेगा।

स्कन्धधृतंसिद्धमन्नं यावन्नाश्नाति मार्गगस्तावत्। स्पर्शभयक्षुत्पीडे तस्मिन्भुक्ते न ते भवतः॥
(प्रबोध सुधाकर)

वैसे ही अहं ब्रह्मास्मि आदि का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी वस्तुतः जब तक स्वभावतः उसकी अनुभूति न कर लें तब तक उसकी मुक्ति नहीं होगी। और यदि उसे यह तो ज्ञात हो कि ब्रह्मभाव के साक्षात्कार से मुक्ति होगी किन्तु उसकी प्रक्रिया अथवा योग, भक्ति आदि कारकों का ज्ञान न हो, तब भी मुक्ति नहीं होगी क्योंकि वह यह तो जानता है कि भोजन करने से भूख मिटेगी, किन्तु वह भोजन उसके पास ही है, अथवा कैसे भोजन करना है, इस बात का उसे बोध नहीं है। इसीलिए श्रुति ने कहा, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। यह ब्रह्मज्ञान हमारा लक्ष्य, गुण या मुक्ति का माध्यम नहीं है। अपितु कस्तूरी की सुगंध की भांति हम ही ज्ञान हैं। इसीलिए इस लेख के आरम्भ में ही हमने कहा, कि ज्ञान आत्मा का कर्म या गुण नहीं है, ज्ञान ही आत्मा है। प्रज्ञानात्मा ...

--*

श्रीराम जी की बहन कौन थी ?

भगवान् श्रीराम जी की बहन शांता के सन्दर्भ में बहुत दिनों से बहुत से लोग प्रश्न करते आ रहे हैं। ऐसे लोगों को लगता है कि वाल्मीकि जी ने नहीं लिखा, तुलसीदास जी ने नहीं लिखा, मतलब कि कोई हुआ ही नहीं, जबकि ऐसा नहीं है। श्रीराम जी का चरित्र अनन्त है और उसका सम्पूर्ण लेखन किसी एक ग्रंथ में सम्भव भी नहीं हैं। स्वयं वाल्मीकि जी ने आर्ष, अद्भुत, आनंद एवं योगसंज्ञक चार मुख्य रामायण लिखे हैं। वाल्मीकि से पहले छः प्रकार की रामायण प्रसिद्ध थी :- जो अगस्त्य जी ने शिव जी को सुनाई वो अगस्त्य रामायण। जो शिव जी ने पार्वती जी को सुनाई वो अध्यात्म रामायण। जो लोमश जी ने काकभुशुण्डि जी को सुनाई वो लोमश रामायण। जो काकभुशुण्डि जी ने गरुड़ जी को सुनाई वो भुशुण्डि रामायण। जो हनुमान जी ने सनत्कुमार जी को सुनाई वो रहस्य रामायण। इसमें हनुमान जी की रामायण अथर्ववेद में रामरहस्योपनिषत् के रूप में वर्णित है। अध्यात्म रामायण पुराणभाग होने से सुलभ है और भुशुण्डि रामायण दुर्लभ है। लोमश और अगस्त्य रामायण बहुत बड़े हैं और अब शायद लुप्त हो गए। अगस्त्य रामायण की एक मलयालम में अनुवादित प्रति प्राप्त है किंतु मूल संस्कृत नहीं। ऐसे भी भुशुण्डि रामायण की मूल संस्कृत प्रति भी प्राप्त होती है किंतु हिंदी में अनुवादित नहीं। जबकि ये सभी वाल्मीकि के रामायण से अधिक विशाल और प्राचीन भी हैं।

इन सबके बाद वाल्मीकि जी ने अपनी चारों रामायण लिखी हैं। और यदि रामजी के चरित्र को गागर में सागर की भांति जानना और समझना है तो एक बार जीवन में स्वामी करपात्री जी रचित रामायण मीमांसा अवश्य ही पढ़ लें। छठी रामायण श्रीराम जी ने स्वयं अत्यंत गुप्त रीति से परशुराम जी और हनुमान जी को सुनाई है, उसके बारे में अधिक नहीं बताऊंगा अभी। हमलोग सम्पूर्णता से ज्ञात नहीं कर सकते। जितना मिल रहा है, ग्रहण करना चाहिए। राम तत्व की बात तो केवल राम जी ही जानते हैं, और उनके बाद किसी ने राम तत्व को कुछ बहुत जाना तो कृपालु शिव जी ने, ऐसा शिव जी का ही वचन है। हमलोग को छोड़िये, व्यास वाल्मीकि आदि भी नहीं जान सकते। यद्यपि वाल्मीकि जी ने अपने आर्ष रामायण के बालकांड में शांता का वर्णन किया है, किन्तु वहां मात्र रोमपाद की पुत्री और उनका ऋष्यश्रृंग से विवाह होने की बात ही वर्णित है।

आनाय्य तु महीपाल ऋष्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
विभाण्डकसुतं राजन्ब्राह्मणं वेदपारगम् । प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥

इसके अतिरिक्त बालकांड में ही सनत्कुमार जी के वचनानुसार राजा दशरथ की अंगराज रोमपाद से मित्रता और उन्हें अपनी कन्या शांता को सौंपने का भी वर्णन है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः। नाम्ना दशरथो राजा श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः ॥
अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति। कन्या चास्य महाभागा शांता नाम भविष्यति ॥

सौन्दरनंदकाव्यकार ने शांता देवी की सुंदरता के कारण ऋषि ऋष्यश्रृंग के मन में उत्पन्न कामक्षोभ के सन्दर्भ में निम्न उक्ति लिखी :-

निशाम्य शान्तां नरदेवकन्यां वनेऽपि शान्तेऽपि च वर्तमानः।
चचाल धैर्यान्मुनिऋष्यश्रृङ्गः शैलो महीकम्प इवोच्चश्रृङ्गः ॥

अर्थात्, राजकुमारी शांता, जो किसी देवपुत्री के समान सुंदर एवं तेजोमयी थी, उन्हें उस शांत वन में देखकर धैर्यवान ऋषि ऋष्यश्रृंग का मन भी उसी प्रकार चंचल हो उठा जैसे ऊंचे से ऊंचा पर्वत भी भूकम्प के आने से विचलित हो जाता है। रोमपाद (लोमपाद) राजा ने अपनी पुत्री शांता का विवाह ऋष्यश्रृंग से किया था इसका प्रमाण महाभारत में मिलता है।

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः। ऋष्यश्रृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व)

अर्थात्, राजर्षि लोमपाद ने अपनी पुत्री शांता को बहुत धन धान्यादि के साथ ऋष्यश्रृंग मुनि को वैवाहिक विधि से दे दिया। अपने राज्य में वृष्टि, कृषि के निमित्त बुलाये गए ऋषि ऋष्यश्रृंग को कार्यसिद्धि होने पर रोमपाद ने उनसे अपनी पुत्री का विवाह किया था। इसकी पुष्टि निम्न श्लोक से होती है।

निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः। लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥
(महाभारत, वनपर्व)
लोमपाद सुतां शान्तां ऋष्यश्रृंगाय योगिने । दत्वा दिव्यं दिवं भुक्त्वाऽक्षरं धाम ततो ययौ ॥
(ग्रन्थान्तरे)

किन्तु वह उनकी औरस पुत्री नहीं थी, अपितु दशरथ जी की थी, उस शांता को रोमपाद ने गोद लिया था, इस संदर्भ में उत्तररामचरितकार ने लिखा है :-

कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत् । अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ॥

अर्थात्, राजा दशरथ की शांता नाम की पुत्री हुई जिसे उन्होंने पुत्रीरूप में ही रोमपाद को गोद दे दिया। दशरथ जी ने अपनी पुत्री शांता को रोमपाद को गोद क्यों दिया, इस संदर्भ में अगर कोई जिज्ञासा करें, तो उसका उत्तर निम्न श्लोक है, जहां कारण बताया गया है कि मित्रता होने से अपनी पुत्री को दिया और बाद में रोमपाद ने उसका विवाह ऋष्यश्रृंग से कर दिया।

रोमपाद इति ख्यातः तस्मै दशरथः सखा। शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छद् ऋष्यश्रृङ्ग उवाह याम् ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

किन्तु इक्ष्वाकुवंश में भी दशरथ नाम के दो तीन राजा हुए हैं, यहां यह कैसे स्पष्ट हो कि कौन से दशरथ की पुत्री शांता थी ? इस संदर्भ में अज के पुत्र दशरथ, ऐसा स्पष्ट वर्णन विष्णुपुराण में द्रष्टव्य है :-

दिविरथस्तस्माद्धर्मरथः ततश्चित्ररथः रोमपादसंज्ञः यस्य दशरथो मित्रं जज्ञे।
यस्याजपुत्रो दशरथः शान्तां नाम कन्यामनपत्यस्यदुहितृत्वे युयोज॥

अर्थात्, राजा दिविरथ के पुत्र धर्मरथ हुए। उनके पुत्र चित्ररथ हुए जो रोमपाद के नाम से विख्यात थे। उनकी मित्रता दशरथ जी से हुई। वे दशरथ अज नामक राजा के पुत्र थे और उन्होंने रोमपाद को निःसन्तान जानकर इसके निवारण हेतु अपनी शांता नाम वाली पुत्री को पुत्रीरूप में ही गोद दे दिया। ऋष्यश्रृंग मुनि ने ही पुनः आकर राजा दशरथ का पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया जिसे निमित्त बनाकर भगवान् श्रीराम जी अपनी चतुर्व्यूह मूर्ति के साथ अवतरित हुए। इस पुत्रकामेष्टि यज्ञ में शांता भी अपने पति ऋष्यश्रृंग के साथ आचार्यपत्नी के रूप में आई थीं और उनका पूजन राजा दशरथ ने किया।

शांतया प्रययौ सार्धम् ऋष्यश्रृङ्गः सुपूजितः । अनुगम्यमानो राज्ञा च सानुयात्रेण धीमता ॥
(वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, अष्टादश सर्ग)

शास्त्रज्ञ इस बात को जानते हैं कि राजा अज, जो दशरथ जी के पिता थे, उनके पिता का नाम रघु था, जिनके आधार पर उस कुल का नाम रघुवंश पड़ा। यह सूर्यवंशी क्षत्रियों की अयोध्याकेंद्रित कोशलशासी इक्ष्वाकुशाखा थी। इसीलिए यहां राम जी की बहन शांता का होना शास्त्रालोक से प्रमाणित है। कुछ लोगों का यह मत है कि सरयू नदी भी राजा दशरथ की पुत्री हैं। इसका कोई ठोस साहित्यिक प्रमाण तो प्राप्त नहीं होता किन्तु ऐसा मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है। किसी भी परम्परागत अभिषिक्त राजा को यह अधिकार है कि वह अपने राज्य की प्रजा, भूमि, नदी, पर्वत आदि के साथ संतान मानकर पिता के समान व्यवहार करे अथवा स्वामी मानकर पति के समान। इसीलिए भूपति, नृपति, महीपति आदि शब्द भी आये हैं। यहां पति शब्द दाम्पत्य सूचक नहीं। हमारे यहां आदिराज पृथु ने भूदेवी को अपनी सन्तान या पुत्री माना था इसीलिए इसका नाम पृथ्वी भी है। उससे पूर्व इन्हें कश्यप जी ने अपनी पुत्री माना था इसीलिए इसे काश्यपी भी कहते हैं। वहीं कश्यप जी इसके स्वामी होने से पति भी कहला सकते हैं, इसीलिए इसका एक नाम अदिति भी है। राजर्षि जह्नु की मानित पुत्री गंगा देवी का नाम लोक में जाह्नवी, ब्रह्मा के मानित पुत्र होने से लौहित्यनद का ब्रह्मपुत्र, ऐसा नाम प्रसिद्ध है। यहाँ पिता का अर्थ जन्मदाता एवं पति का अर्थ दांपत्यसुख से नहीं है। अपितु पिता एवं पति दोनों का ही का अर्थ पालक है।

--*

थोड़े तुम दलित से हो, थोडा मैं दलित सा हूँ

(इस लेख की शैली व्यंगात्मक है, उसी दृष्टिकोण से पढ़ें)

हम लोहार नहीं हैं, साहब... हम टाटा हैं..
हम ठठेरा नहीं हैं साहब... हम हिंडाल्को हैं..
हम चमार नहीं हैं साहब... हम बाटा हैं..

लोहार, ठठेरा और चमार दलित हैं, शोषित हैं, पिछड़ा हैं। टाटा, हिंडाल्को और बाटा ब्रांड हैं, राष्ट्रीय अर्थबल के केंद्र हैं। मैकाले की ही पद्धति से उठाकर लाएं हैं, जरा महानुभाव समुदाय ध्यान देंगे... सार में संकेत करते हैं...परम्परागत लुहार, कुम्हार, बढ़ई आदि राष्ट्रीय उत्पादन के प्रमुख घटक थे। तकनीक इनके हाथ में थी, कला इनके हाथ में थी, और यहाँ तक कि इनके संगठित निगम भी होते थे जो अंतर्विनिमय व्यापार हेतु स्वाधीन मुद्रा प्रणाली भी चलाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय के व्यापार करने पर साधारणतया प्रतिबंध था और उत्पादन तथा व्यापार के सर्वाधिकार वैश्यों तथा शूद्रों के लिए सनातन समाज में "आरक्षित" थे।

वैश्यों के पास, कुम्हार, लुहार आदि के पास अति विशिष्ट तथा बहुमूल्य कलाकृतियों के उत्पादन एवं व्यापार की व्यवस्था थी। स्मरण रहे, ये उत्पादन स्वतन्त्र तथा संगठनात्मक, दोनों स्तरों पर होता था। इसके लिए उनके पास व्यापक मात्रा में यातायात माध्यम, नाव तथा जलीय मार्ग की भी उपलब्धता थी। ब्राह्मणवादी ग्रंथों में ब्राह्मणों के ही उत्पादन और व्यापार पर प्रतिबंध का वर्णन था और लघु से लेकर बृहद् व्यापार के सभी आयाम वैश्य तथा शूद्रों के लिए "सामाजिक सम्मान" के साथ व्यापक रूप से खुले थे।

(और शायद ऐसा इसीलिए था कि ब्राह्मण और क्षत्रियों ने शोषण किया, दबाया, डराया धमकाया और इतना प्रताड़ित किया कि बेचारे शूद्रों को मात्र उत्पादन, समृद्धि, तकनीकी विकास, व्यापार, मुद्राधिकार जैसे मामूली उपलब्धियों से ही सन्तोष करना पड़ा। जबकि शोषण करके तपस्या, वनवास, भिक्षाटन, कषाय वस्त्र, आदि उच्चस्तरीय भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति ब्राह्मणों को हुई...)

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जन: पण्यफलत्वमीयात् जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीयात्॥
(वाल्मीकीय रामायण, सर्ग – ०१, अध्याय – ०१, श्लोक - १००)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

श्रीरामायण के अध्ययन से, पढ़ने से, ब्राह्मण को अष्टादशविध विद्याओं में निपुणता मिलती हैं, क्षत्रिय के राज्य का विकास होता है। वैश्यों के व्यापार की वृद्धि होती है तथा समाज के मध्य शूद्रों के सम्मान में वृद्धि होती है, उसका महत्व बढ़ता है।

A brahman becomes proficient in the eighteen branches of learning a kshatriya gets lordship over landed possessions a vaisya gets the fruits of his business and shudra also attains greatness by reading Ramayana.

दो बातें ध्यान देंगे, रामायण पढ़ने से शूद्रों को महत्व मिलेगा... किस रामायण से ?? वह रामायण कैसी है ?? जिसके सम्मान में स्वयं शिव जी भी भावविभोर हो शीश नवाते हैं, जिसकी गाथा स्वयं श्रीराम भी राजसिंहासन से उतर कर सुनते हैं। उस रामायण को पढ़ने से शूद्रों को भी महत्व मिलेगा.. शूद्रों को रामायण पढ़ने के लिए, ब्रह्मभाषा संस्कृत का ज्ञान आवश्यक था, संस्कृत का ज्ञान शिक्षा प्राप्ति से होगा। शिक्षा गुरुकुल में मिलेगी जिसका सञ्चालन ब्राह्मण करते थे और जिसका खर्च क्षत्रिय राजा वहन करते थे। महत्व दंगों से नहीं, शिक्षा से बढ़ेगा। उत्पादन, व्यापार से बढ़ेगा। व्यंग समझें, संकेत समझें...
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः..

वे तुम्हें समाजवाद सिखाएंगे, तुम उन्हें सनातन दिखा देना..
वे तुम्हें पर्यावरण संरक्षण सिखाएंगे, तुम उन्हें सनातन दिखा देना..
वे तुम्हें किसान आंदोलन सिखाएंगे, तुम उन्हें सनातन दिखा देना..
वे तुम्हें दलित उत्थान सिखाएंगे, तुम उन्हें सनातन दिखा देना...
वे तुम्हें नारी सम्मान सिखाएंगे, तुम उन्हें सनातन दिखा देना..

सनातन धर्म में अनन्त ग्रंथ हैं .. अनंत ग्रंथों में अनंत ज्ञान हैं .. यह इतना विस्तृत है कि अनंत ग्रंथ भी इसका अंत न कर सके (ज्ञान को सम्पूर्णता से समाहित न कर सके).. तद्वत्, यह इतना सूक्ष्म है कि किसी एक ही ग्रंथ अथवा किं बहुना, एक श्लोक का भी अनुपालन समग्र विकास, व्यवस्था एवं उत्थान के आधार को निहित किये हुए हैं। अब तो दलितों में भी महादलित होने लगे हैं ? एक दलित जाति दूसरी दलित जाति को भाई नहीं मानती। दलित मुसलमान, दलित ईसाई औरअब तो दलित सिक्ख भी होने लगे हैं। इनको किसने शोषित कर दिया भाई ? इनमें तो ब्राह्मण नहीं होते। त्रिलोकविजयी परमपराक्रमी हिरण्यकशिपु को भी ये कल दलित घोषित कर देंगे - दलितहिरण्यकशिपुतनुभृंगम्। हम बताते हैं कि ब्राह्मणों ने कैसे देवदासियों के साथ बलात्कार किया और शूद्रों के अधिकार वाली सम्पदाओं को हड़पा..

सदा योगरत: पश्येन्मातृवत्परकामिनीम्। परद्रव्यं च विषवत्सोऽचिरान्मुच्यते भयात्॥
स्त्रीणां तु भर्तृसेवैव तारणं शीलपालनम्। श्रेष्ठसेवेह शूद्राणां तारका नातिमानिनाम्॥
(दत्तात्रेय पुराण)

योगविद्या का आश्रय लेकर दूसरे की स्त्री (पत्नी, अथवा पुत्री आदि भी) को माता के समान भाव से देखे। दूसरे के अधिकार वाले धन को विष के समान दूर से ही त्याग दे, इससे मनुष्य भय से तत्काल मुक्त हो जाता है। स्त्रियों के लिए अपने पति की सेवा और चरित्र रक्षण मात्र से ही संसार सागर से उनका उद्धार हो जाता है, तथा श्रेष्ठजनों की सेवा से विनम्र शूद्र भी मोक्ष प्राप्त करते हैं। (जबकि इसी मोक्ष के लिए ब्राह्मण आदि को अति कठिन जीवनीय संघर्ष का पालन करना होता है) अब आईये, हम दिखाते हैं कि सनातन धर्म के किस नियम के अनुसार ब्राह्मणों ने शूद्रों को भूखे मारा और उनका अन्न छीन लिया..

मूर्खो वा पंडितो वापि श्रोत्रियः पतितोऽपि वा। मध्याह्ने यः समायातो ब्रह्मतुल्योऽतिथिर्हि सः॥
नान्नदानसमं पुण्यं नोपकारश्च तादृशः। अन्ने प्रतिष्ठिता: प्राणा: ह्यन्नदः प्राणदः मत:॥
(दत्तात्रेय पुराण)

मूर्ख हो या विद्वान्, वेदवेत्ता ब्राह्मण हो या पतित चांडाल, मध्याह्न काल में क्षुधा से पीड़ित होकर जो भी व्यक्ति घर में आये, वह ईश्वरतुल्य अतिथि है। उसे अन्नदान करने से (भोजन कराने से) जो पुण्य होता है, उसके समान कोई दूसरा उपकार नहीं है, क्योंकि अन्न में ही प्राण प्रतिष्ठित हैं तथा अन्नदाता को प्राणदाता कहा गया है। (किसान का भी सनातन में अन्नदाता होने से समतुल्य सम्मान है, ऐसा पुराणेतरों के प्रसंग सिद्ध करते हैं) आईये, अब देखें कि कैसे दलितों को ब्राह्मणों ने पानी पीने से रोका..

यावत्पिबन्ति पानीयं वापीकूपतड़ागतः। जीवास्तावद्धि तिष्ठन्ति तत्कर्तारः सुखाद्दिवि॥
जीवानां जीवनं वारि तद्यो दास्यति यत्नतः। जीवत्वं स विहायैव परे ब्रह्मणि मोदते॥
(दत्तात्रेय पुराण)

जब तक किसी के अधिकार वाले कुवें या सरोवर से प्राणीजन जल पीते हैं, जब तक उसके निर्माता अथवा संरक्षक को स्वर्ग में सुख मिलता है। (इस विषय में महाभारत में मार्कण्डेय प्रोक्त इन्द्रद्युम्न वृत्तान्त पठनीय है) जो व्यक्ति प्रयत्न करके समस्त जीवों को जल देता है, वह जीवत्व से मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो मोक्ष प्राप्त करता है, क्योंकि जल ही जीवन है। देवी देवताओं के नाम पर हमारे अंदर समाज को बांटने का जो आरोप लगता है, वह भी निराधार ही है। धर्मपरिवर्तक शिव, विष्णु, शक्ति आदि के नाम पर नित्य नए नए परस्पर विरोधी सम्प्रदाय बनवा कर उन्हें सनातन से तोड़ते जा रहे हैं। एकेश्वरवाद के नाम पर बहुदेववाद की निंदा करके धर्मपरिवर्तन कराने वाले ईसाई यह नहीं बताते कि सनातन में एकेश्वरवाद भी है और बहुदेववाद भी, और साथ ही इनमें कोई संघर्ष भी नहीं..

कृत्वैकदेव भक्तिं ये मात्सर्येण द्विषन्ति च। अन्यदेवं च तद्भक्तं ते यान्ति नरकं ध्रुवम्॥
विष्णु: शिवो गणेशोऽर्क: शक्तिश्चेति पृथङ् न हि। एकोऽज: पंचधा जातः कुतो भेदोऽस्ति देवतैः !!
(दत्तात्रेय पुराण)

जो लोग ईर्ष्या द्वेष से एक देवता की भक्ति करके अन्य देवों की निंदा करते हैं, वे निश्चय ही नरक जाते हैं। विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, शक्ति आदि अलग नहीं है। एक ही ईश्वर के पांच रूप हैं, फिर देवताओं में कैसा भेद ? पर्यावरण संरक्षण के नाम पर, करोड़ों अरबों का घोटाला करने वाले यदि सभी पर्यावरण सम्बन्धी विभागों को बंद करके केवल सनातन को ही प्रसारित करें तो यह सर्वाधिक प्रभावी कार्य होगा, क्योंकि..

वरं त्रयो भूमिरुहा न तु कोष्ठरुहा दश। पत्रैः पुष्पैः फलैस्ते हि कुर्वन्ति पितृतर्पणम्॥
सुच्छायाफलपुष्पाढ्यं वृक्षं प्राणिनिषेवितम्। ये छिन्दन्ति नरा मूढास्ते यान्ति नरकं ध्रुवम्॥
(दत्तात्रेय पुराण)

दस पुत्रों की अपेक्षा तीन वृक्ष अधिक श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पुत्र भविष्य से काम देगा या नहीं, इसमें संशय है। परन्तु पत्र, पुष्प, फल आदि से अपने पिता (रोपक अथवा रक्षक) को वृक्ष सदैव तृप्त करते रहते हैं। प्राणियों के द्वारा आश्रित छाया, फल और फूलों से भरे वृक्षों को जो मूर्खजन काटते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं। (आज कथित विकास के नाम पर समग्र भूमि को मरुभूमि बनाया जा रहा है) सनातन जैसा समाजवाद, निर्बल संरक्षण तथा बिना भेदभाव के शरणागत पोषण कहीं नहीं मिलेगा..

वेदपाठरता नित्यं ब्राह्मणा येऽग्निहोत्रिणः। स्वर्यान्ति तेऽपि भूपाश्च रणे येऽभिमुखे हताः॥
अनाथगोद्विजातिस्त्रीशरणागतरक्षणे। ये मृता धर्मसंग्रामे ते न यान्ति यमालयम्॥
(दत्तात्रेय पुराण)

वेदपाठ में रत अग्निहोत्री ब्राह्मण को, तथा युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय को दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है। जो अनाथ, गौ, द्विज, स्त्री तथा शरणागत की रक्षा करते हैं, अथवा रक्षा करते हुए धर्मयुद्ध में मारे जाते हैं, वे नरक को प्राप्त नहीं होते (अपितु दिव्य लोकों को जाते हैं) । हमें आवश्यकता नहीं है समाजवादियों की, हमें आवश्यकता नहीं है मीडिया अथवा नेताओं की, हमें वस्तुतः लोकतन्त्र अथवा चुनावों की ही आवश्यकता नहीं हैं। हमें आवश्यकता है सनातन की, उसे प्रकाशित करने वाले गुरुजनों एवं ग्रंथकर्दम की। हम एक ऐसा भारत चाहते हैं जहाँ लोगों की आंखों में आंसू केवल कन्या की विदाई के समय ही निकलें। पीड़ा और दुःख के नाम पर केवल प्रसवपीड़ा ही हो। रोग के नाम पर केवल दाम्पत्य का प्रेमरोग ही हो। ऋण के नाम पर केवल देव, ऋषि एवं पितृ ऋण ही हो, और यह केवल सनातन प्रवर्धित, ब्राह्मण नियंत्रित, क्षत्रिय रक्षित, वैश्य प्रायोजित और शूद्र सेवित राजतंत्र से ही सम्भव है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

थोड़े तुम दलित से हो, थोड़ा मैं दलित सा हूँ... क्या आपने कभी दलित बनने की इच्छा की है ??

साधो तेरे देस में भांति भांति के लोग... भारतवर्ष के समाज की एक विशेषता है, दर्शन। सामान्य भाषा में कहें तो दृष्टिकोण। एक ही घटना अथवा तत्व को भिन्न भिन्न व्यक्ति अपने संस्कार, उद्देश्य, अपेक्षा, परिवेश, ज्ञान तथा धारणा के आधार पर विभिन्न प्रकार से परिभाषित करते हैं। जल की परिभाषा रसायनशास्त्र के लिए भिन्न है और वास्तुशास्त्र के लिए भिन्न। चाकू के प्रति गृहणी, शल्यचिकित्सक, तस्कर, सैनिक और शिल्पी के दृष्टिकोण बिल्कुल असमान हैं। उनमें से कौन गलत है और कौन सही, बात का महत्व इसपर आश्रित नहीं। बात का मतलब इससे है कि उसका परिणाम क्या होगा। किसके दृष्टिकोण का परिणाम समाज पर किस प्रकार से कितने प्रभाव के साथ पड़ेगा। अतएव, हमारे यहाँ दर्शनों की विविधता है, स्वतंत्रता है।

* सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः। * सर्वदर्शनानिंदा। * अगणनं कस्यापि। (परशुरामकल्पसूत्रम्)

अपने सम्प्रदाय ऊपर विश्वास करने से ही सर्वसिद्धि की प्राप्ति होती है। सभी सम्प्रदायों की निंदा से बचना चाहिए क्योंकि मूलतः सभी मात्र दृष्टिकोण ही है। उनकी ओर से संसार कुछ भिन्न दिखता है और आपकी ओर से भिन्न। परन्तु निंदा के अनंतर प्रशंसा से भी बचना चाहिए क्योंकि इससे पूर्वसूत्र (सम्प्रदायविश्वास) का विरोध होगा। साथ ही यदि कोई सम्प्रदाय श्रुतिस्मृतिवाक्य आदि के संदर्भ में स्पष्ट रूप से धर्मविरोधी वाक्यों का प्रचार करे तो उसके समर्थन का दोष लगेगा।

कुछ दिनों से सामाजिक माध्यमों में मैंने दलित शब्द के प्रयोग के संदर्भ में कई परस्पर विरोधी बातों को देखा है। मेरे कई भौतिक सम्बन्धी, मित्र, मार्गदर्शक एवं सहयोगियों के मध्य अपने अपने दार्शनिक भिन्नता के आधार पर दलित शब्द को लेकर एक विरोधाभास है कि इसका प्रयोग किया जाय या नहीं। सम्भवतः (अ)माननीय उच्चतम न्यायालय ने भी यह कहा है कि दलित शब्द असंवैधानिक है तथा सरकारी रूप से इसके लिए विहित अनुसूचित जाति आदि शब्दों का प्रयोग किया जाय।

दलित शब्द का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ शोषित, वंचित और हताश-निराश, नारकीय यातनाओं को भुगते समाज के रूप में लिया जाता है। हालांकि निष्पक्षता से देखें तो कलिकाल में इस अनुसार धर्मनिष्ठ लोगों से अधिक भीषण दलित कोई नहीं है, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों। हमारे शास्त्रों में सगुण भक्ति के सोलह स्तर और नौ प्रकार बताए गए हैं। नवधा भक्ति के विषय में चर्चा न करके मात्र षोडश स्तरों के ही नाम बताता हूँ। उप्त, पत्त, ललित, दलित, मिलित (सपूर्व), मिलित (अपूर्व), कलित, छलित, चलित, क्रांत, विक्रांत, संक्रांत, विहृत, गलित एवं संतृप्त। सोलहवें स्तर में एकाकार होने की स्थिति आ जाती है। साधक, साध्य और साधना में कोई भेद नहीं रहता। चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई

आदि इस कलिकाल में प्रेमाद्रि के इस सोलहवें स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से पहुंच गए थे। कुछ अन्य विवेकी जन विक्रांत और संक्रांत की स्थिति को क्रांत का भी उपभेद मानकर तथा मिलित के दोनों प्रकारों को एक मानकर कुल बारह प्रकारों को ही प्रधानता देते हैं :-

प्रेमद्वादशधा निरुक्तमखिलैर्भक्तैर्यदास्वादितं...
अथातो भक्तिजिज्ञासा (शांडिल्यभक्तिसूत्र, श्रीमन्नारायणतीर्थ भक्तिचन्द्रिका भाष्य)

सभी भक्त सभी स्तरों में रह सकते हैं क्योंकि भक्ति में मात्रा नहीं होती। शिवजी के अनुसार, शांडिल्य मुनि के अनुसार प्रेम की मात्र दो ही अवस्था है :- अस्ति नास्ति वा। या तो है, या तो नहीं है।

क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् (शांडिल्यभक्तिसूत्रम्)

क्रिया करने वाले के सापेक्ष न होने से भक्ति ज्ञान के समान नहीं है। अर्थात् ज्ञान क्रिया करने वाले कि अपेक्षा रखता है, परन्तु भक्ति किसी के कार्य की अपेक्षा नहीं रखती। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति किसी से प्रेम करता है, परन्तु क्यों करता है, वह इसका यथावत् कारण नहीं बता सकता। ऐसे ही बहुत से लोगों से हमारा प्रेम नहीं है (द्वेष भी नहीं है, पर प्रेम भी नहीं), परंतु क्यों नहीं, इसका भी कोई यथावत् कारण हम नहीं बता सकते। प्रेम मात्रातीत है, निमित्तातीत भी है। वह या तो है, या नहीं है।

प्रेम कितना है, यह तो साधक और साध्य के मध्य घटित होने वाले रस, संयोग, वियोग, क्रिया, चिंतन आदि पर आश्रित है। हम संक्षेप में उन घटनाओं का संकेत करेंगे जब भक्तों ने विभिन्न भावों से श्रीहरि के प्रति अलग अलग स्तरों की भक्ति का आश्रय लिया। उदाहरणों के साथ सुधिजन यदि संकेतों की श्रद्धापूर्वक कल्पना मात्र भी करें तो हृदय में भक्ति की अपूर्व अनुभूति करेंगे।

उप्त का उदाहरण :- अक्रूरजी जब भगवान् को मथुरा ले जाने के लिए वृंदावन जा रहे थे, उस समय उनके मन में हर्ष और संकोच का मिश्रित भाव।
पत्त का उदाहरण :- श्रीराम जी के प्रथम दर्शन पर राजा जनक के भाव, भ्रमरगीत में गोपियों का भ्रमर को देखने के तुरन्त बाद का भाव।
ललित का उदाहरण :- कृष्ण जी के यह कहने पर कि, सखे !! भाभीजी जी ने मेरे लिए क्या भेजा है, इसपर सुदामाजी का भाव (अहा.... !!)
दलित का उदाहरण :- श्रीकृष्ण जी वृन्दावन से चले जायेंगे, यह जानकर गोपियों का भाव, श्रीकृष्ण के गोलोकधामगमन पर युधिष्ठिर जी का भाव।

मिलित (सपूर्व) का उदाहरण :- चित्रकूट में श्रीराम जी को दूर से देखकर उनके चरणों में लोटने के लिए दौड़ते हुए भरत जी, तथा भरत जी को गले लगाने के लिए दूसरी ओर से दौड़ते हुए श्रीराम जी का परस्पर भाव।
मिलित (अपूर्व) का उदाहरण :- मिथिला में भगवान् श्रीकृष्ण के आने पर ब्राह्मण श्रुतदेव जी के मन में साश्चर्य हर्षोल्लास के भाव।
कलित का उदाहरण :- रासविहार के समापन के समय गोपियों का भाव, श्रीकृष्ण जी के साथ होलिकाक्रीड़ा के बाद पटरानियों का भाव।
छलित का उदाहरण :- धनुषभंग के बाद परशुराम जी के द्वारा लक्ष्मण जी को प्राणभय दिखाने के बाद लक्ष्मण जी के मन में उठते चंचलता के व्यंगभाव।
चलित के उदाहरण :- सीताजी की अग्निपरीक्षा के बाद ब्रह्मलोक से आये हुए राजा दशरथ का विजयी श्रीराम से मिलने से उत्पन्न भाव।
क्रान्त का उदाहरण :- जिनका वे निरंतर ध्यान करते थे, उन श्रीराम के अकस्मात् सामने आ जाने पर मनोभ्रांति के संशय से बार बार हर्षयुक्त सन्देह करने वाले सुतीक्ष्ण, शबरी आदि के भाव।
विक्रांत का उदाहरण :- भगवान् हमारे सामने हैं, मोक्षमूल होकर हमारा उद्धार करेंगे, ऐसा प्रयाणकाल में शरभंग, भीष्म आदि का भाव।
संक्रांत का उदाहरण :- रास के मध्य श्रीकृष्ण जी के अनायास अंतर्ध्यान होने पर, बालयोगी नारद के चित्त में भगवान् के क्षणिक दर्शन के बाद अंतर्ध्यान होने पर उनके भाव।
विहृत का उदाहरण :- पुष्पवाटिका में श्रीराम जी के प्रथम दर्शन होने के बाद विवाहपर्यंत सीता जी के भाव।
गलित का उदाहरण :- श्रीरामराज्याभिषेक के बाद समस्त वानरसेना के अपने अपने स्थान लौटने के समय अंगद जी का भाव।
संतृप्त का उदाहरण :- शुकदेवजी, सनत्कुमार बन्धु आदि का शाश्वत ब्रह्मभाव।

आगम शास्त्रों के अनुसार चार प्रकार के प्रेमी होते हैं :-

नित्यं प्रेमपरीतात्मा कदाचित्प्रेममोहित: ।कृत्रिमप्रेमयुक्तश्च प्रेमोदारश्चतुर्थक: ॥

नित्य अगाध भावविभोर प्रेम करने वाले (गोपियाँ), कभी कभी प्रेम के कारण भावविभोर होकर फिर ब्रह्मज्ञान में स्थित होने वाले (शुकदेवजी), नित्यप्रेम के मध्य रोमांच के स्थान पर ज्ञानमार्ग और गाम्भीर्य का प्रक्षेप करने वाले (अर्जुन), प्रेमियों की बड़ी संख्या के कारण थोड़ी ईर्ष्या, थोड़ी असुरक्षा के भाव से शंकायुक्त प्रेम करने वाले (युधिष्ठिर), ये चार प्रकार के प्रेमी होते हैं। दलित वह भक्त है जो भगवान् के वियोग को सह न सके, भगवान् से क्षणमात्र भी अलग न हो सके। 'मेरे' भगवान् 'मुझसे' अदृष्ट हो जाएंगे, इस कल्पना मात्र से जो भीषण विरह ज्वाला से जलने लगता है, उसे ही हमारे शास्त्र वास्तविक दलित मानते हैं।

दृशस्तु विच्छेदे कतिचन निमित्तेन वपुषोर्विवर्णत्वं धाष्ट्र्यं दवदहनदग्धेऽङ्कुर इव।
अवस्थायामस्यां द्रवति हृदयं यत्सुखमयं भवेत्प्रेमव्यक्तं दलितमिति शब्देनफलितम्॥
(भक्तिचन्द्रिका भाष्य)

गोस्वामीजी जी 'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी' कहकर भगवान् के भक्तों के निष्कल प्रेम को दर्शाया है। आज दलित और हरिजन दोनों शब्द शूद्र वर्ण के लिए प्रयुक्त हो रहे हैं, लेकिन वास्तव में वे दलित और हरिजन का तात्विक अर्थ लें तो ही वे सम्मानित और कल्याणभोजी बन सकते हैं।

लघ्वपि भक्त्यधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् अनिंद्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।(शांडिल्यभक्तिसूत्रम्)

लघु का भी (चतुर्थ शूद्रवर्ण) भगवान् की भक्ति में अधिकार है, यदि उसके मन में छल और पाप का अभाव है, परोपकार और विनम्रता आदि सद्गुण हैं। अपनी परम्परा (जातिगत विहित कर्म) में स्थित हुआ चाण्डाल भी सामान्य ब्राह्मण आदि के ही समान हरिकीर्तन का अधिकारी है। दलितत्व और हरिजनत्व इस संसार में एक विशिष्ट स्थिति है जो मनुष्यमात्र के लिए सर्वथा ग्राह्या है। संसार से प्रेम करने पर जो वियोगजन्य दुःख होता है, वही प्रेम ब्रह्म से करने पर वियोग, विशिष्ट योग में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु समाज समझे तब तो ...

शास्त्र :- माता से रमण नहीं करना चाहिए।
कुछ लोग :- पुत्री तो माता नहीं है, उससे कर लें क्या ??
शास्त्र :- दूसरे की स्त्री से रमण नहीं करना चाहिए।
कुछ लोग :- मेरी पत्नी भी किसी अन्य की स्त्री है, उससे नहीं करें क्या ?
शास्त्र :- वह दूसरे की पुत्री है, स्त्री नहीं।
कुछ लोग :- आप पुत्री को स्त्री नहीं तो क्या पुरुष मानते हैं ?
शास्त्र :- अथातो मौनजिज्ञासा...

(आजकल कथित बुद्धिजीवियों के दरबारों में जानबूझकर ऐसे तर्क दिए जा रहे हैं)
स्नेहस्य तस्य धिक्कारो यो न चुम्बति केशवम्। उसके प्रेम को धिक्कार है जो केशव का चुम्बन नहीं करता।
थोड़े तुम दलित से हो, थोड़ा मैं दलित सा हूँ...

--*

भारत में दासप्रथा का सत्य

राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने में कुशल धूर्तों के लिए देश एवं समाज में विद्वेष के बीज बोने का कृत्य कोई नया विषय नहीं है। शूद्रवर्ण को यह कहकर शेष जनों के प्रति घृणा से भरा जा रहा है कि उन्हें शास्त्र ने 'दास' कहा है। दास प्रथा के समय उनके ऊपर अत्याचार होता था। वैसे ध्यान से देखें तो गत एक हज़ार वर्षों में, जहां देश के निवासियों का अधिकांश समय अपने धर्म, धन, सम्मान और प्राण की रक्षा के लिए युद्ध करते हुए बीता है, विधर्मियों के अत्याचारों का सामना सभी वर्ग के लोगों ने किया है। किन्तु रक्षकों को ही बड़ी धूर्तता से विधर्मियों ने इतिहास लेखन के नाम पर शोषक घोषित कर दिया, जिसका सीधा लाभ धर्मपरिवर्तन कराने वाली मिशनरियों को हुआ।

विदेशों में यहूदी, इस्लाम एवं ईसाईयत के मौलिक नियम और 'कायदे', एवं उससे भी पहले हेलेनिज़्म (यूनान), फेरॉन (मिस्र) और रोमन पैगन के समय भी गुलामी, स्लेवरी का बहुत प्रचलन था। कहीं किसी विशेष सामाजिक वर्ग, तो कहीं कहीं मात्र चमड़ी के रंग के आधार पर ही लोगों को गुलाम बना दिया जाता था, यह गुलामी कई पीढ़ियों तक चलती थी। जब धूर्तों ने भारत के इतिहास का विकृत लेखन प्रारम्भ किया तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि भारत में ऐसा कोई प्रकरण क्यों नहीं मिलता ? क्यों यहां पर कोई वर्ग दूसरे के धन आदि का अपहरण नहीं करता ?

जैसे विदेशों में सर्वोच्च स्तर पर बैठे लोग सदैव अपने को सुख से आवृत्त रखने का प्रयास करते हैं, यहां पर ब्राह्मण के लिए सबसे अधिक कठोर नियम, दण्ड विधान, त्याग और संतोष की बात क्यों है ? इसीलिए उन्होंने गुलामी एवं स्लेवरी का अनुवाद "दासप्रथा" के रूप में कर दिया। अब हमारे यहां हालांकि, शूद्रवर्ण का शास्त्रीय पदनाम "दास" ही है, किन्तु उसका सन्दर्भ "गुलाम" या "स्लेव" से कदापि नहीं है। हमारे यहां आधुनिक काल में सूरदास, तुलसीदास, रैदास, हरिदास, मतिदास, पुरंदरदास आदि अनेकों सर्वमान्य सन्त हुए हैं, जिनमें ब्राह्मण से शूद्र तक सभी सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि श्रीराम जी के काल में भी आचार्य कृष्णदास, आचार्य रामदास आदि का वर्णन आनन्द रामायण में आता है।

भारत में दास प्रथा जैसी कोई चीज थी ही नहीं। यहां दास का अर्थ बस सेवक होता था, और सेवक का तात्पर्य वह नहीं है, जो गुलाम या स्लेव का होता है। शास्त्रों में दास, दासी आदि शब्द बहुतायत से आये हैं, किन्तु वहां जो तात्पर्य है, जो व्यवहार की नियमावली है, उसका उल्लेख मैं करूँगा। विदेशी मान्यता एवं पंथों में जो गुलामी या स्लेवरी की बात है, वह अत्यंत ही बीभत्स, क्रूर, अमानवीय एवं निन्दनीय है। उसे अधिक विस्तार से पढ़ने के लिए, समझने के लिए आपको विशेष शोध की आवश्यकता नहीं पड़ने वाली, क्योंकि आज तक इसका दंश देखने को मिलता है।

हां, आप उसके भावनात्मक अनुभव को प्राप्त करने के लिए कुछ हॉलीवुड फिल्में, जैसे कि 12 Years a slave (2013), Django Unchained (2012), Glory (1989), और सबसे बढ़कर Slavery by another name (2012) आदि देख सकते हैं। रोमन, अरबी, यूनानी एवं मिस्री गुलामी के भयावह दृश्य आपको झलक Exodus: Gods and Kings (2014), Gladiator (2000) जैसी फिल्में दिखा देंगी।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

विदेशों में जिस गुलामी और स्लेवरी की बात आती है, वहां अधिकांश मामलों में गुलामों को जंजीरों में बांधकर रखा जाता था। उनसे अमानवीय व्यवहार किया जाता था। उनके आवास, भोजन आदि अत्यंत निम्नस्तरीय होते थे और वेतन की बात दूर, कई बार तो पर्याप्त वस्त्र एवं भोजन भी नहीं दिया जाता था। उनके पत्नी, बच्चे आदि के साथ क्रूर शोषण और बलात्कार होते थे एवं एक ही व्यक्ति और उसकी पत्नी एवं बच्चों को कई बार अलग अलग बेचा जाता था, जहां वे जीवन में फिर कभी नहीं मिल पाते थे।

स्त्रियों को निर्वस्त्र करके उनकी नीलामी की जाती थी, और आज भी इसका व्यापक प्रयोग होता है। इस्लामी, ईसाई एवं यूनानी आक्रांताओं ने भारत को भी ऐसे अनगिनत घाव दिए हैं। विदेशों में गुलामी एवं स्लेवरी के जो प्रारूप थे या हैं, उनके उद्धरण तो आपको कुरान, हदीस आदि में पर्याप्त स्थानों पर दिख जाएंगे किन्तु मैं कुछ आधुनिक लेखकों के सारभूत उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

Slaves were punished by whipping, shackling, beating, mutilation, branding, and/or imprisonment. Punishment was most often meted out in response to disobedience or perceived infractions, but masters or overseers sometimes abused slaves to assert dominance.
(Reference – Moore, p. 114)

गुलामों को कोड़े मारकर, जंजीरों में बांधकर, पीटते हुए, उनके अंगों को काटकर, गरम लोहे से दागकर या कैद करके दण्डित किया जाता था। ये दण्ड सामान्य बातों के लिए, जैसे कि बताए गए काम में देरी या हुक्म की नाफ़रमानी करने के लिए दिए जाते थे, किन्तु कई गुलामों के मालिक, बस अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए भी ऐसा करते थे।

Owners of slaves could legally use them as sexual objects. Therefore, slavery in the United States encompassed wide-ranging rape and sexual abuse.

(Reference – Moon, Dannell (2004). "Slavery". In Smith, Merril D. (ed.). Encyclopedia of Rape. Greenwood. p. 234)

गुलामों के मालिक उन्हें अपनी यौन तृप्ति के लिए "कानूनी तौर पर" इस्तेमाल कर सकते थे। अमेरिका में गुलामी के पैमाने यौन शोषण एवं बलात्कारों तक फैले हुए थे।

Many slaves fought back against sexual attacks, and some died resisting them; others were left with psychological and physical scars.
(Reference – Marable, p 74)

बहुत से गुलाम अपने ऊपर यौन अत्याचार होने पर उसका विरोध करते थे। कई गुलाम तो विरोध करने के ही कारण

मारे जाते थे, अन्य लोगों को मानसिक या शारीरिक जख्मों के साथ जीना पड़ता था।

Although Southern mores regarded white women as dependent and submissive, black women were often consigned to a life of sexual exploitation.

(Reference – Moon, Dannell (2004). "Slavery". In Smith, Merril D. (ed.). Encyclopedia of Rape. Greenwood. p. 234)

वैसे दक्षिणी प्रान्तों के रिवाजों में गोरे रंग की स्त्रियों को सहायता के योग्य एवं सभ्य, विनम्र समझा जाता था किंतु काले रंग की स्त्रियों का जीवन यौन शोषण के लिए है, ऐसा मानते थे।

Angela Davis contends that the systematic rape of female slaves is analogous to the supposed medieval concept of droit du seigneur, believing that the rapes were a deliberate effort by slaveholders to extinguish resistance in women and reduce them to the status of animals.
(Reference – Marable 73)

एंजेला डेविस (गुलामी के विरुद्ध कार्य करने वाली एक अमेरिकी राजनेत्री, और लेखिका) ने दावा किया कि महिला गुलामों के साथ बलात्कार की परिपाटी मध्यकाल के Droit du seigneur (Droit de cuissage) के समकक्ष है, जिसके तहत यह माना जाता था कि गुलामों के साथ बलात्कार करने से उनके अंदर विरोध एवं विद्रोह की भावना समाप्त हो जाती है एवं उनका स्तर गिरकर जानवरों के जैसा हो जाता है। (इसका व्यापक प्रचलन इस्लामी गुलामों के विरुद्ध देखा जाता है। आज भी तहर्रुश गेमिया के नाम से यह किया जा रहा है)

Droit du seigneur (Droit de cuissage) वह कानून था, जिसके अनुसार राजा या उसके अधिकारियों को यह कानूनी अधिकार मिला हुआ था कि किसी भी गुलाम या सामान्य व्यक्ति की शादी होने पर उसकी दुल्हन के साथ पहली रात राजा या उसके अधिकारी ही बिताएंगे और आगे भी इच्छा होने पर वे ऐसा कर सकते हैं। ये दुष्कर्म अंग्रेजों ने भारत के भी कई भागों में किया था।

The women he hoisted up by the thumbs, whipp'd and slashed her with knives before the other slaves till she died.

(Reference – Lasgrayt, Deborah. Ar'n't I a Woman? : Female Slaves in the Plantation South 1999)

(बलात्कार का विरोध करने वाली गुलामों को) अंगूठे से बांधकर टांग दिया जाता था, उसपर कोड़े बरसाए जाते थे, और दूसरे गुलामों के सामने ही उसपर तब तक चाकुओं से वार किया जाता था, जब तक वह मर नहीं जाती थी।

Alligator hunters would sit crying black babies who were too young to walk at the water's edge. With rope around their necks and waists, the babies would splash and cry until a crocodile snapped on one of them. The hunters would kill the alligator only after the baby was in its jaws, trading one child's life for one alligator's skin. They made postcards, pictures and trinkets to commemorate the practice.

(Reference – Miami New Times article)

मगरमच्छ का शिकार करने वाले लोग, रोते हुए काले (गुलामों के) बच्चों को नदी के किनारे बैठा देते थे। वे बच्चे इतने छोटे होते थे कि चल भी नहीं सकते थे। उन बच्चों के कमर और गर्दन रस्सियों से बंधे होते थे और वे रोते हुए नदी के पानी में तब तक छटपटाते थे, जब तक कोई मगरमच्छ उनपर झपट्टा न मारे। शिकारी भी मगरमच्छ को तभी मारते थे, जब मगरमच्छ उस बच्चे को अपने जबड़े में खींच लेते थे, और इस प्रकार मगरमच्छ की चमड़ी का सौदा एक बच्चे की जान से होता था। इस घटना-विशेष की स्मृति ताज़ा करने के लिए वे इसके सम्मान में स्मरणोत्सव मनाते थे और इसके चित्र और पोस्टकार्ड छपवाते थे।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से आपको एक आंशिक झलक मिल गई होगी कि विदेशों में गुलामी या स्लेवरी का क्या भयावह रूप था। अब उन्हीं अत्याचारियों ने जब भारत ने इसका अनुवाद दास प्रथा के रूप में कर दिया, तो साथ ही यह भ्रम फैला दिया कि यही सब भारत में भी होता था, जहां दास का अर्थ शूद्र है। यह नितांत ही असत्य एवं भ्रामक था। हमारे यहां कभी ऐसी क्रूरता का समर्थन समाज या शास्त्र नहीं करते। काले गोरे के रंगभेद के आधार पर गुलामी आदि की बात तो बिल्कुल नहीं है। रंगभेद का एकमात्र प्रख्यात उदाहरण आचार्य चाणक्य के साथ देखने को मिलता है, जहां धनानन्द ने काला ब्राह्मण होने से चाणक्य का अपमान किया था। वहां भी गुलामी की नहीं, अपमान की बात थी और वह भी शूद्र नहीं, ब्राह्मण के ही साथ। इसी गलती को निमित्त बनाकर आचार्य चाणक्य ने बाद में तो पूरा नन्दवंश ही उखाड़ फेंका था। आज भी विदेशों में Freeman की उपाधि लगाकर लोग घूमते हैं, जो यह दिखाता है कि कैसे उनके पूर्वज गुलाम थे। उदाहरण के लिए मॉर्गन फ्रीमैन का ही नाम देख लें। कुछ लोग भारत में न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति के आधार पर कहते हैं कि स्त्रियों का जीवन गुलामी के लिए है, ऐसी बात है। यह भी एक वामपंथी भ्रम ही है। उन श्लोकों में पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने आदि की बात है। वहां स्त्री की रक्षा करने की बात है, और *रक्षा का अर्थ जंजीरों में बांधकर कोड़े बरसाना नहीं होता* । आईये, हम सनातन शास्त्रों में दास-दासियों के विषय में दिए गए निर्देशों में से कुछ उदाहरण देखते हैं।

दास शब्द का सामान्य अर्थ सेवक, परिचारक, किंकर और एकदम सरल शब्दों में नौकर आदि है, किन्तु इसका अर्थ बन्धक गुलाम नहीं होता है। आप नौकरी करते हैं न, चाहे सरकारी (राजकीय) या प्राइवेट (व्यक्तिगत), यही दास्यकर्म है। दास का अर्थ वही है, जो आपकी सरकारी या प्राइवेट नौकरी का है। लोग बड़े गर्व से कहते हैं आजकल कि मेरा बेटा नौकरीपेशा है, या मेरा दामाद सर्विस करता है, और यहां तक ठीक है, यदि हम कहें कि दास्यकर्म करता है, तो

गलत ? क्यों ? क्योंकि अंग्रेजों ने दास शब्द को, दास प्रथा को अपने यहां की क्रूर गुलामी और स्लेवरी से जोड़ कर दिखा दिया।

यूपीएससी को भी लोकसेवा आयोग कहते हैं। सेवक का अर्थ दास ही है। हनुमान जी भगवान् श्रीराम के दास हैं, गुलाम नहीं - दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य। कामशास्त्र में प्रेमी या पति को अपनी प्रेमिका या पत्नी का दास बताया गया है, वैसे ही पत्नी भी पति की दासी है। हमारे यहां इसीलिए रैदास (रविदास), तुलसीदास आदि भी हुए, ये गुलाम या स्लेव नहीं थे। दास शब्द किसी शोषण या अत्याचार का प्रतीक नहीं, विनम्रता, सेवाभाव, अहंकारहीनता का प्रतीक था। आज भी लोग समाज'सेवा' करते हैं न। हां, यह अवश्य है कि कहीं कहीं वचन है कि कोई व्यक्ति दासकर्म न करे, किन्तु वहां भाव है कि उसे अपनी आजीविका के लिये किसी अन्य के दिए गए वेतन पर आश्रित न रहना पड़े, अपितु वह स्वरोजगार करे। बड़े बूढे कहते भी थे – "अधम चाकरी" … मिताक्षरा में वचन है,

कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च। अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥

कर्म के भी दो प्रकार हैं, एक शुभ एवं दूसरा अशुभ। दासकर्म को अशुभ तथा स्वकृत को शुभ कहते हैं।

शूद्रवर्ण, जिनके लिए दास शब्द का उल्लेख है, उन्हें व्यक्तिगत दास्यकर्म (नौकरी) के लिए कम, और स्वकर्म का अधिक अवसर दिया गया था। जितने भी समाज के आधारभूत कर्म हैं, वे सभी एक एक जाति के लिए सहज ही आरक्षित थे। जैसे सोने चांदी का सारा काम सुनार, लोहे का लुहार, पीतल कांसे का ठठेरा, तेल का तेली, कपड़े बुनने का बुनकर, कपड़े सिलने का दर्ज़ी, कपड़े रंगने का रंगरेज, कपड़े धोने का धोबी, मिट्टी का सारा काम कुम्हार, सौंदर्य प्रसाधन की सैरंध्री - नाई आदि, पानी भरने और वितरण का कहार, भिश्ती, आदि … सबके कर्तव्य निश्चित थे। हां, इसके बाद यदि आजीविका में कोई समस्या आये, तब उसके लिए नौकरी करने यानी दास बनने की बात थी। वहां भी उसे पर्याप्त अवकाश, वेतन आदि की सुविधा रहती थी, जैसे आज की नौकरी में है।

शब्दकल्पद्रुम में दास शब्द की परिभाषा में यह भी कहते हैं – दास्यते दीयते भूतिमूल्यादिकं यस्मै सः (दासः) जिसे भूतिमूल्य आदि दिया जाए, उसे दास कहते हैं। भूति का अर्थ सम्पत्ति भी है और सत्ता भी है। सत्ता का अर्थ शब्दकल्पद्रुम में साधुता एवं अच्छा व्यवहार भी बताया गया है। भूति का अर्थ उत्तरोत्तरवृद्धि भी है। अर्थात् दासों को उनके अच्छे कर्म का वेतन, धन, मूल्य आवश्यक वेतनवृद्धि, क्रमशः बढ़ते हुए वेतनमान के साथ मिलता था। दास का अर्थ किंकर भी होता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का किंकर है।

विप्रस्य किङ्करा भूपो वैश्यो भूपस्य भूमिप। सर्वेषां किङ्कराः शूद्रा ब्राह्मणस्य विशेषतः॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, गणपतिखण्ड, अध्याय ३४, श्लोक – ५९)

ब्राह्मण का किंकर राजा है। राजा का किंकर वैश्य है। वैश्य का किंकर शूद्र है और शूद्र सबका, विशेषकर ब्राह्मण का किंकर है। किंकर का अर्थ गुलाम नहीं होता, आदेशपालक होता है। "मैं क्या करूँ ?", "मेरे लिए क्या आज्ञा है ?"

ऐसे प्रश्न करने वाला किंकर है। हनुमानजी महाराज को प्रभु श्रीराम का किंकर बताया गया है - पातु श्रीरामकिङ्करः। रघुवंशम् में कुम्भोदर सिंह ने राजा दिलीप को स्वयं का परिचय शिव जी के किंकर के रूप में दिया है – अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः। राजा ब्राह्मण से पूछता है कि मैं क्या करूँ ? मैं कैसे राज्य चलाऊँ कि धर्मानुसार सब प्रजा सुखी रहे, इसीलिए वह ब्राह्मण का किंकर है। वैश्य, राजा से पूछता है कि मैं क्या करूँ ? राज्य के नियमों के अनुसार अर्थव्यवस्था के अनुकूल कौन सी व्यापार नीति अपनाऊं ? , इसीलिए वह राजा का किंकर है। शूद्र, चूंकि उत्पादक (Primary Production Sector) वर्ग है, और वैश्य वितरणकर्ता (Secondary or Tertiary Sector) है, अतएव शूद्र वैश्य से पूछता है कि मैं क्या करूं ? क्या बनाऊं, किस वस्तु का, किस गुणवत्ता अथवा कितनी मात्रा में उत्पादन करूँ ? इसीलिए वह वैश्य का किंकर है। विशेषकर ब्राह्मण का किंकर इसीलिए है, क्योंकि ब्राह्मण के सदुपदेश से उसे कर्तव्य की शिक्षा मिलेगी तो वह शेष दायित्वों का वहन सहजता से कर लेगा। किंकर को ही दास भी कहते हैं, दास को ही भृत्य भी कहते हैं।

भृत्य अथवा दास का काम शुश्रूषा बताया गया है। शुश्रूषा के कई अर्थ हैं, जैसे कि – सुनने की इच्छा, सेवा, उपासना आदि। स्वामी के दिये गए निर्देशों को सुनने की इच्छा रखना, उसकी सेवा करना आदि दास के कर्तव्य हैं। अब यदि दास पर अत्याचार होगा तो वह भला क्यों अपने स्वामी के आदेश सुनने की इच्छा रखेगा ? सेवा का भाव भी तभी उत्पन्न हो सकता है, जब स्वामी उसके प्रति सद्व्यवहार करे। भृत्यकर्म को ही दास्यकर्म भी कहते हैं। भृत्यों के भी कई भेद हैं। उत्तम, मध्यम एवं अधम भृत्यों के सन्दर्भ में शास्त्रों का वचन है कि जैसे सोने की परख उसके वजन, घर्षण, छेदन एवं ताप आदि परीक्षणों से होती है, वैसे ही सामाजिक प्रशंसा, अच्छा आचरण, कुल और कार्यकुशलता से भृत्य की परीक्षा ली जाती है।

भृत्या बहुविधा ज्ञेया उत्तमाधममध्यमाः। नियोक्तव्या यथार्थेषु त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥
भृत्यपरीक्षणं वक्ष्ये यस्य यस्य हि यो गुणः। तमिमं संप्रवक्ष्यामि यद्यदा कथितानि च ॥
यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, तुलाघर्षणच्छेदनतापनेन।
तथा चतुर्भिर्भृतकः परीक्ष्यते, श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥
(गरुड़ पुराण, आचारकाण्ड, बार्हस्पत्यनीति, अध्याय – ११२, श्लोक – ०१-०३)

शास्त्रों में दास के कई भेद हैं, जिनमें क्रीतदास (ख़रीदा हुआ व्यक्ति) भी है। इसका एक उदाहरण हम राजा हरिश्चंद्र और वीरबाहु चांडाल के प्रकरण में देखते हैं। किन्तु क्रीतदास को भी पूरी सुविधा और वेतन आदि मिलते थे। (हरिश्चंद्र के साथ अत्याचार इसीलिए हुआ क्योंकि उनकी सत्यनिष्ठा की धार्मिक परीक्षा हो रही थी, और वह चांडाल, ब्राह्मण आदि माया के थे) ऐसे ही एक दास का प्रकार वह है जो ऋण न चुकाने की स्थिति में दास बन गया हो, ऐसे में वह व्यक्ति ऋण के समतुल्य परिश्रम करके, अथवा किसी और व्यक्ति के द्वारा ऋण चुका देने पर स्वतः मुक्त हो जाता था। इसमें कोई पीढ़ी दर पीढ़ी की गुलामी की बात नहीं थी। पिता के मरने पर नियमतः उसका लिया गया ऋण चुकाने के लिए उस व्यक्ति की पत्नी या पुत्र बाध्य नहीं हैं। हां, यदि अपने पिता को पारलौकिक कष्ट से बचाने के लिए पुत्र या पत्नी उस ऋण को चुका दें, तो यह उनकी अपनी अलग सत्यनिष्ठा है।

दास्यते भृतिरस्मै दासति ददात्यङ्गं स्वामिने उपचाराय वा दासः।
(वाचस्पत्यम्)

वाचस्पत्यम् का वचन है कि जिसे 'भृति' दी जाए, और जो (भृति लेने के बदले) अपने अंग (शरीर) को स्वामी के उपचार (सेवा) के लिए समर्पित करे, उसे दास कहते हैं। अमरकोश में भृति का अर्थ वेतन, एवं मेदिनीकोश में भृति का अर्थ भरण बताया गया है। अर्थात् जो व्यक्ति भरण पोषण के बदले अथवा वेतन लेकर स्वामी की सेवा करे, वह दास है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कैसे विदेशों के गुलाम या स्लेव, और हमारे यहां के दास-दासी आदि में व्यापक अंतर है, एवं क्यों सेल्वरी या गुलामी को हम दासप्रथा नहीं कह सकते। जहां विदेशों में गुलामों को पीट पीट कर मारने की बात सामान्य है, वहीं वाचस्पत्यम् आगे स्मृतिवाक्य से कहता है,

यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत् प्राणसंशयात्। दासत्वात् स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत चेति॥

जो (दास) अपने स्वामी को प्राणसंकट से बचाता है, वह दासत्व से मुक्त होकर पुत्र के समान हो जाता है। (यहां तक कि उसका अपने स्वामी की सम्पत्ति में भी अधिकार हो जाता था) किन्तु विदेशों में पुत्र बनना तो दूर, यदि मालिक के सम्बन्धी भी कोई अपराध करें और उसका आरोप गुलाम पर आ जाये, तब बिना किसी जांच के गुलाम को मृत्युदंड तक दे दिया जाता था –

A female slave was sent on an errand, and was gone longer than her master wished. She was ordered to be flogged, and was tied up and nearly beaten to death. While the overseer was whipping her, in the presence of her master, she said that she had been prevented returning sooner by sickness on the way. Her enraged master ordered her to be whipped again for daring to speak, and the lash was again applied, until she expired under the operation. Nor was her life alone sacrificed. An unborn infant died with her, which had been the cause of her delay on her master's errand.

(Proceedings of the New-England Anti-Slavery Convention, held in Boston on the 27th, 28th and 29th of May, 1834. Boston.)

New-England Anti-Slavery Convention, जो मई, १८३४ की २७-२९ तारीख तक बॉस्टन में चला था, उसमें गुलामों की स्थिति पर अनेक घटनाओं के उदाहरण देते हुए कहा गया था – एक स्त्री गुलाम को किसी कार्य से भेजा गया था किंतु उसने आने में कुछ देर कर दी। मालिक को यह देरी पसन्द नहीं थी, इसीलिए उसे (बाकी गुलामों को आदेश देकर) कोड़े मारे गए, और बांध कर लगभग अधमरा होने तक पीटा गया। जब गुलामों का प्रभारी उसे पीट

रहा था, तब उस महिला ने कहा कि रास्ते में उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया था इसीलिए उसे देरी हो गयी। (चूंकि महिला गुलाम गर्भवती थी, तो शायद गर्भावस्थाजन्य शारीरिक थकान, भार, तनाव आदि से वह शीघ्रता में न आ सकी) उसकी बात सुनने से मालिक का गुस्सा और बढ़ गया, उसने मालिक से "जुबान लड़ाने" के कारण उसे और अधिक कोड़े लगाए और अंततः वह उस पिटाई के कारण मर गयी। केवल उसने ही अपने प्राण नहीं दिए, अपितु उसके पेट में पल रहा अजन्मा बच्चा भी मर गया, क्योंकि उस बच्चे के कारण ही महिला गुलाम को आने में देर हो गयी थी।

Another case occurred, where a black boy was whipped for stealing a piece of leather, and because he persisted in denying it, he was whipped till he died. After he was dead, his master's son acknowledged that he took the piece of leather.

(बॉस्टन के १८३४ वाले उसी अधिवेशन में यह बात भी बताई गई कि) एक काले गुलाम लड़के को कोड़े मारे जा रहे थे। उसपर चमड़े के एक टुकड़े को चुराने का आरोप लगाया गया था, और चूंकि उस बच्चे ने इस आरोप का खण्डन किया और कहा कि उसने चोरी नहीं की है, तो मालिक ने उसे तब तक कोड़े मारे, जब तक वह बच्चा मर नहीं गया। उस बच्चे के मर जाने के बाद, मालिक के बेटे ने यह बताई कि वास्तव में उसने (मालिक के बेटे ने) ही चमड़ा लिया था।

A slave, who was a husband and father, was made to strip his wife and daughter, and whip them.

(New-England Anti-Slavery Society (1835). Second annual report of the board of managers of the New-England Anti-Slavery Society)

संस्था के १८३५ में हुए दूसरे वार्षिक सम्मेलन में पुनः ऐसी ही चर्चाओं में एक उदाहरण दिया गया – "एक गुलाम, जो एक पिता और पति भी था, उसे विवश किया गया कि वह अपनी पत्नी और बेटी को निर्वस्त्र करके उनपर कोड़े बरसाये।"

During his term of bondage, the indentured servant received no monetary payment. His hours and conditions of work were set absolutely by the will of his master who punished the servant at his own discretion. Flight from the master's service was punishable by beating, or by doubling or tripling the term of indenture. The bond-servants were frequently beaten, branded, chained to their work, and tortured.

अपने गुलामी के सत्र में गुलामों को कोई वेतन नहीं दिया जाता था। उनके काम करने का समय और परिस्थितियों का निर्णय मालिक की इच्छा पर होता था, जो उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार ही दण्डित करता था। यदि गुलाम मालिक की गुलामी छोड़कर भाग जाता था, तो उसे पकड़ कर पीटा जाता था, अथवा उसके गुलामी के सत्र को बढ़ाकर दो या

तीन गुणा कर दिया जाता था। गुलामों को काम के दौरान अक्सर बांध कर रखा जाता था, पीटा जाता था, गर्म लोहे से दागा और प्रताड़ित किया जाता था।

Washington Telegraph ने २९ अगस्त, १८३५ के अपने अंक में प्रथम पृष्ठ पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी, जिसमें एक गुलामों के मालिक के विचार दिए गए थे, जिसने कहा था –

We .... deny that slavery is sinful or inexpedient. We deny that it is wrong in the abstract. We assert that it is the natural condition of man; that there ever has been, and there ever will be slavery.

(Washington Telegraph. August 29, 1835)

"हम इस बात से इंकार करते हैं कि गुलामी/स्लेवरी करवाने में कोई पाप या अनैतिकता की बात है। गुलामी करवाना भावनात्मक रूप से गलत है, हम इस बात से भी इंकार करते हैं। हम इस बात के लिए आश्वस्त करते हैं कि गुलामी, लोगों की एक प्राकृतिक स्थिति है, ये हमेशा से थी और हमेशा रहेगी।"

आप समझ सकते हैं कि म्लेच्छों की मानसिकता किस स्तर की थी, कि उन्हें गुलामों के प्रति इतने अत्याचार करने के बाद भी "यह पाप है", इसकी तक समझ नहीं थी। इसी मानसिकता के कारण उन्होंने भारत में कई आक्रमण किये, कभी अरबी, कभी तुर्क, कभी मुगल, कभी पुर्तगाली, कभी अंग्रेज तो कभी यूनानियों के रूप में ... वे गुलामी को प्राकृतिक मानते हैं और पूरे संसार को अपना गुलाम बनाने को अपना अधिकार समझते हैं। एक उदाहरण और देखें –

Joe's mother was ordered to dress him in his best Sunday clothes and send him to the house, where he was sold, like the hogs, at so much per pound. When her son started for Petersburgh, ... she pleaded piteously that her boy not be taken from her; but master quieted her by telling that he was going to town with the wagon, and would be back in the morning.

Morning came, but little Joe did not return to his mother. Morning after morning passed, and the mother went down to the grave without ever seeing her child again. One day she was whipped for grieving for her lost boy.... Burwell never liked to see his slaves wear a sorrowful face, and those who offended in this way were always punished. Alas! the sunny face of the slave is not always an indication of sunshine in the heart.

(Reference – Keckley, Behind the Scenesor, Thirty years a slave, and Four Years in the White House, 1868, p. 12)

'जो' की माँ को यह आदेश मिला कि वह उसे (जो को) अच्छे से अच्छे कपड़ों में तैयार करके भेज दे, जहाँ उसे (जो को) बेचा गया। सूवरों की भांति, जो को बेचा गया, अधिक से अधिक दाम देने वाले को। जब बेटे (जो) को पीटर्सबर्ग के लिए रवाना किया गया, तो जो की माँ ने कातर होकर प्रार्थना की, कि उसके बेटे को उससे न छीना जाय, लेकिन मालिक ने उसे यह कहकर चुप करा दिया कि 'जो' केवल गाड़ी के साथ शहर तक जा रहा है, अगली सुबह तक लौट आएगा।

सुबह हुई, किन्तु छोटा 'जो' नहीं लौटा। ऐसी कई सुबहें आयीं किन्तु 'जो' नहीं आया, और उसकी माँ अपनी मृत्यु तक उसे न देख सकी। एक दिन अपने खोए बच्चे का शोक मनाने के कारण 'जो' की माँ को कोड़े भी मारे गए थे, क्योंकि बॉर्वेल (मालिक) को अपने गुलामों के उदास चेहरे देखना पसन्द नहीं था। जो गुलाम उदास रहते थे, उन्हें मालिक का "अपमान" करने के कारण कोड़े मारे जाते थे। गुलाम के चेहरे की खुशी का मतलब यह नहीं, कि उसका दिल भी खुश है।

१७१२ ई० में South Carolina Code बनाया गया था, जो उत्तरी अमेरिका में गुलामी के कायदों के आधार पर लिखा गया था और उसे बाद में जॉर्जिया और फ्लोरिडा आदि में भी लागू किया गया था। उसके नियमों में से एक का उदाहरण देखें –

The 1712 South Carolina slave code included the following provisions –

No slave could work for pay; plant corn, peas or rice; keep hogs, cattle, or horses; own or operate a boat; buy or sell, or wear clothes finer than "Negro cloth".

कोई भी गुलाम वेतन नहीं ले सकता था। अपने लिए खेती नहीं कर सकता था, अपने लिए सूअर, गाय, घोड़े आदि नहीं पाल सकता था, अपनी नाव नहीं रख या चला सकता था, अपनी इच्छा से किसी वस्तु की खरीद बिक्री नहीं कर सकता था अथवा उनके लिए निर्धारित कपड़ों से बेहतर कपड़े नहीं पहन सकता था। हालांकि यह कानून बाद में संशोधित किया गया था और नए नियमों में कुछ बिंदु इस प्रकार के थे –

The South Carolina slave code was revised in 1739, with the following amendments –

No slave could be taught to write, work on Sunday, or work more than 15 hours per day in summer and 14 hours in winter. A fine of $100 and six months in prison were imposed for teaching a slave to read and write; the death penalty was imposed for circulating incendiary literature.

किसी भी गुलाम को पढ़ाना लिखाना (शिक्षा देना) प्रतिबंधित था। उससे गर्मियों में पन्द्रह एवं सर्दियों में चौदह घण्टों से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। (संशोधन के बाद यह स्थिति थी, उससे पहले की कल्पना आप कर सकते हैं) गुलामों को शिक्षा देने वाले व्यक्ति को सौ डॉलर का जुर्माना एवं छः मास की कैद का दण्ड मिलता था। उन्हें

भड़काऊ शिक्षा देने वाले को मृत्युदण्ड दिया जाता था।

Children, especially young girls, were often subjected to sexual abuse by their masters, their masters' children, and relatives.

(Reference – Painter, Nell Irvin, "Soul Murder and Slavery: Toward A Fully Loaded Cost Accounting," U.S. History as Women's History, 1995, p 127)

बच्चे, विशेषकर छोटी लड़कियों का यौन शोषण उनके मालिक, मालिक के बेटों या उनके रिश्तेदारों के द्वारा अक्सर किया जाता था। गुलामों को अक्सर गुलामी के तस्कर खरीदते और बेचते थे। यह सब विदेशों में आज भी व्यापकता से होता है। किन्तु चूंकि भारत में गुलामी या स्लेवरी नहीं थी, यहां केवल दास थे, तो सनातनी शास्त्र दासों के विषय में क्या निर्देश करते हैं ?

बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते।

ऐसा स्मृतिकार याज्ञवल्क्य का वचन है। जिसे बलपूर्वक दास बना लिया गया हो, तस्करों के द्वारा बेच दिया गया हो, उसे दासत्व से मुक्त कर देना चाहिए। अर्थात् यदि आप अपने घर के लिये या व्यापार के लिए किसी को नौकरी पर रखते हैं तो उसे बलपूर्वक या मानव-तस्करों के द्वारा खरीद बेच कर दास नहीं बनाया हुआ होना चाहिए।

बालधात्रीमदासीञ्च दासीमिव भुनक्ति यः। परिचारकपत्नीं वा प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥

जो छोटे उम्र की दासी, (अथवा छोटे बच्चे की देखभाल करने वाली दासी), जो दासत्व से मुक्त है, ऐसी स्त्री, अथवा अपने दास की पत्नी का (यौन) उपभोग करता है, उसे पूर्व साहस का दण्ड देना चाहिए। (कई बार घर की बुरी स्थिति के कारण छोटी बच्चियां भी नौकरानी का काम करने लगती हैं) ऐसा स्मृतिकार कात्यायन का वचन है।

तेन लोभादिवशादसौ न मुक्तस्तदा राज्ञा मोचयितव्य इत्याह नारदः।
चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात्। राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यन्तेषु हि नेष्यते॥

यदि लोग लोभवश बलपूर्वक बनाये हुए अथवा तस्करी से लाये गए दासों को मुक्त न करें तो राजा अपने हस्तक्षेप से उन्हें मुक्त कराए, क्योंकि ऐसे लोग दासत्व के योग्य नहीं होते हैं, ऐसा स्मृतिकार नारद का वचन है। वाग्व्यवहारादर्श, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं अग्निपुराण आदि का शासकों के प्रति आदेश है कि –

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च। गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत् पणिकं दमम्॥

जिन स्त्रियों को बंधक (जेल आदि में) बनाया गया हो, जो स्त्रियां दासी हों, जो स्त्रियां (प्रमुखतः वेश्याएं) किसी और के उपभोग लिए पहले से नियुक्त हों, (अथवा जिनका विवाह आदि किसी और के साथ निश्चित हो), उनका उपभोग करने वाले व्यक्ति को पचास पण का दण्ड राजा दे। (यहां पर किसी जाति, वर्ण ये चमड़ी के रंग की बात नहीं है, सबों के लिए यह नियम है। किंतु विदेशों की स्लेवरी में ऐसा नहीं था)

Free or white women could charge their perpetrators with rape, but slave women had no legal recourse; their bodies legally belonged to their owners.

(Reference – Block, Sharon. "Lines of Color", 137.)

स्वतन्त्र या गोरी स्त्रियां अपने अत्याचारियों पर बलात्कार का कानूनी आरोप लगा सकती थीं, किन्तु काली और गुलाम स्त्रियों के पास ऐसा कोई कानूनी अधिकार नहीं था, क्योंकि उनके शरीर पर उनके मालिकों के संवैधानिक अधिकार थे।

अंग्रेज, अरबी, रोमन, पुर्तगाली, अमरीकी आदि के यहां तो यह बात थी ही, ऐसे लोग जहां जहां गए, वहां वहां इस पाप को फैलाते गए और जब भारत में वे अधिक सफल न हुए तो काले गोरे के आधार पर आर्य, द्रविड़, दलित, सवर्ण का द्वेषबीजारोपण कर दिया। स्वयं शिक्षा पर प्रतिबंध लगाने वाले लोगों ने शूद्रों को भ्रमित किया कि शूद्रों को ब्राह्मण शिक्षा देने से रोकते थे। इस बात के अधिक विवेचन के लिए "शूद्र कौन थे – अवलोकन एवं समीक्षा" में डॉ त्रिभुवन सिंह के द्वारा दिये गए ऐतिहासिक दस्तावेज के प्रमाणों से आप यह जान सकते हैं कि कैसे अंग्रजों के आने से पहले तक भारतीय गुरुकुलों में शूद्र छात्रों की संख्या ब्राह्मण छात्रों से *कई गुणा अधिक* थी।

आज भी जहां जहां सनातन धर्म का बाहुल्य नहीं है, दूर के देशों की बात रहने भी दें तो कल तक के भारतीय अंश, पाकिस्तान और बांग्लादेश में ही देखें कि प्रतिदिन सैकड़ों हिन्दू लड़कियों को अगवा करके उनपर बलात्कार किये जाते हैं। उनकी धूर्तता देखिये, उनके ही कानूनों से –

१) यदि कोई मुसलमान किसी गैर मुसलमान यानी काफिर लड़की से बलात्कार करता है, तो उसे *बलात्कार माना ही नहीं जाएगा,* क्योंकि काफिरों की स्त्री, सम्पत्ति के उपभोग का जन्मसिद्ध अधिकार मुसलमान का होता है।

२) यदि लड़की चार मुसलमान गवाह अपने समर्थन में खड़ी न कर सके तो उसपर किया गया *बलात्कार सिद्ध नहीं होगा,* भले ही उस बलात्कार के साक्षी सैकड़ों गैर मुसलमान लोग क्यों न हों।

३) यदि किसी को चार मुसलमान खड़े होकर कहें कि उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया है, तो उस व्यक्ति को *मुसलमान मान लिया जाएगा।*

४) एक बार इस प्रकार से मुसलमान सिद्ध हो जाने पर यदि वह व्यक्ति इससे इंकार करता है तो उसपर कुफ्र का आरोप लगाकर *मृत्युदण्ड दिया जाएगा।*

अब देखिए, पहले तो हिन्दू लड़की पर बलात्कार हुआ, ऐसा कोई केस बनेगा ही नहीं। यदि बन भी गया तो यदि वह लड़की इसके प्रमाण में चार मुसलमान गवाह नहीं ला सकी तो केस निरस्त हो जाएगा, वैसे भी ऐसे मामलों में एक मुसलमान दूसरे मुसलमान के विरुद्ध गवाही नहीं देता। फिर बलात्कारी और उसका परिवार मिलकर लड़की को, भले ही वह अगवा की गई हो, मुसलमान घोषित कर देता है, और इसके बाद यदि वह लड़की इससे इंकार करती है, तो उसे मार दिया जाता है। इन्हीं विचारधारा के इस्लाम और ईसाईयत के साथ हाथ मिलाकर वामपंथी षड्यंत्रकारी संस्थाएं, पैसा और हथियार के दम पर शूद्रों को ब्राह्मणों के विरुद्ध अफवाहों का आश्रय लेकर भड़काती हैं और देश को

खण्डित कर रही हैं। इन्होंने अपने यहां की स्लेवरी और गुलामी को हमारे यहां की दासप्रथा बताकर उस बात का आरोप हमारे धर्म पर लगा दिया जो हमने कभी न किया और न करने की सोची, उल्टे हमारे यहां दण्डनीय बताया गया है। हमारे शास्त्र कहते हैं –

विद्यादाताऽन्नदाता च भयत्राता च जन्मदः। कन्यादाता च वेदोक्ता नराणां पितरः स्मृताः॥

....

भृत्यः शिष्यश्च पोष्यश्च वीर्यजः शरणागतः। धर्मपुत्राश्च चत्वारो वीर्यजो धनभागिति॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणपतिखण्ड, अध्याय – ०३)

विद्या देने वाला, आजीविका या अन्न देने वाला, भय के समय रक्षा करने वाला, जन्म देने वाला और कन्यादान करने वाला, इन्हें वेदों के अनुसार लोगों का पिता कहा गया है। ऐसे ही भृत्य (दास), शिष्य, जिसका हमने पालन किया है, जो हमारे वीर्य से उत्पन्न हुआ हो, अथवा हमारी शरण में आया हो, इनमें से जो वीर्य से उत्पन्न हुआ हो, उसे धन में उत्तराधिकारी पुत्र कहा गया है और शेष चारों को धर्मपुत्र कहा गया है।

इसमें धर्मपुत्र के साथ भी (धन के उत्तराधिकार को छोड़कर) अपने बेटे जैसा ही व्यवहार होगा। (ध्यान रहे, धर्मपुत्र में भृत्य अर्थात् दास भी आता है और यदि उसने स्वामी की प्राणरक्षा की हो तो फिर धन में भी भाग लेने का अधिकारी हो जाता है) जहां जहां शास्त्रों में राजा के लिए अपने दासों के प्रति कर्तव्य की बात आई है, वहां वहां राजा का अर्थ सामान्य स्वामी से भी लिया जा सकता है, क्योंकि नियम वही रहते हैं। स्वयं महारानी द्रौपदी का महारानी सत्यभामा के प्रति निम्न वचन देखें –

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः। कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः। मणीन्हेम च विभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः॥
तासां नाम च रूपञ्च भोजनाच्छादनानि च। सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम्॥
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय – २३४, श्लोक – ४८-५०)

महात्मा कुन्तीपुत्र (युधिष्ठिर) की एक लाख दासियाँ थीं, जो अपने शंख के बने हुए बाजूबंद एवं कंठ में सोने के हार धारण करके अलंकृत रहती थीं। बहुत सी बहुमूल्य मालाओं को धारण करने वाली, सुंदर वेश भूषा से युक्त, चंदन आदि से अलंकृत, सोने और मणियों से चमकती हुई, नृत्य-गीत आदि में कुशल थीं। मैं (द्रौपदी) उन सभी दासियों के नाम, रूप, भोजन, आवास आदि की व्यवस्था को जानते हुए उनके द्वारा कौन सा कार्य किया गया है, और कौन सा नहीं, इसका ध्यान रखती थी।

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः। अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय – ६२, श्लोक – ३८)

जो लोग बालकों को, वृद्धों को एवं दासों को बिना (भोजन) दिए ही, स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे नरक में जाते हैं।

(क्या आप विदेशी स्लेवरी या गुलामी में इस उदारता की कल्पना कर सकते हैं ?) शास्त्रों में यदि अपना पुत्र भी शास्त्रोक्त संस्कार से हीन हो, तो वह दास ही है, ऐसा उल्लेख है।

चूडाद्या यदि संस्कारा निजगोत्रेण संस्थिताः। दत्ताद्यास्तनयास्तेस्युरन्यथा दास उच्यते॥
(कालिका पुराण, और्वनीति, अध्याय – ८८, श्लोक – ४०)

हे महाराज (सगर !) अपने (पिता) के गोत्र से जिसका मुंडन आदि संस्कार सम्पादित हुआ है, वही पुत्र/तनय कहाता है, अन्यथा दास कहाता है।

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ। ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय – ५९, श्लोक – ४०-४२)

पैजवन नामक शूद्र ने ऐन्द्राग्नेय विधान से यज्ञ करके एक लाख दक्षिणा दी थी, ऐसा हमने सुना है। यहां ध्यातव्य है कि यह विधान पाकयज्ञ का है, जिसमें वेदमन्त्रों का, स्वाहाकार, आदि का प्रयोग नहीं होता है।

ब्रह्मयज्ञादन्ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेव -होमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः।

ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त जो पञ्चमहायज्ञ में वैश्वदेव बलिकर्म, होम, नित्यश्राद्ध, अतिथिभोजन आदि चार हैं, वे पाकयज्ञ कहाते हैं। इसमें द्विजाति के लिए समन्त्रक एवं शूद्र के लिए अमन्त्रक विधान है। यह पैजवन नाम का शूद्र, परम् विष्णुभक्त था एवं इसने गालव ऋषि से धर्ममार्ग का ज्ञान प्राप्त किया था। गुलाम और स्लेव के साथ विदेशों में जो व्यवहार के नियम बनाये गए थे, उनके उदाहरण तो आपने पढ़ ही लिए, अब सनातनी शास्त्र दासों के प्रति जो व्यवहार का निर्देश करते हैं, उसका उदाहरण देखें –

दासं शपेन्न वै क्रुद्धः सर्वबन्धूनमत्सरी। भीताश्वासनकृत्साधुः स्वर्गस्तस्याव्ययं फलम्॥
(भविष्य पुराण, उत्तरपर्व, अध्याय – २०५, श्लोक – १३२)

क्रोधित होकर दासों को श्राप न दे, किसी के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखे। डरे हुए व्यक्ति को सांत्वना देने से अक्षय स्वर्गसुख को देने वाले फल की प्राप्ति होती है। (श्राप का अर्थ केवल चमत्कारी दण्ड नहीं होता है, शब्दकोषों में श्राप का अर्थ क्रोध, आक्रोश आदि भी बताया गया है।) जब लंका पर विजय प्राप्त करने के बाद श्रीराम जी की आज्ञा से हनुमानजी अशोक वाटिका में जाकर सीताजी को यह शुभ समाचार देते हैं, तब उन्होंने विचार किया कि क्यों न साथ ही, सीताजी पर अत्याचार करने वाली इन राक्षसियों को भी दो चार हाथ लगा ही दिया जाय !! तब सीताजी ने उन्हें ऐसा करने से रोकते हुए कहा,

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वन्तीनां पराज्ञया। विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम॥
भाग्यवैषम्ययोगेन पुरा दुश्चरितेन च। मयैतत् प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते॥
प्राप्तव्यं तु दशा योगान्मयैतदिति निश्चितम्। दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला॥

आज्ञप्ता रावणेनैता राक्षस्यो मामतर्जयन्। हते तस्मिन्न कुर्युर्हि तर्जनं वानरोत्तम॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग – ११६, श्लोक – ३९-४२)

सीताजी कहती हैं – हे वानरश्रेष्ठ ! राजा के ऊपर आश्रित रहने वाली, दूसरों की आज्ञा का पालन करने वाली इन दासियों पर भला कौन क्रोध करेगा ? मेरे साथ जो हुआ, पूर्व में मैंने जो दुश्चरित्र (स्वर्गमृग का लोभ, एवं निरपराध लक्ष्मण के प्रति द्वेष) किया, मैंने तो अपने कर्म का ही फल भोगा है। उसके ही कारण मुझे यह दशा प्राप्त हुई है, ऐसा निश्चित है। इसीलिए मैं रावण की इन दासियों को क्षमा करती हूँ। रावण की आज्ञा से ही ये मुझे डांटती रहती थीं, अब रावण के मरने पर, हे वानरोत्तम ! तुम इन्हें मत मारो।

शत्रु की दासियों के भी प्रति ऐसी उदारता सनातनी मर्यादा ही सिखा सकती है। आनन्द रामायण के अनुसार सीताजी ने अपने राज्यकाल में भी, सार्वजनिक रूप से यह उद्घोषणा करवा दी थी कि "कोई भी स्त्री, चाहे किसी भी वर्ग से हो, दरिद्रता के कारण श्रृंगारहीना न रहे। जिसके पास आभूषण न हों, वह राजकोष से ले जाये। अन्य देशों के राजा भी इस नियम का पालन अवश्य करें"।

भारतीय समाज में दास-दासियों को अपने परिवार के सदस्य की तरह रखा जाता था, आज भी बहुत से धर्मनिष्ठ घरों के लोग अपने नौकरों के साथ परिवार जैसा ही व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि दास के मरने पर स्वामी को, और स्वामी के मरने पर दास को भी परिवार वालों की ही भांति सूतक लगता है। पहले पुत्री के विवाह के बाद भी (आधुनिक शब्द में दहेज आदि के रूप में) दास दासियाँ भेंट की जाती थीं, उनपर भी स्वामिनी के मरने पर परिवार वालों के ही समान अशौच एवं शुद्धि आदि लागू होते थे।

मृतसूते तु दासीनां पत्नीनां चानुलोमिनाम्। स्वामितुल्यं भवेच्छौचं मृते स्वामिनि यौनिकम्/यौतुकम्॥
(देवलस्मृति) (ऐसा ही मत विष्णुधर्मोत्तरपुराण का भी है)

महारानी चित्रांगदा के वचन का उदाहरण देते हुए महर्षि और्व उपदेश देते हैं –

अपुत्रस्य नृपः पुत्रो निर्धनस्य धनं नृपः। अमातुर्जननी राजा ह्यतातस्य पिता नृपः॥
अनाथस्य नृपो नाथो ह्यभर्तुः पार्थिवः पतिः। अभृत्यस्य नृपो भृत्यो नृप एव नृणां सखा॥
(कालिका पुराण, अध्याय – ५१, श्लोक – ३०-३१)

जिसका कोई स्वामी नहीं है, उसका स्वामी राजा होता है। जिसका भरण पोषण करने वाला कोई नहीं होता, उसका भरण पोषण राजा करता है। जिसका कोई सेवक नहीं होता, उसकी सेवा राजा करता है, एवं मनुष्यों का मित्र राजा ही होता है। (तात्पर्य है कि राजा को स्वामित्व, भरण पोषण, सेवा और मित्रता, हर प्रकार से प्रजा का पालन करना चाहिए) जिसका कोई पुत्र नहीं, उसका पुत्र राजा होता है, जिसके पास कोई धन नहीं, उसका धन राजा होता है, जिसकी कोई माता नहीं, राजा उसकी माता है एवं जिनके पिता नहीं हैं, राजा ही उनका पिता होता है। (तात्पर्य यह है

कि पुत्र बनकर, आर्थिक बल बनकर, माता और पिता के समान कर्तव्य निभाते हुए एक राजा अपनी प्रजा का पालन करे) क्या विदेशी राजतंत्र अथवा स्लेवरी, गुलामी में ऐसी बात की कल्पना भी की जा सकती है ?

अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति। स भृत्यगुणसंपन्नं राजा फलमुपाश्नुते॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय – ११९, श्लोक – ०४)

जो अपने भृत्यों को उनके (क्षमता के) अनुरूप कार्यों में लगाता है, वह राजा भृत्य के गुण से सम्पन्न फल को प्राप्त करता है। स्वयं राजा दशरथ के दिवंगत होने पर भगवान् श्रीराम भरतलाल जी को आश्वासन देते हुए कहते हैं –

भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्। अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः॥
(वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग – १०५, श्लोक – ३३)
(पाठभेद में अर्थदानाच्च भी मिलता है)

भृत्यों के भली प्रकार भरण पोषण से, प्रजा का अच्छे से पालन करने से और सार्थक दान आदि से अर्जित धर्म के कारण हमलोगों के पिता स्वर्ग गए हैं। किन कर्मों से व्यक्ति स्वयं स्वर्ग जाता है, इसका एक उदाहरण देखें

परपीडामकुर्वन्तो भृत्यानां भरणादिकम्। कुर्वन्ति ते सुखं यान्ति विमानैः कनकोज्ज्वलैः॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय २१६, श्लोक – ५९)

दूसरों को कष्ट न पहुंचाते हुए, अपने भृत्यों का भरण पोषण करते हुए, व्यक्ति स्वर्ण के समान देदीप्यमान विमानों के माध्यम से स्वर्गलोक को जाता है। ऐसा नहीं है कि सनातनी शास्त्र केवल यह कहते हैं कि पुरुषों को ही अपने दासों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, अपितु यही नियम स्त्रियों के लिए भी है। ब्रह्माजी कहते हैं –

एवमाराध्य भर्तारं तत्कार्येष्वप्रमादिनी। पूज्यानां पूजने नित्यं भृत्यानां भरणेषु च॥
गुणानामर्जने नित्यं शीलवत्परिरक्षणे। प्रेत्य चेह च निर्द्वन्द्वं सुखमाप्नोत्यनुत्तमम्॥
(भविष्य पुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय – १४, श्लोक – ३१-३२)

इस प्रकार पति की आराधना करके, उनके कार्यों में आलस्य न करते हुए, पूजनीय व्यक्तियों (या देवताओं का) पूजन करते हुए, भृत्यों का भरण पोषण करते हुए, अपने गुणों का संग्रह और शील (चरित्र, सदाचरण) के समान रक्षा करते हुए, वह (स्त्री) यहां भी सुखी रहती है और मरने के बाद भी दिव्य सुख को प्राप्त करती है।विदेशों में बड़े बड़े राजा भी गुलामों के साथ जिस क्रूर कार्य को करने में, "यह पाप है", ऐसी सामान्य मानवीय बुद्धि तक नहीं रखते थे, उनसे श्रेष्ठ बुद्धि तो हमारे यहां सनातन धर्म की मर्यादा के अनुसार रहने वाले चाण्डालों की होती थी। भारत के चाण्डाल भी, विदेशी क्रूरकर्मा राजाओं की तुलना में अधिक सभ्य थे।

अवन्ती नाम नगरी बभूव भुवि विश्रुता। तत्रास्ते भगवान्विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः॥

तस्या नगर्याः पर्यन्ते चाण्डालो गीतिकोविदः। सद्वृत्त्योत्पादितधनो भृत्यानां भरणे रतः॥
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – २२८, श्लोक – ०८-०९)

अवन्ती नामक प्रसिद्ध नगरी, जहां शंख, चक्र और गदाधारी भगवान् विष्णु का वास है, उस नगरी के किनारे संगीत में कुशल एक चाण्डाल रहता था, जो अच्छे कर्मों के द्वारा धन कमाता था एवं अपने भृत्यों का भरण पोषण करता था। धर्मशास्त्रों के उपदेष्टा ऋषिगण भी इस मर्यादा का पालन करते थे। आचार्य मेधातिथि कहते हैं –

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च॥ अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते॥
(स्कन्दपुराण, माहेश्वर-कौमारिकाखण्ड, अध्याय ०६, श्लोक – १२६)

अपने सगे सम्बन्धी, शुभचिंतक, भृत्य (दास या सेवक) एवं स्त्रियों पर किसी अपराध का संदेह हो (बिना प्रमाण के ही, केवल आशंका हो) तो उनपर क्रोध करने में देरी करने वाला व्यक्ति प्रशंसनीय है। निंदनीय कर्मों में, जिन्हें करने से पाप की प्राप्ति होती है, उनके वर्णन का एक उदाहरण देखें –

भृत्यानाञ्च परित्यागः साधुबन्धुधुतपस्विनाम्॥ गवां क्षत्रियवैश्यानां स्त्रीशूद्राणाञ्च ताडनम्॥
यो भार्यापुत्रमित्राणि बालवृद्धकृशातुरान्॥ भृत्यानतिथिबन्धूंश्च त्यक्त्वाश्नाति बुभुक्षितान्॥
(स्कन्दपुराण माहेश्वर-कौमारिकाखण्ड, अध्याय – ४१, श्लोक ४७ एवं ६७)

अपने भृत्यों के परित्याग से पाप लगता है, साधु, कुटुम्बी, तपस्वी, गाय, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र आदि को मारने से पाप लगता है। जो व्यक्ति अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र, अन्य बालक, वृद्ध, दुर्बल, मरणासन्न, भृत्य (दास या सेवक), अतिथि एवं कुटुम्बी आदि भूखे व्यक्तियों को छोड़कर स्वयं भोजन करता है (उसे भी पाप लगता है) क्या आप सोच सकते हैं कि जहां छोटे गुलाम बच्चों को पीट पीट कर मार डाला जाता था, जहां उन्हें काम का वेतन भी नहीं मिलता था, बच्चियों पर बलात्कार होते थे और शिकायत करने पर उन्हें मृत्यु मिलती थी, वहां ऐसी उदारता सम्भव है ? नहीं, यह उदारता तो केवल भारत में ही संभव है। ऐसे ही महाभारत में जिस पुण्य के बल पर व्यक्ति बड़े बड़े संकटों को भी पार कर जाता है, उनके वर्णन का एक उदाहरण देखें –

ये क्रोधं सन्नियच्छन्ति क्रुद्धान्संशमयन्ति च। न च रुष्यन्ति भृत्यानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय – ११०, श्लोक – २१)

जो व्यक्ति अपने क्रोध को नियंत्रित रखता है और दूसरे के क्रोध को भी शांत करता है, जो अपने भृत्यों (दासों एवं सेवकों) पर क्रोधित नहीं होता, वह व्यक्ति बड़े बड़े संकटों को भी पार कर जाता है। यह बात अवश्य है, कि स्वामी एवं दास के मध्य एक सन्तुलित मर्यादा होनी चाहिए। स्वामी के किये दास पर क्रोध करना, उसे पीटना आदि अधर्म है,

इस बात का अनुचित लाभ न उठाया जा सके, इसलिए व्यवहार की और भी मर्यादा बताई गई है।

सम्प्रहासश्च भृत्येषु न कर्तव्यो नराधिपैः। लघुत्वं चैव प्राप्नोति आज्ञा चास्य निवर्तते॥
भृत्यानां सम्प्रहासेन पार्थिवः परिभूयते। अयाच्यानि च याचन्ति अवक्तव्यं ब्रुवन्ति च॥
पूर्वमप्यर्पितैर्लोभैः परितोषं न यान्ति ते। तस्माद्भृत्येषु नृपतिः सम्प्रहासं विवर्जयेत्॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय – २१५, श्लोक – २१-२३)

अपने सेवकों से राजा (सामान्य सन्दर्भ में कोई भी स्वामी) हंसी मजाक न करे। इससे उसका महत्व घटता है और उनकी आज्ञा भी टाली जाने लगती है। जब राजा अपने भृत्यों के साथ हंसी ठिठोली करने लगता है, तब वे लोग अनुचित वस्तुओं की मांग करने लगते हैं, अनुचित वचन बोलने लगते हैं। पहले के लोभ के कारण उन्हें संतोष नहीं होता, इसीलिए राजा अपने दासों से हास परिहास न करे। हां, इसका अर्थ नहीं है कि हंसी करने मना किया है तो राजा अत्याचार करने लगेगा। उसका भी निषेध है। साथ ही राजा को सदैव अपने राजकोष की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने की बात नीति कहती है।

धर्महेतोः सुखार्थाय भृत्यानां भरणाय च। आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा॥
(वाचस्पत्यम् में ग्रंथान्तर)

धर्मपालन के लिए, सुखप्राप्ति के लिए, अपने भृत्यों के भरण पोषण के लिए एवं आपत्तिकाल में काम आने के लिए कोषपति, अपने खजाने की रक्षा करे। हमारे यहां तो दासों के साथ जो नियमभेद हैं सो तो समझ ही रहे हैं, किन्तु विदेश में तो दास थे नहीं, वहां तो स्लेव और गुलाम आदि थे। उन्हें वेतन भी नहीं मिलता था, जबकि दास शब्द की परिभाषा ही उसे वेतन और उसमें समयानुसार वृद्धि का अधिकार देती है। गुलामों साथ ऐसा आदर्श व्यवहार होता नहीं है, किन्तु भारत में दासों के लिए जो नियम मैंने अभी तक बताए, उनका पालन राक्षसों के यहां भी होता था। जहां म्लेच्छ देश में बड़े बड़े लोगों के गुलाम भी अत्यंत दीन हीन अवस्था में रहते थे, वहीं भारत में या सनातन मर्यादा के राक्षसों तक में दास दासियों को पर्याप्त आभूषण आदि दिए जाते थे। एक उदाहरण देखें, जो रावण सीताजी से कह रहा है –

पञ्चदास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः। सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग – ४७, श्लोक – ३१)

हे सीते ! यदि तुम मेरी (रावण की) पत्नी बन जाती हो तो सभी प्रकार के आभूषणों से सजी हुई पांच हज़ार दासियाँ तुम्हारी सेवा करेंगी। विदेशों में गुलामों के साथ जैसी क्रूरता होती थी, उससे कई गुणा अच्छा व्यवहार हमारे यहां के राक्षस अपने दास दासियों से करते थे। यज्ञ में, विवाह में, उत्सव आदि में जब दास दासियों को दान दिया जाता था तो वे सुंदर सुंदर वस्त्र, मणि, आभूषण, सोने चांदी से सुशोभित रहती थीं, उनकी जीवनशैली का स्तर श्रेष्ठ था। बलराम जी

के विवाह का, अथवा राजाओं के यज्ञादि के कुछ उदाहरण देखें –

विचित्रतरवर्णादिनानाभूषणभूषिताः। दास्यः शतसहस्रञ्च दासाश्च सुमनोरमाः॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड,अध्याय – २९, श्लोक – ०६)
दशलक्षं तुरङ्गाणां रथानां लक्षमेव च। रत्नालङ्कारयुक्तानां दासीनाञ्चापि लक्षकम्॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय – १०६, श्लोक – ०५)

सनातनी व्यवस्था में रहने वाले ऋषि हों, राजा हों, व्यापारी हों, चाण्डाल, राक्षस या वेश्या हों, सभी अपने दासों के साथ पुत्रवत् ही व्यवहार करते थे। शेष का उदाहरण तो दे चुका हूँ, एक वेश्या का उदाहरण भी देखें। मोहिनी नाम की वेश्या ने वृद्धावस्था में अपने कल्याण के लिए पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से सोचा कि सब धन सामग्री आदि ब्राह्मणों को दान करके वन में जाकर तपस्या करूँ।

श्रोत्रियेभ्यो ददाम्येतज्ज्ञानेनेति व्यचिन्तयत्। विचिन्त्येति समाहूता मोहिन्या नगरद्विजाः॥
नागतास्ते महीपाल ज्ञात्वा घोरं प्रतिग्रहम्। यदा तदा द्विभागं च चक्रे तत्तु धनं स्वकम्॥
एको भागस्तु दासीनां दत्तोन्यश्च विदेशिनाम्। स्वयं तु निर्धना राजन्नभवत्सा तु मोहिनी॥
तथा समागतं मृत्युं विज्ञायान्तिकमन्तिके। मुक्त्वा दास्यो धनं नीत्वा यथेष्टगतयोऽभवत्॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय – २२०, श्लोक – ३१-३४)

मैं वेदज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणों को धन का दान कर दूंगी, ऐसा विवेकपूर्ण निर्णय लेकर मोहिनी ने नगर के ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया। किन्तु, वेश्या के धन का दान लेने से घोर प्रतिग्रह दोष लगेगा, यह सोचकर कोई भी ब्राह्मण नहीं आया। तब मोहिनी ने अपने धन के दो विभाजन किये, जिसमें एक भाग अपनी दासियों को दे दिया, और दूसरा भाग अन्य विदेशियों को दे दिया। (ब्राह्मण मना कर चुके, क्षत्रिय दान लेते नहीं, वैश्यों को आवश्यकता नहीं, सो सारा धन दासियों को और विदेशियों को दे दिया) इस प्रकार से वह मोहिनी बिल्कुल ही निर्धन हो गयी। अपनी मृत्यु को निकट जानकर, अंतकाल में उसने अपनी दासियों को सेवामुक्त कर दिया, वे दासियाँ भी धन लेकर इच्छानुसार चली गईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि “दास” शब्द संस्कृत का है, भारतीय समाज में, सनातनी शास्त्रों में इसका वर्णन मिलता है। इसका पर्याय भृत्य, सेवक, किंकर आदि शब्दों से भी प्राप्त होता है। इस शब्द की क्या परिभाषा है, दास और स्वामी का क्या सम्बन्ध होना चाहिए, क्या मर्यादा है, इनका उल्लेख भी सनातनी शास्त्रों में ही प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं। फिर विदेशियों के स्लेवरी या गुलामी की तुलना या उसका अनुवाद हम भारत में दासप्रथा शब्द से कैसे कर सकते हैं ? वह क्रूरता, वह अमानवीय अत्याचार तो हमारे देश की संस्कृति का अंश ही नहीं है। हम तो यह सोच भी नहीं सकते कि केवल काम से लौटते समय देरी होने मात्र से हम किसी गर्भवती स्त्री को पीट पीट कर मार दें !

इसीलिए हमारे यहां स्लेवरी या गुलामी के पर्याय के रूप में कोई शब्द ही नहीं बना। दास, किंकर और भृत्य आदि शब्द की परिभाषा एवं व्यवहार नियमावली देखने से यह भेद स्पष्ट होता है। जिन लोगों ने ऐसी क्रूरता की, और जो आज भी कई प्रारूपों में इसे कर रहे हैं, उन देशों में उद्भूत एवं समर्थित, लाल झंडे, हरे झंडे एवं क्रॉस वाले लोग हमारे देश में आकर स्वयं के किये गए अत्याचारों के आरोप हमपर लगाएं, हमारे ही लोगों को हमारे विरुद्ध भड़काएं तो हम कब तक चुप रह सकते हैं ? हां, यह सत्य है कि मुगलों और अंग्रेजों के कार्यकाल में कुछ उच्चस्तरीय लोगों ने भेदभावपूर्ण अत्याचार किया है, किन्तु यह उनकी निजी दुष्टता थी, जिसका समर्थन शास्त्र या शिष्ट समाज नहीं करता है। यही कारण है कि सनातनी शास्त्रों में अथवा अंग्रेजों के ही लिखे गये विकृत इतिहास में भी आपको यह उद्धरण कहीं नहीं मिलेगा कि किसी राजा या ब्राह्मण ने किसी शूद्र की गर्भवती स्त्री को पीट पीट कर मार डाला। व्यक्तिगत रूप से पापी एवं धर्मात्मा लोग तो अब सभी वर्णों में हो गए हैं, किन्तु शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार चलने वाला ही वास्तव में भारत के सत्य को प्रकाशित करता है, जिसमें दास तो हैं, किन्तु गुलाम या स्लेव नहीं।

--*

विविध ब्रह्मप्रश्नोत्तरी

(कृपया ज्ञानप्रौढ़ तथा श्रद्धालु ज्ञानाभिलाषी जन ही पढ़ें)

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्... स्वाध्याय और प्रवचन में कभी आलस्य न करे।

प्रश्नकर्ता :- मृत्यु का स्वरूप क्या है?
श्रीभागवतानंद गुरु : कामना ही मृत्यु है। इच्छा ही कामना है। इच्छारहित व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त करता है। असंतोष और भोगासक्ति इच्छा के कारक हैं, यही इच्छा कामना को जन्म देती है। कामना ही व्यक्ति के देह को क्षीण करके उसके नाश का निमित्त बनती है। अकाम व्यक्ति के प्राण उसकी चक्र शुद्धि कराकर कुंडलिनी को ऊर्ध्वगामिनी बनाते हैं और यही स्थिति मृतत्व से अमृतत्व की ओर ले जाती है। इसीलिए मैंने एक ही वाक्य में कहा, कामना ही मृत्यु है।

प्रश्नकर्ता :- मृत्यु कैसी होनी चाहिये ?
श्रीभागवतानंद गुरु : मृत्यु नहीं होनी चाहिए। हो रही है, यही समस्या है। न हो, यह समाधान है। मृत्योर्मामृतं गमय। देहत्याग की मृत्यु संज्ञा नहीं है। मृत्यु वह तब होगी, जब उसके साथ जुड़े शेष कर्मफलों के कारण पुनर्जन्म आवश्यक हो। देहत्याग शरभंग जी का भी हुआ, लेकिन वह मृत्यु नहीं, मोक्ष था। मृत्यु तब, जब पुनर्जन्म हो। पुनर्जन्म न हो तो मोक्ष है। इसीलिए मृत्यु नहीं, मोक्ष होना चाहिए। देहत्याग तो एक आवश्यक निमित्त है, वह अवश्यमेव होगा।

प्रश्नकर्ता :- मुझे एक बात बताइए अगर आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है तो आज जो विश्व की आबादी इतनी तेजी से बढ़ रही हैं तो उतनी आत्मायें भी होगी, तो क्या यह मान लिया जाय की आत्मायें भी प्रजनन करती है ? अगर मैंने कुछ गलत पूछा हो तो छमा चाहता हूँ।

श्रीभागवतानंद गुरु : यदि आप एक घर से दूसरे घर में जाएं तो क्या आप दो हुए , या आपने प्रजनन किया ? आपके सामने सौ दर्पण रखे जाएं क्या आप सौ होंगे या बिम्ब सौ होंगे ? उनमें से दस दर्पण तोड़ दें तो क्या आपका दसवां भाग नष्ट हुआ या बिम्ब का ?? जहां जहाँ दर्पण है, वहां वहां बिम्ब है लेकिन व्यक्ति एक ही है, भले ही उसकी प्रतीति अनेक हों, दर्पण के आधार पर छोटा-बड़ा हों। वैसे ही एक ही आत्मतत्व अनेकों तत्वों के समाहार तथा तीनों गुणों के प्रभाव से जहां जहां देह हुआ, वहां वहां भिन्न भिन्न गुण और स्वभाव वाला प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः एक ही है, ऐसा आप जानें।

काम क्रोध आदि भी भगवान् से ही उत्पन्न होते हैं । उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। उनका आधार भी भगवान् ही है और भगवान् उनका प्रयोग अपनी माया के माध्यम से संसारचक्र की निरंतरता को बनाये रखने के लिए करते हैं।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

काम क्रोध आदि भगवान् के द्वारा ही उत्पन्न भी होते हैं और नियंत्रित भी। किंतु भगवान् पर काम क्रोध का जोर नहीं चलता इसीलिए उन्हें उससे रहित बताया गया है। और यही काम क्रोध जीवों पर अपना प्रभाव दिखा देता है इसीलिए जीव को उससे युक्त बताया गया है।

द्वैत का अर्थ है, यह मैं और यह तुम। जहाँ भेदबुद्धि आएगी वहां तुलना भी आएगी। तुलना के साथ यदि ज्ञान जुड़ा है तो प्रेरणा और शिक्षा आदि के भाव आएंगे। और यदि अज्ञान जुड़ा है तो ईर्ष्या एवं क्रोध आदि के भाव आएंगे। जो जीव माया के वशीभूत होकर ब्रह्मज्ञान से रहित हो गया वह ईश्वर के सदृश कैसे हो जाएगा ?? पक्षी में उड़ने की क्षमता है, लेकिन पंख न रहने पर भी क्या वह अपनी उस स्थिति और क्षमता का प्रयोग कर पायेगा, जो उसके भीतर पहले से विद्यमान है ? नहीं न। वैसे ही जीव स्वयं ब्रह्म है, उससे भिन्न नहीं। लेकिन आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान के बिना क्या वह अपने ईश्वरीय रूप को स्मरण रख पायेगा जो उसके भीतर पहले से विद्यमान है ?? नहीं। इसीलिए गोस्वामी जी ने लिखा :- मायाबस परिछिन्न जड़.. ये नहीं कहा कि आत्मज्ञान वाला जीव।

प्रश्नकर्ता :- आत्मा तात्विक रूप से सच्चिदानंद है. उसकी शिव संज्ञा का अर्थ ...देवम् भूत्वा देवम् यजेत् से है.ममैवांशो जीवलोके जीवभूताः सनातना....भगवद्वाक्य है. जीव शिव की सादृश्यता को प्राप्त होता है न कि शिव या परब्रह्म हो जाता है. यही कारण है कि शांकर मत के इस मुख्य पहलू का खंडन करना पडा था आचार्यों को.

श्रीभागवतानंद गुरु: यह द्वैत मत है। किन्तु अद्वैतवादी कहते हैं कि जैसे बीच में उंगली आ जाने से एक ही चन्द्रमा दो प्रतीत होता है उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म भी जीव भाव से दो दिखने लगता है किंतु जैसे ही उंगली हटती है, वैसे ही एक चन्द्रमा की भांति माया के हटते ही जीव का ब्रह्मत्व ज्ञात हो जाता है। यही कारण है कि द्वैतवादी आचार्यों के मत का शंकराचार्य जी ने स्थान स्थान पर खण्डन किया।

प्रश्नकर्ता :- अद्वैतमत में शंकराचार्यजी को हर जगह माया कहकर, घुमाकर बोलना पडता है. इसिलिए मायावाद संज्ञा भी दिया गया है. सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, स्वराट्, सर्वशक्तिमान ब्रह्म उनके मत में एक वस्तु है ,अद्वैत है लेकिन माया उसको जीव बना देती है. तुरंत यहाँ ब्रह्म इतना निर्बल हो गया कि माया उसी पर भारी पड गई और वह जीवन मृत्यु के चक्कर में आ गया, अपना स्वरूप भूल गया. इसको आचार्यों ने बहुत बहुत से खंडन किया है, भ्रांति दिखाई है।

श्रीभागवतानंद गुरु : माया उसे जीव नहीं बनाती। यह द्वैतवाद का मात्र आरोप है। दाहकदाहिकावत् ब्रह्ममाया में अभेदबुद्धि की बात भी अद्वैत कहता है। माया ब्रह्म को जीव नहीं बनाती। अपितु ब्रह्म स्वयं अपनी मायाशक्ति से जीवत्व की संज्ञा धारण कर लेता है। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।

प्रश्नकर्ता:- प्रश्न है कि जब वह स्वयम् इस स्थिति को प्राप्त हुआ तो भी सर्वज्ञ ही रहना चाहिए था , फिर शास्त्र की जरूरत क्यों पडी उसको उसका स्वरूप समझाने की. सिद्धसाधनता दोष आ गया इससे।

श्रीभागवतानंद गुरु : उसे इसीलिए आवश्यकता पड़ी क्योंकि वह एक रूप (प्रेरितार ब्रह्म) से प्रेरणा देकर कर्मसरणीयभेदानुभव की रचना एक अन्य रूप (भोक्ता जीव) के लिए कर रहा है। उस स्वरूप में यही आत्मबोध बना रहा तो वह स्वयं प्रेरक बन जायेगा, प्रेरित नहीं रहेगा। इसीलिए ब्रह्म ने प्रेरित होने के जीवत्व धारण किया और आत्मज्ञान को अस्थायी रूप से विस्मृत किया और इसके लिए निजशक्ति माया का प्रयोग किया। किंतु इससे उसकी सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता पर कोई समस्या नहीं आती इसीलिए उसका प्रेरितार ब्रह्मरूप भी सिद्ध है।

प्रश्नकर्ता :- फिर वह प्रयास क्यों कर रहा है मुक्ति होतु, मुमुक्षुत्व की क्या जरूरत है??

श्रीभागवतानंद गुरु : इसीलिए, क्योंकि उसने अपने ब्रह्मरूप की प्रेरणा से जीवरूप में आत्मज्ञान को भुला दिया है। जीवत्व मात्र बिम्ब है और ब्रह्मत्व ही सत्य है। बिम्ब से सत्य की यात्रा ही मुमुक्षु बनना है। इसमें वह अपने ब्रह्मरूप से प्रेरणा देकर अपनी मायाशक्ति को नियंत्रित करके पुनः ब्रह्मरूप में समाहित होता है।

प्रश्नकर्ता :- पुनः सर्वज्ञता खोना, पुनः सर्वज्ञ बनना, एक बार माया का नियंत्रण करना, फिर नियंत्रित होना. बिम्ब से सत्य की यह यात्रा बहुत काल्पनिक और सारहीन प्रतीत होती है।

श्रीभागवतानंद गुरु : हे ब्रह्मन् !! जिस प्रकार आप अपनी इच्छा से सोते हैं, अपनी इच्छा से ही अपने इस रूप का विस्मरण करके नवीन रचना करके कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तथा स्वभावतः जग कर आत्मरूप में स्थित हो जाते हैं, कुछ कुछ वैसी ही बात ब्रह्म से जीव और जीव से ब्रह्म के मध्य सम्बन्ध को समझनी चाहिए।

ब्रह्म यदि सर्वज्ञता को खो दे तो सारहीन प्रतीत होता। लेकिन उसने अपने ब्रह्मरूप को सुरक्षित रखते हुए एक नवीन जीवरूप धारण किया और इस प्रकार से बद्ध तथा मुक्त, सर्वज्ञ तथा अज्ञ, मोहित और निर्मोही, दोनों ही स्वरूपों में स्वयं को ही स्थापित करके अपनी विलक्षणता का प्रदर्शन किया है। 'मत्तः परतरं नास्ति किंचिदस्ति धनञ्जय'.. 'एवं वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जय:' कहकर उन्होंने ब्रह्म तथा जीव, नर तथा नारायण में अभेद भी दिखाया तथा 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' एवं 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहकर उनमें भेदबुद्धि की प्रतीति का भी संकेत किया। यही ब्रह्म की एकात्मकता है कि सर्वत्र वही है, इस मत में भी, उस मत में भी। इस पक्ष में भी, उस पक्ष में भी।

प्रश्नकर्ता :- नवीन जीवरूप धारण कर ८४ लक्ष योनियों में आवागमन करना, कर्म के अधीन होकर वश में कार्य करना,

फिर कदाचित् पुण्य उदय होने पर पुनः ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ये सब विलक्षणता नहीं ब्रह्म की विवशता ही प्रचारित करते हैं।

श्रीभागवतानंद गुरु : प्रथम बात तो यह कि उपर्युक्त कर्म और लक्षण ब्रह्म के हैं ही नहीं, जीव के हैं। इसीलिए उन्हें ब्रह्म में आरोपित करना ही अज्ञान है। ब्रह्मरूप में पुरुष सर्वशक्तिमान् होता है और जीवरूप में वही शक्तियों को संपीडित कर देता है हालांकि फिर भी ब्रह्मरूप पर प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी बात यह कि जीव ब्रह्म का ही बिम्ब है इसीलिए उसमें ये लक्षण आरोपित करें तो बात विचार योग्य होगी। दर्पण के आकार, प्रकार के अनुसार बिंब भी छोटा, बड़ा मोटा पतला आदि होता है किंतु बिंबकारक पर प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि बिम्ब वास्तव में कारक की ही एक प्रतीति वाली स्थिति है, वैसे ही जीवत्व भी ब्रह्मत्व की प्रतीति वाली स्थितिमात्र है। इसीलिए जीव में उपर्युक्त लक्षण आरोपित होने पर भी ब्रह्म पर प्रभाव नहीं डालते। द्वैत को समझना और आचरण करना सरल है, इसीलिए यह आकर्षित करता है और अद्वैत के प्रति निष्ठा की हानि करता है किंतु द्वैत का अस्तित्व भी अद्वैत ब्रह्म के बिना नहीं, जबकि अद्वैत का अस्तित्व द्वैत जीव के बिना भी है। ब्रह्म गुणों तथा माया के विक्षेप से बिम्बित होता है, न कि स्वभावतः। माया ही ब्रह्म और जीव की स्थिति में भेदबुद्धि दिखाती है।

प्रश्नकर्ता :- अद्वैती भी शास्त्र से प्रमाण देते हैं और द्वैती भी। दोनों एक दूसरे का खंडन शास्त्र से ही करते हैं। शास्त्र क्या कहता है इस विषय में ?

श्रीभागवतानंद गुरु : यदि आप पूर्व की ओर मुख किये रहेंगे तो सुबह सूर्य दिखेगा। यदि उसी समय पश्चिम की ओर देखेंगे तो नहीं दिखेगा। लेकिन यही बात शाम को उल्टी हो जाएगी। पश्चिम की ओर सूर्य दिखेगा लेकिन पूर्व की ओर नहीं दिखेगा। शास्त्रों में आज के विवादों जैसा द्वैत और अद्वैत नहीं है। वहां केवल सत्य है, और सत्य केवल ब्रह्म है, सत्य केवल सूर्य है। भेद तो उसकी प्रतीति में होती है, सूर्य पर दृष्टि का भेद नहीं पड़ता। पूर्वाभिमुख और पश्चिमाभिमुख व्यक्ति की दृष्टि से सूर्य प्रभावित नहीं होता। अद्वैतवाद और द्वैतवाद से ब्रह्म को कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य की प्रतीति दोनों को होती है, पूर्व वाले को सुबह और पश्चिम वाले को शाम में। दोनों सत्य हैं, दोनों एक का ही अवलोकन कर रहे हैं, लेकिन फिर भी लड़ रहे हैं कि कौन सही है, क्योंकि कोई अपने अतिरिक्त दूसरे के सत्य को स्वीकार नहीं करना चाहता है।

रुद्रस्य चिन्तनाद्रुद्रो विष्णुः स्याद्विष्णुचिन्तनात्। दुर्गायाश्चिन्तनाद्दुर्गा भवत्येव न संशयः॥
यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा शिव एव सा। तत्र यः कुरुते भेदं स एव मूढधीर्नरः॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्। भेदकृन्नरकं याति रौरवं पापपूरुषः ॥
(मुण्डमालातन्त्र)

(निराकार ब्रह्म में) रुद्र की भावना करने से वह रुद्र बन जाता है, विष्णु की भावना से विष्णु तथा दुर्गा की भावना से दुर्गा बन जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। जैसे शिव हैं, वैसे ही दुर्गा है। जो दुर्गा हैं, वही शिव हैं। जो मनुष्य इनमें भेद की कल्पना करता है, वही मूर्ख है। देवी, विष्णु एवं शिव आदि में एकत्व की भावना करें। जो पापी इनमें भेद करता है, वह रौरव नरक जाता है।

प्रश्नकर्ता :- क्यों संतों ने जातिभेद नही माना और कर्मकांड का भी जमकर विरोध किया ?
श्रीभागवतानंद गुरु : उन्होंने जातिभेद भी माना... और कर्मकांड भी माना...बस उसे जताया नहीं। किसी सन्त ने आर्य समाजी और गायत्री परिवार के तरह वर्णक्रमों का अतिक्रमण करके सबों के लिए सभी कर्म की बात प्रचारित नहीं की, साथ ही कर्मकांड के विरोध हेतु देवालय या यज्ञमण्डप ध्वंस नहीं कराए। उनके कहने का भाव इतना ही था कि भक्तिप्रधान जीवन हो तो कर्मकांड का कोई औचित्य नहीं, क्योंकि फिर तो यद्यत्कर्म करोमि तत्दखिलं शम्भो तवाराधनम्। और यदि भक्ति ही न रही, तो भी कर्मकांड का कोई औचित्य नहीं, क्योंकि,

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

उन्होंने जाति के अभिमान (चूंकि जीव के अष्ट पाशों में कुलाभिमान और जात्यभिमान भी आता है, इसीलिए उसका) परित्याग करके 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' का भाव अपनाने कहा। पुरुष और प्रकृति, यह एक ही ब्रह्म के कर्ता और कर्तृत्वशक्ति के नाम हैं। पुरुषतत्व का समस्त ज्ञान अपने वैदिक, तांत्रिक तथा पौराणिक आयामों के साथ साररूप में श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रारूप में उपलब्ध है, और इसी सारभूत श्रीमद्भागवत का सार अनुभागवत (सनत्कुमार उपपुराण) है। इसी प्रकार प्रकृतितत्व का समस्त ज्ञान अपने वैदिक, तांत्रिक तथा पौराणिक आयामों के साथ साररूप में श्रीमद्देवीभागवत महापुराण के प्रारूप में उपलब्ध है, और इसी सारभूत श्रीमद्देवीभागवत का सार महाभागवत (अपर देवी उपपुराण) है।

सनातन धर्म में ब्रह्मबोध कराने में समर्थ सर्वज्ञानसारभूत (जो सभी वेदों में प्रतिभासित हो, जो सभी लोकों में अप्रतिहत गति वाला हो, जिसका पारायण गृहस्थ एवं विरक्त, सभी सज्जन करें और जो भवसागर से पार करने में समर्थ हो) भागवत नामधेय ग्रंथश्रेणी में श्रीमद्भागवत, अनुभागवत, श्रीमद्देवीभागवत एवं महाभागवत के रूप में भागवतचतुष्टयी की संज्ञा से युक्त होकर शोभायमान होते हैं। सनातन धर्म में जहां साम्प्रदायिक पूर्वाग्रही जन क्षुद्र मानसिकता के कारण श्रीमद्भागवत और श्रीमद्देवीभागवत की तुलना करके आत्मनाश करते हैं, वहीं भागवतचतुष्टयी की भावना कितनी कल्याणकारिणी है। भागवतचतुष्टयी का भी सार मूलभागवत (कालिका उपपुराण) कहाता है। हेमाद्रि आदि ने भी कालिका उपपुराण को पंचम भागवत यानी मूलभागवत की संज्ञा को प्रामाणिक माना है। इस प्रकार भागवतचतुष्टयी (अनुभागवत, महाभागवत, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्देवीभागवत) के साथ साथ पंचमाभ्युदयिक भागवत के रूप में मूलभागवत भी प्रतिष्ठित होते हैं।

यह शरीर प्रकृति का अंश है और यह जीवात्मा पुरुष का। इसीलिए महिलाओं के शरीर वाले जीवात्मा भी पुरूष ही हैं तथा पुरुषों के शरीर वाले शरीर भी प्रकृति रूप होने से स्त्रीतत्व से युक्त हैं। महिलाओं की आत्मा भी पुरुष है और पुरुषों का शरीर भी स्त्री (प्रकृति) । हम लौकिक अंगों की दृष्टि से महिला हों या पुरुष, शरीर सबका ही, प्रकृति है और जीवात्मा सबका ही पुरुष। इसीलिए शरीर का निर्माण प्रकृतिरूपा स्त्री देह में होता है और उसमें शुक्ररूपी चेतना के रूप में पुरुषतत्व का आधान किया जाता है। ब्रह्मचारी का शरीर भी स्त्रीतत्व ही है और वह जीवात्मा पुरुषतत्व है। ब्रह्मचारी के लिए उसकी ब्रह्मविद्या ही उसकी पत्नी होती है। ध्यान रहे, यहाँ भवसागर से पार करने वाली पत्नी कहा है। भवसागर से पार केवल ब्रह्मविद्या ही कराती है। ब्रह्म में विचरण करने वाले ब्रह्मचारी को उसकी ब्रह्मविद्या ही भवसागर से पार कराएगी, इसीलिए उसकी ही यहाँ पत्नी संज्ञा है। शिवरूप उस ब्रह्मचारी की शक्तिरूपा ब्रह्मविद्या ही शाश्वत मनोरमा पत्नी है, जो मनोवृत्तानुसारिणी, कुलोद्भवा, और मोक्षदायिनी भी है।

शिष्य का मन प्रश्न करता है.. गुरु से उत्तरों की प्राप्ति पर प्रतिप्रश्न करता है। शिष्य धर्म का पांचवां सूत्र है सदा विद्याऽनुसंहतिः .. अपने गुरु से श्रद्धा पूर्वक प्रश्न करके और उत्तरों का मनन करके आप जिज्ञासु धर्म के पांचवें प्रकार का पालन कर रहे हैं। यदि जिज्ञासा से ऐसा है तो कल्याणकारी है। धूर्तता से ऐसा है तो अकल्याणकारी है। विश्वासभूयिष्ठप्रामाण्यम् (परशुरामकल्पसूत्रम्) गुरु के द्वारा शास्त्रों के संदर्भ में दिए गए प्रमाण विश्वसनीय हैं।उनकी निंदा न करे। साथ ही उन्हें कुतर्कों से दूषित भी न करे। शास्त्रैकगम्या ये ह्यर्था न तांस्तर्केण दूषयेदिति उक्तं भट्टपादैः. शरीरकंचुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परशिवः (परशुरामकल्पसूत्रम्) शरीररूपी आवरण से युक्त शिव की जीव संज्ञा है तथा शरीर रूपी आवरण रहित जीव की शिव संज्ञा है। यह शरीर इतना प्रभावी कैसे होता है ? इस निमित्त कहते हैं :-

दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां किमसम्भवीति।

माया का सामर्थ्य अनिवर्चनीय है इसीलिए अघटित भी घटित होता है। मायिक मल ही इसका निमित्त है।

परमं यत्स्वातंत्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य। देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥
(परमार्थसार)
मुक्तं च प्रतिबंधात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः। बद्धः संसरते भूयो यावद्देवं न विन्दति॥
(स्वच्छन्दसंग्रह)

इस आत्मा के आवरण में देवी मायाशक्ति की प्रधानता जाननी चाहिए। शिव पर माया का अधिकार नहीं है। शिव जब स्वात्मनिष्ठ नहीं होता तो मायाबद्ध प्रतीत होता है। आत्मज्ञान से युक्त होने पर शरीरधारी होने की अवस्था में भी वह मुक्त ही होता है। जीवत्व की तीन स्थितियां हैं। शुद्ध, अशुद्ध और मिश्रित। (यहाँ जीवत्व का अर्थ शरीरधारी होने से है) ईश्वर का विष्णु, शिव, सूर्य आदि कलेवरयुक्त स्वरूप शुद्ध है, मनुष्य आदि अशुद्ध हैं तथा पूतात्मा वशिष्ठ, नारद आदि

मिश्र हैं। शिवतत्व ब्रह्मसापेक्ष है तो आत्मतत्व जीवसापेक्ष। दोनों के मध्य माया अथवा (अ)विद्यातत्व ही विभाजन रेखा है।

स्वरूपभेदनं हित्वा चैक्यावगमनोद्यता। परमार्थप्रथारूपा शुद्धविद्येति शब्दिता।

(परमानंद तन्त्र)

प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते। निष्प्रपंचश्चिदेकात्मा शिवतत्वं समीरितम् ॥

(परमानंद तंत्र)

विद्यायुक्त जीव शिवत्व को प्राप्त करता है। शिव ही विद्याहीन होकर जीवत्व को प्राप्त करता है। शुद्ध विद्या का अवलम्बन ही ब्रह्मलीन होना है। भावनादाढ्र्यादाज्ञासिद्धि:। (परशुरामकल्पसूत्रम्) अहमिदं जानामि, मैं इसे जानता हूँ, यह भावना जब दृढ़ होती है तो आज्ञा सिद्धि होती है। आज्ञा सिद्धि ही जीवत्व को ईश्वरत्व से पुनः योजित करती है। प्रपञ्च (चौबीस तत्वों से युक्त संसार) तथा वासना (उसके उपभोग से जन्य सुख एवं दु:ख की अनुभूति) को ही शक्ति कहा गया है। इससे जो भिन्न है उसी की शिवतत्व, ऐसी संज्ञा है।

सर्वकालं जपेद्विद्यां मनसां यस्तु केवलम्।

(वामकेश्वर तन्त्र)

मोहयत्यनेन शक्तिविशेषेण इति वा माया शक्तिः। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

मन ही मन ब्रह्मविद्या का चिंतन सर्वदा करते रहना चाहिए। मोहित करने की शक्ति से युक्त होने से वह माया है। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, इस औपनिषदिक वाक्य से ब्रह्म के त्रिविध कार्यरूप का ज्ञान होता है। ब्रह्म स्वयं प्रेरक होकर निजान्श के माया रूप से भोग्य बन कर निजान्श के ही जीव रूप से उपभोग करता है। इसीलिए मायांश से उत्पन्न चौबीस तत्वों से युक्त संसार भी मूलतः ब्रह्म का ही भोग्य रूप है।इसमें उसी के प्रेरक रूप की प्रेरणा ही निमित्त है अतएव वह स्वेच्छा से ही उपभोग करने हेतु विद्याहीन होता है।

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदास्मि वै। तत्त्वतोऽहं तथा भूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत्॥

(विज्ञानभैरवतन्त्र)

जब मेरी (जीव की) इच्छा और उससे संबंधित क्रियाज्ञान उत्पन्न नहीं है, तो मैं स्वयं भी नहीं हूँ। इस चिदानंद अवस्था में तत्वतः वह जीव भी वैसा ही चिदानंदमय हो जाता है।

--*

क्या भक्ति के कारण कर्तव्यकर्म छोड़ देने चाहिए ?

बहुत से लोग (विशेषकर आज के नए नवेले मनमौजे सम्प्रदायों वाले) ऐसी बातें करते हैं कि हमें तो सन्ध्या गायत्री आदि नहीं करनी, हमें तो भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं। बस गुरुदेव ने कहा कि भगवान् का नाम लो, तो ले रहे हैं, नाम जपते रहो, काम करते रहो, बाकी सब भगवान् देख लेंगे। कर्मकांड आदि तो केवल प्रपञ्च मात्र है, इसकी क्या आवश्यकता, आदि आदि। जबकि भगवान् ने शास्त्र मर्यादा के अतिक्रमण को करके भजन करने नहीं कहा। भगवान् ने गीता में कहा :-

यज्ञदानादिकं कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान, तप आदि कर्म बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं इसीलिए इनका परित्याग न करे। किन्तु ऐसा नहीं है कि केवल महंगे खर्च से यज्ञ होंगे। भगवान् ने ये भी कहा, यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। सभी यज्ञों में जपयज्ञ, भगवान् के नामजप का जो जपयज्ञ है, वह मैं हूँ, मतलब वह सर्वोत्तम है। इसीलिए यज्ञ को पापनाशक, उसमें भी जपयज्ञ को सर्वोच्च बताया गया है। अब आते हैं दान पर। भगवान् केवल पवित्रात्मा को ही मिलते हैं (यहां आत्मा शब्द मूलरूपी जीव नहीं, मायावरण से युक्त मोहबद्ध जीव का वाचक है)। पवित्र करने वाले कर्मों में यज्ञ, दान और तप के विषय में कहा। दानों में ज्ञानदान सर्वोच्च है क्योंकि उससे व्यक्ति लोक और परलोक दोनों को शुभ बनाता है। कन्यादान कर दिया, लेकिन ज्ञान ही न रहे कि प्राप्त पत्नीरूपा कन्या के साथ व्यवहार कैसे करना है तो अनर्थ है। अन्नदान कर दिया, प्राप्त भोजन की सामग्री का करना क्या है, इसका ज्ञान न हो तो भी अनर्थ है। अतएव छोटी छोटी बातों से लेकर ब्रह्मबोध तक सब कुछ ज्ञान ही पर आश्रित है। इसीलिए ज्ञानदान करे क्योंकि एक तो वही ज्ञानानंद आत्मा का मूल रूप है, दूसरे इससे बड़ा प्रायश्चित्त दूसरा नहीं।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मः न गुणो वा कथञ्चन। ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यस्सर्वगतः शिवः॥
(आदित्य पुराण)
शिवेन विष्णुनाजेन श्रुत्या परमयापि च। ज्ञानयज्ञसमं नास्ति प्रायश्चित्तं न संशयः॥
(मानव पुराण)

ज्ञान आत्मा का गुण या धर्म आदि कुछ भी नहीं है। सर्वव्यापी शिवरूपी आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है। ज्ञान स्वयं आत्मा है। शिव, विष्णु, ब्रह्मा अथवा वेदोक्त निर्गुण ब्रह्म से सम्बंधित ज्ञानचर्चा रूपी यज्ञ से बड़ा कोई भी पापनाशक प्रायश्चित्त नहीं है। ज्ञानदान भी सबों को नहीं करना चाहिए। योग्य अधिकारी को परख कर ही देना चाहिए। भक्तियुक्त, द्वेषभाव से रहित, तपस्यारत श्रद्धालु के प्रति ही ज्ञान रहस्य खोलना चाहिए। कथित नास्तिक म्लेच्छ वामपंथी जन इसके अधिकारी ही नहीं हैं फिर उनसे कैसा शास्त्रार्थ ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि यह ज्ञान मैंने तुम्हारे लिए प्रकाशित किया है, सबके लिए नहीं। शेष व्यक्ति जो इसे जानना चाहता है, उसे पहले योग्य बनना पड़ेगा। तेरे हित के लिये अर्थात्, संसार के प्रति मोह का उच्छेद करनेके लिये कहा हुआ यह शास्त्र तपरहित मनुष्यको नहीं सुनाना चाहिये। तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो अर्थात् गुरु या देवता में भक्ति रखनेवाला न हो उसे कभी किसी अवस्थामें भी नहीं सुनाना चाहिये।

भक्त और तपस्वी होकर भी जो शुश्रूषु (सुननेका इच्छुक) न हो उसे भी नहीं सुनाना चाहिये तथा जो मुझ वासुदेवको (आरएसएस या आर्य समाजियों की भांति) प्राकृत मनुष्य मानकर मुझमें दोषदृष्टि करता हो, मुझे ईश्वर न जानने से, मुझमें आत्मप्रशंसादि दोषों का अध्यारोप करके मेरे ईश्वरत्व को सहन न कर सकता हो वह भी अयोग्य है। उसे भी (यह शास्त्र) नहीं सुनाना चाहिये। ज्ञानदान उसी को करना चाहिए जो भगवान् में भक्ति रखनेवाले, तपस्वी, शुश्रूषायुक्त और दोषदृष्टिरहित पुरुष हो। अतएव यह समझना चाहिये कि शुश्रूषा और भक्तियुक्त तपस्वी को अथवा इन तीनों गुणोंसे युक्त मेधावी को सनातन शास्त्र सुनाना चाहिये। शुश्रूषा और भक्ति से रहित तपस्वी या मेधावी किसी को भी नहीं सुनाना चाहिये। भगवान् में अथवा अधिक सन्देह से पूर्ण दोषदृष्टि रखनेवाला तो यदि सर्वगुणसम्पन्न हो, तो भी उसे नहीं सुनाना चाहिये। गुरु, देवता शुश्रूषा और भक्तियुक्त पुरुष को ही सुनाना चाहिये। इस प्रकार यह शास्त्रसम्प्रदाय के ज्ञानदान की विधि है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

जो व्यक्ति मूर्ख है, अश्रद्धालु है, या संशयात्मा है, अथवा इन तीनों में कुछ भी है, उसका विनाश शीघ्र होता है। इस लोक या परलोक में भी सन्देहात्मक चिंतन वाले व्यक्ति के लिए सुख नहीं है।अब आते हैं तपस्या पर। इसके भी गीता के सत्रहवें अध्याय में मानसिक, शारीरिक और वाचिक आदि भेद बताए गए हैं। भाव यह है कि तपस्वी वास्तव में वही है जिससे किसी भी निरपराध को मन, वाणी या कर्म से कष्ट न पहुंचे। ध्यान रहे, यह केवल निरपराध के लिए है, उसे कष्ट न हो। भगवान् ने सबों पर दया करने नहीं कहा, क्योंकि गीता बतायी ही इसीलिए गयी ताकि दुष्टों का संहार करने की अर्जुन की प्रवृत्ति पुनः जागृत हो, मामनुस्मर युद्ध्य च। गीता अर्जुन को स्वधर्मपालन और रक्षण हेतु कही गयी, न कि जंगल जाकर फक्कड़ बनने। वो काम भी कर सकते हैं, किन्तु जिसके लिए, जब जहां धर्म के लिए जिस कर्म की आवश्यकता हो, भूखे रहकर व्रत करने से लेकर, दान देने तक, शास्त्रार्थ करने से लेकर व्यापार करने तक, सिर कटाने से लेकर सिर काटने तक, धर्म के लिए, निरपराध जनों को कष्टमुक्त करने हेतु किया गया प्रत्येक समयोचित कार्य ही तपस्या है। किन्तु यह मनमाने रूप से नहीं हो सकता। भगवान् ने गीता में कहा कि,

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

ऐसे पाखण्डी लोग, जो धर्म को ताक पर रखकर मनमाने ढंग से भजन (जपयज्ञ), पूजन, (द्रव्ययज्ञ) अथवा कर्षयन्तः शरीरस्थं आदि श्लोकों के अनुसार तपस्या करते हैं, वे आसुरी सम्पदा वाले लोग केवल नाममात्र का ही धर्म करते हैं, जो अविधिपूर्वक है, उचित विधि के विरुद्ध है। अतएव अपने वर्ण, आश्रम एवं वेदसम्मत सम्प्रदाय के अनुसार ही साधना, भजन आदि करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र के आलोक, विधि, श्रद्धा आदि से रहित किया गया तप, दान, यज्ञ शुभ कर्म भी निष्फल हो जाता है, उसका फल न इस लोक में न परलोक में मिलता है, ऐसा गीता के सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने कहा :-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

कुछ लोग ये भी पूछते हैं कि आत्मा जब निर्विकार है तो सुखादि का उपभोग कौन करता है ? यही प्रश्न हिमालय ने भी भगवती से किया था, तब उन्होंने कहा कि जैसे स्फटिक के ऊपर लाल फूल रखने से स्फटिक भी लाल वर्ण का प्रतीत होने लगा लगता है वैसे ही बुद्धि और इन्द्रिय के सानिध्य से आत्मा की भी वैसी ही विकृतियुक्त प्रतीति होती है। वस्तुतः मन, बुद्धि एवं अहंकार ही फल के भोक्ता हैं किंतु उनसे अपने आप को भिन्न न मानने के कारण वह उपभोग आत्मा को प्राप्त होते प्रतीत होते हैं :-

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनोऽपि तथा गतिः। मनोबुद्धिरहंकारो जीवस्य सहकारिणः ॥
स्वकर्मवशतस्तात फलभोक्तार एव ते। सर्वं वैषयिकं तात सुखं वा दुःखमेव वा ॥
(महाभागवत शाक्तोपपुराण)

कई लोगों के मन में यह सन्देह होता है कि जब यह जगत् वेदों में स्वप्नगाथा के समान मिथ्या बताया गया है, तो यह कैसे सम्भव है क्योंकि कई बार स्वप्न में घटी घटनाओं के समान घटना हमारे जीवन में भी घटित होती है। स्वप्न में जो होता है, वह घटना बाद में अलग से सत्य हो सकती है, आगे के समय में समतुल्यता से सत्य हो सकती है किंतु उसी समय सच नहीं होती। जैसे आपने स्वप्न में हाथ कटते देखा। हो सकता है कि आपका हाथ दो दिन बाद कट जाए, वह स्वप्न सत्य हो गया, किन्तु जब आप स्वप्न देख रहे थे उस समय साथ साथ समतुल्य भाव से हाथ नहीं कट रहा होता है। स्वप्न में नहाने पर, खाने पर यहां नहीं भीगता, यहां नहीं कटता।

किन्तु स्वप्न में स्वप्नदोष होने पर यहां भी व्यक्ति प्रभावित होता है, वैसे ही यदि वृत्तियां अत्यधिक प्रबल हो जाएं तो इस मिथ्या जगत् में किये गए कर्म भी संस्कार के माध्यम में कर्मफल देते हैं जो प्रारब्ध कहाता है। आत्मा जब माया से आवरण से अलग हो जाता है, तभी अकर्ता रहता है। आवरण युक्त होने पर तो वही कर्ता है। जैसे आप जब ऑफिस में रहते हैं तो काम करते हैं, और जब नहीं रहते तो नहीं करते हैं। कर्ता तो चेतन ही हो सकता है किंतु कार्य हेतु माया

रूपी उसकी आत्मशक्ति चाहिए। इसीलिए वह आत्मशक्ति से युक्त होकर देहादि अधिष्ठान से कार्य करता है और जब माया के आवरण से रहित होकर ब्रह्मरूप में रहता है तो अकर्ता रहता है।

लेकिन गीता में तो कहा गया कि गुणा गुणेषु वर्तन्ते, अर्थात् खाना पीना, सोना, जागना ये सब गुण ही गुण में होता है, आत्मा में नहीं। फिर आत्मा को कर्ता कहें या अकर्ता ? जैसे स्वप्न में आप भोजन करते हैं, आपने अपनी ही शक्ति से एक शरीर बनाया, एक अन्न बनाया, और खाया, उस समय तृप्ति भी हुई। लेकिन मूलतः क्या हुआ ? न कोई भोज्य था न कोई भोक्ता। यही गुणों का गुणों में बरतना हुआ। अपने अंदर ही सब हो रहा है, किन्तु मूल में कुछ नहीं। इस बात को सीधे सीधे ऐसे समझें :-

१ :- आत्मा हर समय अकर्ता अभोक्ता है क्योंकि ये उसका मूल स्वभाव है। जैसे कपड़े पहनना आपके देह के लिए मूलतः आवश्यक नहीं है। वो आपके अस्तित्व का मूल अंग नहीं, इसीलिए नंगे पैदा होते हैं।

२ :- अंतःकरण और महत्तत्व के कारण माया का जो आवरण बनता है, उसके आवरण ये युक्त होकर आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है। जैसे आप नानाविध रंग रूप के वस्त्र पहनते हैं, और उसी के अनुरूप कार्य भी करते हैं। काम आपको ही करना है, क्योंकि आप ही चेतन हैं। जड़ तत्व कार्य करने में समर्थ है ही नहीं, अपितु वह चेतन की शक्ति से क्रियाशील होता है।

पुनः आप तो मूल रूप में अकर्ता हैं, किन्तु अलग अलग कामों को अलग अलग कपड़े हैं, मान लें कि यूनिफॉर्म। पुलिस का काम करना हो तो पुलिस का, डॉक्टर के समय डॉक्टर का, वकालत के समय वकील का आदि आदि। यदि आप हर समय कर्ता होते तो हर समय तद्वत् काम करते। किन्तु आपका कार्य यूनिफॉर्म के साथ जुड़ा हुआ है। यूनिफॉर्म रूपी आवरण से जुड़े, ऑफिस गए तो कर्म किये, न जुड़े, ऑफिस न गए, तो मूल रूप में स्थित रहे, अकर्ता रहे।

इसीलिए भले ही चेतन की शक्ति से ही काम होना है, इसीलिए एक दृग्सिद्धान्त से वह कर्ता हुआ। किन्तु वह स्वाभाविक रूप से कर्ताभाव से रहित है, वह तो अपने आवरण के अनुसार कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, इसीलिए अन्तःकरण वाला आवरण ही मुख्य कारक हुआ, क्योंकि उससे युक्त आत्मा में ही कर्ताभाव आता है, इसीलिए एक दृग्सिद्धान्त से आत्मा अकर्ता भी हुआ। किन्तु ये युति शाश्वत नहीं, इसीलिए यह आत्मा के मूलरूप में परिवर्तन नहीं करती, अपितु नानाविध आवरण, यूनिफॉर्म से नानाविध कर्मों को अनुसार उसकी प्रतीति कराती है।

जहां आत्मा को कर्ता और भोक्ता कहा गया है, वहां उसके कर्ताभाव और भोक्ताभाव से युक्त होने की बात है, जो

अंतःकरण के आवरण से युक्त होने पर प्रतीत होती है। मूल रूप में आत्मा अकर्ता और अभोक्ता ही है। जीवत्व की स्थिति में चेतन कार्याभिमान से युक्त हो जाता है इसीलिए कर्ता भाव का रोपण उसमें हो जाता है। ब्रह्मत्व की स्थिति में उस कार्यभेदजनक अभिमान का नाश हो जाता है इसीलिए वह अकर्ता है। ब्रह्म और उनकी अभिन्नतद्रूपता की शक्ति माया, अथवा शिव-शक्ति, प्रकृति-पुरुष, अथवा उन्हें चेतन एवं चितिशक्ति कहें, इसके मध्य दो प्रकार के सम्बंध हैं। जब यहां शक्तितत्त्व शिवतत्व को बाहरी भाव से आवृत्त करके रहती है जो चेतन की जीव संज्ञा हो जाता है, और जब उसी की वह शक्ति अंदर में समाहित रहती हैं, तो उस चेतन की ब्रह्म संज्ञा होती हैं। ब्रह्म और जीव हैं एक ही चेतन, किन्तु उनकी ही शक्ति माया के स्थानबद्ध स्थिति से उस चेतन की ब्रह्म और जीव संज्ञा होती रहती है।

अभेद दो में होता है, एक में नहीं। जीव बिम्ब है ब्रह्म का। जैसे आपका बिम्ब दर्पण में बनता है वैसे ही ब्रह्म का बिंब माया में बनता है। बिम्ब का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं, वो बस उसकी प्रतीति मात्र है। प्रतीति ही भ्रम है और इसी का नाश ब्रह्मज्ञान है। आत्मरूप का ध्यान और ब्रह्म का ध्यान एक ही है। ब्रह्म का रूप ही आत्मरूप है। इसीलिए सनकादि हरि: शरणम् में भी अपना ही चिंतन करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है कि अपने को जो मान लिया, जो चिंतन कर लिया वही धर्म हो गया, वही सत्य हो गया, वही तत्वज्ञान या ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार हो गया। आपके सोच लेने मात्र से सूर्य प्रकाशहीन तो नहीं हो जाएगा, या फिर विष्ठा सुगंधित तो नहीं हो जाएगी। जो जैसा है, वैसा ही रहेगा। आपकी धारणा आपका दृष्टिकोण मात्र है। वह सत्य के अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी हो सकती है। इसीलिए अपने चिंतन को श्रुति, स्मृति, पुराण आदि के मापदंडों पर खरा उतार कर ही उस चिंतन की कल्याणकारिता को परखना चाहिए।

--*

योगमार्ग की मीमांसा

योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश पाँच क्लेश हैं।
अविद्याऽस्मिता रागद्वेषभिनिवेशाः पंच क्लेशाः।
(योगदर्शन)

व्यास जी ने इन्हें विपर्यय कहा है और इनके पाँच अन्य नाम बताए हैं- तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र। इन क्लेशों का सामान्य लक्षण है - कष्टदायिकता। इनके रहते आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। इनमें से विशेषकर अभिनिवेश के लक्षण के विषय में कहते हैं :-

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः
(योगदर्शन)

जो सहज अथवा स्वाभाविक क्लेश विद्वान् और अविद्वान् सभी को समान रूप से होता है वह पाँचवां क्लेश अभिनिवेश है। प्रत्येक प्राणी-विद्वान्, अविद्वान् सभी की आकांक्षा रही है कि उसका नाश न हो, वह चिरंजीवी रहे। इसी जिजीविषा के वशीभूत होकर मनुष्य न्याय अन्याय, कर्म कुकर्म सभी कुछ करता है और ऊँच नीच का विचार न कर पाने के कारण नित्य नए क्लेशों में बँधता जाता है, वह क्लेश अभिनिवेश है। शुक्र में चेतन का अभाव नहीं होता, रज में होता है। शुक्र का चेतन स्वतंत्र नहीं है, अपितु वह पुरुष की ही जीवनीय शक्ति का विस्तार करने वाला अंश है। उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह पुरुष के ही जीवनीय शक्ति का अंश है। और जब वह योनि के माध्यम से गर्भ में प्रविष्ट होता है तो चुम्बक के समान आकर्षित होकर रजकण से आबद्ध हो जाता है और तब उसके अवयव स्त्री की जीवनीय शक्ति का अंश बन जाते हैं। शुक्र और रज क्रमशः पुरुष और स्त्री के जीवनीय शक्ति के विस्तार विभाग, प्रजनन विभाग का अंश हैं। जीवात्मा अन्न के माध्यम से शुक्र में पहुंचता है और फिर वहां से रज से आबद्ध होता है। जीव का निर्माण नहीं होता, नाश नहीं होता। ये सब विकार देह के हैं, आत्मा के नहीं। जीव की स्थापना, उसका प्रवेश होता है। जीव हेतु बन रहा शरीर जब इतना सक्षम हो जाता है कि वह आत्मा को धारण करने में समर्थ हो जाये तो फिर जीवात्मा हृदय, कंठ आदि मर्मों का आश्रय लेकर वायु के समान उसमें व्याप्त हो जाता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। इस अनुसार जीव अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। इस अनुसार जीवात्मा जन्म और मृत्यु, निर्माण और विनाश से रहित है। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो। इस अनुसार यह अजन्मा, नित्य, अविनाशी और प्राचीन है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

जिनका अन्त होता है, विनाश होता है वे सब अन्तवाले हैं। जैसे मृगतृष्णादिमें रहनेवाली जलविषयक सत्बुद्धि प्रमाणद्वारा निरूपण की जानेके बाद विच्छिन्न हो जाती है वही उसका अन्त है वैसे ही ये सब शरीर अन्तवान् हैं तथा स्वप्न और मायाके शरीरादि की भाँति भी ये सब शरीर अन्तवाले हैं। इसलिये इस अविनाशी अप्रमेय शरीरधारी नित्य आत्मा के ये सब शरीर विवेकी पुरुषों द्वारा अन्तवाले कहे गये हैं।

लेकिन इस जीवित पिंड में प्रथम तीन चार मास माता की जीवनशक्ति का अंश है और आत्मा के प्रवेश के बाद वह स्वतंत्र जीव का स्वतंत्र देह हो जाता है। हां, शेष गर्भकाल केवल इसीलिए है कि शरीर के सभी अंग बन सकें। प्राणशक्ति जिसमें हो वही प्राण है। इस प्राण शक्ति का प्रत्यक्ष रूप श्वास है और यही श्वास जब विशेष रूप में शरीर से नियंत्रित और स्वचालित न होकर मन से संचालित होने लगे तो प्राणायाम हो गया। प्राण का जीवात्मा से यही सम्बन्ध है कि यह शरीर में आत्मा की ऊर्जा को प्रसारित करने का कार्य करता है। प्राण शरीर और आत्मा के बीच सम्पर्क का माध्यम है।

प्राण न रहे, केवल आत्मा रहे, तो व्यक्ति कोमा में जा सकता है। आत्मा न रहे, केवल प्राण रहे, तो मृत देह कभी सड़ेगा नहीं। इसीलिए मृत्यु वही है जहां प्राण और आत्मा दोनों साथ निकलें। इसीलिए कहते हैं, प्राण पखेरू उड़ गए। यहां पखेरू शब्द उसी पक्षी रूप हंस जीव का वाचक है। प्राण न रहे इसका अर्थ ये नहीं कि प्राण है ही नहीं। अपितु प्राण उस स्तर तक क्रियाशील नहीं है। जैसे विकलांग के भी पैर होते हैं, गूंगे का भी वौइस बॉक्स और मुंह होता है, लेकिन उस स्तर का क्रियाशील नहीं रहता। आत्मा और शरीर के मध्य जिस स्तर का प्राण चाहिए, उतनी पर्याप्त प्राण शक्ति न रहने को ही मैंने प्राण का अभाव बताया है, क्योंकि ऐसे में शरीर आत्मा की ऊर्जा से संचालित होने वाले मुख्य कार्य नहीं कर पाता। दो बार जाता नहीं है। जाता एक ही बार शुक्र के माध्यम से है लेकिन वह अति सूक्ष्म प्रारूप में केंद्रित रहता है। वही पन्द्रह सप्ताह में अचानक से निर्मित देह में मस्तिष्क के आधार पर व्याप्त हो जाता है।

प्राणः प्राणयते प्राणं
(अग्नि पुराण)
जलात्संभवति प्राणः प्राणाच्छुक्रं विवर्द्धते।
(वायुपुराण)
प्राणः स्वदेहजो वायुः
(अग्नि पुराण)

प्राण वह तत्व है, जिसकी उपस्थिति से शरीर की चैतन्यता प्रत्यक्ष होती है। जल से प्राण उत्पन्न होता है और यह प्राण ही आगे प्रजनन शक्ति का धारक भी है। किन्तु केवल जल से नहीं, अपितु जलयुक्त देह से ही यह वायुरूप में उत्पन्न होता है। शास्त्र के अध्ययन से बुद्धि के लक्षण सामने आने लगते हैं। केवल पढ़ने नहीं कहा, धारण, उहापोह,

अर्थविज्ञान, बोध और आचरण की भी बात है। धारण करने का कार्य पहले इंद्रियों के माध्यम से मन में जाता है। वहां मन में उहापोह होता है, जिसके बाद अधिक शुद्ध होकर वह तथ्य बुद्धि के पास अर्थविज्ञान हेतु जाता है। अर्थविज्ञान दृढ़ होने पर अहंकार तत्व उसे चित्त को साक्षी और संग्रहण हेतु निमित्त बनाकर आचरण में प्रवृत्त करता है। इस पूरी प्रक्रिया में लगे सभी मन आदि तत्वों की श्रृंखला या समूह की 'धी' संज्ञा है। यदि मन के मध्य हुए उह एवं अपोह (उहापोह या पक्षापक्ष) में धर्म का पक्ष अर्थविज्ञान से सिद्ध हुआ तो उसे सुधी या विवेक कहते हैं। इसके विपरीत होने पर कुधी या अविवेक कहते हैं। इसीलिए विवेकी लोगों को सुधिजन भी कहते हैं।

शास्त्रों का आश्रय लेकर ही धर्म और अधर्म दोनों किये जा सकते हैं, बुद्धि की निश्चयात्मिका शक्ति का पलड़ा जिधर भारी हुआ, उधर से। इसीलिए कश्यप की ही सन्तान होने पर भी सुर और असुर में भेद हो गया। आपके चिंतन से सूर्य प्रकाशहीन तो नहीं हो जाएगा। या फिर विष्ठा सुगंधित तो नहीं हो जाएगी। जो जैसा है, वैसा ही रहेगा। आपकी धारणा आपका दृष्टिकोण मात्र है। वह सत्य के अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी हो सकती है। निश्चयात्मिका होने पर प्रकृति की बुद्धि संज्ञा होती है। जब इसके निश्चय का माध्यम आत्मोद्भूत होता है तब यह स्वप्रत्यनेया है, अन्यथा परप्रत्यनेया।

स्वप्रत्यनेया :- भीष्म द्वारा अम्बा आदि का हरण।
परप्रत्यनेया :- शूर्पणखा के प्रेरित करने पर रावण द्वारा सीता जी का हरण।

कर्म दोनों समान है, लेकिन कर्म की प्रेरणा में स्रोत भेद है। यहाँ यदि आपको उदाहरण नकारात्मक लगे, तो मोक्षपरक एवं ब्रह्मविद्या के उदाहरण में ऐसे समझें।

स्वप्रत्यनेया :- वामदेव एवं दत्तात्रेय जी की ब्रह्मज्ञान हेतु बुद्धि की अन्तःस्थित प्रेरणा।
परप्रत्यनेया :- नचिकेता एवं इन्द्र आदि की ब्रह्मज्ञान हेतु बुद्धि की बाह्याचारों (यमराज एवं उमा) से उद्भूत प्रेरणा।

परेण धाम्ना समनुप्रबुद्धा मनस्तदा सा तु महाप्रभावा,
यदा तु सङ्कल्पविकल्पकृत्या यदा पुनर्निश्चिनुते तदा सा।
स्याद्बुद्धिसंज्ञा च यदा प्रवेत्ति ज्ञातारमात्मानमहंकृतिः स्यात्,
तदा यदा सा त्वभिलीयतेऽन्तश्चित्तं च निर्धारितमर्थमेषा॥
(प्रपञ्चसारतंत्र, प्रथम पटल, १०२-१०३)

साक्षी, कारण तथा अंतर्यामी के रूप में परं धाम चिद्रूप पुरुष के साथ सम्बद्ध महाप्रभावशालिनी यह प्रकृति जब संकल्प-विकल्प करती है तब इसे मन कहा जाता है। निश्चयात्मिका होने पर बुद्धि और कर्ताभिमान से युक्त होकर पुरुष

के स्थान पर स्वयं को कर्ता मानने पर अहंकार कहलाती है। साक्षीभूत आत्मा में लीन होने पर इसी प्रकृति की चित्त संज्ञा हो जाती है। संस्कार उन सूक्ष्म स्मृतियों को कहते हैं जो हमारे कर्मफल के कारण हमारे चित्त में सुरक्षित हो जाते हैं। वे भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी समाप्त नहीं होते और नवीन शरीर के साथ पुनः जागृत होते हैं। इन संस्कारों के दो भेद होते हैं, आगत एवं अर्जित। आगत संस्कार पिछले कर्मफल के समूह होते हैं जो प्रारब्ध रूप में साथ चलते हैं। अर्जित संस्कारों के चार समान भाग होते हैं :-

1. अपनी स्वयं की बुद्धि जो वस्तुतः आगत संस्कारों से प्रेरित होती है।
2. जीवन के अलग अलग परिस्थितियों में बिताए गए समय के अनुसार मिली चित्तवृत्तियां।
3. साथ में बिताए गए कर्मचारी, सहपाठी, पड़ोसी, गुरुजन आदि की संगति के प्रभाव।
4. आहार, चिंतन, आदि के कारण बने शरीर में ऊर्जा प्रवाह आदि।

आप अपने नेत्र खुले रहेंगे तो आप ही केवल सबको देख सकते हैं। ऐसे ही जिसे आत्मबोध होगा केवल वही सबों को ब्रह्म देख सकता है। लेकिन आप यदि दिल्ली में आंख खोलकर एक बार देख लें और मुंबई में खड़े होकर बन्द कर दें तो आपको मुम्बई नहीं दिखेगी। ऐसे ही आत्मबोध जिस रूप में हुआ है उसी रूप में आपको ब्रह्मदर्शन होगा। जिस जिस स्थान या रूपभेद में आपने नहीं खोला, वहां नहीं दिखेगा।

अद्वैतं ते परं रूपं वेदागमसुनिश्चितम्। नमामो ब्रह्म विज्ञानगम्यं परम गोपितम्॥
सृष्ट्यर्थं सशरीरा त्वं प्रधानं पुरुष: स्वयम्। कल्पितं श्रुतिभिस्तेन द्वैतरूपा त्वमुच्यसे॥
(महाभागवत में द्वैताद्वैत की शंका के सन्दर्भ में त्रिदेवों का एकमत से निर्णय)

ब्रह्म अद्वैत है, यही परमसत्य है किंतु जब वह सृष्टि हेतु सगुण रूप धारण करता है तो हम उसे द्वैत के रूप में कल्पित कर लेते हैं ऐसा वेद और तन्त्र का निश्चय है। जैसे स्फटिक के ऊपर लाल फूल रखने से स्फटिक भी लाल वर्ण का प्रतीत होने लगा लगता है वैसे ही बुद्धि और इन्द्रिय के सानिध्य से आत्मा की भी वैसी ही विकृतियुक्त प्रतीति होती है। वस्तुतः मन, बुद्धि एवं अहंकार ही फल के भोक्ता हैं किंतु उनसे अपने आप को भिन्न न मानने के कारण वह उपभोग आत्मा को प्राप्त होते प्रतीत होते हैं :-

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनोऽपि तथा गतिः। मनोबुद्धिरहंकारो जीवस्य सहकारिणः॥
स्वकर्मवशतस्तात फलभोक्तार एव ते। सर्वं वैषयिकं तात सुखं वा दुःखमेव वा॥
(महाभागवत)

जैसे जल के साथ ठंडक हो जाने से हम उसे बर्फ के रूप में ठोस देखने लगते हैं ऐसे ही मन आदि से युक्त होकर आत्मा भी सविकार लगने लगता है। जल का गुण ही शीतलता है। बर्फ में उसका गुण ठंडक नहीं, तुषार कहाता है।

जल में तुषार या ऊष्मा की प्रतीति शीत या ताप आदि गुणों के कारण है जबकि शीतलता उसका सहज स्वभाव है। ऐसे ही आत्मा जब चित्त आदि से युक्त होती है तो उपभोक्ता के जैसे प्रतिभासित होती है। जैसे रस्सी में सांप की प्रतीति होने पर भय लगता है किंतु आपके भय के कारण रस्सी आपको काट नहीं सकती, भले ही आपका भय कितना भी वास्तविक क्यों न हो, ऐसे ही आत्मा केवल सुख दुख आदि का उपभोग करने वाली लगती है, चाहे वह अनुभव कितना भी वास्तविक क्यों न लगे, उसका प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता यदि वह मोहमुक्त है तो।

ज्ञान ही ब्रह्म है और ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है। अज्ञान कोई अलग तत्व नहीं है। अज्ञान एक स्थिति है जो माया से निर्मित है। आप स्वयं को देह से भिन्न नहीं देख पा रहे जबकि ज्ञानी देख पा रहा है। इसीलिए भ्रम के कारण आपने अनेकों जन्मों में मृत्यु का स्वाद चखा है और उसके अनुभव से परिचित होने के कारण भय लगता है। ऊपर हमने योगदर्शन की इसी बात को अभिनिवेश के नाम से कहा। भ्रम से ही भय होता है। यह भ्रम ही है कि आप देह हैं। यह भी भ्रम ही है कि आपकी मृत्यु होती है। आपको ज्ञात नहीं कि आप देह नहीं हैं, और मृत्यु देह की होती है। इसीलिए भ्रम से भय होता है।, ज्ञान से अभय होता है। जैसे स्वप्न में भोजन करने से यहां पेट नहीं भरता। स्वप्न में नहाने से यहां नहीं भीगते, वैसे ही जगत के भोगों के प्रति आत्मा निर्लेप रहती है।

शिव जी ने माहेश्वर तंत्र में यह बात कही है कि द्वैत वालों का जीवन अद्वैत के खण्डन में और अद्वैत वालों का जीवन द्वैत के खण्डन में बीतता है। एक दूसरे के खण्डन की बजाय ब्रह्मचिन्तन करें तक अधिक सार्थक होगा, यह बात है। हर चिंतन बुद्धि नहीं है। हर सोच जो है वो बुद्धि नहीं, भ्रम है। बुद्धि बोध कराने वाले चिन्तन को ही कहते हैं, किसी भी चिंतन को नहीं। बुद्धि तभी सार्थक है, उसकी निश्चयात्मिका शक्ति तभी सार्थक है जब वह चित्त के साक्षीभाव को प्रधान बनाकर अहंकार के कर्ताभाव पर हावी कर दे।

जैसे आप भोजन करते हैं, तो उसे पचाने में आपको क्या कभी कर्ताभाव आया ?? रात को सोये हुए जब सांस लेते हैं तो कभी कर्ताभाव आया ? उसी सिस्टम को इधर लेकर आना है। मान लें कि आप पूजन करने बैठे। और सामने कोई अति भूखा असहाय बैठा है और आप उसकी उपेक्षा कर रहे हैं तो आपकी पूजा भी भ्रष्ट हो गईं । भगवान् को विश्वात्मा कहा गया। विश्व की आत्मा वही हैं और विश्व में सर्वत्र वहीं आत्मरूप से भी हैं। इसीलिए मूर्तिपूजा का भाव ही यही है कि जड़ चेतन, सर्वत्र ब्रह्मभाव पुष्ट हो।

जीव को यह अनुभव होना चाहिये कि वह ब्रह्म ही है किंतु उसमें जीवत्त्व का आरोपण हो गया है, और उस जीवत्व का कारण उसकी ही आत्मशक्ति, माया है। और यदि यह अद्वैतमत समझ न आये, द्वैतभाव बना रहे तो भक्तिसूत्र का आश्रय लेकर साधना करे, जाने अनजाने स्मरण बनाये रखने का काम करे। सोकर उठने के बाद, जम्हाई लेने के बाद अनजाने में बिना भक्ति के नाम लेते हैं न। या घृणा की वस्तु को देखकर भी राम राम शब्द तो निकलता ही है। यही

धोखे से नाम लेना हुआ। जप और स्मरण में भेद समझें। मामनुस्मर का भाव जो गीता में कहा, उसे जप नहीं कहते। और यदि कहें भी तो वे अजपाजप कहायेंगे। यानी बिना जपा हुआ जप। जप हेतु सदैव माला, कम से कम करमाला तो प्रयोग करना ही चाहिए, अन्यथा उस जप की राक्षसी संज्ञा होती है।

लेकिन यह बात अद्वैती के लिए नहीं। विंशतिका शास्त्र में आचार्य वाग्भव ने उदाहरण दिया है। बांझ औरत का बेटा मरे या जिये, क्या हानि और क्या लाभ ? वैसे ही अद्वैती के लिए संसार रहे न रहे, क्या हानि, क्या लाभ ? जैसे बांझ औरत का बेटा अपने आप ही मिथ्या है, वैसे ही अद्वैती के लिए संसार। जिसके लिए संसार ही मिथ्या है, उसके लिए क्या संसारजन्य गुण और दोष ? अभेद दो में होता है, एक में नहीं। जीव बिम्ब है ब्रह्म का। जैसे आपका बिम्ब दर्पण में बनता है वैसे ही ब्रह्म का बिंब माया में बनता है। बिम्ब का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं, वो बस उसकी प्रतीति मात्र है। प्रतीति ही भ्रम है और इसी का नाश ब्रह्मज्ञान है। यहाँ अद्वैत वाले भी भेद नहीं बताते, भेद की प्रतीति बताते हैं।, और उसी प्रतीति के नाश का उपाय भी। जैसे रस्सी में सांप की प्रतीति होती है और उसी प्रतीति का नाश तत्वज्ञान है।

अद्वैत मत वाले के लिए भेद करना मना है। द्वैत वाले तो कर ही सकते हैं। जैसे ब्राह्मण शराब पिये तो अधर्म, जबकि शूद्र के लिए नहीं। शूद्र वेद पढ़े तो अधर्म, लेकिन ब्राह्मण के लिए नहीं। जो अद्वैत मत का अनुयाई है, वह भेद नहीं देखे, यह भाव है। लेकिन उसके अभेदबुद्धि का परिणाम वेदोक्त लौकिक मर्यादाहनन में लक्षित न हो, यह भी स्मरणीय है। जीवत्व की स्थिति में चेतन कार्याभिमान से युक्त हो जाता है इसीलिए कर्ता भाव का रोपण उसमें हो जाता है। ब्रह्मत्व की स्थिति में उस कार्यभेदजनक अभिमान का नाश हो जाता है इसीलिए वह अकर्ता है।

हमारा, जब आप स्वरूप कहते हैं, तो वह सदा साकार ही होता है। रूप है तो आकार के साथ ही होगा। इसीलिए स्वरूप सही शब्द नहीं। ऐसे कहिये, कि हम निराकार हैं, लेकिन प्रकृति जन्य गुणों के कारण स्वरूप धारण करके साकार के समान लक्षित होते हैं। यदि वास्तव में साधक उस स्थिति में पहुंच गया है, तो दया और क्रोध दोनों से मुक्त रहेगा। वह ब्रह्म हो जाता है, और ब्रह्म का स्वभाव शिव है, शिव मतलब कल्याणकारी। इसीलिए कल्याण हेतु वह दया या क्रोध करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। कल्याण के लिए, मोक्ष के लिए किसी जाति विशेष का होना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मण वर्ण की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है और इससे मोक्ष की प्राप्ति सुलभ भी है किंतु यह एकमात्र मार्ग नहीं है। सद्गति सबों की हुई जो भी प्रपन्न भाव को अपना सका। वेद, स्मृति, पुराण, आगम आदि के विरुद्ध गए बिना, अपने कर्तव्य का पालन और अधिकारों का उपभोग करके कर्मयोग का आश्रय लेकर भी ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है।

मंदोदरी च शबरी च मतंगशिष्यास्तारा तथात्रिवनिता निपुणा त्वहल्या ॥
कुन्ती तथा द्रुपदराजसुता सुभक्ता एताः परं परमहंससमाः प्रसिद्धाः ॥
(गर्ग संहिता)

मंदोदरी (राक्षस की पुत्री और पत्नी), शबरी (भील जाति की निरक्षर सीधी साधी महिला), तारा (वानर साम्राज्ञी) अनुसूया (परम उच्चस्तरीय साध्वी पतिव्रता), अहल्या (ऋषि पत्नी), कुंती (परम विदुषी राजमाता), द्रौपदी (अग्निकुंड से उत्पन्न काली का अवतार) जानते हैं इन सब की क्या गति हुई ? परमहंस जैसी सद्गति .. परमहंस संन्यास की सबसे बड़ी स्थिति है। आजकल तो कोई भी यह उपाधि लगा ले रहा है। लेकिन वास्तविक परमहंस और भगवान् में इतना ही भेद है कि भगवान् चमड़े की आंखों से नहीं दिखते और परमहंस दिखते हैं। परमहंस के उदाहरण अष्टावक्र जी, शुकदेव जी, गोरक्षनाथ जी, लोमश मुनि, दत्तात्रेय भगवान् आदि हुए हैं। इन बड़े बड़े अवतारी योगियों को जो मोक्षदायिनी सद्गति मिली, वही इन महिलाएं के लिए भी दी गयी। इतना ही नहीं, धर्मव्याध नामक कसाई, कणप्प नामक भील और तुलाधार नामक बनिया का भी उद्धार हुआ। रैदास जैसे चमार से लेकर नरसी मेहता जैसे व्यापारी का भी हुआ। क्यों हुआ ? क्योंकि भगवान् का केवल एक ही कहना है :-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

अपने अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्म करके ही मनुष्य कल्याण को प्राप्त करता है और वो कैसे होता है, ये सुनें !! जहाँ से सम्पूर्ण ब्रह्मांड का जन्म हुआ है और जो इस ब्रह्मांड के प्रत्येक कण में व्याप्त है, उस परब्रह्म की पूजा करके ही मनुष्य कल्याण को प्राप्त करता है।

और कैसे करनी है पूजा ? स्वकर्मणा। अपने कर्म से। आपका कर्म क्या है ? दया, परोपकार, त्याग, सहनशीलता, धर्मरक्षा, असहायों की सेवा और सम्मान जैसे मानव धर्मों के साथ साथ अपनी जाति, वर्ण, आश्रम के द्वारा बताए गए कर्म को ही ईश्वर की सेवा मानकर करने कहा। इसी से मुक्ति है। यदि ये कर रहे हैं, तो बाकी देवालय आदि की पूजा भी सार्थक है अन्यथा नहीं। लेकिन कर्म करने की एक विशेष विधि भी बताई। वह विधि क्या है ?

यह कि भगवान् का स्मरण बना रहे। जैसे हम जो भी कर रहे हैं, वह नर रूप में नारायण सेवा है, यह मानकर। मामनुस्मर युद्ध्य च। अपने लिए विहित हर कर्म करो किन्तु स्मरण ब्रह्म का बना रहे। इसके अलावा जो भी कमाओ, खाओ, दान करो, सेवा करो, सब के लिए भगवान् को धन्यवाद देते हुए उसका फल, उसका श्रेय, उसका आभार भगवान् के प्रति समर्पित करते रहो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान करता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर। इतना ही करना है इस कलिकाल में। ये करना है मात्र। और क्या नहीं करना है ? दवा तो बता दी, अब परहेज सुनें।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधः तथा लोभ स्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध, तथा लोभ – ये तीन नर्क के द्वार, आत्मा की अधोगति करनेवाले हैं; अतः इनका त्याग करना चाहिए ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

इनसे मुक्त होकर , पतन के तीनों द्वारों से बचकर आचरण करने से ही मोक्ष रूपी परम गति मिलती है। यह मानवमात्र के लिए है, कोई बंधन नहीं। हां, जहां शिक्षा देनी हो, धर्मरक्षा करनी हो, वहां दुष्टों के दमन हेतु, ज्ञान की प्राप्ति हेतु, सन्तुलित रूप से क्रोध, लोभ आदि का प्रदर्शन अनुचित नहीं, लेकिन वे आपके नियन्त्रण में रहें, आपको वे नियंत्रित न करने लगें।

--*

अध्यात्ममार्ग एवं विज्ञान

नए नवेले अध्यात्म की ओर आने वाले लोगों को लगता है कि मन की शक्ति सबसे बड़ी है, जबकि ऐसा नहीं है। विशेषकर रामपाल, ओशो, कृष्णमूर्ति, या फिर पाश्चात्य देशों के घोषित कथित आध्यात्मिक जनों को जानने, पढ़ने वाले लोग जो सनातन की मूल गुरुपरम्परा के इतर जाकर खुद से बिना गुरु के मार्गदर्शन के ही शास्त्रालोक का ज्ञान लेने लगते हैं, उन्हें यह भ्रम शीघ्र होता है।

यह भ्रम इसीलिए होता है क्योंकि उन्हें परिभाषाओं का स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं रहता। बुद्धि, चित्त आदि मन से परे है। मन सबसे शक्तिशाली तत्व नहीं है। मन वकील है, वह तर्क वितर्क करता है। वह मोलभाव करता है, सङ्कल्प विकल्प करता है। इसीलिए वह सबसे शक्तिशाली नहीं है।

परेण धाम्ना समनुप्रबुद्धा मनस्तदा सा तु महाप्रभावा यदा तु सङ्कल्पविकल्पकृत्या
(प्रपञ्चसार तन्त्र में आद्यशंकराचार्य जी के वचन)

लेकिन मन से बड़ी बुद्धि है क्योंकि वह निर्णय देती है, निश्चयात्मिका शक्ति की स्वामिनी होने से बुद्धि, मनरूपी वकील से बड़ी है, वह न्यायाधीश है।

यदा पुनर्निश्चिनुते तदा सा स्याद्बुद्धिसंज्ञा
(प्रपञ्चसार तन्त्र में आद्यशंकराचार्य जी के वचन)

हालांकि बुद्धि की अपेक्षा चित्त की प्रधानता है, साक्षीभाव का स्वामी होने से, वृत्तियों का संग्राहक होने से वह बुद्धि से भी श्रेष्ठ है।

यदा सा त्वभिलीयतेऽन्तश्चित्तं च निर्धारितमर्थमेषा॥
(प्रपञ्चसार तन्त्र में आद्यशंकराचार्य जी के वचन)

आद्यशंकराचार्य जी ने कहा है :- चिदचिद्ग्रंथिश्चेतस्तत् ... जब शक्ति चेतन के अंदर होती है, तो उस शक्ति को माया और चेतन को ब्रह्म कहते हैं। और यदि बाहर रहती है, तो अविद्या कहाती है। यह अविद्या योगदर्शन में वर्णित अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि के साथ रहने वाली पहली अविद्या नाम वाली क्लेश है जो मोक्ष में बाधक है। इस समय उसी चेतन की जीव संज्ञा होती है। इसी व्यतिक्रम में मायाकृत जड़ और ब्रह्मांश जीव के मध्य जो ग्रंथि है, वह चित्त है और वही सबसे शक्तिशाली है। वह सबसे शक्तिशाली इसीलिए है क्योंकि मन, बुद्धि आदि के लीन हो जाने

पर भी वह मोक्षप्राप्ति तक बना रहता है :- अक्षयं ज्ञेयमामोक्षात्।

चित्त के अधीन बुद्धि है और बुद्धि के अधीन मन है, मन के अधीन प्राणशक्ति है जो तन्मात्राओं का नियंत्रण करता है। उन तन्मात्राओं से इंद्रियां कार्य करती हैं जो देह के चैतन्यमय होने का अनुभव कराती हैं।

प्राणानां आध्यात्मिकानामिन्द्रियाणां पतिर्मुख्यः प्राणः
(महाभारत)

इंद्रियों का स्वामी प्राणवायु है। यह दो प्रकार की होती है, मुख्य और क्षुद्र। मुख्य प्राण में प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान होते हैं। क्षुद्र प्राण में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय होते हैं। ये पूरे शरीर का नियंत्रण कक्ष के समान हैं। छींक आने से लेकर भूख लगने तक, पलक झपकने से लेकर हृदय धड़कने तक, प्रसव कराने से लेकर बाल बढ़ने तक गर्मी या ठंड लगने से उंगलियों को चटकाने तक, भोजन पचाने से लेकर शौच कराने तक का काम ये सब संचालित करती हैं। इसमें पुनः प्राण, अपान, व्यान आदि के भी सात सात भेद होते हैं। उदाहरण के लिए प्राण शक्ति के प्रथम भेद यानी मुख्य प्राणों में प्रथम प्राण के भी उर्ध्वनामक अग्नि, प्रौढ़नामक आदित्य, अभ्यूढ़ नामक चन्द्रमा, विभुनामक पवमान अथवा वायु, योनिनामक अप् अथवा जल, प्रियनामक पशु, और अपरिमित नामक प्रजा आदि प्रकार होते हैं।

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥
योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥
योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥
योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥
योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥
योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥
योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥
योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥
(अथर्ववेद)

इसमें भी एक एक प्रकार आपके इन्द्रिय, मन, आदि पर बहुत बारीक प्रभाव डालता है। जैसे प्राणशक्ति का प्रथम प्रकार (मुख्य) के भी प्रथम प्रकार प्राणवायु का जो छठा भेद है, जिसे हमने प्रियनामक पशु संज्ञक कहा, उसे ही कारण आपके दिमाग में लज्जा, भय अथवा लोभ जैसी भावनाएं आती हैं। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीसरे अध्याय में कहा :-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

बाह्य परिच्छिन्न और स्थूल देह की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तरस्थ और व्यापक आदि गुणों से युक्त होनेके कारण श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंको पर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षा संकल्पविकल्पात्मक मन को श्रेष्ठ कहते हैं और मन की अपेक्षा निश्चयात्मिका बुद्धि को श्रेष्ठ बताते हैं। एवं जो बुद्धिपर्यन्त समस्त दृश्य पदार्थों के अन्तरव्यापी है जिसके विषय में कहा है कि उस आत्माको इन्द्रियादि आश्रयों से युक्त काम ज्ञानावरण द्वारा मोहित किया करता है वह (बुद्धि का द्रष्टा चेतन) है।

आपको कई बार जो मिलता है, क्या उसके बारे में आपको मेहनत करनी पड़ती है ? कई बार जो मिला क्या वास्तव में वो आपने अपने परिश्रम से पाया ?? कई बार बहुत कुछ बिना किये मिलता है, कई बार करने के बाद भी नहीं मिलता। जीवन खेती की तरह है। यहां किसान की मेहनत ही पर्याप्त नहीं हैं। बीज की गुणवत्ता, खेत की उर्वरता, मौसम का हाल और फसल की सुरक्षा भी आवश्यक है। परिश्रम एवं भाग्य, दोनों एक ही रथ के दो पहिये हैं, एक के बिना दूसरा व्यर्थ है। दोनों साथ मिलकर सफलता को जन्म देते हैं।

जीवन में केवल परिश्रम ही नहीं, सही समय, सही स्थान, सही दिशा और सही नियोजन भी आवश्यक है। और सबसे बड़ी बात, आज का फल कल ही मिले, आवश्यक नहीं। क्योंकि धान की फसल चार महीने में तैयार होती है जबकि गन्ने की फसल एक साल में। आज जो आम खा रहे हैं, वो बीस वर्ष पहले लगाया गया था। आज जो आम लगाया है, वो बीस वर्ष बाद फलेगा। हाँ, ये बात अवश्य है कि प्रत्येक कर्म आम ही नहीं होता, वो मिर्च भी हो सकता है, शीघ्र फलित हो सकता है, किन्तु प्रत्येक कर्म मिर्च भी नहीं होता, आम भी हो सकता है। यही प्रारब्ध है और ऐसा ही जीवन भी है।

मन की शक्ति सङ्कल्प विकल्प करने की है, निर्णय लेने की, निश्चय करने की नहीं।

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति
तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।
(छान्दोग्योपनिषत्)

इसी प्रकार मन से जो श्रेष्ठता से युक्त है, वह बुद्धि तर्क वितर्क नहीं करती, वह निर्णय देती है, निश्चय करती है। तो क्या सङ्कल्प विकल्प, तर्क वितर्क करने वाला मन छोटा हो गया, महत्वहीन हो गया ? नहीं ऐसा नहीं है।

तानि ह वा एतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषाँ सङ्क्लृप्त्यै वर्षँ सङ्कल्पते वर्षस्य सङ्क्लृप्त्या अन्नँ सङ्कल्पतेऽन्नस्य सङ्क्लृप्त्यै प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्राणानाँ

सङ्क्लृप्त्यै मन्त्राः सङ्कल्पन्ते मन्त्राणाँ सङ्क्लृप्त्यै कर्माणि सङ्कल्पन्ते कर्मणां सङ्क्लृप्त्यै लोकः सङ्कल्पते लोकस्य सङ्क्लृप्त्यै सर्वँ सङ्कल्पते स एष सङ्कल्पः सङ्कल्पमुपास्स्वेति ।
(छान्दोग्योपनिषत्)

सङ्कल्प की शक्ति अद्भुत है। सङ्कल्प विकल्प, तर्क वितर्क, उहापोह (आज की भाषा में साईंटिफिक रिसर्च) की शक्ति के ही कारण आकाश, पृथ्वी, अंतरिक्ष, प्रकाश, ध्वनि, तरंग, अन्न, अनेकों प्रकार की प्राण शक्ति आदि का ज्ञान सम्भव है। इससे मन प्राण, शरीर आदि को निर्देश कर पाता है, इसी ज्ञान के कारण सही निर्णय तक पहुंचकर कर्म करने की योग्यता आती है, इसीलिए इस शक्ति की, मन की अधिवक्ता शक्ति को धारण करना चाहिए।

तन्मात्रा वह माध्यम है जिससे इंद्रियों को अपने सम्बंधित विषयों को ग्रहण करने की शक्ति मिलती हैं। जैसे आप अपने वाहन के माध्यम से गंतव्य तक जाते हैं वैसे ही इंद्रियों को अपने विषय तक पहुंचने के लिए तन्मात्रा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, नेत्र रूपी इन्द्रिय, रूप तन्मात्रा के माध्यम में दृश्य रूपी विषय को ग्रहण करती है। अथवा कर्ण रूपी इन्द्रिय, शब्द तन्मात्रा के माध्यम से ध्वनि रूपी विषय को ग्रहण करती है। यदि तन्मात्रा न रहे तो आंख और कान रहने पर भी व्यक्ति अंधा या बहरा हो जाएगा।

अपने शरीर की तन्मात्रा का संचालन प्राण करता है। वही इंद्रियों के तन्मात्रा से प्राप्त विषयों को मन तक ले जाता है। जैसे जब शरीर की ऊर्जा क्षीण होती है तो कृकल नाम का क्षुद्र प्राणवायु मन को यह सन्देश देता है कि भूख लग रही है और तब वह ऐसे हॉरमोन या रसायन को निकालता है जिससे व्यक्ति की भोजन करने की इच्छा होती है। ऐसे ही जब हमारी आंखों को पलक झपकाना होता है तो यहां कूर्म नामक क्षुद्र प्राणवायु कार्य करता है। जम्हाई लेने के लिए देवदत्त नामक क्षुद्र प्राणवायु का प्रयोग किया जाता है। ऊपर हमने सबों के नाम और विभाजन लिखे हुए हैं।

कूर्म उन्मीलने तु सः। कृकलः क्षुतकायैव देवदत्तो विजृंभणे॥
(लिंगपुराण)

इन्द्रिय और विषय की कड़ी तन्मात्रा है, यहां विषय छोटा है और इन्द्रिय बड़ी। इन्द्रिय और मन की कड़ी प्राणवायु है, यहां इन्द्रिय छोटा है और मन बड़ा। धी और आत्मा की कड़ी चित्त है, यहां धी छोटी है और आत्मा बड़ी। इसी बात को संक्षेप में हमने ऊपर श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक का उदाहरण देकर कहा है।

यहां एक नया शब्द आया :- धी। सामान्य रूप से धी शब्द का प्रयोग बुद्धि के लिए किया जाता हूं किन्तु वास्तव में धी के गुणों और चर्चा करें तो यहां इंद्रियों की ग्रहण शक्ति, मन की तर्क वितर्क की शक्ति, बुद्धि की निर्णयशक्ति और चित्त की साक्षीभाव की शक्ति सब सम्मिलित है, इसीलिए कह सकते हैं कि किसी भी वस्तु को देखने या सुनने के बाद,

सोचने विचारने के बाद, निर्णय लेकर क्रियान्वयन करने तक की प्रक्रिया में लगे समस्त तत्वों का समूह ही धी कहाता है।

अष्टाभिर्गुणैः शुश्रूषा श्रवणं ग्रहणं धारणमूहनमपोहनं विज्ञानं तत्त्वज्ञानं चेति तैः ॥
(महाभारत)

इस धी के लक्षण में ऊपर दिए सूत्र में विज्ञान शब्द भी आया है। इस विज्ञान से जो वस्तु हम नहीं जानते, जिस बात का हमें बोध नहीं होता, वो बात भी हम जान जाते हैं, उस बात का निश्चयात्मिका रीति से बोध भी हमें हो जाता है, यह हमारे सनातन धर्म का उद्घोष है।

अविज्ञातस्य विज्ञानं विज्ञातस्य च निश्चयः
(अग्निपुराण)

यह विज्ञान आखिर करता क्या है ?

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति ।
(तैत्तरीयोपनिषत्)

विज्ञान से यज्ञ का विस्तार होता है। अन्य अभी कर्मों का भी विस्तार होता है। सभी देवता अपने आप में विज्ञान ही हैं। और इसी विज्ञान का आश्रय लेकर ब्रह्म की उपासना भी की जाती है। इसीलिए एक प्रकार से विज्ञान ही ब्रह्म है, हम ऐसा भी कह सकते हैं। इसीलिए विज्ञान के माध्यम से शरीरजन्य पापकर्मों का, अशुभ वृत्तियों का नाश करके सभी कामनाओं की प्राप्ति करता है, ऐसा वेदवाक्य है।

आज हम दुनिया भर में कहते फिर रहे हैं कि धर्म में क्या रखा है, विज्ञान को पकड़ो, वैज्ञानिक बनो, विज्ञान श्रेष्ठ है। किंतु जो सनातन को जानता है, वही सच्चा वैज्ञानिक है। विज्ञान कैसा हो ? पाप्मनो हित्वा, पाप का नाश करने वाला हो। आज के मूर्ख वैज्ञानिक पाप के लिए ही विज्ञान को बढ़ा रहे हैं। हमारे यहां तो यज्ञ तक विज्ञान से ही होते हैं :- विज्ञानं यज्ञं तनुते।

इस विज्ञान को, जो आज के वैज्ञानिक समझ रहे हैं, यह ऐसा ही नहीं हैं। अभी तो केवल चमड़े की आंखों और शरीर से देखे, सुने और समझे जाने वाले आधिभौतिक पटल पर विज्ञान के अति लघु प्रारूप पर अनुसंधान चल रहे हैं, वो भी ऐसे कि प्रत्येक दो तीन दशक में किसी का नियम, किसी का सिद्धांत गलत सिद्ध होकर नया सिद्धान्त और रिसर्च आ जाता है। आधिदैविक-आध्यात्मिक पटल के विज्ञान तक तो मनुष्य जा ही नहीं रहा, जहां तक हमारे महर्षि गए थे।

विज्ञान के ध्यान, चिंतन से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जाना जा सकता है।महाभारत, रामायण आदि इतिहास, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, वैदिक और पौराणिक ज्ञान, मृत्यु के बाद की स्थिति को प्राप्त पितृगण, दिव्यलोकों के देवता, भूमि की खनिज सम्पदा, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, विद्युत, कीट, पतंग, अणु परमाणु, सूक्ष्मदर्शी जीव, वायुमंडल, श्राद्धकल्प, व्याकरण आदि शब्दविधान, सामुद्रिक विज्ञान, भविष्यदर्शन, तर्कशास्त्र, आपदाप्रबंधन, वनस्पति, परिवहन, औषधि, प्रजनन, ब्रह्मविद्या, युद्धक हथियार, अंतरिक्ष, सौरमंडल, कृषि आदि से भोजनविज्ञान, चिकित्सा, धातुविज्ञान, यांत्रिकी, वास्तुविद्या, राजनीति, न्यायशास्त्र, संचार माध्यम, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य सबका ज्ञान केवल विज्ञान से ही सम्भव है। केवल वैज्ञानिक ही इनको जान सकता है।

अब आप ही बताइए, क्या कुरान और बाइबल वाले लोग किसी भी प्रकार से ये बात अपने ग्रंथों से सिद्ध कर सकते हैं ? हमारे यहां तो विज्ञान ही ब्रह्म है। हां, लेकिन उसको अपने क्षुद्र नए नवेले मस्तिष्क से केवल किताब पढ़कर मनमाना अर्थ लगाकर नहीं, बल्कि योग्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य जी आदि की वेद, पुराण, तन्त्र, स्मृतिसम्मत गुरुपरम्परा से प्राप्त उचित अर्थबल के माध्यम से धी का प्रयोग करते हुए समझना पड़ेगा। अधजल गगरी बनकर छलकना नहीं है।

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्र विद्याँ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥
(छान्दोग्योपनिषत्)

आगे ऋषिगणों का वचन है :-

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति
यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥
(छान्दोग्योपनिषत्)

जो व्यक्ति इस विज्ञानरूपी ब्रह्म की उपासना करता है, यह वैज्ञानिक कहाता है, वही इस संसार में बुद्धिमान, विद्वान, ज्ञानवान कहाता है। वह अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने में समर्थ होता है, इसीलिए विज्ञान को जानना चाहिए, विज्ञान की उपासना (अनुसंधान) करनी चाहिए, विज्ञान को सिद्ध करके ब्रह्मबोध का प्रयोग करके मोक्षकाम होना चाहिए। हमारे यहां शालिहोत्र संहिता का पशु विज्ञान, अगस्त्य संहिता का विद्युत विज्ञान, भारद्वाज संहिता का वैमानिक

विज्ञान, चरक संहिता का चिकित्सा विज्ञान, भृगु संहिता का अन्तरिक्ष विज्ञान, वशिष्ठ संहिता का युद्ध विज्ञान आदि सबके सब विज्ञान से भरे हैं।

भगवान् भी गीता में कहते हैं :- ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि, मैं तुम्हें विज्ञानसहित ज्ञान का उपदेश कर रहा हूँ। हमारे यहां विज्ञान और धर्म भिन्न हैं ही नहीं। किन्तु यह ध्यान में रहे कि जो पाश्चात्य म्लेच्छ मंदबुद्धि कथित वैज्ञानिकों ने कहते रहते हैं, और जिनके खुद के सिद्धांत और खोज हर बीस तीस सालों में बदलते रहते हैं, उन गली के कुत्ते के समान लक्ष्यहीन केवल आधिभौतिक पटल पर विराजित अनुसंधानों को, जो कथित रूप से स्वयं को पूर्ण वैज्ञानिक मानते हैं, उनकी बातों की अपेक्षा सनातन के आधिभौतिक के साथ साथ आधिदैविक और आध्यात्मिक पटल पर विराजित कल्याणप्रद विज्ञान की ओर भी परम्परा के अनुसार, मर्यादा के अनुसार, अधिकृत रीति से तपोबल के माध्यम से अनुसंधान करें। मन की सङ्कल्प विकल्प की अद्भुत शक्ति का प्रयोग करें। मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः। मन से बड़ी बुद्धि और बुद्धि से बड़े आत्मरूप आप चेतन ब्रह्म हैं।

--*

ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग

श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञानी को सर्वोच्च भक्त बताती है। देवी भागवत ज्ञान को भक्ति का सार बताते हैं। भक्ति का फल यही है कि व्यक्ति को ज्ञान हो जाये। ज्ञान किसका ? ब्रह्म का। ज्ञान भक्ति की पराकाष्ठा है। जो जानकारी भक्ति से रहित है, वह ज्ञान नहीं, विद्वत्ता है। विद्वत्ता से प्रतिष्ठा मिल सकती है, मुक्ति नहीं। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। और ज्ञान भक्ति के बिना सम्भव नहीं, भक्ति के बिना विद्वत्ता सम्भव है।

कर्म में कुशलता से योग की सिद्धि होती है :- कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

और यदि वह योगयुक्त होकर कर्म करे तो फिर पद्मपत्रमिवाम्भसा और न हन्ति न निबध्यते की भी बात सिद्ध हो जाती है। अतएव योगयुक्त (समत्वं योग उच्यते, सुख दुःख, मान अपमान आदि में समान भाव की धारणा) इस भाव से युक्त होकर कर्म करने से ही कर्म में यौगिक बल आएगा जो कौशल का निमित्त बनेगा और वही कर्मकौशल कर्मयोग का सृजन करके योगबल के पोषण का निमित्त बनेगा।

न दानैर्न तपोभिश्च न स्वाध्यायैर्न चेष्टिभिः। अनुसन्धानतः पुंसां यथात्मा परितुष्यति॥
(बृहद्ब्रह्म संहिता)

ब्रह्मा जी ऋषियों से कहते हैं कि न दान से, न तपस्या और न स्वाध्याय अथवा यज्ञ से ही आत्मा की उतनी तुष्टि होती है जितना ब्रह्म का चिंतन करने से होती है।

विकल्पेन द्विधा भूतं देहदेहिस्वरूपकम्। सोऽयं ब्रह्मेति यत्प्रोक्तं वेद वै वेदवादिभिः॥
(मुद्गल उपपुराण)
पाशाभावे पारतन्त्र्यं वक्तव्यं किं निबंधनम्। स्वाभाविकं चेन्मुक्तेषु मुक्तशब्दो निवर्तते॥
(मृगेन्द्र तन्त्र)

शिव जी पार्वती को बताते हैं कि ये ब्रह्म अपनी ही माया से शरीर बनकर उसमें स्वयं आत्मा के रूप में निवास करते हैं, जिससे दो रूपों की प्रतीति होने लगती है, ऐसा इनके तत्व को वेदवेत्तागण जानते हैं। (भय, घृणा, जुगुप्सा आदि 8) पाशों के नष्ट होने पर कैसा बंधन औए कैसी परतंत्रता ? यहां चेतन तो स्वाभाविक ही मुक्त हो जाता है और यही मुक्ति शब्द का कारण भी है। यह सब गुरुमुख से ही ज्ञात होता है। श्री गोरक्षनाथ जी कहते हैं :-

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः। न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद् वेदपाठनात्॥

नानाविकल्पविश्रांतिं कथया कुरुते तु यः। सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्या विडम्बकः॥
(सिद्धसिद्धान्त पद्धति)

उस परमतत्व के विषय में सद्गुरु की कृपा से ही जाना जा सकता है, केवल शास्त्रों को पढ़ने से, तर्क करने से और वेद रट लेने से उसका ज्ञान सम्भव नहीं है, इसके साथ साथ सद्गुरु की कृपा और मार्गदर्शन भी चाहिए।
जिसके शास्त्रोक्त सदुपदेश से मन में उठने वाले नानाविध इच्छा, वासना, संताप आदि का शमन हो जाये, ऐसा ही व्यक्ति सद्गुरु हो सकता है, केवल इधर उधर की मायिक मिथ्या वार्ता करने वाला अथवा भौतिक सुखों की बात करने वाला सद्गुरु नहीं हो सकता।

जो शिष्य है वह गुरु बनाएगा, जो गुरु है, वह शिष्य बनाएगा। यदि आप स्वयं के अंदर शिष्यभाव देख रहे हैं तो गुरु बनाइये, यदि गुरुभाव देख रहे हैं तो शिष्य बनाइये। शिष्यत्व की सर्वोच्च अवस्था ही गुरुतत्व है। भगवान् को गुरु बना सकते हैं, वे तो जगद्गुरु हैं किंतु क्या भगवान् ने गुरु नहीं बनाए ? क्या वशिष्ठ, सांदीपनि, जमदग्नि, आदि को यह सौभाग्य नहीं मिला ? जिन भगवान् को आप गुरु बनाना चाहते हैं उन्होंने स्वयं सर्वोत्तम शिष्यत्व का उदाहरण प्रस्तुत किया है। भगवान् को गुरु बनाने का अर्थ है कि उनके द्वारा प्रवर्तित प्रत्येक शास्त्राज्ञा का पालन कर्तव्य समझ कर किया जाय।

आपको यह नहीं कहा जा रहा है कि किसी को भी गुरु बना लीजियेगा। जिसमें शास्त्रोक्त परिभाषा के अनुसार गुरुतत्व हो, वही गुरु है। गुरु कहने से नहीं होता, गुरु एक स्थिति है, उसमें स्थित सभी चेतन गुरु हैं। गुरु का कार्य मार्ग दिखा कर लक्ष्य से अवगत कराना है, जड़भरत की यात्रा पूर्ण हो चुकी थी, जब यात्रा पूर्ण हो जाये तो गुरु और शिष्य में भेद नहीं रहता।

हां, किन्तु यहाँ बात प्रस्तुति की नहीं, यथार्थ की है। किसी का स्वांग रचने से यथार्थ नहीं बदल जाता, अभिनेता के अभिनय को यथार्थ समझने वाला मूर्ख है, उसमें शास्त्र क्या करेगा .. उसने तो लक्षण बताया ही है। संन्यासी भी गुरु हो सकता है, गृहस्थ भी हो सकता है, ब्रह्मचारी भी गुरु हो सकता है, स्त्री, विधवा आदि भी गुरु हो सकते हैं। किन्तु, कब, किसके लिए, किस उद्देश्य से, इसके वर्गीकरण हेतु आगम ग्रंथों का अवलोकन करें। जैसे कई वर्षों तक मेहनत से पोषण किये गए वृक्ष का सार उसके फल के रूप में आता है, वैसे ही हज़ारों वर्षों की तपस्या सत्संग के रूप में आती है। कई बार वृक्ष में फल नहीं आते तो वह छाया, लकड़ी, पत्रादि के कारण पूरा निष्फल तो नहीं हुआ, लेकिन सार्थक भी नहीं हुआ। वैसे ही तपस्या के फलस्वरूप उसके सार के रूप में यदि सत्संग न हुआ तो भी तपस्या पूरी निष्फल तो नहीं हुई, वह भोग ऐश्वर्य आदि देगी ही किन्तु परमार्थफल को न दे सकने से सार्थक भी नहीं हुई। इसीलिए जहां सत्संग है, वहां बहुत बड़ी तपस्या का पुण्य अवश्य है तभी सत्संग है। किंतु जहां केवल तपस्या है, सत्संग नहीं, वह

तपस्या अधूरी है। जैसे हिरण्यकशिपु, रावण आदि ने भी घनघोर तपस्या की, किन्तु सत्संग के अभाव से उनकी तपस्या भौतिकवादी फल देकर ही नष्ट हो गयी।

तदर्पितं मनः कृत्वा सुवाचैव परिग्रहम्।समाप्नोति शुभान् कामान् मोक्षार्थी च परं पदम्॥
(पौष्कर संहिता)

उस ब्रह्म (नारायण) में मन को लगाकर मधुर वाणी (नाम संकीर्तन) से उस मन की स्थिति को दृढ़ करे। इससे सकाम व्यक्ति अपनी कामना को और निष्काम व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है।

भगवान् न किसी के गुण का नाश करते हैं और न दोषों का। गुण और दोष का चयन व्यक्ति स्वयं करता है, और फल भोगता है। नाम जप का उपक्रम स्वयं साधक को करना पड़ता है, तब दोषों का शमन होता है। किसी और के नाम उच्चारण को सुन कर भी दोष कटते हैं किंतु उसमें भी किसी का उपक्रम निहित है। भोजन या तो करें, या तो कोई कराए, तभी भूख मिटेगी। संसार में भोजन की उपस्थिति मात्र से भूख नहीं मिटती। भगवान् का दायित्व केवल उनके प्रति है जिन्होंने अपना दायित्व भगवान् को सौंप दिया है। शेष के प्रति केवल भगवान् कर्मफल के निष्पक्ष वितरण का ही दायित्व निभाते हैं।

दोष दोष होता है, रोग रोग होता है, चिकित्सा चिकित्सा होती है। जैसा रोग, वैसी चिकित्सा, जैसा दोष वैसा शमन। धर्म का अर्थ मान्यता या परिपाटी नहीं है जो उसके अंतर्गत क्रियाएं होंगी। क्रियाओं का उद्देश्य ही धर्म या अधर्म कहाता है। इसीलिए रावण द्वारा सीता हरण अधर्म था किंतु कृष्ण द्वारा रुक्मिणी हरण अधर्म नहीं हुआ। क्रियाओं का स्वतंत्र फल नहीं है, उद्देश्य ही फलित होता है। हमारे बाह्यकरणों की तन्मात्रा और विषयों से जन्य संस्कार, जो अंतःकरण में सुरक्षित हैं, उनमें जो तमोप्रधान हैं, उनका नाश, उन दोषों से मुक्ति। मल, विक्षेप आदि दोषों से मुक्ति।

मनुष्य ही सद्विवेकयुक्त होने से ऐसा करने में सक्षम है, शेष भोगप्रधान होने से स्वभावतः नहीं कर सकते, इसीलिए मनुष्य ही प्रधान बिंदु है। दोष स्थूल भी हैं और सूक्ष्म भी। स्थूल इन्द्रियगत विषय स्थूल हैं, मनोगत विषय सूक्ष्म हैं। सबों की निवृत्ति। क्रिया की संज्ञा को कर्ता की संज्ञा इसीलिए मानना चाहिए क्योंकि युद्धरूपी क्रिया से योद्धागण की वीरता रूपी विशेषता लक्षित होती है। गायन रूपी क्रिया से गायकों के माधुर्य की विशेषता लक्षित होती है। दान रूपी क्रिया से दाताओं की उदारता की विशेषता लक्षित होती है। इसीलिए दोषमुक्ति रूपी क्रिया से सनातन धर्म के हिंदुत्व की विशेषता लक्षित होती है।

मनसो वासना येयं सा मुक्तेः परिपंथिनी। तच्छुद्ध्या शुद्ध्यति क्षेत्री दुष्टया दूष्यते च सः॥
(विष्णु संहिता)

यह जो मुक्ति में बाधक वासना है, वह मन से ही उत्पन्न जाननी चाहिए। उसकी शुद्धि में जीव की शुद्धि होती है और उसके दोष के आवरण से जीव भी दोषयुक्त हो जाता है। ** यहां जीव सदा निर्मल होते हुए भी सदोष प्रतीत होता है, जैसे राख से अग्नि, धूल से दर्पण और जेर से गर्भ आवृत्त रहता हैं, वैसे ही यहां दोषयुक्त आवरण से आवृत्त जीव का संकेत है।

धर्म बोध स्वभावतः भी होता है, उत्प्रेरित भी होता है। शास्त्रबल के बिना धर्म का पालन सम्भव नहीं, क्योंकि वह भ्रामक होता है, किन्तु आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् आदि सद्विवेकी को स्वभावतः भी समझ में आ जाते हैं। मुर्गी पहले या अंडा पहले को धर्म पर लागू न करें, धर्म का पालन करें मुर्गी की रक्षा करें।

शबरी की भक्ति में कोई कमी थी क्या ? किन्तु भगवान् ने उन्हें दर्शन देने के बाद क्या किया ? ब्रह्मज्ञान का ही तो उपदेश किया…
अर्जुन की भक्ति में कोई कमी थी क्या ? भक्ति के वश में ही तो भगवान् ने उनका रथ हांका। किन्तु गीता का उपदेश दिया न।

गोपियों को बीच में मत लाइएगा। वे वेदमन्त्रों की अवतार थीं, स्वयं प्रज्ञानरूपा थीं। उनसे ही ज्ञान का निःसरण होता है। उद्धव का ब्रह्मज्ञान अधूरा था, पूर्ण नहीं था। इसीलिए वेदरूपा गोपियों ने उन्हें पराजित किया। गोपियाँ गंवार नहीं थीं, वे श्रुतियों की अवतार हैं। उद्धव को गोपियों के पास इसलिए नहीं भेजा गया था कि गोपियों को समझा सकें, गोपियाँ पहले से समझ कर बैठी थीं। उद्धव जी को ही समझाना था। बाद में भगवान् ने धराधाम छोड़ने से पूर्व भी उद्धव जी को लम्बा उपदेश और ब्रह्मज्ञान दिया कि नहीं ?

भजन की परिभाषा क्या है ? अनहद नाद बजे नित भीतर … शब्द ब्रह्म का प्रणव नाद ही ब्रह्मज्ञानियों के अंदर गुंजायमान रहता है। उन्हें भजन करना नहीं होता, स्वाभाविक ही उनका भजन होता रहता है। केवल करताल लेकर उच्चस्वर में गायन को भजन नहीं कहते। ज्ञानी को पार होने की क्या आवश्यकता है ? जब ज्ञान हो गया, ब्रह्मबोध हो गया, आत्मदर्शन हो गया तो स्वतः ही पार हो गया। अब वो अलग से कहाँ से पार होगा ?? पार होने का प्रमाण ही तो ज्ञान है। इसीलिए भगवान् ने कहा ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ज्ञानी स्वयं नारायण है।
भक्त परम वेदांती होता है महोदय .. यह धारणा कहाँ से आ जाती है कि भक्ति और वेदान्त एकदम पूर्व और पश्चिम की भांति हैं। ऐसा नहीं, भक्ति तो वेदान्त रूपी सूर्य के लिए पूर्व दिशा का कार्य करती है। वेदान्त रूपी सूर्य से भक्ति रूपी पूर्व दिशा प्रकाशित होकर तिमिर नाश करती है। और भक्ति रूपी आधार का आश्रय लेकर वेदान्त दिवाकर उदित होते हैं। भक्ति की परमोच्च अवस्था ही वेदान्त है … वेदान्त को यदि भक्ति से निकाल दिया जाये तो भक्ति मोह और भ्रम का भी कारक बन सकती है, क्योंकि आराधक तो साईं के भी भरे पड़े हैं। इसीलिए भगवान् विष्णु का, ब्रह्मदेव का

और भगवान् शिव का आध्यात्मिक गोत्र क्रमशः अच्युत, स्वयम्भू एवं निरंजन के नाम से आगम में वर्णित है।

स्त्री का आकर्षण होने के लिये स्त्री और पुरूष जैसे शारीरिक भेद, रूप और कुरूप जैसे दर्शन भेद, रति और विरक्ति जैसे कामना भेद का होना आवश्यक हैं ब्रह्मज्ञानी जब सबको ब्रह्मरूप ही देखेगा तो उपर्युक्त भेद दिखेंगे ही नहीं, फलतः आकर्षण नहीं होगा। उसके लिए कोई भी कर्म सदाचार या दुराचार नहीं होता। वो इससे भी परे होता है। वह केवल यह देखेगा कि यहां यहां प्रकृति के गुणों में विक्षेप हो रहा है, अच्छे कर्म होंगे तो सत्वगुण का, बुरे कर्म होंगे तो तमोगुण का। उसके लिए सभी घटनाएं केवल गुणों की उठापटक होती है।

अलग अलग मुण्ड में अलग अलग मति होती है, इसीलिए किसी के मुण्ड का अभिषेक होता है, तो किसी के मुण्ड का छेदन… वेदनिंदा, शास्त्रनिन्दा, देवनिन्दा, धर्मनिन्दा आदि करने वाले का देर सबेर मुण्ड छेदन हो ही जाता है, चाहे प्रजापति दक्ष हों, देवराज नहुष हों, उपरिचर वसु हों या ब्रह्मदेव हों। आत्मा जब स्वयं को माया के आवरण के अंदर देखता है, तो कर्म करता हुआ कर्ताभाव से युक्त होता है। आत्मा जब स्वयं को माया के आवरण से मुक्त देखता है, तो कर्म करता हुआ भी कर्ताभाव से मुक्त हो जाता है। हत्वापि स इमान्लोकान्न हन्ति न निबध्यते। कर्म तो चेतन को ही करना है, क्योंकि कर्म में चेतन ही सक्षम है किंतु जब वह जब माया से युक्त है तो कर्ताभाव से भी युक्त है और जब माया से मुक्त है तो कर्ताभाव से भी मुक्त है।

ब्रह्म की सत्ता तो आप अविद्या के रहते भी मान रहे हैं। किंतु अविद्या के कारण भेद दिखता है। उसके नाश होने पर भेद नहीं दिखता। फिर आप केवल आत्मरूप को देखते हैं, यह ब्रह्म है या जीव, ऐसा चिंतन ही नहीं रहता। यहां कहने का भाव यह है कि जैसे अभी आपके इष्ट आदि के रूप में आपसे भिन्न कोई ईश है, अथवा आपके पिता पुत्रादि के रूप में आपसे भिन्न कोई जीव है, ऐसी दृष्टि है। किंतु अविद्या का नाश होने से आप स्वयं में और इष्ट में, अपने और संसार के अन्य जीवों में भेद ही नहीं देख पाएंगे। केवल सर्वत्र एक ही दृष्टि का दर्शन होगा।

भक्ति का सर्वोच्च स्तर ज्ञानी का है जो स्वयं भगवद्रूप है। बाकी भक्तों को तो भगवान् मिलते हैं, लेकिन ज्ञानी भक्त को तो स्वयं भगवान् आत्मरूप कर लेते हैं। बाकी भक्त तो भगवान् की सेवा करते हैं, लेकिन भगवद्रूप होने से ज्ञानी और भगवान् की एकाकारता होती है और यही अद्वैत को पुष्ट करता है।

भक्त का ज्ञानी होना अनिश्चित है किंतु ज्ञानी का भक्त होना अवश्यम्भावी। जैसे फल का आम होना अनिश्चित है, लेकिन आम का फल होना अवश्यम्भावी। जैसे फल के कई प्रकारों में आम एक प्रकार है इसीलिए वह निश्चित रूप से फल है, किंतु सारे फल आम नहीं, वैसे ही भक्त के कई प्रकारों में ज्ञानी एक प्रकार है इसीलिए वह निश्चित रूप से भक्त है, किंतु सारे भक्त ज्ञानी नहीं।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

भक्ति फल है, और ज्ञान आम। हरेक आम फल है, लेकिन हरेक फल आम नहीं। हरेक ज्ञानी भक्त है, लेकिन हरेक भक्त ज्ञानी नहीं। भक्ति समष्टि है और ज्ञान व्यष्टि। जब ज्ञानी, भक्त का ही एक प्रकार है तो आप तुलना किस आधार पर कर रहे हैं ? उच्च विद्यालयों में दसवीं कक्षा सर्वोच्च कक्षा है। अब आप बताएं कि विद्यालय बड़ा है या दसवीं कक्षा ? दसवीं कक्षा का हरेक विद्यार्थी उसी विद्यालय का है, किंतु उसी विद्यालय का हरेक विद्यार्थी दसवीं कक्षा का नहीं है। वैसे ही हरेक ज्ञानी भक्त है, किंतु हरेक भक्त ज्ञानी नहीं है।

भक्तिरूपी घर के चार तल्ले हैं :- आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। ज्ञानी चौथा तल्ला है। ज्ञानी रूपी तल्ले का हरेक सदस्य भक्ति रूपी घर के अंतर्गत है। किंतु भक्ति रूपी घर का हरेक सदस्य (जिसमें आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तल्ले भी हैं), ज्ञानी तल्ले का सदस्य नहीं है। इसीलिए हरेक ज्ञानी, भक्त तो है, किंतु हरेक भक्त ज्ञानी नहीं है। भक्ति के बिना ज्ञानी हुआ ही नहीं। विद्वान् और ज्ञानी में भेद है। विद्वान् अनेक शास्त्रों का ज्ञाता भले हो जाये लेकिन भगवद्रूप नहीं हो सकता, जबकि ज्ञानी होता है :- ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। भक्ति की ही सर्वोच्च स्थिति ज्ञानी की है। शास्त्रों में जहां ज्ञान को भक्ति से कम बताया है, वहां जिस ज्ञान की तुच्छता बताई गई है, वह पांडित्य ज्ञान है, वह तो रावण के पास भी था। और यहाँ जिस भगवद्रूपी ज्ञानी की चर्चा कर रहे हैं, वह ब्रह्मबोध से युक्त शुकदेवजी जैसों की बात है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त: से भी यही प्रमाणित होता है कि भक्ति की सर्वोच्च स्थिति ज्ञानोदय की ही है, जिसके बाद आपको यह एहसास होता है कि प्रथम श्रेणी (आर्त) में जिसकी आप शरण में जाकर रो रहे थे, द्वितीय श्रेणी (अर्थार्थी) में जिससे आप याचना कर रहे थे, तृतीय श्रेणी (जिज्ञासु) में आप रोना और मांगना छोड़कर जिसे जानने का प्रयास कर रहे थे, उसे आप अंत में चौथी श्रेणी (ज्ञानी) में पहुंच कर जान चुके हैं। द्रौपदी की साड़ी जब खींची जा रही थी, तब उसे ज्ञानी, जिज्ञासु, और अर्थार्थी के स्तर की नहीं, आर्त की ही आवश्यकता थी। इसीलिए भगवान् ने कहा :- उदारा: सर्व एवैते। रोना है तो भगवान् के सामने, मांगना है तो भगवान् है, जिज्ञासा हो तो भगवान् की, जानो तो भगवान् को। इतना ही तो रहस्य है। जब स्वयं ब्रह्म होकर भगवान् श्रीकृष्ण सुदामा जी के लिए रो सकते हैं, तो क्या भगवद्रूप ज्ञानी नहीं रो सकता ?? हां, वह स्वयं के लिए नहीं रोता किंतु परदुःखकातर होकर तो द्रवित होता ही है।

तुलसीदास जी जैसे महापुरुष को आर्त पसन्द था, वे आर्त बने रहे। गय, नृग आदि को अर्थार्थी भाव पसन्द था, वो वैसा बन गए। उपमन्यु, अर्जुन आदि को जिज्ञासु भाव पसन्द था, वो वैसा बन गए। अष्टावक्र, शुकदेवजी आदि को ज्ञानी भाव पसन्द था, वे ज्ञानी बन गए। लेकिन एक बात याद रहे, आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु ये सभी ज्ञानी की ही शरण में जाते हैं, ज्ञानी इनकी शरण में नहीं जाता। भक्तजन पुनः जन्म लेकर भक्ति करना चाहते हैं। चाहने को तो शरभंग जी, शुकदेवजी, भीष्म पितामह आदि भी यही मांग सकते थे, लेकिन उन्होंने जन्मान्तरों की कामना नहीं की। क्योंकि उन्हें पता था कि जन्मान्तरों के बाद भी मिलना वही है, जो आज मिल रहा है, फिर वहाँ तक पहुंचने में इतना विलम्ब

क्यों ? वहीं अनेकों जन्मों की चाह वाले इस प्रभुरस की लोलुपता में रह गए कि अंत में जब मिलना ब्रह्म में ही है तो हड़बड़ी क्या है ? जब तक विकल्प है तब तक इधर ही सगुण का आनन्द लो। यह तो उपासकों के अपने अपने भाव है, जिन्हें जो अच्छा लगा, ले लिए। तुलना की कोई बात ही नहीं। ब्रह्मबोध से युक्त ज्ञान वाला सद्विवेक ही ज्ञान है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष तो केवल पाण्डित्यपूर्ण विद्वत्ता है। यदि उसके साथ ब्रह्मवाद है, तब तो ठीक, अन्यथा ब्रह्मवाद से हीन होकर वह ज्ञान भी हानिकारक है। ज्ञानी हो गया मतलब कि टिकट खरीद ली, गाड़ी में बैठ गया। अब जितना भी समय लगेगा, वह यात्रा में ही लगेगा। मार्ग से च्युत नहीं होगा। जबकि आर्त भक्त दुःख की खिन्नता से, अर्थार्थी भक्त लोभ से, जिज्ञासु भक्त भ्रम से च्युत हो सकता है। लेकिन ज्ञानी भक्त खिन्नता, लोभ और भ्रम से परे होने के कारण सही पटरी पर सही गंतव्य की सही गाड़ी पकड़ चुका है। वह च्युत नहीं होगा। अब जो समय लगेगा वह यात्रा में ही लगेगा और धीरे धीरे उसे लक्ष्यसिद्धि भी हो जाएगी। आर्त को यह ज्ञात है कि भगवान् की शरण में जाकर पुकार लगाने से आए हुए दुःख दूर होंगे। लेकिन वह यह नहीं जानता कि वह कौन सी विधि है कि दुःख आये ही नहीं। आये हुए दुःख को तो भगवान् दूर कर देंगे लेकिन दुःख को आने ही न दिया जाय, यह कैसे हो, यह उसे ज्ञात नहीं।

अर्थार्थी को यह पता है कि भगवान् से जिस सकाम वस्तु की इच्छा करोगे वह पूरी होगी। लेकिन सकाम वस्तु की इच्छा ही न हो, यह कैसे हो, यह उसे ज्ञात नहीं। जब वह आये हुए दुःख और इच्छा के निवारण के स्थान पर उनके आगमन पर ही प्रतिबंध लगाना चाहता है तो उसे ब्रह्मजिज्ञासा होती है। यह जिज्ञासा इतनी तीव्र होती है कि अब उसके पास केवल एक ही दुःख शेष है, भगवान् को न जान पाने का दुःख। एक ही इच्छा शेष है, भगवान् को जानने की इच्छा। तब वह जिज्ञासु बन जाता है, और किसी पूर्व जिज्ञासु, जो कि अब तक ज्ञानी बन चुका है, उसकी शरण में जाता है। ज्ञानी उसे ब्रह्मविद्या का बोध कराकर अपने ही समान ज्ञानी बना लेता है। अब उसे गंतव्य का पता है, मार्ग और लक्ष्य का पता है। अब वह जान चुका है कि जो दुःख दूर करता था, इच्छापूर्ति करता था, वह कौन है। जिसे वह जानना चाहता था, वह कौन है। और यहीं से उसकी भगवत्प्राप्ति की यात्रा शुरू होती है। ब्रह्मबोध दत्तात्रेय जी को हुआ, ऋषभदेव जी को हुआ, शुकदेवजी को हुआ, जो अच्युत रहा। शेष जन अभी प्रक्रिया में थे इसलिए बीच बीच में मोहित हो जाते थे। बाद में जब प्रक्रिया पूर्ण हो गयी तो स्वतः जालमुक्त हो गए। साथ ही भविष्य की लीलाओं हेतु इनकी गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति पूर्वनिर्धारित थी। लोग भक्त और ज्ञानी, दोनों को अलग अलग समझ लेते हैं। उन के लिए भक्त मतलब भावुक और ज्ञानी मतलब पत्थर होता है। जबकि ऐसा नहीं है, भक्तिमार्ग क्या है ? ज्ञानी सबसे बड़ा भक्त होता है। भगवान् ने भक्तिमार्ग के ही साधक, यानी भक्त के चार प्रमुख प्रकार बताये हैं, इसमें सबसे निम्न कोटि आर्त यानि भावुक भक्त की ही है और सबसे उच्च कोटि ज्ञानी की है। ज्ञानी से बड़ा भक्त कोई नहीं। और भगवान् ने भी वेदांत चिंतन, आत्ममंथन की ही प्रधानता बताई है, भक्ति तो मात्र अहंकार के नाश और तन्मयता की प्राप्ति की हेतु है।

--*

तन्त्र एवं स्वभाव

स्वभाव का लौकिक अर्थ है प्रतिक्रिया। व्यक्ति कैसी प्रतिक्रिया देता है, अलग अलग स्थिति में। इच्छा के अनुकूल और विरुद्ध घटनाओं में उसकी प्राकृतिक प्रतिक्रिया उसका स्वभाव है। किन्तु इसके निर्माण में प्रारब्ध, वृत्ति, संस्कार, उद्देश्य, मानसिक स्थिति, आदि सबों का प्रभाव रहता है। इसीलिए यह शुद्ध रूप से स्व भाव नहीं है। यौगिक दृष्टि से 'स्व' भाव आत्मतत्व का भाव है। आत्मभाव की जो बातें गीता के छठे, दूसरे और आठवें-नवें आदि अध्याय में बताई गई है, इसके अनुसार नित्य, कूटस्थ, निर्लेप, अविनाशी, अनादि आदि सूक्ष्म विशेषता तथा सोलहवें अध्याय की दैवी सम्पदा के अनुसार प्रत्यक्ष सत्वयुक्त उर्ध्वगामी लक्षण ही स्व भाव हो जायेगा।

ब्रह्मकर्म स्वभावजम् आदि में जो शब्द है, उसकी लौकिक परिभाषा ही होगी। अर्थात् पूर्वजन्म वाले कर्मफल, संस्कार, वृत्ति आदि से जो वर्णादि का निर्धारण हुआ है, उससे सम्बंधित स्वभाव कर्मफल के उपभोग हेतु निश्चित किये गए हैं। उस वर्ण के अंतर्गत एवं उसके अंतर्गत निहित जातियों के अनुरूप सहज कर्म का अर्थ है, उसके सामाजिक कर्तव्य जो उसकी आजीविका के अनुरूप भी हो, उसे करना। जैसे कोई शूद्र वर्ण का है, तो उसमें ब्राह्मण की भांति सावित्री सन्ध्या वंदन नहीं है। ब्राह्मण यदि न करे तो वह घोर पाप का भागी बनेगा और शूद्र को करना नहीं है। अब यदि शूद्रवर्ण में मछुआरे की जाति में है, तो उसे मछली मारने का दोष नहीं लगेगा, जबकि ब्राह्मण या क्षत्रिय मछली नहीं मार सकते। ऐसे ही वैश्य वर्ण वाला है तो व्यापार कर सकता है और करना भी चाहिए ही, किन्तु ब्राह्मण व्यापार नहीं कर सकता। वैश्य वर्ण में यदि गोपालक जाति का है तो दूध आदि का विक्रय कर सकता है, जबकि ब्राह्मण गोपालन करते हुए भी दूध विक्रय का अधिकारी नहीं है।

ऐसे ही ब्राह्मण अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ नहीं कर सकता, ये क्षत्रिय ही करेगा। क्षत्रिय यज्ञ अनुष्ठान नहीं करा सकता, वेद पढ़ सकता है, भीष्म आदि की भांति मांडलिक धर्मोपदेश का दिग्दर्शन भी कर सकता है किन्तु व्यासपीठ का अधिकारी नहीं है। तो किसी के लिए एक ही कर्म धर्म है, तो दूसरे के लिए अधर्म। इसीलिए यदि किसी को अपने वर्ण और जाति आधारित निश्चित कर्तव्यों में कोई दोष दिखे तो उसमें उसे चिंता नहीं करनी चाहिए, दोषयुक्त होने पर भी उसे करना चाहिए। यहां किसी का अधिकार हनन नहीं होता, बल्कि अपने अपने कर्तव्य की मर्यादा का पालन मात्र होता है। महानुभावों ! वर्तमान ब्रह्मा ने वेदों की ग्यारह सौ से अधिक शाखाएं प्राप्त की हैं। उनमें से अपनी योग्यता के अभाव में हम 99 प्रतिशत खो चुके हैं। बचे एक प्रतिशत में भी उसके 99 प्रतिशत का सही अर्थ, भाव, उद्देश्य, सन्दर्भ जानने की चाहत और परिश्रम नहीं बचा रखी है लोगों ने। इसीलिए अयुतांश के आधार पर वेदों में ये नहीं, वो नहीं कहना घोर अधर्म है। सागर की गहराई जानने के लिए उसके पानी को बोतल में बंद करके नहीं पता लगा सकते। हमारे महाभारत आदि इतिहास, रुद्रयामल आदि तन्त्र, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, मनु आदि स्मृति ग्रंथों में जो भी बातें हैं, सबका आधार वेद ही है इसीलिए उनमें लिखी बातों को अक्षरशः वेद ही जानिए आप। कोई अलग से प्रेस वाले

छाप कर वेद बताकर कहें तभी वेद है, ऐसा नहीं है। जो वेदसम्मत ग्रन्थ के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं, उनकी वाणी भी वेद ही का वाक्य समझिए क्योंकि वे वेदों की ही बात कहते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के काली खण्ड में अक्षोभ्य रुद्र ने तारा देवी को निम्न उक्ति कही है :-

परान्नं च परद्रव्यं तथैव तु परिग्रहम्। परस्त्रीं परनिंदां च मनसापि विवर्जयेत्॥
जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ परिग्रहात्। मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने ?

इन श्लोकों में स्पष्ट है कि अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को दूसरे के अन्न, धन, स्त्री आदि की कामना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा उसका नाश हो जाता है। क्या ऐसा सदाचरण विश्वशांति का निमित्त नहीं बनेगा ?

स्त्रियो देवाः स्त्रियो सृष्टिः स्त्रियः कल्याणकारिणी !
स्त्रीरूपं तु महेशानि यत्किंचित् जगतीतले। एका चेत् युवती पूज्या समस्ते जगतीतले॥
स्त्रीणां दर्शनमात्रेण जगतीतलपूजनम्। कृतं भवति देवेशि ! नात्र कार्या विचारणा॥
(शक्तिसंगम तन्त्र, काली खण्ड)

उपर्युक्त श्लोकों में स्त्रियों के सम्मान और गरिमा की बात जो शिव जी ने कही है, क्या उसपर आचरण करने से नारी सशक्तिकरण नहीं होगा ? दुर्गा पूजा में प्रतिमा निर्माण हेतु वेश्या के घर से मिट्टी लाने का आचार कई परम्पराएं पालन करती आ रही हैं। इसको माध्यम बनाकर परम मूढ़ता और मूर्खता से ग्रस्त कुमार्गगामी नरपिशाच गण श्रीदेवी के सन्दर्भ में अनर्गल प्रलाप करते रहते हैं। सबसे पहले हम वेश्या की तन्त्रोक्त परिभाषा देखेंगे :-

कुलमार्गे प्रवृत्ता या सा वेश्या मोक्षदायिनी। एवंविधा भवेद्वेश्या न वेश्या कुलटा प्रिये॥

शिव जी कहते हैं, कि व्यभिचार में रत कुलटा स्त्री को तन्त्र में वेश्या नहीं कहा गया है, अपितु कुलमार्ग में स्थित जो मोक्ष को देने वाली साधिका है, उसे वेश्या कहा गया है। अब कुलमार्ग क्या है, यह गुरुपरम्परागम्य गूढ़ शाक्ताचार से सम्बंधित है, इसीलिए अधिक नहीं लिखूंगा, किन्तु सामान्य परिभाषा बताता हूँ :-

कुलं कुंडलिनी शक्तिरकुलन्तु महेश्वरः। कुलाकुलस्यतत्वज्ञः कौल इत्यभिधीयते॥
(कुलार्णव तन्त्र)
शिवलिंगगता साध्वी शिवलिंगगता सती। शिवलिंगगता वेश्या कीर्तिता सा पतिव्रता॥
(निरुत्तर तन्त्र)

कुण्डलिनी शक्ति को कुल और परमशिव को अकुल कहा गया है, इन दोनों का रहस्य जानने वाला ब्रह्मवेत्ता ही कौल यानी कुलमार्ग का अनुसरण करने वाला है। तन्त्र की परिभाषा के अंतर्गत जिस वेश्या का वर्णन है, वह परम साध्वी होती है। शिवलिंग (ब्रह्मभाव की पहचान) में जो स्थित है, वही साध्वी, सती, वेश्या है और उसे ही पतिव्रता कहा गया

है। यहां साध्वी, सती, पतिव्रता तो ठीक है, किन्तु वेश्या शब्द का अर्थ विरोधाभासी होने से इसका कारण निम्न उक्ति से स्पष्ट किया गया है :- वेश्यावद्भमते यस्मात्तस्माद्वेश्या प्रकीर्तिता। जैसे (लोक)वेश्या बिना किसी के प्रति आसक्ति रखे केवल धनपरायणा होकर स्वच्छन्द विहार करती है, वैसे ही (बिना किसी के प्रति आसक्ति रखे केवल ब्रह्मपरायणा होकर) स्वच्छन्द विहार करने वाली होने से ऐसी साधिका को वेश्या कहा गया है।निग्रहागमतन्त्रशास्त्र में पराशक्ति को तीन नामों से बुलाया गया जो अति रहस्यमय हैं। वेश्या, कुलटा एवं असती। वेश्यं मोक्षं ददाति सा वेश्या, कुलमटति सा कुलटा, यस्या उपरि नास्ति सत्ता सासती। जो वेश्य अर्थात् मोक्ष को दे वह वेश्या है। जो प्रत्येक कुल में कुलदेवी रूप से भ्रमण करे वह कुलटा है। जिसके ऊपर किसी का शासन नहीं, वह असती है। अतएव तन्त्रशास्त्र को गुरुमुख से ही सुनना चाहिए। अब यह वेश्या सात प्रकार की होती है । गुप्तवेश्या, महावेश्या, कुलवेश्या, महोदयावेश्या, राजवेश्या, देववेश्या एवं ब्रह्मवेश्या, ये सात प्रकार की वेश्याओं का वर्णन तन्त्र में है। गरुड़ पुराण, नारद पुराण, गर्ग संहिता आदि में निम्न सात तीर्थपुरियों को मोक्षदायिनी बताया गया है :-

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
(मायापुरी हरिद्वार को कहते हैं)
गुप्तवेश्या महावेश्या कुलवेश्या महोदया। राजवेश्या देववेश्या ब्रह्मवेश्या च सप्तधा ॥
गुप्तवेश्या महावेश्या अयोध्या मथुरा प्रिये। माया च कुलवेश्या स्यात् महोदया च कालिका ॥
राजवेश्या देववेश्या द्वारका परिकीर्तिता। कांची च राजवेश्या स्याद्देववेश्या अवन्तिका ॥
द्वारावती ब्रह्मवेश्या सप्तैते मोक्षदायिका ॥
(निरुत्तर तन्त्र)
कुलपूजां विना देवि तत्वज्ञानं न जायते। तत्वज्ञानं विना देवि निर्वाणं नैव जायते ॥

इसी प्रकार हमारे पुराणों में वर्णित सात महान् मोक्षमूलक तीर्थों का भी तन्त्र में यही संकेत है :-अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, अवन्तिका एवं द्वारिका, ये क्रमशः गुप्तवेश्या, महावेश्या, कुलवेश्या, महोदयावेश्या, राजवेश्या, देववेश्या एवं ब्रह्मवेश्या हैं। द्वारिका को मतांतर से राजवेश्या अथवा देववेश्या भी कहा गया है। इस प्रकार से उपर्युक्त परिभाषा से युक्त साधिका के घर की मिट्टी अथवा उपर्युक्त तीर्थों की मिट्टी लेकर प्रतिमा बनाने का विधान तन्त्रशास्त्र में है। उपर्युक्त तीर्थों का सेवन करने वाला ही तन्त्रोक्त परिभाषा के अनुसार वेश्यागामी है और इसीलिए वेश्यागामी को तत्वज्ञानी एवं मोक्ष का अधिकारी बताया गया। हमारे शास्त्रों में सर्वाधिक गूढ़ और गोपनीयता की बातें तन्त्रग्रंथ में ही हैं जिन्हें समझना ऊपरी दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। बहुत से तंत्रों को जानबूझकर कर ऐसी भाषा और शैली में बताया और लिखा गया है कि सामान्य लोग उसे न जान पाएं और सिद्धियों का दुरूपयोग न हो। अतएव अपने धर्म और धर्मग्रंथों में पूर्ण आस्था रखें औए यदि कोई संदेह हो तो साधक एवं रहस्यवादियों के पास जाकर शंका समाधान करें। गूगल बाबा और पाखंडियों के फेर में न रहें।

--*

प्रश्नोत्तरी की मर्यादा

ब्रह्मदेव को प्रश्नमर्यादा का बोध कराते हुए भगवान् विष्णु के उपदेश को इस श्लोक में केरलाचार्य कहते हैं :-

क्षुद्रपाखंडधूर्तेषु श्रद्धाहीनोपहासके। ज्ञानं न तथ्यतामेति यदि शम्भुः स्वयं वदेत्॥

गीता में भी ज्ञानप्राप्ति की विधि बताई गई है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

ज्ञान को समर्पण, उचित भाव से प्रश्न और सेवा के द्वारा प्राप्त किया जाता है, इस विधि से पूछे गए प्रश्न का तत्वदर्शी ज्ञानी उत्तर देते हैं। ऊपर पूर्वलिखित श्लोक में कहते हैं कि यदि प्रश्न करने वाला क्षुद्र बुद्धि का हो, पाखंडी, धूर्त, श्रद्धाहीन और उपहास करने वाला हो, तो उसके प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहिए। ऐसा प्रश्नकर्ता यदि स्वयं शिव जी भी हों तो उत्तर न दे।

ज्ञानदीपकमासाद्य वर्ति कृत्वा सदक्षरैः। स्वरस्नेहेन संयोज्य ज्वलयेदुत्तरेन्धनैः॥

केरलाचार्य जी कहते हैं, ज्ञानदीप प्रकाश कैसे फैलता है ?? ज्ञान वह दीपक है, जिसमें उत्तम अक्षरों की बत्ती बनाकर, मधुर स्वर का तेल डालकर, तब उत्तर रूपी इंधनाग्नि का सहयोग कराने से ही वह प्रकाशित होता है।
ज्ञान गहन मन्थन का विषय है। यह परिश्रम, सौभाग्य और निष्ठा से ही प्राप्त होता है। सतही सूचना को ज्ञान नहीं कहते। हम किसी को संगीत के स्वर बता दें, तैरने की विधि बता दें, भोजनादि की विधि बता दें तो वह सतही जानकारी होगी किन्तु इससे वह ज्ञानी नहीं हो जायेगा, जब तक उसमें विधि अनुसार निरंतर परिश्रम, निष्ठा एवं सौभाग्य का नियोजन नहीं होता।

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति । तस्माद्दृष्टिविषं नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥
(नारदपरिव्राजोपनिषत्)

बुद्धिमानों को चाहिए कि प्रयत्नपूर्वक स्त्री एवं मदिरा से दूर ही रहे, एक को पीने से और एक को देखने से व्यक्ति मोहित हो जाता है। मोहित व्यक्ति कुछ भी नीति अनीति का विचार नहीं करता। जैसे ब्राह्मण के लिए भौतिक पशुबलि नहीं है, किन्तु तामसी स्वभाव वाले अन्य जनों के लिये कुछ स्थितियों में है भी। वैष्णवीतन्त्रकल्प एवं कालिका पुराण की विधि अनुसार :-

सिंहस्य शरभस्याथ स्वगात्रस्य च शोणितैः। देवी तृप्तिमवाप्नोति सहस्रं परिवत्सरान्॥

सिंह की अथवा शरभ (एक प्रकार का प्राचीन ड्रैगन के समान जीवविशेष) की बलि से, अथवा साधक के शरीर के रुधिरदान से देवी एक हज़ार वर्षों तक प्रसन्नता प्राप्त करती है।

सिंहस्य दक्षिणे दद्यात् खड्गिनोऽपि च दक्षिणे। पृष्ठदेशे न दद्यात्तु शिरो वा रुधिरं बलेः॥

सिंह और गैंडे की दक्षिणीभाग में बलि दे। बलिपशु के शिर या रक्त की बलि कभी भी पीछे की ओर न दे।

सिंहं व्याघ्रं नरं चापि स्वगात्ररुधिरं तथा।
न दद्यात् ब्राह्मणो मद्यं महादेव्यै कदाचन। सिंहं व्याघ्रन्नरं दत्वा ब्राह्मणो नरक व्रजेत्॥
इहापि स्यात् स हीनायुः सुखसौभाग्यवर्जितः। स्वगात्ररुधिरं दद्याच्चात्मवध्यामवाप्नुयात्॥
मद्यं दत्त्वा ब्राह्मणस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते। न कृष्णासारं वितरेद् बलिं तु क्षत्रियादिकः॥
ददतः कृष्णसारं तु ब्रह्महत्या भवेद् यतः। यत्र सिंहस्य व्याघ्रस्य नरस्य विहितो वधः॥
ब्रह्मणोक्ता तु बल्यादौ तत्रायं विहितः क्रमः। कृत्वा घृतमयं व्याघ्रं नरं सिंहं च भैरव॥
अथवा पूपविकृतं यवक्षोदमयं च वा। घातयेच्चन्द्रहासेन तेन मन्त्रेण संस्कृतम्॥

ब्राह्मण साधक को सिंह, बाघ, मनुष्य अथवा अपने शरीर के रक्त अथवा मदिरा से महादेवी के लिए बलि नहीं देनी चाहिए। उपर्युक्त निषिद्ध वस्तुओं से अर्चन करने वाला ब्राह्मण हीनायु और सुख-सौभाग्य से रहित होकर नरक को जाता है। अपने शरीर के रक्त को देकर उसे आत्महत्या का दोष लगता है और मदिरा देकर ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है। कृष्णसार मृग के बलिदान से ब्रह्महत्या लगती है इसीलिए क्षत्रिय आदि को कभी कृष्णसार मृग की बलि नहीं देनी चाहिए। जहां ब्राह्मण द्वारा सिंह, व्याघ्र अथवा नरबलि का विधान बताया गया है, वहां घी, पूआ या जौ के आटे का सिंह, व्याघ्र एवं मनुष्य बनाकर खड्ग को अभिमन्त्रित करके उस मूर्ति का वध करने का विधान अपनाना चाहिए।

निरिन्धनो यथा वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति। ग्राह्याभावान्मनस्तद्वत् स्वयमेव प्रलीयते॥
(शिवयोगरत्न)

जिस प्रकार ईंधन समाप्त होने पर अग्नि स्वयं शांत हो जाती है, उसी प्रकार ग्राह्य विषय के अभाव में मन स्वयं अपने स्वरूप में लीन हो जाता है। शिक्षा के बिना मनुष्य पशुवत् है। मनुष्य और पशु, दोनों ही आहार, निद्रा, आत्मरक्षार्थ किये गए उपक्रम एवं प्रजनन सम्बन्धी विषयों में साम्य रखने से एकरूप प्रतीत होते हैं किन्तु इन विषयों से इतर विशिष्ट बुद्धि को धारण करने से ही मनुष्य की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। किसी विषय के परंपरागत सांगोपांग अध्ययन की प्रक्रिया शिक्षा कहलाती है। शिक्षा के दो भेद हैं - विद्या एवं कला।

विद्या ह्यनन्ताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते। विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतु:षष्टिः कलाः स्मृताः॥

यद्यत् स्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्। शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञस्तु तत् स्मृतम्॥
(शुक्रनीति)

विद्या एवं कलाओं का कोई अंत नहीं है, इनकी गिनती कोई नहीं कर सकता, फिर भी बत्तीस मुख्य विद्याएं एवं चौंसठ मुख्य कलाएं मानी जाती हैं। जो जो काम बोलकर ठीक ढंग से पूरा किया जा सकता है, वह विद्या और जिन्हें गूंगा व्यक्ति भी कर्मेन्द्रियों की सहायता से कर सकता है, वह कला कहलाती है। समस्त वेद, उपवेद, वेदांग शास्त्र, षड्दर्शन शास्त्र, इतिहास, पुराण, स्मृति, अर्थ-काम-शिल्प-अलंकार-सूक्ति एवं काव्यशास्त्रादि, राष्ट्रभाषा, यवन एवं वैदेशिक ग्रन्थ ये बत्तीस विद्या के नाम से जाने जाते हैं।

शिक्षित होने का मूल उद्देश्य आचारवान् होना है। आचारहीन व्यक्ति शिक्षित होकर भी अकल्याणकारी होता है। आचारहीन व्यक्ति के मन में विद्यजन्य गर्व का संचार होना स्वाभाविक है :-

नाप्तोपदेशं सम्वेत्ति विद्यामत्तः स्वहेतुभिः। अनर्थमप्यभिप्रेतं मन्यते परमार्थवत्॥
(शुक्रनीति)

विद्या के मद से उन्मत्त जन अपने कुतर्कों के सामने परम् हितैषी जनों के उपदेश की भी अवहेलना कर देते हैं तथा अनिष्ट को भी अभीष्ट मानकर परमार्थ की भांति स्वीकार करने लगते हैं। किन्तु 'विद्यायाश्च फलं ज्ञानं विनयश्च' इस औशनस सूत्र से आचारवान् व्यक्ति को शिक्षित किया जाए तो ऐसा नहीं होता अपितु विद्या उसके लिए ज्ञान के साथ साथ विनम्रतारूपी फल को लेकर आती है।

पूर्वकाल में आचारयुक्त शिक्षा के कारण भारतीय समाज की चतुर्दिगुन्नति स्वयंवेद्या है। 'दशपुत्रसमा कन्या' आदि पौराणिक वाक्यों से तथा 'अङ्गादङ्गात् सम्भवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्' आदि नीतिवाक्यों से पुत्री का स्थान भी पुत्र के समकक्ष बता कर ऋषियों ने धन एवं ज्ञान की सीमा में उनके उत्तराधिकार की रक्षा एवं पोषण का कार्य किया है।

शिक्षा की परम्परा इस संसार की सबसे अधिक निःस्वार्थ परम्परा है। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि उनके नीचे रहने वाला व्यक्ति उससे अधिक पराक्रमी हो जाये, उससे अधिक सुंदर या धनी हो जाये किन्तु शिक्षक सर्वदा यही चाहता है कि उसका विद्यार्थी उससे भी अधिक निपुण एवं योग्य बने। गुरु शिष्य की परंपरा भारत के गौरवशाली महत्ता की परिचायिका है। आजकल बिना योग्यता परखे सभी जनों को केवल प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वंद्वीभाव से एक समान रटी रटाई शिक्षा देने का चलन फैल रहा है जिससे विद्या की गुणवत्ता बाधित होती है। प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव को, गुण एवं दोषों को, इच्छा एवं उद्देश्य को भली भांति समझकर ही विद्या का दान करना चाहिए। 'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये' आदि नीतिवाक्यों से भी यह बात सिद्ध होती है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

कालिका पुराण के मत से एवं महाराज मनु के अनुसार निम्न वचन हैं :-

शठे क्रूरे च मूर्खे च छंदकारिण्यभक्तके। मन्त्रो न दूषिते देयः सुबीजं विपिने यथा॥
(कालिका पुराण)
धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषाव्यापि तद्विधा। न तत्र विद्या वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥

शठी, क्रूर, मूर्ख, छली एवं श्रद्धारहित व्यक्ति को ज्ञानोपदेश नहीं करना चाहिए। जैसे ऊषर भूमि में अच्छा बीज नहीं उगता, उसी प्रकार जहां धर्म एवं अर्थ का अभाव हो, यहाँ तक कि सेवाभाव भी न हो, वहां विद्यादान नहीं करना चाहिए।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी।एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम्॥

इस सिद्धांत में स्मृतिकार मनु महाराज ने धन, कुटुंब, आयु, कर्म एवं विद्या, ये पांच स्थान बताये हैं, जिनसे व्यक्ति श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। इसमें विद्या का स्थान सर्वोपरि बताया गया है।लोग तो स्वयं को अति ज्ञानी मानने के चक्कर में शास्त्रीय वाक्यों की भी अवहेलना करने लगते हैं, वेदव्यास जी को वर्णसंकर बताने लगते हैं। व्यासमाता सत्यवती अद्रिका अप्सरा की पुत्री थी। और देवताओं पर मानवीय वर्ण लागू नहीं होता। पराशर जी स्वयं छब्बीसवें (मतान्तर से पच्चीसवें) निवर्तमान वेदव्यास रह चुके हैं इसीलिए देवतुल्य हैं। इन्हें गर्भ से ही वेद कंठस्थ थे, ये ब्रह्मवेत्ता थे और ब्रह्मवेत्ता कर्मफल से परे होता है।

ऋचमुच्चार्य निर्भिद्य निर्गात स पराशरः ॥

ये माता (अदृश्यन्ती) के उदर से वेद ऋचाओं को बोलते हुए निकले थे, अतः इनका नाम पराशर रखा गया। अथर्ववेद में ऋषिश्रेष्ठ पराशर का देवत्व निर्दिष्ट है। अथर्ववेद में वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ, तपोनिधि, भगवान् पराशर की गणना ऋषियों में न होकर देवताओं में कई गयी है। जैसे शत्रु मारण मंत्रों में पराशर स्तुति है - पराशर त्वं तेषां पराञ्चम् शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि। ब्रह्मपुत्र वशिष्ठ जी के पौत्र पराशर वेदव्यास जी स्वयं ब्रह्मनिष्ठ देवता ही थे और उनके द्वारा गर्भाधान भी अद्रिका अप्सरा की पुत्री सत्यवती का ही हुआ। ऐसा नहीं है कि वे अजितेंद्रिय थे, अपितु उन्होंने बस श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास जी के अवतार का निमित्त बनने के लिए ही सत्यवती गमन किया था, वस्तुतः पराशर जी उच्चस्तरीय जितेंद्रिय थे।

परस्य कामदेवस्य शरः सम्मोहनादयः। न विद्यन्ते यतस्तेन ऋषिरुक्तः पराशरः॥

अर्थात्, कामदेव के सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन, इन पांच बाणों का प्रभाव अपने पर न होने देने के यतन के कारण ऋषियों ने भी इन्हें "पराशर" ही कहा। अतएव बहुत से कारणों से व्यास जी ब्राह्मण ही नहीं, परम

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं, स्वयं पराशर जी, सत्यवती आदि भी सर्वथा निर्दोष एवं निर्लिप्त हैं। तपस्या रूपी अग्नि से कर्मफल भस्म हो जाते हैं इसीलिए यदि कोई दोष हुआ भी तो तपोबल से उसका शमन करने का सामर्थ्य उन ऋषियों में पूर्व से ही था।

शक्तेः पराशरः श्रीमान् सर्वज्ञस्तपतां वरः
(कूर्मपुराण)

पराशर मुनि श्री (ऐश्वर्य, आचरण एवं कीर्ति) से युक्त, सर्वज्ञ एवं तपस्वियों में श्रेष्ठ थे। शास्त्रों के नानाविध विषय एवं रहस्य कोई संस्थान बना लेने से, आधुनिक पढ़ाई करके शोध विद्यार्थी या पीएचडी करने से, अथवा समितियों से सम्मानित होकर नहीं गम्य होते। कोई परिवार, समाज, परिषद्, संघ या समिति बनाने से भी शास्त्रों का संरक्षण नहीं होता। मूल परम्परागत आचार्यपीठ एवं शिष्यबल का संरक्षण एवं संवर्धन किये बिना कोई आधारभूत लाभ नहीं हो सकता है।

--*

काम-क्रोध पर नियन्त्रण कैसे करें ?

ब्रह्मा ब्रह्माक्षरैर्दिव्यै: लिंगं पूजयते सदा।
(शिवधर्मोपपुराण)

उन्होंने ही वांग्मयी आराधना के लिए ब्राह्मी लिपि बनाई और लेखन विधा का प्रसार किया।

नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्। तत्रैयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥
(नारदस्मृति)

यदि ब्रह्मा जी ने नेत्रों के समान उत्तम लेखनकला की सृष्टि नहीं की होती, तो यह संसार शुभ गति को प्राप्त नहीं हो पाता। जो कुछ बाहर दिख रहा है, वह रूप है। जो कुछ अंदर दिख रहा है, वह स्वरूप है। रूप से स्वरूप की यात्रा ही मुमुक्षु होना है। यह यात्रा जब पूर्ण होती है, तब जीव निर्भय हो जाता है। रूप एक तन्मात्रा का नाम है। इसका कार्य दृश्य सम्बन्धी विषय को नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से अंतःकरण तक पहुँचाना है। रूप, बाह्य दृश्य जगत् से परावर्तित होकर लौटने वाली प्रकाशिका रश्मियों को ग्रहण करने वाली तन्मात्रा का नाम है। चौबीस तत्वों में इसे एक तत्व के रूप में गिना गया है।

स्वरूप वह स्थिति है, जब आप बाह्य जगत् का अवलोकन न करके आत्मतत्व का अवलोकन करते हैं। यहां स्व शब्द द्रष्टा एवं दृश्य के अभिन्न होने का संकेत करता है। कर्मकर्तृत्वविरोध हो सकता है, जो कर्म है वह कर्ता, एवं जो कर्ता है, वह कर्म कैसे होगा ? किन्तु चूंकि ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान विधि से सम्बंधित हैं तो तदंश जीव में भी तद्विद्धि का अवलोकन होता है। रावण में लाखों अवगुण थे, तो हजारों गुण भी अवश्य थे। यहां तक कि श्रीहनुमान् जी ने भी एक काल में उसकी महत्ता का बोध उसे कराया :-

उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भांती॥ (रामचरितमानस)

किन्तु क्या इतनी शक्ति, ज्ञान, वरदान, सत्ता, कुटुम्ब, प्रभुत्व, ऐश्वर्य आदि के बाद भी वह अंदर से सुखी था ? क्या उसकी समस्त कामनाओं की पूर्ति हो गयी थी, या वह भी कहीं न कहीं उस अधूरेपन एवं खोखली इच्छाओं से ग्रस्त था जो अंततः प्रत्येक भौतिकवादी के सामने मुंह बाये खड़ी हो जाती हैं ?

दृषद्विचित्रतल्पयोर्भुजङ्गमौक्तिकस्रजोर्गरिष्ठरत्नलोष्ठयोः सुहृद्विपक्षपक्षयोः।
तृणारविन्दचक्षुषोः प्रजामहीमहेन्द्रयोः समप्रवृत्तिकः कदा सदाशिवं भजाम्यहम्॥
(समं प्रवर्तयन्मनः कदा सदाशिवं भजे)॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्जकोटरे वसन् विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरः स्थमञ्जलिं वहन्।
विमुक्तलोललोचनो ललामभाललग्नकः शिवेति मंत्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम् ॥
(शिवताण्डव)

कठोर पत्थर एवं कोमल शय्या में, सर्प एवं मोतियों की मालाओं में, बहुमूल्य रत्न एवं मिट्टी के ढेलों में, शत्रु एवं मित्रों में, राजाओं तथा प्रजाओं में, तिनकों तथा कमलों पर समान दृष्टि रखने हुए भला कब मैं शिव को भजूंगा ? कब मैं गंगादि पुण्य सलिलाओं के द्वारा आप्लुत वनःस्थित कोटरों में निवास करता हुआ, निष्कपट हो, सिर पर नमस्कार की अंजलि धारण कर चंचल नेत्रों तथा ललाट वाले शिव जी का मंत्रोच्चार करते हुए अक्षय सुख को प्राप्त करूंगा !!

यह रावण के आंतरिक भाव थे जो शिव ताण्डव की रचना के समय वह संकेत में बता गया। वास्तव में यह सम्पूर्ण मानवता के लिए चिंतनीय है कि शत्रु-मित्र में समभाव, धनी और निर्धन में समभाव, बहुमूल्य एवं मूल्यहीन में समभाव की स्थिति यदि सबों में हो जाये अथवा जिसमें भी हो जाये, उसके लिए द्वंद्वों से निकलना कितना सरल हो जाएगा। किन्तु इस बात को जानकर भी रावण सुखी नहीं हो सका, लंकेश ने भी सुख की कामना और आशा में ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

इस श्लोक की व्याख्या में आदिगुरु शंकराचार्य जी कहते हैं, जो मनुष्य यहाँ जीवितावस्था में ही शरीर छूटने से पहले-पहले अर्थात् मरणपर्यन्त (काम-क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को) सहन कर सकता है अर्थात् सहन करनेका उत्साह रखता है (वही युक्त और सुखी है)। जीवित पुरुष के अन्तःकरण में काम-क्रोध का वेग किसी न किसी निमित्त से अवश्य ही होता है, इसलिये मरणपर्यन्त की सीमा की गयी है क्योंकि वह काम-क्रोधजनित वेग अनेक निमित्तों से प्रकट होनेवाला है अतः मरनेतक उसका विश्वास न करे। (सदैव उससे सावधान रहे) यह अभिप्राय है।

किसी अनुभव किये हुए सुखदायक इष्टविषय के इन्द्रियगोचर हो जानेपर, सुनने पर या स्मरण हो जानेपर उसको पाने की जो लालसा तृष्णा होती है उसका नाम काम है। वैसे ही अपने प्रतिकूल दुःखदायक विषयों के अनुभव या स्मरण होने पर उनमें जो द्वेष होता है उसका नाम क्रोध है। वे काम और क्रोध जिस वेग के उत्पादक होते हैं वह काम-क्रोध से उत्पन्न हुआ वेग कहलाता है। रोमाञ्च होना, मुख और नेत्रों का प्रफुल्लित होना इत्यादि चिह्नों वाला जो अन्तःकरण का क्षोभ है वह काम से उत्पन्न हुआ वेग है, तथा शरीरका काँपना पसीना आ जाना होठों को चबाने लगना नेत्रों का लाल हो जाना, इत्यादि चिह्नों वाला वेग क्रोध से उत्पन्न हुआ वेग है। ऐसे काम और क्रोध के वेग को जो सहन कर सकता है, उसको सहन करनेका उत्साह रखता है वह मनुष्य इस संसारमें योगी है और वही सुखी है।

आजकल तो हर व्यक्ति योगी बना घूम रहा है, योग दिवस भी मना लेते हैं। स्नान, जप, संस्कार, शौचाचार आदि से रहित विद्यार्थियों को भी विद्यालयों में बलपूर्वक एवं अविधिपूर्वक योग के नाम पर कुछ बहुत तो सिखाया ही जा रहा है, और सबसे बड़ी बात कि और कुछ आप बनें या न बनें, योगगुरु, योगशिक्षक तो बन ही सकते हैं। योग नियंत्रण एवं विरक्तिपरक सन्दर्भ से हटकर प्रतियोगिता एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का केंद्र बनता जा रहा है। अब तो योग की प्रतियोगिता भी होने लगी है।

हमारे यहां युगधर्म के प्रभाव के कारण बरसने से अधिक गरजने की प्रवृत्ति है। धैर्य से अधिक आक्रोश, गुणवत्ता से अधिक प्रचार, क्षमता से अधिक सङ्कल्प और विधि से अधिक अविधि है। सभी लोग चंडी पाठ, नवरात्र, करते कराते हैं। किंतु अविधिपूर्वक सकामोपासना भी हानिकारक होती है।

कवचं वार्गलाचैव कीलकः कुंजिकास्तथा। स्वप्नेकुर्वन्नहोमं च जुहुयात्सर्वत्रनष्ट्यते ॥
बुद्धिनाशोहुजेद्देवि अर्गलानर्गलोभवेत् । सिद्धिनाशगतो होता विद्यां च विस्मृतोर्भवेत् ॥
कीलितो जायतेमन्त्रो होमे वा कीलकस्तथा । मम कण्ठसमं यस्य: कीलकोत्कीलकं हि च ॥
धनधान्ययुतं भद्रे पुत्र: प्राण: विनष्यते । रोगशोकान्वितैः कृत्वा, कवचं होमकर्मण: ॥
स्वप्ने वा हुज्यते देवि कुंजिकायै च कुंजिकाम्।
षड्मासे च भवेन्मृत्युः सत्यं सत्यं न संशय:। होमे च कुंजिकायास्तु सकुटुम्बो विनश्यति ॥
यस्य च दोषमात्रेण प्रसन्ना मृत्युदेवता: । कुंजिकाहोममात्रेण रावण: प्रलयंगत: ॥
(भैरवयामलतन्त्र)

भगवान् शिव भैरव स्वरूप में स्थित होकर कहते हैं ! कवच, अर्गला, कीलक, तथा कुंजिका का स्वप्न में भी न करें स्वप्न मात्र में भी होम करने से सर्वत्र नाश की संभावनाएँ प्रकट हो जाती है । अर्गला के होमकर्म से सिद्धीयों का नाश हो जाता है तथा होता की समस्त विद्याएँ विस्मृत हो जाती है, अर्गला अनर्गल सिद्ध हो जाती है। कीलक के होमकर्म से होता के समस्त मन्त्र सदा सर्वदा के लिए कीलित हो जाते हैं । इसे मेरा उत्किलित कण्ठ ही जानें जो जो कीलक का कारक है। कवच के होम से धन,धान्य, पुत्र तथा प्राण का विनाश निश्चित है। एवं वह होता रोग तथा शोकों से घिर जाता है। कुंजिका के होमकर्म के प्रभाव से होता की छः मास में मृत्यु निश्चित जानें। तथा होता का सपरिवार विनाश हो जाता है, यह सत्य है, सत्य है, इसमें कोई संशय नहीं करना चाहिए। इसी के दोष से मृत्युदेवता अत्यंत प्रसन्न होकर होता का सपरिवार भक्षण करते हैं । कुंजिका के होममात्र के प्रभाव से ही रावण का सम्पूर्ण विनाश सम्भव हुआ।

मातृका बीजसंयुक्ता: प्राणाप्राणविबोधिनीः । प्राणदा: कुंजिकामायां सर्वप्राणप्रभाविनी ॥
(शक्तियामलतन्त्र)

कुंजिका में बीज मातृकाएँ उपस्थित हैं । प्राण को देविप्राण का बोधप्रदान करती हैं। यह प्राणज्ञान प्रदान करने वाली महामाया कुंजिका प्राण को प्रभावित करने वाली हैं ।

चण्डीस्तवे प्रतिश्लोकमेकाहुतिरिहेष्यते। रक्षाकवचैर्मंत्रैर्होमं तत्र न कारयेत् ॥
मौर्ख्यात्कवचगैर्मंत्रै: प्रतिश्लोकं जुहोति यः। स्याद्देहपतनं तस्य नरकं च प्रपद्यते ॥
अन्धकाख्यो महादैत्यो दुर्गाभक्तिपरायणः। कवचाहुतिजात्पापान्महेशेन निपातितः ॥
(कात्यायनीतन्त्र)

चण्डीस्तव (सप्तशती) की प्रत्येक मन्त्र से आहुति बताई गई है। किंतु, रक्षात्मक मंत्रों से आहुति न दे। "प्रतिश्लोकं च जुहुयात्" इस रहस्यवाक्य के आधार पर जो मूर्खतावश कवचाहुति देता है, उसे नरकगामी होना पड़ता है तथा उसके आयु की हानि भी होती है। अंधकासुर नामक महान् दैत्य ने दुर्गाभक्ति में लीन होकर कवचाहुति दी थी, उसी पाप के कारण शिव जी के द्वारा उसका संहार हुआ।

अविधिपूर्वक यज्ञ करने वाले महानुभाव ही शैव, वैष्णव, शाक्त वाला झगड़ा प्रारम्भ करते हैं। तंत्रों में कहा गया है कि भगवान् विष्णु आखिर क्या हैं ? उत्तर मिला कि जब शिव एवं शक्ति एकाकार होते हैं तो जो परम् तेजस्वी अवर्णनीय तत्व का प्राकट्य होता है, वही विष्णु हैं, ऐसा जानना चाहिए। अब देखिए, शंकराचार्य जी सौंदर्य लहरी के प्रथम श्लोक शिवः शक्त्या युक्तो ... में कहते हैं कि शिव में जो इकार है, वह भगवती शक्ति ही हैं। आगे, पुराण-वेदादि में हर, इस नाम से भगवान् शिव का बोध होता है। वह हर, जब इकार रूपी शक्ति से युक्त होता है, तो हरि बन जाता है। शिव और शक्ति का एकाकार होना ही विष्णु हैं। जैसे सम्पूर्ण सूर्यमंडल के अंदर बाहर आकाशवृत्ति प्रकाश से युक्त है, वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् हर प्रकार से शिवमय है।

अधरोत्तरमध्यान्तं सुव्यक्तं भूतसंग्रहम्।
अखंडमंडलाकारं कृत्स्नं व्याप्तं चराचरम्। पूर्णमक्षोभ्यमनघं शिवं सर्वाश्रयं विभुम् ॥
(एकाम्रोपपुराण)

और वे सर्वव्यापी सर्वनियन्ता शिव कैसे हैं ? शिव जी तो स्वयं नारायणमय हैं :-

शिवदेहं गतो विष्णु:
(एकाम्रोपपुराण)
मूढा: भेदं प्रकुर्वन्ति ज्ञानबुद्धिबहिष्कृताः। न विष्णुशिवयोर्भेद एष धर्म: सनातनः ॥
(एकाम्रोपपुराण)

ज्ञानबुद्धि से हीन मूर्खजन ही शिव एवं विष्णु में भेद देखते हैं, वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं, यही सनातन धर्म का सिद्धांत है। शिव-शक्ति में अभेद तो सिद्ध है ही, हरिहर में अभेद भी सिद्ध है और यहां तक कि विष्णु-शक्ति में भी अभेद है। तोडल तन्त्र के दशम उल्लास में निम्न बातें कही गयी हैं जो शाक्त पुराणोपपुराणों से भी प्रमाणित होती हैं :-

तारादेवी नीलरूपा कमला कूर्मचंडिका। धूमावती वराहः स्यात् छिन्नमस्ता नृसिंहिका॥
भुवनेश्वरी वामनः स्यान्मातंगी राममूर्तिका। त्रिपुरा जामदग्न्यः स्याद्बलभद्रस्तु भैरवी॥
महालक्ष्मीर्भवेद्बुद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी। स्वयं भगवती काली कृष्णमूर्तिः समुद्भवा॥
(तोडल तन्त्र)

तारादेवी ने मत्स्य का, कमला ने कूर्म का, धूमावती ने वराह, छिन्नमस्ता ने नृसिंह, भुवनेश्वरी ने वामन, मातंगी ने श्रीराम, त्रिपुरा ने जामदग्न्य (परशुराम), भैरवी ने बलभद्र जी का, महालक्ष्मी ने बुद्ध का तथा दुर्गा ने कल्किरूप का अवतार लिया है। स्वयं भगवती काली ने श्रीकृष्ण भगवान् का अवतार लिया है। इस प्रकार से देवी और नारायण में भी अभेदबुद्धि रखना ही ज्ञानियों का लक्षण है।

किन्तु यहां तो स्थिति ऐसी हो गयी है कि विधर्मियों का एकमात्र लक्ष्य आपके समाज में एक दूसरे के प्रति वैरभाव का बीजारोपण कर देना है। यदि आप कहें कि हम भारतवासी हैं, तो आपको आर्य द्रविड़ कहकर लड़ा देंगे। और यदि आप इसका खण्डन करेंगे, फिर ये वर्णाश्रम की बात करेंगे और आर्य द्रविड़ का प्रपञ्च भूल कर सवर्ण दलित में आ जाएंगे। यदि आपने यहां भी इन्हें हरा दिया तो फिर ये सीधे महिला पुरुष, पितृसत्तात्मक आदि विषयों पर आ जाएंगे। यहाँ भी हारने पर ये लोग पति पत्नी के बीच घुस जाएंगे और वहां पत्नी का वैवाहिक बलात्कार दिखाएंगे। उधर से मुंह की खाने के बाद ये बच्चों में घुसेंगे और माता पिता कैसे बच्चों का "अनुचित शोषण", "बचपन के प्रतिबंध", "ऑनर किलिंग", "पैरेंटल वॉयलेंस" आदि करते हैं, ये दिखाएंगे। और यदि कभी कहीं कुछ भी न मिला तो "हमें नंगे घूमना है, सड़क पर सम्भोग करना है, खड़े खड़े मूत्र करना है," आदि आदि मनोरोगी मांगों के साथ सामाजिक अशांति फैलाते ही रहेंगे। वस्तुतः इसका एकमात्र उद्देश्य किसी भी प्रकार से आपको तनावग्रस्त बनाये रखना है।

--*

गुरुतत्त्व की महिमा

तिथि, नक्षत्र एवं ऋतुभेद का विचार करके औषधि ग्रहण करना चाहिए। मंत्रपाठ पूर्वक भूमि को खोदना एवं औषधि ग्रहण करना चिकित्सक का कर्तव्य है। श्रेष्ठ काल एवं योगादि में औषधियां विशेष बल से युक्त हो जाती हैं।

तिथिनक्षत्रवारैस्तु ऋतुभेदैः परिग्रहम्।
खननोत्पाटनं मंत्रैः कारयेद्वै चिकित्सकः। औषधं कालयोगेन गृह्णाति परमं बलम्॥
(गौरीकाञ्चलिका तन्त्र)

जब भौतिक वनस्पतियों के साथ इतने संवेदनशील नियम और प्रभाव हैं, तो आत्मतत्व की साधना हेतु कितना सतर्क रहना चाहिए, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। और यह सतर्कता, संवेदनशीलता वही सिखा सकता है जो स्वयं उस मार्ग पर चला हो। उसी प्रकार से गुरु भी शिष्य की क्षमता, परिस्थितियों के आधार पर तिथि, नक्षत्र एवं ऋतुभेद का विचार कर उसको विशेष बल देता है। भगवान् आदिशंकराचार्य ने कहा -दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः। ज्ञान देने वाले सद्गुरु की तुलना ब्रह्माण्ड में किसी से भी नहीं हो सकती है।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः। एकः श्रेष्ठो भवेत्तेषां भुक्ति मुक्ति प्रवर्तकः॥
(गुरुतन्त्र)
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
(कामाख्या तन्त्र, पञ्चम पटल)

शिष्य के धन का अपहरण करने वाले गुरु तो बहुत हैं, किन्तु भोग एवं मोक्ष, दोनों की सिद्धि कराने में समर्थ कोई बिरला ही श्रेष्ठ गुरु है। सभी ओर से व्याप्त, अविनाशी वृत्तरूपी ब्रह्मपद का दर्शन कराने वाले गुरु को नमस्कार है। इस पद का दर्शन कौन गुरु करा सकता है ? सिद्ध धन लक्ष्मी कुबेर यंत्र बेचने वाले गुरु नहीं, लाल चटनी - हरी चटनी खिलाने वाले गुरु भी नहीं। जो अनेकों प्रकार से शास्त्रगम्यता में सिद्ध हो चुके हों, धर्मबोधक अर्थों के पारंगत हों, वही ऐसा करने में समर्थ हैं।

षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे। भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः॥
तथा सर्व रहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च। अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि॥
(योगिनी हृदय)

शास्त्र की उक्तियों का, मंत्रों का तथा महावाक्यों का ज्ञान छः प्रकार से होता है। भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ एवं महातत्वार्थ। इसमें यदि केवल अक्षरों का अनुवाद किया गया हो तो वह भावार्थ है, ऐसा

समझना चाहिए। इन सबके ज्ञान के बिना शास्त्रों का उपदेश उतना सटीक नहीं हो पाता। इसका घोर अभाव आज के कथावाचकों में, लेखकों में एवं अध्यापकों में व्याप्त हो गया है। जैसे कहीं कहीं आश्वमेधिक विधानों में वर्णन है कि रानी को मृत अश्व के साथ सम्भोग करना चाहिए, अथवा अग्निष्टोम यज्ञ में वृष की बलि दे, आदि आदि। वैसे तो यज्ञ की पद्धतियों का विश्लेषण लेखों से करना सम्भव नहीं है। जैमिनी कृत महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी कुछ क्रियाओं में ऐसे संकेत मिलते हैं, हालांकि सम्भोग जैसी बात नहीं है। सम्भोग का अर्थ दूसरा है।

जैसे समागम का अर्थ स्त्री प्रसङ्ग तो होता है किंतु संत समागम हरि कथा तुलसी दुर्लभ दोय, में समागम का अर्थ संगति होगा। ऐसे ही सहवास का अर्थ स्त्री प्रसङ्ग और साथ में रहना, दोनों होता है। रति का अर्थ मैथुन और आसक्ति, दोनों होता है। आलभन का अर्थ हिंसा एवं स्पर्श, दोनों होता है। अश्व का अर्थ घोड़ा एवं इन्द्रिय, दोनों होता है। मेध का अर्थ मारना और जाना, दोनों होता है। प्रत्येक यज्ञ की तीन श्रद्धा एवं दो सम्पदा होती है। श्रद्धा का नाम सात्विकी, राजसी एवं तामसी है तथा सम्पदा का नाम दैवी एवं आसुरी है। इस प्रकार याजक के भेद से याज्ञिक कर्म एवं उनके फलों के भी कई प्रभेद हो जाते हैं। वृष का अर्थ बैल और श्रेष्ठ धर्म, दोनों होता है। बलि का अर्थ हिंसा और समर्पण दोनों होता है। श्रेष्ठ धर्म के द्वारा आचरित कर्म का समर्पण ही अग्निष्टोम आदि पूत एवं पवमान यज्ञों में निहितार्थ है।

वैदिकैश्च समाचारैर्यज्ञदानजपव्रतैः। क्षीणाद्यानां नृणां वत्स विष्णुभक्तिः प्रजायते॥
विष्णुभक्तिः सुविमला मतिरुत्पद्यते यदा। तदा तद्भाग्ययोगेन शिवभक्तिर्भवेन्नृणाम्॥
(अन्नदाकल्प तन्त्र)

आजकल सम्प्रदायदम्भ से शैव वैष्णव द्वेष बहुत दिखता है। दोनों ही अपने अपने इष्टों की लीलाओं का उद्धरण देकर वर्णाश्रम विरोध करने में, किसी को भी उपवीत, गायत्री, संन्यास, वेदान्त आदि का अधिकारी बनाने लगे हैं। जबकि वेदोक्त मार्ग का भली प्रकार से अनुसरण करके, जब व्यक्ति अपने पापों का नाश कर लेता है, तब परम पवित्र विष्णुभक्ति का उदय उसके चित्त में होता है। और जब वह सम्पूर्णरूप से भगवान् विष्णु की भक्ति में डूब जाता है जब जाकर उस भक्तिजनित सौभाग्य से उसके मन में भगवान् शिव के प्रति भक्ति का उदय होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि मोक्ष के लिए जीव को केवल उच्चकुलीन ही होना है, चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए उसे कभी भी दैवयोग से तत्वज्ञान हो गया, तो वहीं से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

चतुरशीतिलक्षेषु योनिगर्ते तथैव हि। भ्रमणं कुरुते जीवस्ततो मोक्षस्य भाजनम्॥
एतन्मध्ये महाज्ञानं यदि स्याद्वीरवंदिते। तदा मोक्षमवाप्नोति भ्रमणं केन वा भवेत्॥
(मातृकाभेद तन्त्र, चतुर्थ पटल)

जिस जिस वर्णाश्रम की स्थिति वाले देह में जिस जिस चेतन का वास है उसी के आधार पर विहित कर्म करना उसके लिए स्वधर्म है। स्वधर्म का पालन ही कल्याण का मार्ग है। उस स्वधर्म का पालन ही तपस्या है। यदि स्वधर्म के

पालन के अतिरिक्त कोई उसकी उपेक्षा करके अन्य के लिए विहित तपस्या का आश्रय लेता है तो उसका विनाश हो जाता है, जैसे शम्बूक का हुआ। और ऐसा न करने पर, स्वधर्मरूपिणी तपस्या का पालन करने पर कल्याण होता, जैसे मदयन्ती का हुआ।

यस्य यस्य च वर्णस्य यदाचारं महेश्वरि। स्वधर्मं तद्विजानीयात् श्रुत्युक्तं परिकीर्तितम्॥
(समयाचार तन्त्र)
(नीलसरस्वती तन्त्र, षोडश पटल)
न धाता नाच्युतः शम्भुर्न च वाहं सनातनः। योषिदप्रियकर्तारं रक्षितुं क्षमतेऽपि कः॥
(नीलसरस्वती तन्त्र, षोडश पटल)
दोषान्न गणयेत् स्त्रीणां गुणमेव प्रकाशयेत्। शतापराधसंयुक्तां पुष्पेणापि न ताड़येत्॥

तपस्या में तो स्त्रियों को विशेष छूट है। उन्हें अलग से कोई उपक्रम नहीं करना है, अपने गृहस्थ धर्म में स्थित रहते हुए, मन में किसी के भी प्रति द्वेष न रखते हुए पातिव्रत्य का पालन करने से ही स्त्रियों को परमसिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। यहां तक कि समाज के अन्य जनों को भी स्त्रियों का सम्मान एवं रक्षण करने का आदेश है।स्त्रियों की चुगली न करे, उनके दोषों की चर्चा न करे, यदि कहीं कोई बात बोलनी आवश्यक ही हो तो वहां केवल उनके सद्गुणों का ही वर्णन करे। सदाचरण वाली स्त्रियों से यदि अपराध आदि भी हो जाएं तो उनके साथ मारपीट न करे, उन्हें फूल से भी प्रताड़ित न करे। जो व्यक्ति स्त्रियों का अपमान करता है, उन्हें अप्रसन्न करता है, उस व्यक्ति की रक्षा ब्रह्मा, विष्णु, शिव अथवा अविनाशी मैं (भैरव) भी करने में समर्थ नहीं हैं। इस संसार में निरवयव आनंद की आवश्यकता क्यों है ? क्योंकि वह चेतन की शाश्वत स्थिति है। सावयव आनंद की आवश्यकता क्यों है ? क्योंकि वह चेतन की परिवर्तनीया स्थिति है। परिवर्तन की आवश्यकता क्यों है ? ताकि यह सृष्टि चक्र चलता रहे।

सृष्टिं विना महेशानि प्रलयः को भविष्यति। प्रलयञ्च विना देवि का सृष्टिश्चोपजायते॥
(ज्ञानद्वीप तन्त्र)
कल्पनायां भवेत् सृष्टिः कल्पनायां लयो भवेत्।
(सर्वोल्लास तन्त्र)

प्रलय के लिए आवश्यक है, सृष्टि का विद्यमान होना। नई सृष्टि के लिए आवश्यक है, पुरानी स्थिति का विनाश। प्रलय ही नूतन सृष्टि का कारण है। सृष्टि ही नूतन प्रलय की कारिका है। यह सृष्टि कल्पना पर ही आश्रित है, और कल्पना से ही उसका नाश होता है। ब्रह्म का चिद्विलास यदि छोड़ भी दें तो भी प्राकृत उदाहरण देखिए। आपके साथ इसी पृथ्वी पर अनंत जीव रहते हैं जिसमें आठ अरब तो केवल मनुष्य हैं। आप जिन्हें जानते हैं, आप जिनके विषय में सोचते हैं, आपके लिये केवल उनका ही अस्तित्व है, उनकी ही सृष्टि है। आपकी कल्पना ही उनका अस्तित्व है। आप जिस बात पर, वस्तु अथवा व्यक्ति पर ध्यान नहीं देते, आपके लिए उसका प्रलय हो जाता है।

न पापरतये दद्यात् नाभक्ताय कदाचन। गुरुभक्ताय शान्ताय दद्यात् पात्रे दयात्मने॥
(फेत्कारिणी तन्त्र, एकादश पटल)

शास्त्रों की यह मर्यादा है कि मनोरंजन के लिए, प्रसिद्धि के लिए, धनसंग्रह के लिए, अथवा किसी के अपमान के उद्देश्य से इन शास्त्रीय रहस्यों को प्रकट न करे। जो अपने मन में पापबुद्धि रखता हो, जिसके मन में धर्मशास्त्रों के प्रति श्रद्धा न हो, उसे यह ज्ञान नहीं बताना चाहिए। जो गुरुभक्त हो, सुपात्र हो, जिसका मन शांत हो तथा जिसका आचरण सबों के प्रति दया तथा स्नेह का हो, ऐसे संतहृदय जन ही इस अद्भुत ज्ञान के अधिकारी हैं। अनधिकारी को देने से यह विद्या उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे ऊसर भूमि में बोया गया बीज।

--*

विश्वकर्मा का तात्त्विक विवेचन

प्रश्नकर्ता :- मै यह जानना चाहता हूँ कि आत्मा को मन बुद्धि व संस्कार ही जब पाप कर्म में लिप्त करते हैं और पिछले जन्म का दण्ड अगले जन्म में मिलता है तो क्यों। आत्मा तो शुद्ध है, और आत्मा को नर्क की पीड़ा नहीं भुगतनी होती, सूक्ष्म देह को होती है । जब पिछले जन्म की और अगले जन्म की आत्मा तो एक ही है एवं जब पिछले जन्म का शरीर मन बुद्धि सूक्ष्म देह छूट गया। तो अगले जन्म में मनुष्य को कष्ट क्यों भोगने होते हैं पापकर्म के फल स्वरूप। अगले जन्म में वही आत्मा तो वही होती है । क्या वही सूक्ष्म देह भी अगले जन्म में आत्मा के साथ आता है। जब पिछला सब छूट गया तो अगले में कष्ट क्यों ?

श्रीभागवतानंद गुरु: आपने आज जो अपराध किया, फिर सो गए तो अगले दिन उठने के बाद दंड मिलेगा या नहीं ? आपका जन्म और मृत्यु मात्र सोने और जगने के ही समान है। आज कर्म किये मतलब इस जन्म में। आज जिन लोगों से मिले वो इस जन्म के परिवार। फिर रात को सो गए, वो मृत्यु। कल जगे वो जन्म। तो क्या आज के कर्म का फल कल नहीं मिलेगा ? इस जन्म का फल अगले जन्म में नहीं मिलेगा ? आपके एक जन्म की गिनती एक दिन के बराबर भी मैंने गलत ही की है क्योंकि ब्रह्माजी के एक दिन में तो चौदह इन्द्रों का पूरा कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है। पृथ्वी पर चौदह बार जीवन और एक हज़ार बार मानव सभ्यता का विनाश हो जाता है।

सीधा सिद्धांत है। हम जिसे अपना घर, परिवार और जीवन समझ रहे हैं वो प्रकृति की दृष्टि में घर, जीवन और परिवार है ही नहीं। हम प्याऊ या गाड़ी में खड़े हैं और यात्रा को ही जीवन एवं सहयात्री को ही परिवार समझ रहे हैं। जबकि प्रकृति ऐसे नहीं देखती। उसके लिए हम घर में है ही नहीं। घर से बल्कि दूर हैं। ब्रह्म ही घर है वही गंतव्य है। और प्रत्येक जन्म एक दिन के समान है जिसमें प्रत्येक दिन जो लोग मिलते हैं उन्हें हम परिवार समझ लेते हैं। यही माया और भ्रम है। जैसे प्रत्येक दिन का कर्म अगले दिन, महीने या वर्ष में मिलता है वैसे ही इस जन्म के कर्म का फल अगले कई जन्मों तक मिलता है। एक दिन का बोया बीज कई दिन, महीनों या वर्ष तक फल देता रहता है।

ये नहीं कि आज कर्म करो, फिर सो जाओ और कल जब उसका फल मिले तो सिद्धांत सुना दो कि मैंने तो कल कर्म किया था, कल ही फल क्यों नहीं दिया। उसके बाद तो मैं सो गया, रात गयी , बात गयी। तो हम कर्मफल से छूट गए ... और छूटता केवल शरीर है, भौतिक शरीर । मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, सूक्ष्म देह, संस्कार, ज्ञान, अज्ञान, सब साथ चलते हैं। ऐसा नहीं होता। जिस दिन आम लगाया उस दिन फल नहीं मिलता। आम खाने हैं तो पांच दस वर्ष प्रतीक्षा करो। गन्ने खाने हैं तो वर्ष भर और दो महीने में मिर्च ही खा सकते हैं। विश्व को बनाने वाले विश्वकर्मा जी के पुराण महाविश्वकर्मपुराण के बीसवें अध्याय में राजा सुव्रत को उपदेश करते हुए शिवावतार भगवान् कालहस्ति मुनि कहते हैं :-

ब्राह्मणाः कर्ममार्गेण ध्यानमार्गेण योगिनः। सत्यमार्गेण राजानो भजन्ति परमेश्वरम्॥

ब्राह्मण अपने स्वाभाविक कर्मकांड आदि से (चूंकि वेदसम्मत कर्मकांड में ब्राह्मण का ही अधिकार है), योगीजन ध्यानमग्न स्थिति से और राजागण सत्यपूर्वक प्रजापालन से परमेश्वर की आराधना करते हैं।

स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च ये च संकरयोनयः। भजन्ति भक्तिमार्गेण विश्वकर्माणमव्ययम्॥

स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा वर्णसंकर जन, (जो कार्यव्यवस्था एवं धर्मव्यवस्था के कारण कर्मकांड अथवा शासन आदि की प्रत्यक्ष सक्रियता से दूर हैं,) वे भक्तिमार्ग के द्वारा उन अविनाशी विश्वकर्मा की आराधना करते हैं।

इन्हीं विश्वकर्मा उपासकों के कारण भारत का ऐतिहासिक सकल घरेलू उत्पाद आश्चर्यजनक उपलब्धियों को दिखाता है, क्योंकि इनका सिद्धांत ही राजा सुव्रत को महर्षि कालहस्ति ने कुछ इस प्रकार बताया है,

श्रृणु सुव्रत वक्ष्यामि शिल्पं लोकोपकारम्। पुण्यं तदव्यतिरिक्तं तु पापमित्यभिधीयते॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं विशेषस्तत्वत्र कथ्यते। पुण्यं सत्कर्मजा दृष्टं पातकं तु विकर्मजम्॥
(महाविश्वकर्म पुराण, अध्याय ३२)

हे सुव्रत ! सुनिए, शिल्पकर्म (इसमें हजार से अधिक प्रकार के अभियांत्रिकी और उत्पादन कर्म आएंगे) निश्चित ही लोकों का उपकार करने वाला है। शारीरिक श्रमपूर्वक धनार्जन करना पुण्य कहा जाता है। उसका उल्लंघन करना ही पाप है, अर्थात् बिना परिश्रम किये भोजन करना ही पाप है। यह व्यवस्था सामान्य है, विशेष में यही है कि धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार किये गए कर्म का फल पुण्य है और इसके विपरीत किये गए कर्म का फल पाप है।

यही कारण है कि संत रैदास को नानाविध भय और प्रलोभन दिए जाने पर भी उन्होंने धर्मपरायणता नहीं छोड़ी, अपितु धर्मनिष्ठ बने रहे। मनु के कुल में (मानवों में) पांच प्रकार के शिल्पी हैं। इसमें कारव, तक्षक, शुल्बी, शिल्पी और स्वर्णकार आते हैं) अधिक चर्चा भी न करें तो इसमें मुख्य मुख्य कार्य क्या हैं ? कारव का कार्य है, "हेतीनां करणं तथा" ये लोग अत्याधुनिक शस्त्र बनाते हैं।

युद्धतंत्राणिकर्माणि मंत्राणां रक्षणं तथा। बन्धमोक्षादि यंत्राणि सर्वेषामपि जीविनाम्॥

युद्ध की तकनीकी युक्तियों के व्यूह विषयक कार्य, युद्ध में परामर्श, रक्षा विषयक कार्य, बंधन और मोक्ष के यंत्र बनाना इनका काम है। और यह काम किस भावना से करते हैं ? सभी प्राणियों के हित में, उनके जीवन की रक्षा के लिए। वामपंथियों की तरह नरसंहार हेतु नहीं। ऐसे ही तक्षक का कार्य क्या था ? वास्तुशास्त्रप्रवर्तनम्। आप जो विश्व, भारत के वैभवशाली वास्तुविद्या को देखकर चौंधिया रहा है, उसका प्रवर्तन यही करते थे। इतना ही नहीं, उस समय के

अद्भुत किले, महल और अत्याधुनिक गाड़ियां भी बनाते थे, प्रासादध्वजहर्म्याणां रथानां करणं तथा। महाभारत में वर्णन है कि राजा नल ने राजा ऋतुपर्ण को एक विशेष रथ से एक ही दिन में अयोध्या (उत्तरप्रदेश से) से विदर्भ (महाराष्ट्र) पहुंचा दिया था। और ऐसा नहीं है कि ये अनपढ़ थे, इनके कर्म में और भी एक बात थी, न्यायकर्माणि सर्वाणि, आवश्यक होने पर ये न्यायालय का कार्य भी देखते थे। शुल्बी के कर्मों में धातुविज्ञान से जुड़े समस्त कार्य आते हैं, आज भी मेहरौली, विष्णु स्तम्भ (कालांतर में कुतुब मीनार) वाला अद्भुत धातु स्तम्भ रहस्य बना हुआ है। और यह कार्य भी मनमानी नहीं करते थे, धर्माधर्मविचारश्च, उचित और अनुचित का समुचित विचार करके ही करते थे।

ऐसे ही शिल्पियों के कार्य में विविध भवनों का निर्माण, दुर्ग, किले, मंदिरों का निर्माण करना आता था। इतना ही नहीं, निर्माण कैसे होता रहा ? निर्माणं राजसंश्रयः, राजा के संश्रय में। भाषाविदों को ज्ञात होगा, संश्रय का अर्थ गुलामी नहीं होता, कृपापूर्वक पोषण होता है। साथ ही सद्गोष्ठी नित्यं सुज्ञानसाधनम्। ये लोग समाज के प्रेरणा हेतु अच्छी गोष्ठी, जिसे सेमिनार कहते हैं, उसका आयोजन करते थे ताकि अच्छे अच्छे ज्ञान का संचय और प्रसार हो सके।

स्वर्णकार आदि के कर्म में सुंदर और बहुमूल्य धातु के आभूषण, रत्नशास्त्र का ज्ञान उसके तौल मान की जानकारी के साथ साथ व्यापार, गणित और लेखनकर्म भी आता था। सुवर्णरत्नशास्त्राणां गणितं लेखकर्म च। यदि वे मूर्ख होते तो आज लाखों खर्च करने जो काम लोग बड़ी बड़ी डिग्रियों के लिए सीख रहे हैं, उससे कई गुणा अधिक प्रखर और कुशल काम वे हज़ारों वर्षों से कैसे सीख रहे थे ? कथित इतिहासकार तो उन्हें दलित, शोषित, वंचित, और नीच बताये फिर रहे हैं। अच्छा, ये यदि इतने ही बड़े दलित थे तो न्यायालय में इनकी सलाह क्यों ली जाती थी ? इतने ही अनपढ़ थे तो रसायन, धातु के बारे में कैसे जानते थे, या फिर गणित और लेखनकर्म में कैसे काम आते थे ? यदि ये इतने ही गरीब और शोषित थे तो इनके लिए निम्न बात क्यों कही गयी ?

कारुश्च स्फाटिकं लिंगं तक्षा मरकतं तथा। शुल्बी रत्नं शिल्पी नीलं सुवर्णमत्वर्कशालिकः॥

कारव के लिए स्फटिक के शिवलिंग की पूजा का विधान है। तक्षक को मरकत मणि के शिवलिंग की पूजा करनी चाहिए। शुल्बी को माणिक्य के शिवलिंग, शिल्पीजनों को नीलम और स्वर्णकार को सोने के शिवलिंग की पूजा करनी चाहिए। वामपंथी जिन्हें दलित और शोषित बताते हैं, वो दैनिक पूजन में जैसे शिवलिंग की पूजा करते थे, वैसे शिवलिंग आज के करोड़पति जन भी अपने यहां रखने का साहस नहीं रखते। विकृत इतिहासकार बताते हैं कि इन्हें गंदगी में रखा गया, इन्हें गरीब, वंचित और अशिक्षित रखा गया। जबकि सत्य यह नहीं है। यह हाल तो मुगलों और विशेषकर अंग्रेजों के समय से हुआ। और शूद्रों का क्या, पूरे सनातन का ही बुरा हाल हुआ। गुरुकुलों में शूद्र छात्रों की संख्या सर्वाधिक थी, यह तो लेखक अपनी समीक्षा में ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध कर ही चुके हैं। गरीबी और अशिक्षा की बात सनातन शास्त्र से मैं इसे खंडित कर चुका।

पापपुण्यविचारश्च तपः शौचं दमः शमः। सत्यकर्माणि सर्वाणि मनुवंशस्वभावजम्॥

उक्त मनुकुल के (मानव शिल्पियों में) कुछ स्वाभाविक कर्म हैं, जिसमें पाप पुण्य का विचार, तपस्या, बाह्य और आंतरिक शुद्धि, इंद्रियों का दमन, आचरण की पवित्रता और समस्त सत्य के कर्म सम्मिलित हैं। विश्व में सनातन ही ऐसा है, जहां अपने मार्गदर्शन करने वाले ग्रंथ की पूजा होती है, रक्षा करने वाले शस्त्र की पूजा होती है, निर्णय करने वाले तराजू की भी पूजा होती है और साथ ही नानार्थ आजीविका देने वाले औजारों की भी पूजा होती है। आज भी लोग अपनी बात को सत्य बताने के लिए अपनी आजीविका की, अपने यंत्रों की शपथ लेते हैं। विश्वकर्मा कसम भाई, झूठ नहीं बोल रहा, यह बात भारत का प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी कहता ही है। जिन्हें लगता है कि शूद्र नीच थे, या तो वे विक्षिप्त हैं, या फिर अज्ञानी और दोनों से बुरे बौद्धिक वेश्या भी हो सकते हैं, क्योंकि सनातन शास्त्रों ने शूद्र को भी सम्माननीय स्थान दिया है।

ब्रह्मक्षत्रियविड्शूद्राश्चत्वारः श्रेष्ठवर्णकाः॥
(महाविश्वकर्म पुराण, अध्याय २० - ७)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चारों श्रेष्ठ वर्ण हैं। हमें वैर उसी से है जो उच्छृंखल हो और अमर्यादित हो। इसीलिए यहां शबरी भी सम्मानित हैं और रावण भी निंद्य। इसीलिए यहां रैदास भी सम्मानित हैं धनानन्द भी निंद्य।

महायोगी कालहस्ति उवाच
वेदशास्त्रेतिहासेषु पुराणेषु च सर्वतः। विश्वकर्मा जगद्धेतुरिति राजेन्द्र ! कथ्यते॥
अजायता जगत् सर्वं सृष्ट्यादौ विश्वकर्मणः। स एव कर्ता विश्वस्य विश्वकर्मा जगत्पतिः ॥
प्रथमस्तु निराकारः ओंकारस्तदनंतरम्। चिदानंदः परं ज्योतिः ब्रह्मानन्दस्तु पंचमः ॥
यस्मिन्भूत्वा पुनर्यस्मिन्प्रलीयन्ते भवन्ति च। ज्योतिषां परमं स्थानं तत्परं ज्योतिरिष्यते ॥
पुष्पमध्ये यथा गन्धो पृथ्वी मध्ये यथा जलम्। शंखमध्ये यथा नादो वृक्षमध्ये यथा रसः॥
तथा सर्वशरीरेषु अण्ववण्वंतरेष्वपि। स्थित्वा भ्रमयतीदं हि तत्परंब्रह्म उच्यते ॥

महायोगी शिवावतार कालहस्ति ने कहा हे राजन् !! वेद, शास्त्रों, इतिहास पुराण आदि सर्वत्र ही इस बात का उल्लेख है कि इस सारे संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय आदि कर्मों के कारणभूत विश्वकर्मा ही हैं। भगवान् विश्वकर्मा द्वारा ही इस संसार की सृष्टि की गई है, इसीलिए समस्त विश्व के वे प्रभु ही कर्ता एवं स्वामी हैं। उनके पांच स्वरूप हैं जिनमें प्रथम भेदलीला निराकार है, तदनन्तर ओंकार स्वरूप है, तीसरा चिदानन्द, चौथा परमज्योति और पांचवां भेद ब्रह्मानन्द के नाम से कहा गया है। यह सारा संसार जिनसे जन्म लेकर फिर जिनमें लीन हो रहा है, और यह चक्र निरन्तर चल रहा है, उन ज्योतियों की परम ज्योति भी विश्वकर्मा ही हैं। जैसे पुष्प के अंदर गंध, पृथ्वी में जल, शंख में ध्वनि तथा वृक्षों में रस विद्यमान होता है वैसे ही सभी शरीरों एवं अणु परमाणु में स्थित रहकर उनको इस संसार में घुमाने वाले

परब्रह्म विश्वकर्मा हो हैं।

विश्वं गर्भेण संधृत्वा विश्वकर्मा जगत्पतिः। वटपत्रपुटे शेते यद्दशांगुलमात्रकः॥
बालार्ककोटिलावण्यो बालरूपी दिगम्बरः। योगमायायुतो देवो विश्वकर्मा च पत्रके॥
आनाभिकमलं ब्रह्मा आकण्ठं वैष्णवी तनुः। आशीर्षमीश्वरो ज्ञेयो विश्वकर्मात्र ईतनौ ॥
कराभ्यां स पदांगुष्ठं वक्रे निक्षिप्य चुम्बयन्। योगनिद्रा समायुक्तो शेते न्यग्रोधपत्रके ॥
मूर्तिभेदेन जनितास्तद्देवा विश्वकर्मणः। लक्ष्यन्ते पृथगात्मानो वेदेषु प्रतिपादिताः॥
एकमूले महावृक्षे जातास्ते च पृथक्सुराः। लक्ष्यन्ते रूपभेदेन तारतम्य विशेषतः॥
पंचशाखा भवन्त्यादौ विश्वकर्म महातरोः। शिवोमूर्तिर्मूर्तिमांश्च कर्ता कर्म च नामभिः॥
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। पंचब्रह्ममयं प्रोक्तमादीजं पञ्च शाखिनः॥
द्रुमसंस्थो जगत्कर्ता जगदुत्पादनोत्सुकः। स्वार्थे शक्तिस्वरूपो भूत्साशक्तिः पञ्चधा भवेत्॥
तासां नामानि वक्ष्यामि आदि शक्तिरभूत्पुरा। इच्छाशक्तिर्द्वितीयास्यात्क्रियाशक्तिस्तृतीयका॥
मायाशक्तिश्चतुर्थी स्यात् ज्ञानशक्तिस्तु पञ्चमी। वसन्ति ताश्च शाखासु पञ्चब्रह्मासु सङ्गताः ॥
ब्रह्माणपञ्चपूर्वादि चतुर्दिक्षु च मध्यमे।वसन्ति वक्रशाखासु शक्तिभिर्विश्वकर्मणः॥
ब्रह्माविष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः। पंचानां ब्रह्मणाम् राजन् पंचैतेप्यधिदेवताः॥
पूर्वं तु शिवनामास्यममूर्तिस्त्वस्य दक्षिणम्। पश्चिमम्मूर्तिमन्ता च उत्तरे क्रतुनामकम्॥
मध्यं तु कर्मनामास्यं ब्रह्मणो विश्वकर्मणः। एवमास्यानि जानीहि राजेन्द्र ! मतिमन्विभोः ॥
साकाररूपाण्येतानि निर्गुणस्य महाविभोः। अनन्तानन्तवीर्यस्य ब्रह्मणो विश्वकर्मणः॥
(महाविश्वकर्मपुराण)

वे जगत्प्रभु विश्वकर्मा समस्त विश्व को अपने उदर में धारण करके दस अंगुल परिमाण के होकर वटपत्र पर शयन करते हैं। ऐसा लगता है मानो उन्होंने करोड़ों उदीयमान सूर्यों के तेज को धारण किया हो। वे दिगम्बर होकर अपनी योगमाया के साथ उस वटपत्र पर सोये हैं। उन गुणातीत विश्वकर्मा का वेदरूपी शरीर चरणों से नाभि तक ब्रह्मा के समान, नाभि से कंठ तक विष्णु के समान तथा कंठ से शीर्षभाग तक शिव के समान प्रतिभासित होता है। परब्रह्म विश्वकर्मा अपने हाथों से लीलापूर्वक अपने पांव का अंगूठा चूसते हुए बालरूप में योगनिद्रा से युक्त होकर वटपत्र पर शयित हैं।
विश्वकर्मा के विग्रह से अलग अलग उत्पन्न हुए देवताओं को वेदों में अलग अलग रूपों में प्रतिपादित करके दिखाया गया है। एक ही मूल का विश्वकर्मा संज्ञक महावृक्ष है एवं उसके मूल से अनेक रूप एवं नामभेद के तारतम्य से जन्मे ये देवगण अनेक प्रकार के दिखाई देते हैं। विश्वकर्मा से सबसे पहले पांच भावों से युक्त शाखाओं का उद्भव हुआ जो शिव, अमूर्त, मूर्त, कर्ता एवं कर्म की संज्ञा से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव रूपी पञ्चब्रह्ममय जगत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पूर्व में जिस विश्वकर्मा संसारवृक्ष की संस्था के विषय में कहा गया है, उन जगत्कर्ता ने संसार को उत्पन्न करने की आकांक्षा से अपनी काया को शक्ति का स्वरूप बनाया। वह शक्ति पांच प्रकार की है, जिनके नाम बताता हूँ। प्रथम आदिशक्ति है जो प्रारम्भ में रची गई। द्वितीय इच्छाशक्ति और तीसरी क्रियाशक्ति है। चौथी मायाशक्ति एवं पांचवीं ज्ञान शक्ति है। इन पांचों शक्तियों के रूप में शाखा रूप धारण करके वह पंचब्रह्म (मनु, मय, त्वष्ट, शिल्पी, विश्वज्ञ) सहित निवास करते हैं। उक्त मनु आदि पंचब्रह्म पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और उर्ध्व (मध्य) दिशाओं में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव रूपी आधिदैविक शक्तियों के साथ निवास कर रहे हैं। वह विश्वकर्मब्रह्म पूर्वादि क्रम से शिव, अमूर्ति, मूर्तिमान्, क्रतु तथा कर्म नामक मुख वाले हैं। हे राजन् सुव्रत !! इस प्रकार उन जगत्पति के नाम सहित मुख बताये गए हैं। इस प्रकार उन निर्गुण महाविभु का साकार स्वरूप जानना चाहिए जो अनन्त शक्ति से युक्त हैं।

--*

कोरोना संकट के समय कहे गये वक्तव्य

एक आवश्यक बात पर यह लिख रहा हूँ, कृपया ध्यान से पढ़ें। मैं परम्परागत मान्य श्रुतिसम्मत शास्त्रों का समर्थक और अनुयायी हूँ। इसे यद्यपि बताने की आवश्यकता नहीं है, जो मुझे प्रत्यक्ष जानते हैं, उन्हें यह ज्ञात है, शेष जन मेरे लेखों से मेरे विचार जानते ही हैं। यह सत्य है कि शास्त्रों में लिखी प्रत्येक बात का उद्देश्य सम्पूर्ण लोकों का कल्याण है, वह सर्वथा सत्य एवं अनुपालनीय है, उनकी अवहेलना से नानाविध भौतिक और पारलौकिक संकट उत्पन्न होते हैं।

आज विश्व जिस संकट का सामना कर रहा है, यह पूर्व में आये संकटों की तुलना में कुछ नहीं है फिर भी भूतकाल के शेर से वर्तमान का मच्छर अधिक कष्ट देता है, इसीलिए जो भी उपाय आधुनिक लौकिक विज्ञान और नित्य शास्त्रीय विज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट हैं, उनका पालन करना ही सबों के हित में है। सामान्य स्थिति का धर्म कुछ और होता है, आपत्तिकाल ...
न मनुष्य को, न गौशाला आदि को, खाद्य के अभाव में मरना पड़े, इसका प्रबंध सरकार भी करे, और अपने आस पड़ोस में क्षमतानुसार आप भी करें। दो समय का भोजन न करें, एक ही समय करें, किन्तु दृष्टि के सामने किसी को भूखे न मरने दें। स्मरण रखें, यह देश हरिश्चंद्र का है, कर्ण का है, शिबि का है। हम सदैव अपनी अपेक्षा दूसरों के प्राण को बचाने की परम्परा धारण करते हैं।

ज्यादा हवन के चक्कर में न रहें, बिना अग्निवास का विचार किये अनधिकृत जन, यज्ञोपवीत आदि से हीन होकर, स्वाहाकार की मर्यादा के ज्ञान से रहित होकर आहुति नहीं डाल सकते, इसलिए बड़का तांत्रिक बनने की आवश्यकता नहीं है। हां, पर्यावरण शुद्धि के निमित्त सामान्य लौकिक अग्नि जलाकर, लौंग, इलायची, कपूर, गुग्गुल, देवदार, जटामांसी, गिलोय आदि को जलाकर विषाणु शमन का उपक्रम कर सकते हैं, किन्तु मन्त्र आदि का प्रयोग न करें। दैनिक सन्ध्या पूजन आदि के समय भगवती के माहात्म्य और वचन का चिंतन करते हुए दुर्गासप्तशती के निम्न मंत्र से प्रार्थना करें (ये सभी कर सकते हैं,विशेष अधिकारी की आवश्यकता नहीं है)

उपसर्गानशेषांस्तु महामारीसमुद्भवान्। तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम॥

संस्कृत न पढ़ पाएं, तो अशुद्ध उच्चारण से बचें। हिंदी में ही इसका भाव निवेदित करें। सभी प्रकार के ग्रहजन्य, अभिचारजन्य, महामारीजन्य, दैहिक, दैविक और भौतिक उत्पात, संकटों को मेरा माहात्म्य नष्ट कर देता है। (ऐसा भगवती का वचन है, इसका स्मरण करें) इसके अतिरिक्त अपनी श्रद्धा के अनुसार निम्न कार्य भी कर सकते हैं।
भगवान् सूर्य आरोग्य देने वालों में अग्रणी हैं, उनसे विशेष प्रार्थना करें।
भगवान् मृत्युंजय शिव की भी शरण ग्रहण कर सकते हैं, निम्न मंत्र का प्रयोग करें।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

मृत्युञ्जय महादेव/(महारुद्र) त्राहि मां शरणागतम् । जन्ममृत्युजरारोगैः पीडितं कर्मबन्धनैः ॥

हे मृत्य से परे महादेव महारुद्र ! मुझ शरणागत की रक्षा करें। मैं अपने कर्मबन्धन के कारण जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग आदि से पीड़ित हूँ, मेरी रक्षा करें। (यहां "मेरी" कहते हुए समाज का भी चिन्तन करें। अथवा भगवान् विष्णु के धन्वंतरि अवतार का ध्यान करते हुए अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः इसका अधिक से अधिक जप, पाठ, स्मरण या कीर्तन करें। मन्त्र के प्रयोग की विधि जानने वाले अधिकृत साधक जन, जो वैष्णवाचार से अवगत हैं, यदि मान्त्रिक प्रयोग करना चाहें तो निम्न मन्त्र का अधिकाधिक जप करें। (केवल अधिकृत साधकों के लिए)

ॐ नमो भगवते धन्वन्तरये अमृतकलशहस्ताय सर्वामयविनाशनाय त्रिलोकनाथाय विष्णवे स्वाहा ।

सर्वोच्च मानवीय नैतिकता एवं उदारता का प्रदर्शन करते हुए सनातनी परम्परा को गौरवान्वित करें। सभी राग-द्वेष, पूर्वापर की शत्रुता, स्वार्थ और घृणा को छोड़कर वैरोचनीय* सिद्धांत का पालन करें। *वैरोचनीय सिद्धान्त का अर्थ है, समय पर यदि स्वयं शत्रु भी आकर आपका मस्तक मांगे तो काटकर दे दें। यह उदारता प्रह्लाद पुत्र विरोचन ने दिखाई थी। आप इस समय व्यक्ति के रूप में नहीं, प्रजाति के रूप में सोचें जो अपनी और अन्य जीवों की भी रक्षा करने के लिए प्रतिबद्ध है। प्रश्न उठता है कि कोरोना काल में संक्रमित होकर मरे हुए व्यक्ति का अन्तिम संस्कार कैसे करें, विशेषकर जब उसका परिवार स्वयं क्वारंटाइन है ??

उत्तर - जिनका अग्निदाह नहीं करना है, अथवा तर्पण आदि नहीं करना है, जैसे कि आत्महत्या करने वाले, बिजली अग्नि जल के कारण मरे हुए, अथवा सांप-कुत्ता आदि के काटने से मरे हुए लोग आदि, उसमें महारोगैश्च ये मृताः भी है। महारोग में क्षय कुष्ठ आदि तो आते हैं, भीषण ज्वर, कफ, श्वास समस्या (जो कि कोरोना का लक्षण है) वह भी आता है। महारोगाष्टके कासे ज्वरे श्वासातिसारके ॥ इसके समर्थन में शुद्धितत्त्व में नारदीय वचन भी द्रष्टव्य है। अब इसमें सूतक भी नहीं लगता, और्ध्वदैहिक संस्कार, तर्पण आदि भी नहीं करना है, मात्र नारायण बलि का विधान है, जैसा कि गरुड़ पुराण, धर्मखण्ड, अध्याय चालीस में नारायण भगवान् कहते हैं -

न तेषां कारयेद्दाहं सूतकं नोदकक्रियाम् ॥
न विधानं मृताद्यं च न कुर्यादौर्ध्वदैहिकम् । तेषां तार्क्ष्य प्रकुर्वीत नारायणबलिक्रियाम् ॥

यह कब करना चाहिए, इसमें कहते हैं -

षण्मासं ब्राह्मणे दाहस्त्रिमासं क्षत्त्रिये मतः ॥ सार्धमासं तु वैश्यस्य सद्यः शूद्रे विधीयते ।

ब्राह्मण का छह महीने में, क्षत्रिय का तीन महीने में, वैश्य का डेढ़ महीने में और शूद्र का यथाशीघ्र दाह करना चाहिए। (मेरे मत में यह अधिकतम अवधि है, कि इतने समय के अन्दर उचित देश काल की उपलब्धता करके मृतक के प्रेतत्व

की निवृत्ति हेतु उसका पुत्तलिकादाह करके और फिर आगे का कार्य सम्पादित किया जाना चाहिए।) मेरी समझ से महामारी में, राजाज्ञा के कारण जो व्यक्ति परिजनों का और्ध्वदैहिक कर्म न कर सके, वह सुकाल में करे।

एक आवश्यक बात पर यह लिख रहा हूँ, कृपया ध्यान से पढ़ें। मैं परम्परागत मान्य श्रुतिसम्मत शास्त्रों का समर्थक और अनुयायी हूँ। इसे हालांकि बताने की आवश्यकता नहीं है, जो मुझे प्रत्यक्ष जानते हैं, उन्हें यह ज्ञात है, शेष जन मेरे लेखों से मेरे विचार जानते ही हैं। यह सत्य है कि शास्त्रों में लिखी प्रत्येक बात का उद्देश्य सम्पूर्ण लोकों का कल्याण है, वह सर्वथा सत्य एवं अनुपालनीय है, उनकी अवहेलना से नानाविध भौतिक और पारलौकिक संकट उत्पन्न होते हैं।

आज विश्व जिस संकट का सामना कर रहा है, यह पूर्व में आये संकटों की तुलना में कुछ नहीं है फिर भी भूतकाल के शेर से वर्तमान का मच्छर अधिक कष्ट देता है, इसीलिए जो भी उपाय आधुनिक लौकिक विज्ञान और नित्य शास्त्रीय विज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट हैं, उनका पालन करना ही सबों के हित में है। सामान्य स्थिति का धर्म कुछ और होता है, आपत्तिकाल का धर्म थोड़ी सी अधिक सम्वेदनशीलता और पारिस्थितिक छूट लिए होता है। कुछ श्रेष्ठ शास्त्रज्ञ विप्रजन सेनेटाइजर आदि के प्रयोग की अपेक्षा गोमूत्र, मिट्टी आदि का समर्थन कर रहे हैं। यहां तक कह रहे हैं कि सेनेटाइजर लगा लिए तो दुबारा जनेऊ करना होगा, प्रायश्चित्त करना होगा, ब्राह्मणत्व से गिर जाओगे आदि आदि। इसका एकमात्र कारण यह है कि सेनेटाइजर में अल्कोहल होता है। मैं इसकी समीक्षा करने का दुःसाहस कर रहा हूँ, कृपया मुझे क्षमा करें। अल्होकल का शास्त्र में विरोध क्यों है ? क्योंकि वह अपवित्र है। अपवित्र क्यों है ? क्योंकि श्रापित है। किसके द्वारा ? शुक्राचार्य के द्वारा, श्रीकृष्ण के द्वारा। किन्तु यह श्राप लगा क्यों ? राक्षस शिष्यों की द्वारा दी गयी मदिरा पीकर शुक्राचार्य ने साथ में अपने शिष्य एवं भतीजे बृहस्पतिपुत्र कच के मृत शरीर का चूर्ण रूप में सेवन कर लिया था, फलतः उन्हें ब्रह्महत्या लगी थी, हालांकि बाद में मृतसंजीवनी आदि से जीवित किया, बहुत समस्या हुई थी, इतिहासवित् पूरा प्रसङ्ग जानते हैं। ऐसे ही श्रीकृष्ण भगवान् के पूरे कुटुम्ब का नाश भी मदिरा पीकर हुए युद्ध के कारण हुआ। इसीलिए शुक्राचार्य एवं श्रीकृष्ण महाराज ने मदिरा को श्राप दिया। ब्रह्मदेव का भी श्राप लगा है।

आगमशास्त्र के विशेषज्ञ आज भी आसवार्चन के समय कचोद्भूतां ब्रह्महत्यां तेन त्वां पावयाम्यहम् आदि वचनों से पहले मदिरा को "पवित्र" या "शोधित" करते हैं, श्रापमुक्त करते हैं, तब प्रयोग में लाते हैं। हम जैसे सात्विक वैष्णवाचार के अनुयायी भी जब तंत्र के प्रयोगों में आसवार्चन करते हैं, तो प्रत्यक्ष मदिरा के विकल्प के रूप में नारियल का पानी आदि जो भी रखते हैं, वह भी श्रापमुक्त करने के बाद ही प्रयोग करते हैं। तो क्या मुख्य कारण श्राप ही है ? नहीं, मुख्य कारण है मदिरा की संवित् शक्ति। मस्तिष्क की प्रणाली को धीरे कर देने की शक्ति, यही शक्ति विजया, यानी भांग में भी है। जो आपके विवेक का नाश करे, या जितनी मात्रा में लेने के बाद करे, वह सीधे वर्ज्य है। मदिरा तो थोड़ी भी नहीं लेनी चाहिए, भांग जितना पच सके, उतना ले सकते हैं, क्योंकि वह पंचामर श्रेणी की औषधि है, जिस श्रेणी में तुलसी आती है, इसीलिए औषधीय विधि से सन्तुलित ले सकते हैं।

अल्कोहल ऐसे सीधे कच्चे रूप में क्या है ? मात्र कार्बन कंपाउंड। वह शरीर के अंदर बाहर, फल-सब्जी आदि सब में है। वह एक रसायन के रूप में प्रकृति का एक अवयव मात्र है। जैसे ऑक्सीजन, जैसे कोयला, जैसे पेट्रोल, वैसे ही अल्कोहल। जब तक उसे नशे के रूप में पेय बनाकर, विकृत करके ग्रहण न किया जाए, मदिराजन्य दोष नहीं लगेगा। होमेओपेथी में उसे औषधीय तत्व के संरक्षक के रूप में प्रयोग करते हैं। 90% तक कच्चे अल्कोहल में कालमेघ, मंगरैला, अल्फाफा आदि के सत्व को मिलाकर रखते हैं, जैसे अचार को सुरक्षित रखने के लिए तेल डालते हैं। तो क्या होमेओपेथी दवा लेने से ब्राह्मणत्व चला गया ? कफ सिरप लेने से चला गया ? गन्ने के रस में भी डेढ़ प्रतिशत अल्कोहल होता ही है। बिल्कुल ब्राह्मणत्व नहीं गया, क्योंकि आपका उसका औषधीय प्रयोग मान्य विधि से मात्र रोग निवारण के लिए कर रहे हैं, नशे या मनोरंजन के लिए नहीं ले रहे।

आयुर्वेद में भी आसव-अरिष्ट की विधि और सेवन है या नहीं ? उसमें तो दस प्रतिशत से भी अधिक अल्कोहल होता है। कई में तो बियर से भी अधिक। तो उसका सेवन ऋषियों ने क्यों विहित किया ? मात्र रोग के निवारण के लिए। हाँ, यदि कोई नशे के किये प्रयोग करे तो उसे तत्काल दोष लगेगा। मदिरा बनाने की शास्त्रोक्त विधि में माद्री, सैंधवी, पिष्टी आदि है कि नहीं ? सबके अलग यौगिक विशेषता है, प्रभाव है, कुछ त्याज्य हैं, कुछ परिस्थितियों से ग्राह्य हैं। कहने का भाव यह है कि मात्र अल्कोहल होने से कोई तत्व पवित्र या अपवित्र घोषित नहीं करना चाहिए।

अब रही बात सेनेटाइजर की, तो उसका एकमात्र उद्देश्य विषाणु को मारना है। हम उसका प्रयोग पूजा में नहीं कर रहे, न ही उसे पी रहे हैं, नशे के लिए। मात्र कवच जैसा प्रयोग कर रहे हैं, वो भी आपत्तिकाल जानकर। वह एक रसायन है, जो रक्षक के रूप में प्रयुक्त है। गोमूत्र जिनके पास है, वे प्रयोग करें, स्वच्छ मिट्टी का भी प्रयोग करें, गांव में सम्भव है, किन्तु सेनेटाइजर वाले पतित हो गए, ऐसा भी मैं नहीं समझता। आज शहरों में अपने कर्म के ही कारण गोमाता नहीं रही, मिट्टी भी नहीं रही, सब सीमेंट हो गया, तो इस लिए मर जाना उचित तो नहीं। इतनी आबादी बढ़ गयी है, मनुष्य का जीवन और कार्य संकुचित हो गया है, ऐसे में एक एक पंक्ति पकड़ कर शास्त्र पर चलना न सम्भव है न वांछित। सम्भव की सीमा तक धर्म का कठोर पालन करें किन्तु केवल अल्कोहल है, इसीलिए सेनेटाइजर त्याज्य नहीं हो गया। हां, उसे लगाकर बाद में स्वच्छ जल से हाथ धोकर ही व्यवहार करें, ये कह सकते हैं। शास्त्रज्ञजन मेरी उपर्युक्त बात से भड़क सकते हैं, इसीलिए मैं अपने मत को आर्ष वाक्यों से सिद्ध करने का प्रयास करता हूँ।

यस्तु कार्त्तयुगो धर्मो न कर्तव्यः कलौयुगे।
(आदित्य पुराण)

सत्ययुग में जैसा धर्म बताया गया है, उसे कलियुग में न करे। यहां इस वाक्य का अर्थ यह नहीं कि वर्णाश्रम का पालन छोड़ दें, सन्ध्या-यज्ञोपवीत आदि छोड़ दें, व्यभिचार करने लगें, ऐसा नहीं कहा। अपितु भाव है कि जितना कठोर और स्पष्ट नियम धर्म के संदर्भ में सत्ययुग में बताया गया है, उसका लकीर के फकीर की भांति अक्षरशः पालन कलियुग में

सम्भव न होने से आरोपित न करे। यह भाव इसीलिए भी पुष्ट है कि अलग अलग युगों में अलग अलग स्मृतियों के नियम की प्रधानता बताई गई है जिनकी संख्या साठ से भी अधिक है। यदि सार्वकालिक बात होती तो युगभेद से स्मृतियों में नियमभेद नहीं होते। इस संदर्भ में ऋषि अंगिरा का वचन प्रसिद्ध है,

अत्यन्यायमतिद्रोहमतिक्रौर्यं कलावपि।
अत्यक्रमं चात्यशास्त्रं न कुर्यान्न च कारयेत् ।यदि कुर्वीत मोहेन सद्यो विलयमेष्यति ॥

कलियुग में भी किसी के प्रति अति अन्याय न करे, अत्यधिक शत्रुता न करे, अत्यधिक क्रूर न बन जाये। अत्यधिक उपेक्षा वाला स्वभाव न करे, अत्यधिक अशास्त्रीय न बन जाये, और न स्वयं बने न किसी को बनाये। यदि ऐसा करेगा, तो उसका नाश निश्चित ही है।

सेनेटाइजर का विरोध इसी "अत्यशास्त्र" की श्रेणी में आएगा, क्योंकि यह आपत्तिकाल में अनुपलब्ध वस्तु से प्राणरक्षा को बाध्य कर रहा है, और उपलब्ध वस्तु को त्याज्य बता रहा है, जबकि वह शास्त्रीय मर्यादा का (मेरी दृष्टि में) प्रत्यक्ष उल्लंघन नहीं कर रहा। यह विषाणु के विरोधी तत्व को रासायनिक औषधि न समझकर मात्र अल्कोहल की उपस्थिति से त्याज्य कह रहा है। अल्कोहल अपने विभिन्न रूपों में औषधीय क्षेत्र में कीटाणुशोधक, एंटीसेप्टिक्स और एंटीडोट्स के रूप में प्रयोग किया जाता है। जब कीटाणुशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है, तो आमतौर पर सर्जरी के किसी भी प्रकार से पहले त्वचा पर लागू होता है। लेकिन इसका उपयोग अन्य उद्देश्यों के लिए त्वचा कीटाणुरहित करने के लिए भी किया जा सकता है। जब कीटाणुशोधन के लिए एंटीसेप्टिक के रूप में प्रयोग किया जाता है, तो अल्कोहल आमतौर पर आयोडीन के संयोजन में दिया जाता है, वही आयोडीन जो नमक में भी मिलाते हैं। अल्कोहल कभी-कभी, नमूने को संरक्षित करने की क्षमता के कारण दवा और विज्ञान के क्षेत्र में एक संरक्षक के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। कार्बनिक यौगिक से एक या एक से अधिक हाइड्रोजन परमाणु का प्रतिस्थापन एक या एक से अधिक -O-H समूह द्वारा कर दिया जाए तो बनने वाले यौगिक अल्कोहल कहलाते हैं। जब एल्कीन पर जल की अभिक्रिया तनु H2SO4 की उपस्थिति में की जाती है तो भी अल्कोहल बनता है।

कहने का भाव इतना ही है कि हर अल्कोहल "दारू" नहीं है, क्योंकि गन्ना, सेब, मक्का, अंगूर, अनानाश, खजूर और चावल में भी शुगर अल्कोहल जॉयलीटॉल के रूप में होता है। मेरे मत में सेनेटाइजर का प्रयोग शास्त्रविरुद्ध नहीं है, क्योंकि इसका उद्देश्य नशा न होकर, रक्षात्मक है,भिन्न है। हां, सेनेटाइजर लगाकर सीधे भोजन, पूजन आदि न करें, आग से दूर रहें, अल्कोहल ज्वलनशील होता है, सेनेटाइजर लगाएं, सूखने पर स्वच्छ गुनगुने जल से हाथ रगड़कर धोएं, फिर शेष कार्य करें।

--*

आगमशास्त्र की विशेषता

आगमशास्त्र की प्रामाणिकता सनातनी समाज के लिए सर्वमान्य है। इसके विस्तृत स्वरूप के अंतर्गत सहस्रों ग्रंथ हैं जो अलग अलग कालखण्ड में भगवान् शिव, विष्णु, सूर्य, भगवती दुर्गा आदि के द्वारा अपने भक्तों एवं योग्य जिज्ञासुओं के प्रति प्रकाशित किये गए हैं। इन ग्रंथों के नाम के आगे आगम, तन्त्र, संहिता, कल्प, वरिवस्या आदि शब्दों का प्रयोग होता आया है। श्री वैष्णवागम परम्परा में भी दिव्य तन्त्रमत का प्रकाशन ऋषियों के द्वारा उपदेष्टा अथवा श्रोता के भाव से हुआ है। इसमें एक तो भगवान् नारायण के पुत्ररूपी ऋषिप्रवर विखना, जिन्हें तात्विक दृष्टि रखने वाले साधकगण ब्रह्मा के रूप में भी बताते हैं, के द्वारा प्रवर्तित वैखानस अथवा औखेय मत है (जिसका केंद्र वर्तमान में श्री तिरुपति दिव्यदेश है), जिसका विस्तार कालांतर में महर्षि अत्रि, कश्यप, भृगु एवं मरीचि ने किया।

आदिकाले तु भगवान् ब्रह्मा तु विखना मुनिः। यजुश्शाखानुसारेण चक्रे सूत्रं महत्तरम्॥
(वैखानसविजयम्)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी विखना मुनि के नाम से हुए, जिन्होंने यजुर्वेद की शाखा के अनुसार महान् सूत्रों का प्रणयन किया। दूसरी परम्परा को पांचरात्र कहते हैं, जिसके उद्गाता स्वयं चतुर्व्यूहात्मक भगवान् नारायण एवं संकर्षण हैं, (जिसका केंद्र वर्तमान में श्रीरङ्गम् दिव्यदेश है), जिसका विस्तार कालांतर में देवर्षि नारद, शांडिल्य, मार्कण्डेय आदि ने किया। पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्॥ सम्पूर्ण पांचरात्र के उपदेष्टा स्वयं भगवान् नारायण ही हैं।

आदिगुरु भगवान् शंकराचार्य ने अपने शास्त्रसिद्ध ग्रंथों में तंत्रमत को व्यापक स्थान दिया है एवं उसके संवर्धन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण उपक्रम किया, किन्तु उनकी कुछ उक्तियों में पांचरात्र मत के प्रति किञ्चित् अश्रद्धा परिलक्षित होती है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है तथा शंकराचार्य जी की दृष्टि में पांचरात्र मत को अवैदिक इत्यादि संज्ञाओं से लक्षित किया गया है। शांकर मत के कुछ वरिष्ठ विशेषज्ञ यह भी मानते हैं केवलाद्वैत के प्रबल संरक्षक आद्यशंकराचार्य जी पांचरात्र के विरोधी न होकर मात्र उसके द्वैतपरक अर्थ के विरोधी थे, अतः उन्होंने पांचरात्र मत से भी अद्वैतभाव का पोषण किया है। पांचरात्र एवं वैखानस, दोनों ही मत नारायणपरक उपासना को केंद्र में रखते हैं किंतु फिर भी वैखानस में प्रवृत्तिमार्ग एवं पांचरात्र में निवृत्तिमार्ग की ओर विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। पांचरात्र मत को अवैदिक मानने वालों के मत का खण्डन अनेकों ग्रंथों में प्राप्त होता है, यथा -

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्। तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥
(श्रीकृष्ण संहिता)

सभी वेदों के शिरोमणि के रूप में यह एकायन नामक वेद (अथवा वैदिक शाखा) है, जिसके अर्थ का प्राकट्य

मोक्षदायी पांचरात्र के रूप में है। वैखानस मत के गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि भी प्राप्त होते हैं जिससे इनकी वेदसम्मत परम्परा सिद्ध होती है। एकायन शाखा को यजुर्वेदीय परम्परा का अंतर्गत मानना समीचीन है, क्योंकि चरणव्यूह में वर्णित कृष्ण यजुर्वेद की चार प्रधान शाखाओं में औखेय (वैखानस) का नाम स्पष्ट है। इस प्रकार से वैखानस मत कृष्णयजुर्वेदीय शाखा से सम्बंधित हुआ। इसके अनन्तर पांचरात्र मत को शुक्लयजुर्वेदीय शाखा से सम्बंधित मानना भी समीचीन है, क्योंकि

काण्वीं शाखामधीयानान् वेदवेदान्तपारगान्। संस्कृत्य दीक्षया सम्यक् सात्वताद्युक्तमार्गतः॥
(ईश्वर संहिता)

वेद-वेदान्त के विशेषज्ञ होकर काण्वी शाखा में अधीत, सम्यक् वैष्णव दीक्षा से संस्कारित होकर ही मनुष्य सात्वत धर्म के योगमार्ग को प्राप्त कर सकता है। सात्वत धर्म से यहां पांचरात्र मत का ही बोध होता है, क्योंकि

सत् सत्वम् - ब्रह्म तद्वन्तः - सात्वन्तः अथवा सात्विकाः ब्रह्मविदः तेषामिदं कर्म शास्त्रं वा - सात्वतं तत्कुर्वाणः आचक्षाणो वा सात्विकाः वा सात्वतः ।

इस भाव से विचार करने पर ब्रह्मनिष्ठ जनों का आचरण ही सात्वत शास्त्र या सात्वत धर्म है। इस धर्म के अंतर्गत वर्णित तन्त्रोक्त विधि को वैदिक एकायन, जो स्वयं पांचरात्र ही है, उनका सारभूत बताया गया है।

एकायनश्रुतेः सारभूतं सात्वत तन्त्रमिति वर्तते।

महाभारत के शांतिपर्व में चित्रशिखण्डी के द्वारा कल्प के आरम्भ में ही ऋक्, यजुष्, साम एवं अथर्ववेद के मन्त्रों से अनुमोदित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए तद्वत् स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में प्रचलित विविध मर्यादारूप पंचविध ज्ञान से समन्वित शतसाहस्त्री पांचरात्र संहिता की रचना की।

तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षाः पश्चाश्च कीर्तितः। मर्यादा विविधाश्चैव दिवि भूमौ च संस्थिताः॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

(चित्रशिखण्डी एक समूह का नाम है, जिसमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वशिष्ठ हैं। इसमें मनु को मिलाकर ये लोकों को धारण करने वाले अष्टधा प्रकृति कहाते हैं।)

सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥
पांचरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप। एकांतभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै॥
(महाभारत, शांतिपर्व)

वेद, सांख्य, योग, पाशुपत तथा पांचरात्र में सन्निहित ज्ञानों में विरोधाभास नहीं, अपितु सैद्धांतिक सामंजस्य है। जो सप्तर्षियों के द्वारा प्रणीत पांचरात्र के ज्ञाता हैं तथा तदनुसार अनन्य शरणागत सेवापरायण भगवद्भक्त हैं, वे उन श्रीहरि में ही लीन हो जाते हैं। पांचरात्र संहिताओं में जो चतुर्व्यूह का वर्णन है, वह भी इतिहास, श्रुति एवं पुराणसम्मत ही हैं।

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः। ज्ञेयः स एव राजेन्द्रः जीवः संकर्षणः प्रभुः॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते। प्रद्युम्नाद्योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः॥
(महाभारत, शांतिपर्व)
रोहिणीतनयो विश्व अक्षराक्षरसम्भवः। तैजसात्मक प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः॥
प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकराक्षरसम्भवः। अर्द्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्॥
(गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्)
वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्। अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिर्व्यूहोऽभिधीयते॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

ब्रह्मसूत्रभाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने अन्यान्य आगमों को किसी न किसी दृष्टि से अप्रामाणिक घोषित करने की स्थिति रखी किन्तु वैखानस के विषय में उन्होंने भी मौन धारण किया है। हां, पांचरात्र के प्रामाण्य को उन्होंने पूरे अंशों में स्वीकार नहीं किया है, जबकि छान्दोग्य श्रुति में "वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां" आदि उक्ति से एकायन को स्वीकार किया गया है। एतदर्थ कालांतर में श्रीस्वामी वेदान्तदेशिक जी के द्वारा पांचरात्ररक्षा आदि ग्रंथों का प्रणयन अनिवार्य हो गया। श्री यामुनाचार्य ने भी आगमप्रामाण्य जी रचना इसी उद्देश्य से की थी।

वेदों के विद्वान् जानते हैं कि वेदों को रहस्य के साथ पढ़ने की बात अनिवार्य है। महाभारत कहता है, सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्रः। यद्यपि काठक गृह्यसूत्र में उपनिषदं रहस्यशास्त्रं, इस उक्ति से उपनिषदों को रहस्य शब्द से लक्षित किया गया है किन्तु चारों वेदों की चार भिन्न आम्नाय परम्परा भी है, इसीलिए एकायन को रहस्याम्नाय की संज्ञा प्राप्त है, यह भी ध्यान में रखना चाहिए।

श्रुत्वैवं प्रथमं शास्त्रं रहस्याम्नायसंज्ञितम्।
(पारमेश्वर संहिता)
आद्यमेकायनं वेदं रहस्याम्नायसंज्ञितम्।
(ईश्वर संहिता)

श्रीमद्भगवद्गीता में साधकों की तीन प्रकार की निष्ठा का वर्णन है, सात्विक, राजस एवं तामस। ऐसे ही आगमशास्त्र में भी इन तीन गुणों से आवृत्त शास्त्रों का विभाजन किया गया है। जो ग्रंथ सीधे भगवान् के द्वारा उपदिष्ट हुए, अथवा तदंश ब्रह्मा, रुद्र आदि के द्वारा उपदिष्ट हुए, उन्हें दिव्यशास्त्र कहा जाता है। इसके अनन्तर साक्षात् भगवान् से सुने हुए

अर्थ को ही यथावत् निबंधित किये गए शास्त्र को सात्विक शास्त्र कहते हैं। पुनः भगवान् से श्रुत अर्थ के किसी विशेष भाग या दृष्टिकोण को अपने चिंतन अथवा योग्यता से पुनः परिभाषित करके प्रणीत शास्त्र की राजस संज्ञा है। केवल योगबल का आश्रय लेकर लोककल्याण की भावना से वेदसम्मत सूत्रों से युक्त शास्त्र का प्रणयन यदि किया जाए तो वह तामस शास्त्र कहलाता है। इस प्रकार मुनिभाषित शास्त्रों की तीन श्रेणियां निश्चित की गई है, ऐसा शांडिल्य-सनक संवाद से सिद्ध है। योगबल से रहित, वेदविरुद्ध कल्पित मतों का पोषण करने वाले शास्त्र अप्रामाणिक एवं त्याज्य माने गए हैं।

मुनिभाषितेषु त्रिषु शास्त्रेषु उत्कृष्टमध्यमाधमगुण संज्ञा निर्दिष्टेषु अपकृष्टगुणसंज्ञितशास्त्रप्रवृत्तिस्थाने तत्परित्यागेनापि
उत्कृष्टगुणसंज्ञितशास्त्रेण पूजाद्यं सिद्धिदम्। उत्कृष्टगुणसंज्ञितशास्त्रप्रवृत्तिस्थाने
तद्विपरीतेन शास्त्रेण पूजनादिकं न कर्तव्यम्॥
(श्रीपाञ्चरात्ररक्षा)

तामसी शास्त्रों का आश्रय लेने वाले अपनी परम्परा को छोड़कर राजस शास्त्र को अपना सकते हैं। राजसी शास्त्रों का आश्रय लेने वाले भी अपनी परम्परा को छोड़कर सात्विक शास्त्र को अपना सकते हैं। सात्विक शास्त्र का आश्रय लेने वाले भी अपनी परम्परा को छोड़कर निष्काम दिव्यशास्त्र को अपना सकते हैं, किन्तु अपनी परम्परा से हीन परम्परा का अनुसरण करना कदापि कल्याणकारी नहीं है।

जो काम्य कर्मों की फलेप्सा से मुक्त हो चुके हैं, जिनमें केवल भक्ति ही प्रधानता से विद्यमान् है, वे पुण्यकर्म, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति अथवा सांसारिक वैभव की इच्छा स्वभावतः ही नहीं रखते हैं। जो केवल भगवान् की सन्निधि की ही कामना करते हैं, उन्हें निर्गुण दिव्यशास्त्र की शरण ग्रहण करनी चाहिए, शेष भौतिकतावादी जन स्वकाम के अनुसार गुणात्मक तन्त्रों के अनुसार कर्म करने के लिए अधिकृत हैं। अपने अपने लक्ष्य की प्राप्ति कराने में सभी शास्त्र समर्थ हैं, इसीलिए राजस एवं तामस शास्त्रों की प्रामाणिकता में अंशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे भी योगबल से युक्त ऋषियों के द्वारा लोककल्याण की भावना से ही प्रणीत हैं। तीनों प्रकार के शास्त्र प्रमाणरूप हैं, जिनमें सात्विक शास्त्र को नागर, राजस को द्राविड एवं तामस को वेसर भी कहा जाता है।

स्यान्नागरद्राविडवेसरं च क्रमेण वै सत्वरजस्तमांसि॥
(श्रीपाञ्चरात्ररक्षा)

जैसे दार्शनिक दृष्टि से विषयों एवं तत्सम्बन्धी गुणों को उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी में बांटा गया है, वैसे ही शास्त्रों में यह केवल श्रेणीभेद ही समझना चाहिए। पौरुषशास्त्रों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं करणापाटव, ये चार दोष होते हैं, इसीलिए वे स्वाभाविक रूप से अप्रामाणिक माने जाते हैं। उन्हें अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वेद-स्मृति आदि प्रामाणिक ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है, तभी उनकी प्रतिष्ठा हो पाती है। पौरुषशास्त्र ही अप्रामाणिक कहे गए हैं,

किन्तु वेदादिसम्मत पौरुषशास्त्र ग्राह्य हैं, उनके वेदविरुद्ध अंश ग्राह्य नहीं हैं। इसी प्रकार से सात्विकादि शास्त्रों की गति एवं तारतम्यता जानकर स्वकर्म में प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

चूंकि पूर्व में बताया जा चुका कि सम्पूर्ण पांचरात्र शास्त्रों के वक्ता स्वयं भगवान् नारायण (चतुर्व्यूह में वासुदेव, संकर्षण आदि) ही हैं, साथ ही वैखानस ग्रंथों के उपदेष्टा ब्रह्मारूपी विखना मुनि हैं, तो इन शास्त्रों में पुरुषगत दोषों का संस्पृष्ट होना सम्भव नहीं हैं। स्वप्रोक्त शास्त्रों में श्रीभगवान् के द्वारा ही ऋषियों को भी परम्परागत अधिकार प्राप्त हुआ है। जैसे वेद के नित्य एवं अनंत होने पर भी सूत्र, मंत्र आदि के रूप में उनके प्राकट्य अथवा विस्तार का निमित्त ऋषियों को बनाया गया है, इससे वेदों में पुरुषगत दोष लिप्त नहीं हो जाते, वैसे ही रहस्याम्नाय एकायन वेदोक्त पांचरात्र आदि के ग्रंथों के नित्य एवं अनंत होने पर भी ऋषिजनों के द्वारा मात्र उसका प्राकट्य अथवा विस्तार हुआ है, इससे उनमें पुरुषगत दोषों का लिप्त होने की धारणा समीचीन नहीं है। श्री वेदान्तदेशिक स्वामी की बहुत प्रसिद्ध उक्ति है,

कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे। यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः॥

जिसके चित्त में गोविन्द हैं, उसके लिए कलियुग में भी सत्ययुग है, और जिसके हृदय में अच्युत नहीं हैं, उनके लिए सत्ययुग भी कलियुग के ही समान है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए निरंतर सिद्धांतवाक्यों पर आचरण करने की नितांत आवश्यकता होती है। शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्यों का वर्णन है - दिव्य, मुनिभाषित और पौरुष। जो वाक्य अनेकार्थ को देने में समर्थ हैं, संशयरहित हैं, सूत्रात्मक हैं, निर्मल, नित्य, आदेशात्मक एवं मोक्षदायी हैं, ऐसे वाक्यों को नारायणप्रोक्त, शब्दब्रह्मवत् दिव्यवाक्य कहते हैं। मुनिभाषित वाक्य वह है, जो दिव्य एवं वेदोक्त वाक्यों का प्रशंसक हो, सिद्धांतों का नियामक हो, सबके लिए कल्याणकारी हो, गूढार्थ के प्रकाशन में समर्थ हो एवं प्रसङ्ग के अनुकूल हो। जिस वाक्य में अर्थ का अनर्थ किया गया हो, पूर्वापर से जिसका सम्बन्ध स्पष्ट न हो, जो मोहित करने वाला, संकुचित अर्थ को लिए हुए हो, दिव्य एवं मुनिभाषित वाक्यों के साथ संगति न रखता हो, उसे पौरुष वाक्य कहते हैं, जो नरक की प्राप्ति कराने वाला होने से त्याज्य है। अतएव वाल्मीकीय रामायण में जाबालि के नास्तिकपरक वाक्य शास्त्रांश होने पर भी अग्राह्य हैं। किंतु,

प्रसिद्धार्थानुवादं यत् संगतार्थं विलक्षणम्। अपि चेत्पौरुषं वाक्यं ग्राह्यं तन्मुनिवाक्यवत्॥

जो पौरुष वाक्य श्रुतिस्मृति के मान्य अनुवादक हैं, उनके साथ संगति रखते हैं, विलक्षण हैं, उन्हें मुनिभाषित वाक्यों के ही समान आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। श्रीमद्भागवत आदि में वैदिक और तान्त्रिक दोनों पद्धति से उपासना का समर्थन मिलता है, और पांचरात्र में तो तत्वतः वैदिक और स्वरूपतः तान्त्रिक मत का अद्भुत समन्वय भी दिखता है। महाभारत का तो यह भी मत है कि वेदचतुष्टयी एवं सांख्य योग के समावेश के कारण इसका नाम पांचरात्र पड़ा। यजुर्वेद से इसकी संगति तो अनेकों प्रमाणों से सिद्ध है ही, मांत्रिक प्रयोगों के भी वैदिक सन्दर्भ व्यापकता से द्रष्टव्य है। श्रीनृसिंह भगवान् का द्वात्रिंशदक्षरी मंत्र उपनिषदों में, पुराणों में एवं पांचरात्र ग्रंथों में भी यथावत् वर्णित है।

सर्वं आथर्वणो वेदो मथितस्तु शनैः शनैः। मथ्यमानात्ततस्तस्माद्दध्नो घृतमिवोद्धृतः॥
(अहिर्बुध्न्य संहिता)

भगवान् अहिर्बुध्न्य ने (त्रेतायुग में दस हज़ार वर्षों तक तपस्या करके) अथर्ववेद का मंथन किया और दही से घी की भांति, सुदर्शन मंत्र को प्राप्त किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने तो गीता में कर्म, भक्ति, ज्ञान और इन तीनों में निहित योग, इन सबको अपनी प्राप्ति का माध्यम बताया है। इसमें से ज्ञानबल के आश्रय से भगवान् आद्यशंकराचार्य ने, भक्तिबल से आश्रय से भगवान् आद्यरामानुजाचार्य ने, कर्मबल से न्याय एवं मीमांसा के अनुयायियों ने तथा योगबल से भगवान् गोरक्षनाथ आदि ने कल्याण के मार्ग का उपदेश किया है। श्रीमद्भागवत में भी दिव्यवाक्य है,

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

इस उक्ति में कर्म, ज्ञान और भक्ति को योगमार्ग के ही अंतर्गत सम्मिलित रखा गया है, इसीलिए श्रीकृष्ण भी श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म'योग', ज्ञान'योग', भक्ति'योग' का उपदेश करके कहते हैं, तस्माद्योगी भवार्जुन। हालांकि इसमें भी प्रवृत्ति मार्ग की ओर ले जाने वाला कर्म, सिद्धियों की ओर ले जाने वाला योग, अपेक्षा से युक्त भक्ति को पाशतुल्य ही बताया गया है।

श्रृणुष्व प्रथमं कर्म द्विविधं तदिहोच्यते। एकं प्रवर्तकं प्रोक्तं निवर्तकमथापरम्॥
प्रवर्तकं च स्वर्गादिफलसाधनमुच्यते। निवर्तकाख्यं देवर्षे विज्ञेयं मोक्षसाधनम्॥
(अहिर्बुध्न्य संहिता)
तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, विष्णुपुराण)

दो प्रकार के कर्म कहे गए हैं, प्रथम प्रवर्तक, दूसरा निवर्तक। स्वर्गादि फल उत्पन्न करने वाला साधन प्रवर्तक कर्म है, और मोक्ष का साधनभूत निवर्तक कर्म कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु ध्यातव्य है, कि कर्म वही है, जो बन्धन का कारण न हो। विद्या वही है जो मोक्ष की हेतु बने। इसके अतिरिक्त शेष सभी कर्म तो मात्र परिश्रम हैं, और शेष विद्याएं केवल कला-कौशल हैं। मोक्ष की इच्छा भगवान् नारायण से ही करनी चाहिए, ऐसा पद्मपुराण का वचन है, मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्। और इस उपलब्धि हेतु कैंकर्यभाव का अवलम्बन अत्यंत आवश्यक है। कैंकर्यभाव भाव की प्राप्ति में वैदिक मत हो, तांत्रिक मत हो, भक्तिमार्ग हो, ज्ञानबल का आश्रय लेना पड़े, चाहे माध्यम जो भी हो किन्तु उद्देश्य उसका प्रपत्तिभाव की प्राप्ति ही होना चाहिए, यही सभी वैष्णवों का परम-कर्तव्य है।

--*

राधातत्त्व विमर्श

सनातनी समाज में परब्रह्म के उपासक उनके अनेक सगुण एवं कल्याणकारी स्वरूपों की आराधना करते हैं। प्रत्येक स्वरूप में कहीं न कहीं प्रकृति तथा पुरुष के तत्त्व का समावेश होता है। कुछ स्वरूप उग्र हैं तो कुछ सौम्य। लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान् प्राधान्य देवताओं में अग्रगण्य हैं, जिनके लौकिक कार्यकाल एवं दिव्य गोलोकादि धाम की लीलाओं का कीर्तन भक्तजन सदैव करते हैं। जिस प्रकार से सूर्य की पहचान उसके प्रकाश से है, अमृत की पहचान उसके माधुर्य से है, वैसे ही श्रीकृष्ण की पहचान स्वयं श्रीराधारानी हैं। कुछ दुराग्रह से युक्त अज्ञानियों ने यह भ्रम फैला रखा है कि श्रीराधारानी का चरित्र काल्पनिक है एवं इसे बाद में जयदेव कवि ने बलपूर्वक समाज के सामने प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत तथा महाभारत में श्रीराधारानी का प्रत्यक्ष वर्णन न होने से भी उन लोगों की इस कुधारणा को अस्थायी बल प्राप्त हो जाता है। सनातन धर्म में भागवतसंज्ञक पांच ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण, श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, श्रीमहाभागवत देवी-उपपुराण, श्रीअनुभागवत सनत्कुमार उपपुराण एवं श्रीमूलभागवत कालिका उपपुराण। इनमें श्रीमद्भागवत तथा उसके सारभूत श्रीअनुभागवत को पुरुषप्रधान एवं श्रीमद्देवीभागवत तथा उसके सारभूत श्रीमहाभागवत को प्रकृतिप्रधान ग्रन्थ माना जाता है। श्रीमूलभागवत को उभयप्रधान कहते हैं।

पराशक्ति की प्रधानता रखने वाले श्रीमद्देवीभागवत तथा श्रीमहाभागवत में श्रीराधारानी का लौकिक एवं पारलौकिक चरित्र अद्भुत प्रकार से वर्णित है। श्रीमद्भागवत के अन्त तथा श्रीमद्देवीभागवत के प्रारम्भ में ही वर्णित पुराणसूची में पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त पुराणों में भी श्रीराधाजी का चरित्र विस्तार से वर्णित है। तन्त्रशास्त्र में जहां श्रीराधातन्त्र, माहेश्वरतन्त्र, गौतमीयतन्त्र आदि राधातत्त्व का विवेचन करते हैं तो वैदिक वाङ्ग्मय में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से सम्बन्धित तीन प्रकार के राधोपनिषत् का वर्णन भी विद्वज्जन किया करते हैं। जिस प्रकार से चन्दन से उसकी सुगन्ध, सूर्य से उसका प्रकाश, दुग्ध से उसकी शुभ्रता एवं समुद्र से उसका गाम्भीर्य भिन्न नहीं है, वैसा ही सम्बन्ध श्रीराधाकृष्ण के मध्य समझना चाहिए। महाभागवत में शिव जी के किसी कल्प में राधिकावतार का वर्णन है। गणेश जन्मोत्सव में परशुरामजी भी आये थे, उन्हें भी देवी पार्वती ने बड़े ही प्रेम से पुत्रवत् स्नेह किया। इस घटना को देखकर वहां गोलोक से पधारी हुई श्रीराधिका जी ने कितनी सुंदर बात कही है -

त्वं चाहमावयोर्देवि भेदो नैवास्ति कश्चन। विष्णुस्त्वमहमेवास्मि शिवो द्विगुणतां गतः॥
शिवस्य हृदये विष्णुर्भवत्या रूपमास्थितः। मम रूपं समास्थाय विष्णोश्च हृदये शिवः॥
एष रामो महाभागे वैष्णवः शैवतां गतः। गणेशोऽयं शिवः साक्षाद्वैष्णवत्वं समास्थितः ॥
एतयोरावयोः प्रभवोश्चापि भेदो न दृश्यते ।
(ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, अध्याय - ४२, श्लोक - ४८-५१)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

राधा जी ने देवी पार्वती को कहा - हे देवि ! मुझमें और आपमें कोई भेद नहीं है। आप विष्णु हैं और मैं शिव हूँ। शिव जी के हृदय में विष्णु जी, आपके (पार्वती) रूप से निवास करते हैं एवं मेरा (राधा) का रूप धारण करके शिव जी, विष्णु भगवान् के हृदय में निवास करते हैं। ये राम (परशुरामजी) वैष्णव होकर आज शैवत्व को प्राप्त कर गए हैं एवं शिवात्मज गणेश जी वैष्णवत्व में प्रतिष्ठित हो गये हैं। इन दोनों में भी हमलोगों की ही भांति कोई भेद नहीं दिखता है।

स्वयं वैष्णवावतार श्रीपरशुरामजी का निम्न भाव देखें -

या राधा जगदुद्भवस्थितिलयेष्वाराध्यते वा जनैः शब्दं बोधयतीशवक्त्रविगलत्प्रेमामृतास्वादनम् ।
रासेशी रसिकेश्वरी रमणहृन्निष्ठानिजानन्दिनीनेत्री सा परिपातु मामवनतं राधेति या कीर्त्यते ॥
(ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, अध्याय - ४३, श्लोक - ०८)

जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के समय 'राधा' नाम से आराधिता होती हैं, जो लोगों को ब्रह्मशब्द का बोध कराती हैं एवं अपने स्वामी श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान करती हैं, वह रास की स्वामिनी, रसिकों की स्वामिनी, विहार को उत्सुक एवं अपने तात्त्विक आनन्दमय विग्रह में स्थित, सबों का मार्गदर्शन करनी वाली राधा सदैव मेरी रक्षा करे। एक प्रमाण और द्रष्टव्य है -

राधा भजति तं कृष्णं स च ताञ्च परस्परम् । उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति च ॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय - ४८, श्लोक - ३८)

राधा श्रीकृष्ण को भजती हैं तथा कृष्ण श्रीराधा का भजन करते हैं। उन दोनों में सदैव साम्यभाव है, ऐसा सन्तों का वचन है। राधा शब्द का विवेचन तो ऐसे बहुत प्रकार से शास्त्रों में उपलब्ध होता है। श्रीहितहरिवंश महाप्रभु, स्वामी श्रीकरपात्री जी आदि अभिनव भक्तराजश्रेष्ठों ने अनेकों शास्त्रीय प्रमाणों के साथ उनकी व्याख्या भी की है, किन्तु मैं एक दो परिभाषाएं उद्धृत करता हूँ -

राशब्दोच्चारणाद्भक्तो राति मुक्तिं सुदुर्लभाम् । धाशब्दोच्चारणाद्दुर्गे धावत्येव हरेः पदम् ॥
कृष्णवामांशसम्भूता राधा रासेश्वरी पुरा । तस्याश्चांशांशकलया बभूवुर्देवयोषितः ॥
रा इत्यादानवचनो धा च निर्वाणवाचकः । ततोऽवाप्नोति मुक्तिं च तेन राधा प्रकीर्तिता ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय - ४८, श्लोक - ४०-४२)

रा शब्द के उच्चारण से भक्त को अत्यन्त दुर्लभा मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है और धा शब्द के उच्चारण से श्रीहरि के धाम के प्रति उसका शीघ्र ही गमन होता है। पूर्वकाल में श्रीकृष्ण के बाएं भाग से उद्भूत रास की अधिष्ठात्री राधाजी के ही अंशांशकला से सभी अन्य देवताओं की स्त्रियां प्रकट हुई हैं। रा शब्द से स्वीकार का बोध होता है और धा शब्द से

मोक्ष का। अपने भक्त की प्रार्थना को स्वीकार करके उसे मोक्ष देने वाली देवी को ही राधा नाम से कहा गया है। श्रीकृष्ण को विश्वात्मा कहा गया है। उन्हें ही विश्वाधार, जगदीश अथवा इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश भी कहा जाता है। संसार की आत्मा श्रीकृष्ण हैं तथा श्रीकृष्ण की आत्मा राधाजी है। शिव जी का वचन है -

तत्प्राणाधिष्ठातृदेवीं भज राधां परात्पराम् । कृपामयीप्रसादेन शीघ्रं प्राप्नोति तत्पदम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड/अध्याय - ५५, श्लोक - ०५)
वैष्णवास्तां महालक्ष्मीं परां राधां वदन्ति ते । अर्द्धाङ्गां च महालक्ष्मीः प्रिया नारायणस्य च ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय - ५४, श्लोक - ९१)

उन (श्रीकृष्ण) के प्राणतत्त्व की स्वामिनी परात्परा राधाजी की आराधना करो, उन्हीं कृपामयी की प्रसन्नता से तुम उस परमपद को शीघ्र ही प्राप्त कर लोगे। विष्णु के उपासक उसी शक्ति को महालक्ष्मी, परा एवं राधा कहते हैं जो नारायण की अर्धांगिनी एवं प्रियतमा हैं। सनातन धर्म में माससम्बन्धी व्रतों में कार्तिकमास के व्रत का विशेष महत्त्व है। अनादि काल से प्रतिवर्ष लाखों श्रद्धालु इसे करते आ रहे हैं, जिसमें श्रीराधा जी के अर्चन का भी शास्त्रोक्त विधान है। व्रतियों का समूह निम्न प्रकार से प्रार्थना करता है -

व्रतिना कार्तिके मासि स्नातस्य विधिवन्मम। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो हरे॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - ९३, श्लोक - १०)

हे श्रीहरि ! कार्तिकमास में विधिपूर्वक स्नान किये हुए मुझ व्रती के द्वारा दिये गए इस अर्घ्य को आप राधाजी के साथ स्वीकार करें। जब भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव जी के ज्ञानभास को मर्दित करने के उद्देश्य से उन्हें वृन्दावन भेजा था, उस समय भक्ति और ज्ञान का तत्त्व गोपियों के माध्यम से प्राप्त करके वापस लौटते समय उन्होंने राधारानी से ही अनुमति मांगी थी।

उद्धव उवाच
परिपूर्णतमे कृष्णे वृषभानुवरात्मजे । गन्तुमाज्ञा देहि मह्यं नमस्तुभ्यं व्रजेश्वरि ॥
प्रतिपत्रं देहि शुभे श्रीकृष्णाय महात्मने । तेन तं च प्रणम्याशु समानेष्ये तवान्तिकम् ॥

उद्धव जी कहते हैं - हे सभी कलाओं से पूर्ण, कृष्ण की शक्ति, वृषभानु की श्रेष्ठ पुत्री ! हे व्रज की स्वामिनी ! आप मुझे अब प्रस्थान की आज्ञा दें। महान् आत्मा वाले श्रीकृष्ण के लिए आप कोई प्रतिपत्र (जवाबी चिट्ठी) दें जिसके माध्यम से मैं उन्हें प्रणाम करके शीघ्र ही आपके मन की बात बता दूंगा। नारद जी कहते हैं -

अथ राधा लेखनीं च नीत्वा पात्रं मषेस्त्वरम् । समाचारं चिन्तयन्ती तावदश्रूणि सुस्रुवुः ॥
यद्यत्पत्रं समानीतं राधया लेखनीयुतम् । तत्तदार्द्रीकृतं जातं नयनाम्बुजवारिभिः ॥

अश्रुप्रवाहं मुञ्चन्तीं कृष्णदर्शनलालसाम् । उद्धवो विस्मयन्प्राह राधां कमललोचनाम् ॥

इसके बाद राधा ने कलम और दवात लाकर शीघ्र ही पत्र की विषयवस्तु सोचना प्रारम्भ ही किया था कि उनके नेत्रों से अश्रु बहने लगे। वे जिस भी कागज (अथवा भोजपत्र आदि) एवं कलम को सामने रखती थीं, वह उनके नेत्रों से निकले जल के द्वारा भीग जाता था। श्रीकृष्ण के दर्शन कब होंगे, ऐसी मन में कामना करते हुए वे रोने लगीं, इस प्रेम को देकर उद्धव जी विस्मित हो गए एवं उन्होंने कमल के समान विकसित नेत्रों वाली राधाजी से कहा -

कथं लिखसि राधे त्वं कथं दुःखं करोषि हि । सर्वां तस्मै वदिष्यामि व्यथां त्वल्लेखनं विना ॥
(गर्गसंहिता, मथुराखण्ड, अध्याय - १८, श्लोक – १७-२२)

हे राधिके ! आपको कुछ भी लिखने की आवश्यकता ही क्या है ? आप दुःख भी क्यों करती हैं ? आपके हृदय की सारी बात मैं आपके लिखे बिना ही जाकर श्रीकृष्ण को कह दूंगा। इस प्रकार से हम देखते हैं कि अन्याय वेदव्यास एवं व्यासेतर ऋषियों की वाणी में भी श्रीराधा जी का विशद वर्णन प्राप्त होता है। राधा जी के माहात्म्य को समझने और उनके प्रति द्वेषभाव रखने वाले दुरात्माओं की गति का संकेत प्राप्त करने के लिये हमें निम्न प्रमाण को ध्यान में रखना चाहिए।

आदौ राधां समुच्चार्य पश्चात्कृष्णं परात्परम्॥
स एव पण्डितो योगी गोलोकं याति लीलया । आदौ राधां समुच्चार्य पश्चात्कृष्णं परात्परम्॥
जगतां भवती माता परमात्मा पिता हरिः । पितुरेव गुरुर्माता पूज्या वन्द्या परात्परा॥
भजते देवमन्यं वा कृष्णं वा सर्वकारणम् । पुण्यक्षेत्रे महामूढो यदि निन्दति राधिकाम्॥
वंशहानिर्भवेत्तस्य दुःखशोकमिहैव च । पच्यते निरये घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय - १२४, श्लोक - ०९-१३)

पहले राधा बोलकर दूर परात्पर कृष्ण का नाम लेना चाहिए। जो ऐसा करता है, वही पण्डित है, वही योगयुक्त है, अतएव पहले राधा का नाम लेकर फिर कृष्ण का नाम लेना चाहिए। संसार की माता आप ही हैं (राधातत्त्व) और श्रीहरि परम आत्मा एवं पिता हैं। माता भी पिता के ही समान परात्परा, पूजनीया और वन्दनीया हैं। जो मूर्ख राधा जी की निन्दा करते हुए पुण्यदायक तीर्थों में दूसरे देवता अथवा सबों के निर्माता श्रीकृष्ण की भी आराधना करता है, उसके वंश की हानि होती है। वह इसी संसार में दुःख एवं शोक प्राप्त करने के अनन्तर सूर्य एवं चन्द्रमा की उपस्थिति पर्यन्त घोर नरक में दुःख भोगता है।

इस प्रकार से हमें सभी ग्रन्थों एवं महात्माओं के वचनों का अनुशीलन करते हुए श्रीराधा महारानी के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण का भाव रखकर उनकी आराधना करनी चाहिए। राधा को जो प्रिय नहीं होता है, वह श्रीकृष्ण को भी प्रिय नहीं होता है। राधा की आराधना न करने वाले को कृष्णपूजन का भी अधिकार नहीं है।

कृष्णार्चाया नाधिकारो यतो राधार्चनं विना। वैष्णवैस्सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम्॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध - ०९, अध्याय - ५०, श्लोक - १६)

क्योंकि श्रीराधा जी की पूजा किये बिना मनुष्य को श्रीकृष्ण की पूजा करने का भी अधिकार नहीं होता है, इसीलिए वैष्णवों का कर्तव्य है कि वे राधाजी की पूजा अवश्य करें। आगे कहते हैं - राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद्राधेति कीर्तिता। सभी कामनाओं को पूर्ण करने से ये 'राधा' कहलाती हैं। एकमात्र श्रीराधा की प्रसन्नता भी जिसपर हो जाये, शेष सभी देवता उसपर स्वभावतः ही प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसा समझकर श्रीकृष्णप्रीति की कामना से श्रीराधारानी की भक्ति अवश्य ही करनी चाहिए, यही मानवमात्र का कर्तव्य है।

--*

लघु प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता - ईंट बालू सीमेंट पाइप का यज्ञ मंडप बना शास्त्र सम्मत है ?
श्रीभागवतानंद गुरु - शास्त्र में पाषाण और धातु के निर्मित मण्डप आदि का वर्णन मिलता तो है।

प्राकारं परित: कृत्वा कुर्यादग्रे च मण्डपम् । हैमं वा रूप्यमथवा तथोदुम्बरमेव वा॥
(विश्वामित्र संहिता)
मण्डपं शैलजं यद्वा दारुजं वा प्रकल्पयेत्।
(प्रश्न संहिता)

बाकी आप अन्य कथानकों में देख लें कि अनेक राजाओं ने सोने या रत्नों से भी मण्डप बनवाये हैं, यथा राजा मरुत् ... अल्पकालिक याग हेतु लकड़ी का बना ले, दीर्घकालिक हेतु पाषाण आदि का।

प्रश्नकर्ता - श्री करपात्री स्वामी जी ने अपने वैदिक ग्रन्थों में पृथ्वी को अचला माना है। क्या यह अनुचित नहीं है ?
श्रीभागवतानंद गुरु -बैल को उतना ही गीत सुनाना चाहिए जितने में वह सींघ न मारे। करपात्री स्वामी जी क्या कर रहे हैं ? वेद का अर्थ बता रहे हैं। वेद क्या हैं ? शब्दब्रह्म, अपौरुषेय। उन्हें लिखा या बनाया नहीं गया। वे नित्य हैं, काल और देश से अतीत हैं, उन्हें बस विशेषज्ञों ॠषियों के द्वारा जाना गया और संसार में बताया गया। बायोलॉजी के सेल को माइक्रोस्कोप के बिना नहीं देख सकते, फोन और जेल की सेल को देख सकते हैं। आप भूमि, पृथ्वी, भूगोल आदि शब्द का अर्थ लगाते हैं तो अपने प्रसङ्ग के अनुसार लगाते हैं। जब कुँवा खोदना हो, धरती खिसकी या हिली तो भूखनन, भूस्खलन, भूकंप का अर्थ केवल छोटे से भाग से लगाया जाता है।

जब बात का स्तर बड़ा हो तो परिभाषा और परिभाषेय भी बड़े हो जाते हैं। ग्लोबल वार्मिंग की बात के समय भूमि, पृथ्वी का अर्थ समुद्र, पर्वत और जमीन से युक्त भूमि से होता है। पर्वतारोहण के समय, नौचालन के समय भूमि का अर्थ पर्वत और समुद्र से रहित भूभाग से होता है। ऐसे ही जब ब्रह्माण्ड के स्तर पर बात करेंगे तो परिभाषा और परिभाषेय भी बड़े हो जाएंगे। वेद में पृथ्वी की परिभाषा और भी बड़ी है तो वहाँ वह स्थिर है, वहाँ उसकी देवता संज्ञा है।

पृथ्वी देवी दृढा सौम्या शुभा स्याद्वेददैवते।
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

राजनिघण्टु के धरण्यादिवर्ग में पृथ्वी के नामों में एक नाम निश्चला भी है -

क्षौणी सर्वसहानन्ता भूतमाता च निश्चला । भूमी बीजप्रसूः श्यामा क्रोडकान्ता च कीर्तिता ॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में भूगोल का विस्तार पचास करोड़ योजन का बताया गया है।

पूर्वं ततस्तु भूगोलं पञ्चाशत्कोटियोजनम्।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड में इसी भूगोल की परिक्रमा करते हुए सूर्य तपाते हैं, ऐसा बताया गया है -
तपति भ्रमणं कृत्वा भूगोलं सुप्रभाकरः।

श्रीमद्भागवत में भी इसीलिए कहा गया कि सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रों की ज्योति जहां तक जाए वहाँ तक भूमण्डल है -

भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।
और उसका परिमाण भी पचास करोड़ योजन बताया - पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य।

एक योजन में चार क्रोश होते हैं। एक क्रोश में लगभग दो मील होते हैं, एक मील में लगभग 1.62 किमी होते हैं। तो पचास करोड़ के भूमण्डल का हिसाब लगा लीजिये। यह भूगोलपरिमाण केवल हमलोगों के हिसाब से ही नहीं चलता। यहां मेढ़क भी रहते हैं, जो इसका विस्तार अपनी क्षमता के अनुसार समझते हैं, यहाँ अन्य पशु भी रहते हैं, जो अपने हिसाब से समझते हैं। आपके पेट के कृमि के लिए भूगोल का विस्तार क्या होगा ? मनुष्यों के लिए क्या होगा ? देवताओं के लिए क्या होगा ?

वेद और पुराण जब वर्णन करेंगे तो आपकी बौद्धिक क्षमता के आधार पर थोड़े ही करेंगे, वे तो पूरे ब्रह्माण्ड को हाथ पर रखे आंवले के समान देखकर वर्णन करेंगे। तालाब के मेढ़क के लिए ह्वेल की कल्पना असम्भव ही है। वैसे ही वेदों का अर्थ बताने वाले करपात्री जी का दृष्टिकोण और तात्पर्य समझना साधारण लोगों के वश की बात नहीं है। इसीलिए सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय भुवनकोष का उद्धरण देते हुए शब्दकल्पद्रुमकार को कहना पड़ा कि पौराणिक बुद्धिमान् जो आंखों से दिखता है, उसे भी जानते हैं और जो नहीं दिखता है, उसे भी जानते हैं और इस प्रकार से पूरे भूगोल को उतनी ही स्पष्टता और सम्पूर्णता से देखते हैं जैसे हाथ में रखा हुआ आंवला -

केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ करतलकलितामलकवदमलं सकलं विदन्ति ये गोलम् ।

हम शास्त्रों का अर्थ उनके स्तर पर जाकर यथार्थतः बताते हैं तो मूर्खों को वह अनर्थ लगता है। मूर्ख जब उन रहस्यों को न समझने के कारण अपने स्तर पर उतार कर मिलावटी बताते हैं तो वाह रे धार्मिक, वाह रे साइंटिस्ट !

साइंस - पौधों में जीवन की खोज सौ साल पहले हुई।

धर्म - ५००० वर्ष पूर्व वेदव्यासरचित नारद पुराण के पूर्वभाग, द्वितीय पाद में भृगु और भरद्वाज का संवाद देख लो कि कैसे और क्यों वृक्षों में भी जीवन है।

साइंटिस्ट धार्मिक - पुराण प्रमाण नहीं हैं, मिलावटी हैं।

धर्मज्ञ - खड़ाऊं किधर है हमारा ??

--*

निग्रह सम्प्रदाय की प्रामाणिकता

सूर्य का प्रकाश उसका परिचय देता है, वायु का वेग, जल की शीतलता, पुष्प की सुगंध, सिंह का पुरुषार्थ, अग्नि की ऊष्मा उसका परिचय देते हैं। ठीक उसी प्रकार आप अपने बारे में कुछ न बोलें, कर्म ही आपका परिचय देंगे !! जीवन एवं मृत्यु दोनों ही देहजन्य विकार हैं जिसका सम्बन्ध आत्मा से नहीं। कर्म ही देहहीन व्यक्ति को जीवित रखते हैं एवं कर्म ही देहयुक्त व्यक्ति को मृत बनाते हैं। सप्तपद गमन ही सत्पुरुषों के मध्य मित्रता हेतु पर्याप्त होता है मान्यवर !! और सत्पुरुषों की मित्रता शिलालेख की भांति दीर्घकालिक होती है। प्रकाश का विशिष्ट रूप से परावर्तित होना ही आकृति बनाता है। आकृति को ध्वनि ही बदलना ही शब्द का निर्माण करता है। शब्द जब भाव में बदलते हैं तब तात्पर्य एवं अर्थ का सृजन होता है। अर्थ का समूह ही भाषा है। और साधना, मन्त्रों एवं पद्धतियों के ज्ञान हेतु उनकी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। संस्कृत के सामान्य ज्ञान से भी लोगों को वंचित किया जा रहा है फिर मन्त्र, विधि एवं उद्देश्य कैसे गम्य होंगे ? ऐसी परिस्थिति कितनी विकट समस्या को जन्म देगी यह कल्पना ही दुर्धर्ष है। "धुरन्धर संहिता" के नाम पर कुछ आचार्यों ने संहिता शब्द पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है। उनके प्रति मेरा उत्तर है कि सम्यक् प्रकार से मनन करके धर्मविषयक ज्ञान का उपदेश करते हुए जो रचना की जाए, वह संहिता कहलाती है। वेदों की अपनी अपनी संहिता है, स्मृतिकारों की भी अपनी अपनी संहिता है। गर्ग, अगस्त्य, भृगु, सूत आदि की भी अपनी अपनी संहिता है। कलियुग में भी वराहमिहिर आदि ने अपनी बृहत्संहिता अथवा वाराही संहिता लिखी है। निग्रहागम एवं अव्यक्ताद्वैत सिद्धांत को श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पद्धति से उपदिष्ट करते हुए हमने भी लेखन किया वह धुरन्धर संहिता है।

आप वेद नहीं लिख सकते क्योंकि वह पौरुषेय नहीं है। पुराण कुछ विशेष मर्यादा और प्रसङ्ग सिद्धि के साथ लिख सकते हैं जैसे, युगपुराण, कुबेर पुराण, वासुकि पुराण, मल्ल पुराण, पशुपति पुराण, दत्तपुराण, नीलमत पुराण आदि अभिनव एवं स्थल पुराण भी हैं जो धर्मसम्मत ही हैं। देवभाषा में पंचलक्षण से युक्त रचना पुराण है, किन्तु उसकी धार्मिक मान्यता वेदव्यास कृत पुराण एवं अन्य अष्टादश विद्यास्थान की सम्मति पर निर्भर करती है। हिन्दी में कल्पित लोकगाथा जैसे गुरुवंश पुराण, बकर पुराण आदि मान्य नहीं।

संहिता, सूत्र और तन्त्र आप लिख सकते हैं यदि आपको उस सिद्धान्त और विद्या में दक्षता है तथा वह पूर्वसिद्ध परम्परा से सम्मत है। कलियुग में ही चरक, वराहमिहिर आदि के द्वारा उनकी संहिता लिखी गयी है। चरक संहिता, भेल संहिता, सुश्रुत संहिता, वाराही संहिता आदि आदि। सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यस्याः सा संहिता। मेरे ग्रन्थ में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं जिसका समर्थन वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्र अथवा किसी पूर्वाचार्य के ग्रन्थ से न हो। सर्वथा कल्पित या निराधार लेखन मैं नहीं करता। चूंकि प्रत्येक बात शास्त्रसिद्ध है इसीलिए वह हितकारी है और संहिता नाम सार्थक है। वेदोक्त या पुराणोक्त संहिता नहीं, सम्प्रदायोक्त सिद्धान्त पर आचार्यकृत संहिता है। जिस आगमग्रन्थ में निग्रह सम्प्रदाय के निग्रहागमों का सङ्केत उपलब्ध है, उसी में शंकराचार्य परम्परा के पतन की बात भी है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

मुख्या परम्परा देवि मया प्रोक्ता हिताय च। विच्छिन्ना तु ततो भूयात् पुनः सा वै भविष्यति॥
(शक्तिसङ्गमतन्त्र, छिन्नमस्ताखण्ड, अष्टम पटल, श्लोक - ११४)

शक्तिसंगम तन्त्र में शंकराचार्य परम्परा के वर्णन के बाद उसके छिन्न हो जाने की भविष्यवाणी भगवान् अक्षोभ्यरुद्र ने की है, और उसके लक्षण दिख रहे हैं। शाखाकुल आदि के विचार के बिना ही उपनयन कराना, एक से अधिक पीठों का हठ, शास्त्रोक्त प्रमाणों की अवमानना करना, मनमौजी व्याख्या, स्त्रियों को संन्यासिनी बनाकर कथित धर्मसंसद में बैठाना, ऑनलाइन वेदपाठ का प्रसारण आदि से यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती दिख रही है। शंकराचार्य परम्परा लुप्त होगी और इस भविष्यवाणी को सार्थक इन्हीं पीठों के परिकर एवं अधिकारीगण करेंगे। शंकराचार्य परम्परा के विच्छिन्न होने से सम्बन्धित प्रमाण देने पर लोगों ने कहा कि आपकी नवोदित परम्परा क्या बची रहेगी ? भाई, मेरी परम्परा पहले ही नष्ट हो चुकी है। शंकराचार्य जी के अवतरण से पूर्व ही। निग्रहागमों के तीन सौ ग्रन्थों के अब नाम भी नहीं मिलते। तपोबल से मैं इस परम्परा के सिद्धान्तगत ज्ञान को बस ग्रन्थबद्ध कर रहा हूँ, किसी के प्रतिस्थापित नहीं। निग्रह परम्परा का पतन हुए ही हज़ारों वर्ष हो गए हैं और निश्चय ही मेरे द्वारा इसके पुनर्जागरण के बाद भी यह शीघ्र ही लुप्त होगी। और मैंने यह नहीं कहा कि अमुक परम्परा कल या परसों ही नष्ट होगी, समयानुसार योग्य जनों के अभाव में नष्ट होगी। गीताज्ञान की परम्परा भी तो नष्ट हुई थी - स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप। निग्रहाचार्यों का काम "प्रत्येक शास्त्रीय परम्परा" को उसके मूल सिद्धान्तगत रूप में सुरक्षित रखना है अतएव मैं वर्तमान दृश्य एवं शास्त्रविधान में आयी भविष्यवाणियों से चिन्तित हूँ।

कुछ कुतर्की जन पूछते हैं कि तुम्हें आचार्य की उपाधि किस विद्यापीठ, विश्वविद्यालय से किस विषय में मिली है ? मैं बता दूँ कि अंग्रेजों के द्वारा बनाये गये पाठ्यक्रम के आधार पर वेदों को पौरुषेय, पुराणों को मिथ्या बताने वाले, जिसमें शास्त्रीय आचार से हीन, वर्णविकृतार्थलोलुप म्लेच्छवज्जीवन जीने वाले अध्यापक पढ़ाएं, वे मुझे आचार्यत्व प्रदान करने में स्वयं अनधिकृत हैं। मैं आचार्य हूँ क्योंकि वैखानस गृह्यसूत्र, निरुक्त, लिङ्गपुराण और ब्रह्माण्डपुराण आदि ने मुझे आचार्य की प्रामाणिकता निम्न परिभाषा के आधार पर दी है।

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि। तस्मादाचार्य इत्युक्तः सर्वकार्योपदेशकः ॥
(वैखानसगृह्यसूत्र, प्रथम भाग)
स्वयमाचरते यस्तु आचारे स्थापयत्यपि। आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते॥
(लिङ्गपुराण, उत्तरभाग, अध्याय - २०, श्लोक - २०)
स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि। आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥
(ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय - ३२, श्लोक - ३२)
आचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयति । आचिनोत्यर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति वा ।
(निरुक्त, प्रथमाध्याय)

जो शास्त्रवाक्य को ध्यान से चुनकर, समझकर उनपर आचरण करे एवं अपने आचरण से आदर्श प्रस्तुत करके उनके सदर्थ की स्थापना से अन्य जनों को भी सदाचारी बनाये, उसे सभी कार्यों का उपदेश करने वाला आचार्य कहते हैं, अतः शास्त्रवाक्य मुझे आचार्यत्व प्रदान करते हैं। मुझे नौकरी करने के लिए किसी अशास्त्रीय प्रणाली के संस्थान के द्वारा प्रमाणीकरण की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रवाक्य का उल्लंघन करने स्वेच्छाचार से आचरण करने, वक्तव्य देने या उसका समर्थन करने वाले को शास्त्रीय मर्यादा में नियन्त्रित करने का कार्य निग्रह कहलाता है, जिस निग्रह सम्प्रदाय का मैं सम्प्रदायाचार्य हूँ। मेरी प्रामाणिकता धर्मशास्त्र देते हैं, मरणधर्मा विषयीजन नहीं।

आद्यशंकराचार्य जी की प्रतिष्ठा और मूर्तिपूजा हो सकती है या नहीं ? मैं समझता हूँ कि संस्मरण हेतु प्रतिमा हो सकती है किन्तु प्रतिष्ठा नहीं। उसमें आप किस विधानोक्त मन्त्र का प्रयोग करेंगे ? यदि कहें कि शिवावतार के रूप में वर्णन है तो शिवावतार तो अश्वत्थामा और बाबा कीनाराम को भी बताया गया है। और हनुमानजी का आवेशावतार नीम करौली बाबा को कहते हैं। तो फिर भारत मे कमी नहीं है। ऐसे ही दुष्यन्त पुत्र भरत भी भगवान के ही अंश कहे गये हैं, तो क्या सबके मन्दिर ही बनेंगे ? भविष्य पुराण में तो गुरु नानक देव और कबीरदास जी को भी देवताओं का ही अवतार कहा गया है तो उनके मंदिर में फिर क्या आपत्ति है ? इसकी विधि कहाँ है? अहर, शार्दूल, मास, सम्वत्सर आदि तो वेदोक्त देवता हैं, फिर भी उनकी मूर्तिपूजा नहीं होती, क्योंकि विधि नहीं, तादृश मन्त्र विनियोग नहीं, न ही कोई लिंग।

फिर आद्य शंकराचार्य जी तो देवता भी नहीं हैं। जिनके उद्देश्य से द्रव्यत्याग हो, वे देवता हैं। सूक्तभाज व हविर्भाज में आद्य शंकराचार्य जी कोई भी नहीं। देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं० से शंकराचार्य जी का पूजन गुरूमण्डल में होना हमें मान्य है। पर मूर्तिपूजा नहीं। वेदव्यास जी और वाल्मीकि जी के आवाहन पूजन का अलग से विधान विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित है। किन्तु परम्परा में आने पर भी शंकराचार्य जी की मूर्तिपूजा आशास्त्रीय ही है। केवल परम्परा में आने से कुछ नहीं होता है। ऐसे तो फिर आपको शक्ति मुनि या गौडपादाचार्य जी से क्या समस्या है ? परम्परा की बात की जाए तो श्री निश्चलानंद सरस्वती जी का भी मन्दिर बन जाये। स्वरूपानंद सरस्वती जी महाराज का मन्दिर क्यों नहीं होना चाहिये फिर ? अविमुक्तेश्वरानंद सरस्वती जी भी आगे शंकराचार्य बन ही जायेंगे तो परम्परा में आने से उनका भी मन्दिर बनाया जाना चाहिए कि नहीं ?

देख रहा हूँ कि मेरे नीले रंग के वस्त्रों से युक्त चित्रों को देखकर कुछ क्षुब्ध विरोधी मुझे शास्त्रद्रोही बता रहे हैं। एकतरफा देख रहा हूँ कि ये मेरे पीछे पड़े हुए हैं। शास्त्र मेरे लिए कुछ नहीं, यह कहने से पहले देखना चाहिए आपको कि शास्त्र के ही आधार पर मैं किसी का विरोध करता हूँ तो आपको जलन हो जाती है। पहले समझ लें कि नीलवस्त्र का अर्थ वहाँ नील से रंगे वस्त्र से है। नील, जो पहले कीड़ों को मार कर और बाद में पौधों से निकाला जाता है। जिसे रंगरेज नील का कीड़ा या नील का पौधा कहते हैं। ऐसे ही रेशम भी कहीं कहीं निषिद्ध बताया है। नीले रंग और नील से रंगे, इसमें अंतर समझ में न आता हो तो कृपया मौन रहें। दूसरी बात, सर्वत्र निषेध नहीं है। विष्णुपरक व्रत, अनुष्ठान, जप अथवा संस्कारगत काम्य नैमित्तिक नित्य वेदोक्त कर्मादि में निषिद्ध है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

मैं वहां किस देवता की, किस विधि और उद्देश्य से आराधना कर रहा हूँ, इसे जाने बिना कुछ भी न कहें। कुछ देवताओं की साधना में तो वस्त्र ही पहनने का निषेध है। रुद्राचार आदि का विधान देखें। मुझे शास्त्रों की समझ पूर्वाग्रह रहित है, आपसे सीखने की आवश्यकता नहीं। सन्ध्या स्वतंत्र कृत्य भी है और किसी देवता की आराधना के अन्तर्गत आने वाला अनुसांगिक कृत्य भी। अनुसांगिक कृत्य में आने पर वही सन्ध्या उस देवताधिकरण में आ जाती है। मैं किसी ऐसे देवता की आराधना ऐसी विधि से कर रहा हूँ, जिसके लिए नीले वस्त्र का निषेध नहीं। ध्यान रहे, नीला वस्त्र कहा, नील से रंगा वस्त्र नहीं। दूसरी बात, आप लोगों की तरह आजीविका सम्पन्न नहीं हूँ, भ्रमणशील अयाचक हूँ। समाज ने श्रद्धा से जो वस्त्र आदि दे दिए, स्वीकार कर लिया। अपने से पसन्द करके रंग देखकर खरीद कर नहीं पहनता। उतना धन नहीं है मेरे पास। पहले पूरा विषय समझ लें, जान लें, फिर बात करने आयें।

कालिका, संकर्षण, भैरव, वीरभद्र, रुद्रादि की कुछ साधनाओं में रक्त, नील, कृष्ण वर्ण के वस्त्र निषेध नहीं, अपितु विहित भी हैं। चित्रों को विस्तृत करके देखेंगे तो पता चलेगा कि सामने शिवलिंग भी रखा हुआ है। कौन सी वेदोक्त शाखा की सन्ध्या में सामने शिवलिंग रखने का विधान है ? स्पष्ट है कि मैं जो कर रहा हूँ, वह केवल सन्ध्या नहीं अपितु किसी अन्य साधना के अंग के अंतर्गत सन्ध्या है। तो पहले जान लें कि क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, फिर हल्ला करें। वाराणसी में ही कालभैरव मन्दिर में देखें, नीलवस्त्रधारी विप्रजन दिखेंगे। मैं सकाम वैष्णव या मात्र वेदोक्त कृत्य नहीं कर रहा हूँ वहाँ इसीलिए नीले रंग के वस्त्र से समस्या नहीं। मैं निग्रहाचार्य हूँ। निग्रहागमों के अनुसार निग्रहेश्वरों में भगवान् क्रोधभैरव भी आते हैं जिन्होंने कालजिह्वाविधान का उपदेश किया है। कालजिह्वा की अधिष्ठात्री सङ्कर्षणविद्या की अधीनस्था देवी हैं, भगवान् संकर्षण नीले रंग के वस्त्र ही धारण करते हैं। एक स्थान पर पढ़ लिया कि नीला वस्त्र अपवित्र है तो आ गए मुंह उठाकर हमसे लड़ने के लिए कि तुम शास्त्रद्रोही हो।

यह वैसा ही है कि कोई पुलिस से इस बात पर लड़े कि जब दोपहिया साइकिल के लिए ड्राइविंग लाइसेंस नहीं चाहिए तो दोपहिया मोटरसाइकिल के लिए क्यों ? चक्के तो दो ही लगे हैं न ... इसके बाद आपने अनावश्यक मेरा समय स्पष्टीकरण देने में नष्ट किया तो सादर ब्लॉक करूँगा। जनसामान्य की निजी मूर्खता और क्षोभ के पीछे मुझे अपना समय नष्ट नहीं करना है। मेरे विरोधी कैसी बातें करते हैं, इसका एक प्रमाण देखें -

निग्रहाचार्य - ये बात ऐसी है।
पण्डितजन - इसमें तुम्हारा क्या है, ये तो शास्त्रवाक्य पहले से सिद्ध है। तुम तो बस शास्त्रों की बात को इधर उधर से लेकर बोल देते हो, लेकिन तुम्हारा क्या है इसमें ?
निग्रहाचार्य - ये बात वैसी है।
पण्डितजन - ये तो तुम काल्पनिक बात कर रहे हो, स्वयम्भू धर्मगुरु हो। शास्त्र प्रामाण्य क्या है इस बात का ? शास्त्र की बात करो।

निग्रहाचार्य - अमुक मन्त्र या देवता की अमुक विधि से आराधना करने पर मुझे अमुक फल की प्राप्ति हुई।
पण्डितजन - ये झूठ है, तुम लोकैषणा से भरे हुए हो। मन्त्र सही हैं, फल भी देते हैं इतना मान सकते हैं लेकिन तुम झूठ बोल रहे हो।
निग्रहाचार्य - मैं निग्रहाचार्य हूँ।
पण्डितजन - देखो देखो, ये अपनी नयी परम्परा प्रारम्भ करना चाह रहा है, फिर स्वयम्भू पीठाधीश्वर बनेगा।
निग्रहाचार्य - मेरे आगे कोई परम्परा नहीं बढ़ेगी, मैं अन्तिम निग्रहाचार्य हूँ।
पण्डितजन - देखो देखो, स्वयं को अन्तिम घोषित करके विशिष्टता दिखाना चाहता है कि मैं अन्तिम हूँ।

भाई, इन्हें बस हमारे अस्तित्व से समस्या है। सिद्धान्त पर चर्चा करें न सीधे आकर कि क्या अशास्त्रीय बात दिख गयी ? यदि अशास्त्रीय हूँ तो बताएं, हम सुधार करेंगे। यदि शास्त्रसम्मत हूँ तो समर्थन कीजिये। यदि समर्थन की इच्छा नहीं तो चुप रहिये कम से कम, व्यर्थ का पैशुन्य पालकर क्या लाभ ? मात्सर्यवश ऐसा अन्धविरोध करने वाले महापुरुषों को मेरा अलग से नमन रहेगा।

जिन लोगों को निग्रह सम्प्रदाय से या मेरे जातिस्मर होने से समस्या है या जो आपत्ति करते हैं, उनके निमित्त मैं कहना चाहूंगा कि उन्हें पहले यह समझना चाहिए कि निग्रह सम्प्रदाय की स्थापना नहीं हो रही है। यह आदिकाल से स्थापित है। बस उसका सैद्धांतिक रूप से पुनर्जागरण किया जा रहा है। उनका नाम, ग्रन्थ परिसीमन आगमोक्त है जो मेरे जन्म से सहस्रों वर्ष पहले से विद्यमान है, प्रमाण दे चुका हूँ। रही बात कि मेरे जन्म के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं है तो मेरा कोई अवतार नहीं हुआ है, तो इसकी कोई भविष्यवाणी कैसे रहेगी पहले से ? निग्रह मत का, उसके ग्रन्थों की संख्या का, उसके निग्रहागम का, उसके प्रयोगों का वर्णन मिलता है न। उसके आचार्य निग्रहाचार्य क्यों नहीं ? ऐसे तो स्पष्ट नाम तन्त्र में मध्वाचार्य जी का भी नहीं मिलेगा … तो ? करपात्री स्वामी का भी नहीं मिलेगा लेकिन परम्परा का नाम तो मिलेगा न, परम्परा के नाम पर परम्परा के आचार्य होते हैं, यह तो सिद्ध बात है।

सिद्धान्त में कोई अशास्त्रीयता दिखे तो बताएं। ऐसे तो अनेकानेक आचार्यों की भविष्यवाणी नहीं मिलती, तो उससे क्या अंतर पड़ता है ? भविष्यवाणी तो तन्त्र पुराण में मोदी की भी नहीं मिलती लेकिन सात साल से भारत पर बैठ शासन कर रहा है न। इन्हें लगता है कि मैं काल्पनिक हूँ, स्वयम्भू हूँ आदि आदि। यदि मैं स्वयम्भू दुकान खोलने का इच्छुक होता तो आगे अपने बाद बहुत से शिष्यों को निग्रहाचार्य बनाता जैसे आज शंकराचार्य आदि की परंपरा है। किंतु मैंने स्वयं ही कहा है कि मैं अन्तिम निग्रहाचार्य हूँ। मेरे देहावसान के बाद वर्तमान कलियुग में आगे कोई निग्रहाचार्य नहीं होंगे। मेरा एकमात्र कार्य निग्रहों के सिद्धान्त की रक्षा करना है और प्रस्थान कर जाना है। निग्रहमार्ग का संकेत आर्या साहस्री में हमारे उत्पन्न होने से पूर्व ही कर चुके हैं आचार्य वेंकटरमण भट्ट …

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

जितदैत्यराजचक्रे मार्गे सिद्धासि निग्रहस्य त्वं । निग्रहमार्गः सोऽयं ध्यानाभ्यासो हि योगिनां ललिते ॥

शक्तिसंगम तन्त्र आदि का अक्षरशः सन्दर्भ भी दे चुका हूँ।

निग्रहागमतन्त्राणि शतद्विशतभेदतः। अयमागमपर्यायः सिद्धरूपः प्रकाशितः॥
(श्रीशक्तिसंगममहातन्त्रराज, छिन्नमस्ताखंड, सप्तम पटल, श्लोक -११६)

निग्रहागम के तन्त्रों की संख्या सौ है और दो सौ उपतन्त्र हैं। ये सिद्धरूप आगमवर्णन प्रकाशित किया गया है। स्कन्द पुराण में निग्रहो निग्रहाणां च कहा है। निग्रहों का भी निग्रह करने वाले स्कन्द ... निग्रहगण पहले भी थे तब न। संकेत मिलते हैं बहुत से किन्तु अलग से अब हमारा नाम ही खोजेंगे तो वो भला कैसे मिलेगा ? हमारे सिद्धान्त और निग्रह सम्प्रदाय के पुनरुद्धार में जो ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, उनमें कोई अशास्त्रीय बात हो, काल्पनिक अप्रामाणिक बात हो तो बतायें न भाई ...

उन्हें हमारे जातिस्मरत्व से समस्या है तो कोई बात नहीं ... हमें ये बात उन्हें बताने या सिद्ध करने में कोई रुचि नहीं है। जो यथार्थ है वह यथार्थ ही रहेगा। हमने बस सूचनार्थ बताया, प्रशस्त्यर्थ नहीं। हमें जानने की इच्छा थी पूर्वजन्म के बारे में, हमने विधिपूर्वक आराधना की, हमें जानकारी मिल गयी, विषय समाप्त। किसी और से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसीलिए किसी अन्य के विश्वास या अविश्वास से उसका सम्बन्ध नहीं। अनेक महानुभाव अकारण ही हमसे द्वेष करते हैं, मेरे किसी अशास्त्रीय वक्तव्य का सप्रमाण खण्डन क्यों नहीं करते कभी ?

यह सत्य है कि वर्तमान में निग्रह सम्प्रदाय के तीन सौ ग्रन्थ विलुप्त हो चुके हैं, मूल विद्यमान नहीं। मूल ग्रन्थ विद्यमान ही होते तो हमें कामाख्या के जंगलों में महीनों तपस्या नहीं करनी होती उनकी प्राप्ति के लिये। जब उनका सार लिख दिया जायेगा तब उन्हें पढ़कर विज्ञ स्वयं समझ जाएंगे कि यह कल्पित है या शास्त्रीय ... ये विप्रजन मन्त्रबल और मन्त्रफल पर लंबे लंबे व्याख्यान दे देंगे। तो क्या यदि हम उचित विधि से मन्त्रबल का प्रयोग करके मन्त्रफल प्राप्त करें, इसमें समस्या है ?

लुप्त होने को तो परम्परया गीताज्ञान भी लुप्त हो गया ... स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप। निग्रहागम भी लुप्त हो गया तो क्या आश्चर्य ? मैंने इससे पहले ये बात सार्वजनिक नहीं की है किन्तु पुरी पीठाधीश्वर जी ने तो प्रथम भेंट के बाद रात्रि में प्रशान्त मिश्र जी को मेरा संकेत करते हुए कह दिया था कि ये किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बनेंगे। यदि उन दोनों में से किन्हीं को स्मरण हो तो पूछा जा सकता है। ये लोग पुनर्जन्म मानते हैं या नहीं ? जातिस्मरत्व के तान्त्रिक पौराणिक यौगिक प्रयोग होते हैं, यह जानते हैं या नहीं वे ? उन प्रयोगों की फलश्रुति जानते हैं या नहीं ? जब पुनर्जन्म पर विश्वास है, जातिस्मरत्व की साधना का वर्णन मिलता है, तो उस विधि से वर्षों आराधना करने पर मन्त्रबल से उस

फल की प्राप्ति हुई, इसे क्यों नहीं मानते वे लोग ? क्योंकि मैं अल्पावस्था में कह रहा हूँ इसीलिए ? यदि यह बात करपात्री स्वामी कहते तो वाह जी वाह ! यही बात भूटान नरेश का दौहित्र कहे तो वाह जी वाह ! पुनर्जन्म और जातिस्मरत्व पर यदि कोई सन्देह करे तो यही लोग उसे इस प्रकार की घटनाओं के पचास उदाहरण दे देंगे।

मुख्य समस्या आपको किस बात से है ? मेरी आयु से, सिद्धान्त से, अस्तित्व से अथवा कोई और बात है ? आयु शेष रही तो विधिपूर्वक निग्रहाचार्य प्रस्थानत्रयी पर अव्यक्ताद्वैतपरक भाष्य लिखेंगे और यदि अव्यक्ताद्वैत समझ में न आये तो श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण प्राकट्य के समय देवकी जी के द्वारा की गयी स्तुति के प्रारम्भिक तीन श्लोक पढ़ लें। इसके बाद भी स्पष्ट नहीं होगा तो भविष्य में अव्यक्तसिद्धि नामक ग्रन्थ लिख दूंगा जिसमें हजारों प्रमाण श्लोकबद्ध रहेंगे।

किसी शांकर, रामानुजीय, कौल आदि को हमारा समर्थन करने की आवश्यकता ही नहीं। हम शास्त्रयुक्त वाणी बोलेंगे और बताएंगे, आप उसका विरोध कर ही नहीं पायेंगे तो हो ही गए समर्थक … क्योंकि शास्त्र का समर्थन हमारा ही समर्थन तो है। हाँ, निजी मात्सर्यवश यदि हमें निग्रहाचार्य के रूप में स्वीकार न करें तो हमें क्या समस्या है भला ? हमारे सिद्धान्त को तो मानना ही होगा क्योंकि उसमें अक्षरशः सब शास्त्रवाक्य ही होंगे। या तो हमारे सिद्धान्त का खण्डन करें या मौन रहें।

बहुत से लोग यह कहते रहते हैं कि अमुक ने यह कहा, आप खण्डन करें … अमुक ऐसा कह रहा है, आप प्रत्युत्तर दें आदि आदि। मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ कि मैं खण्डन मण्डन केवल स्तर वाले लोगों का करता हूँ, स्तरहीनों का नहीं। यदि कोई समाज में अधिकृत धर्माधिकारी या पीठाधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित है और फिर शास्त्रविरुद्ध कुछ करता या कहता है तो मैं उसका शास्त्रोक्त मार्जन एवं खण्डन करूँगा। यदि आप अधिकृत धर्माधिकारी नहीं हैं किन्तु व्यापक अनुयायियों वाले हैं तो भी आपका खण्डन किया जाएगा। किन्तु शराब कवाब वाले बवालियों को, जिनको ढंग से धर्मविषयक मौलिक परिभाषाओं का भी ज्ञान नहीं है, वे मुख या गुदा, कहीं से कुछ भी कहें, एक एक की मूर्खता का उत्तर देना न मेरा कर्तव्य है और न ही विवशता। सामान्य भक्ष्याभक्ष्य तक का जिन्हें बोध नहीं, सामान्य सदाचार का अनुपालन जो नहीं करते ऐसे धूर्तों का अभी इतना सौभाग्य नहीं हुआ है कि हम उनके खण्डन का चिन्तन भी करें। आहार और आचार से बिल्कुल म्लेच्छ हो चुके लोगों की बात पर हम कहें भी तो क्या ? उन्होंने विधिपूर्वक अध्ययन या मनन किया हो तब न …

जिस प्रकार यूट्यूब पर नासा के विषय में हज़ारों अफवाह वाली वीडियो भरी है लेकिन नासा वाले उधर ताकते तक नहीं, एक एक का खण्डन भी नहीं करते, वैसे ही हम भी हैं। हम केवल स्तर वालों का खण्डन मण्डन करते हैं, स्तरहीन जनों के लेख तो मेरे लिए मनोरंजन के माध्यम हैं … प्रत्येक सम्प्रदाय का अनुयायी अपने परमाचार्य को पूरे सनातन का ही सर्वोच्च आचार्य बनाने और मनवाने के लिये आतुर है। शंकराचार्य जी के अनुयायियों की मानें तो केवल

शंकराचार्य जी ही सर्वोच्च धर्मगुरु या जगद्गुरु हैं, शेष नहीं। यही हाल रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्दाचार्य आदि सबों का है। आगमोक्त नाथ, शैव, वीरशैव, शाक्त, आदि तो दूर से ही इनपर हंसते हैं। सम्प्रदायोक्त आचार्य सबों के अधिपति नहीं, सम्प्रदायोक्त अनुयायियों के ही अधिपति हैं। परशुराम कल्पसूत्र में अपने सम्प्रदाय में निष्ठा और दूसरे सम्प्रदाय के प्रति आदर का भाव रखने का निर्देश है। आजकल के चेलों की मानें तो हमारा गुरु जगद्गुरु, तुम्हारा गुरु बैल ... वाली भावना आ गयी है। सब यही कह रहे हैं कि हिन्दुओं को अमुक आचार्य को ही सबसे बड़ा मानना चाहिए। चार पांच वर्षों से दस बीस पागल यदि कुछ बक रहे हैं शास्त्र और उसके विषय पर तो अभी वे उतने ऊपर नहीं हुए हैं कि उनपर अधिक समय दिया जाय ...

हमारे तान्त्रिक प्रयोग वाले लेख पर किन्हीं महानुभावों ने आपत्ति की - वेद को बेचा नहीं जाता!
तन्त्र अथर्ववेद प्रणीत है, शक्तिपात के अधिष्ठाता आचार्य शङ्कर हैं अतः समस्त दक्षिणा दान योग्य ही है, रखने खर्च करने के योग्य नहीं। स्वयं के पुण्य कर्म नष्ट न हो! इसलिए तन्त्रोक्त व शक्तिपात में ही मंत्र संहिता ने दक्षिणा का मार्ग सुझाया है, किंतु श्रेष्ठ साधक वही है जो इसे भी दान करके स्वयं के पास कुछ न रखें।

मेरा उत्तर - वेद बेचना उसे कहते हैं कि अनधिकारी को धन लोभ से वेद ज्ञान देना या वैदिक क्रिया कराना। उपयुक्त व्यक्ति की अभीष्ट सिद्धि हेतु स्वयं संकल्प लेकर क्रिया करके निश्चित दक्षिणा प्राप्त करना वेद बेचने में नहीं, विधान में आता है। सभी तन्त्र अथर्ववेद से सम्बन्धित नहीं। जैसे सभी गाड़ियां मारुति या हुंडई से संबंधित नहीं। शक्तिपात के अधिष्ठाता शंकराचार्य जी हैं, किन्तु एकमात्र अधिष्ठाता नहीं, केवल अपनी ही परम्परा के अधिष्ठाता। करपात्री स्वामी, देवरहा बाबा, दतिया बाबा, बामा खेपा आदि तो शंकराचार्य नहीं बने इसका अर्थ क्या वे शक्तिपात नहीं कर सकते ?

आपकी बात का शास्त्रीय आधार नहीं कि केवल शंकराचार्य ही एकमात्र अधिकार रखते हैं। वैष्णवाचार में शंकराचार्य अधिकृत नहीं क्योंकि वे पांचरात्र या वैखानस के समर्थक नहीं। कापालिक, अघोर, नाथ या कौल सम्बन्धी, वीरशैवों-लिंगायतों जैसे शैवागम में भी शिवावतार होकर भी शंकराचार्य अधिकार नहीं रखते क्योंकि वे शैवागमों के इन प्रारूपों का खण्डन करते हैं। शंकराचार्य केवल अपनी समयाचार परम्परा के ही शांकर शाखा के अधिपति हैं, समस्त आगम जगत् के नहीं।

किसी भी दक्षिणा या सिद्धिगत निधि का सम्पूर्ण भाग दान नहीं किया जाता। आवश्यकता ही नहीं है। उसका दशांश, चतुर्थांश या अधिकतम आधा भाग ही शोधन हेतु दान करना है। हम सदैव लोककल्याण में ही अपने धन का अधिकांश भाव विनियोजित करते हैं इसीलिए हमें अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि द्रव्यशोधन कैसे होता है।

--*

एक मधुर संस्मरण

धुरन्धर संहिता के लेखन हेतु शिवरीनारायण मठ, छत्तीसगढ़ में प्रवास कर रहा था। महानदी में मुख पर्यन्त जल में डूबकर जप करता था। मठ के बगीचे से आम की पहली खेप टूट कर आयी तो प्रसाद की पंगत में बैठे मुझे एक बड़ा मधुर आम मिला। आम इतना बढ़िया था, इतना दिव्य लगा कि मुझे खाने की इच्छा ही नहीं हुई। मैंने सोचा कि इतना दिव्य आम तो भगवान् को मिलना चाहिए, हम इसके योग्य नहीं। तो हम उसे लेकर गये पुजारी जी के पास और कहा कि भगवान् नारायण को निवेदित कर दें। पुजारी जी ने कर दिया। अगले दिन हमें दो आम मिले। दोनों बहुत सुन्दर, पके हुए, दिव्यता से युक्त। हमने सोचा कि मन्दिर में तो दो हैं, नर और नारायण। कल तो नारायण को मिला, नर को नहीं। लगता है उन्होंने अपना प्रबन्ध कर लिया। तो मैंने दोनों आम जाकर पुजारी जी को दे दिए और कहा कि भगवान् नर एवं नारायण को अर्पित कर दें। तीसरे दिन तीन आम मिले, वैसे ही तगड़े तगड़े। हमने सोचा कि बाहर तो शिवजी भी विराज रहे हैं, उन्हें कुछ नहीं मिला। तो नर, नारायण और शिवजी को दे आये। चौथे दिन चार आम मिले तो हमें बाहर बैठे हनुमानजी की भी याद आ गयी। पांचवें दिन पांच आम मिले … मानो भगवान् को भी आनन्द आ रहा था। और आम भी वैसे ही सुन्दर, मधुर कि खाने का मन ही न करे, निवेदन का मन करे। तो उस दिन नर, नारायण, शिव, हनुमानजी एवं सीताजी को दे आये। अगले दिन छः आम मिल गए। पांच तो देवताओं को दे आये और सोचा कि छठा मैं ही पा लूँ किन्तु एक गौमाता आ गयीं तो मैंने उन्हें दे दिया। सातवें दिन तक आम थोड़े गलने लगे थे तो उस दिन आम केवल तीन ही मिले किन्तु प्रथम श्रेणी के नहीं, द्वितीय श्रेणी के। मन ने कहा कि ऐसे आम भी भला भगवान् को कोई देता है क्या ? इसे तो हम ही खा लेते हैं और हमने प्रसाद पाया … अगले दिन आम मिला ही नहीं .

मूलप्रकृति का बाह्यविलास मिथ्या है। अन्तर्विलास नहीं। अन्तर्विलास तो चिदानन्द है। संसार क्या है ? त्रैगुण्यवैषम्य से जन्य प्राकृतिक क्षोभ। प्रकृति मिथ्या नहीं, वह तो गीता में अनादि कह दी गयी। यह क्षोभ ही भ्रम और अनित्य है। मूलप्रकृति की दो शक्ति, विद्या एवं अविद्या। अविद्या की दो शक्ति, परमा एवं माया। किन्तु यदि केवल ब्रह्म और माया, इस सन्दर्भ में वर्णन है तो माया का अर्थ मूलप्रकृति से ही लगाना चाहिए। जब भगवान् अपने लीला कलेवर और लोक का संवरण करेंगे तो अनित्य हो जाएगा। जब नहीं करेंगे तो नित्य रहेगा। अद्वैत भक्त के लिए वह संवरण करके उसे अनित्य कर देते हैं और द्वैत भक्त के लिए नित्य कर देते हैं। वस्तुतः वह लोक द्वैत भक्त हेतु नित्य हो जाता है और अद्वैत भक्त हेतु अनित्य। तद्धामं परमं मम … जो अद्वैत वाला है, वो निर्गुण प्रधान होकर धाम को अनित्य मानेगा और जो द्वैत वाला है, वह सगुण प्रधान होकर नित्य मानेगा। ये यथा मां प्रपद्यन्ते … एक ही मार्ग नहीं है। भक्त को अद्वैत में निष्ठा है तो भगवान् तद्रूप फल देंगे और यदि द्वैत में निष्ठा है तो उसी अनुरूप परिणाम होगा। अपने आचार्य और परम्परा के आधार पर, बिना अन्य से द्वेषपूर्ण आक्षेप किये धर्माचरण करें।

--*